श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला–२६

जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम भाग

•

लेखक
सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

•

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन

प्रकाशकीय

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९६२ में जैन साहित्यका इतिहास (पूर्ववीठिका) प्रकाशित हुआ था। उसके अगले दो भागोकी सामग्री भी ग्रन्थमालामे उसके यशस्वी लेखक श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री-ने लिखकर दे दी थी। और वे दोनो भाग भी कई वर्ष पूर्व छप जाना चाहिए थे। किन्तु कई कारणो और विघ्न-बाधाओसे वे नही छप पाये। हम नही चाहते कि उन कारणों और विघ्न-बाधाओका यहाँ अकन किया जाय। कठिनाई यह है कि जिसे मत्री चुना जाता है उसे ही 'पीर बवरची भिस्ती खर' बनना पडता है।

सन् १९६४-६५ मे हमे अध्यक्ष व अन्य सदस्योने आर्थिक सहायता प्राप्त करानेके आश्वासनके साथ ग्रन्थमालाके नये मत्रित्वका दायित्व सौंपा था। उस समय ग्रन्थमालाकी स्थिति ऐसी थी कि उसे भारतीय ज्ञानपीठ या अन्य प्रकाशन-सस्थाओको दे देनेका समितिने कई बार विचार ही नही किया, पत्राचार भी किया। किन्तु कोई प्रकाशन-सस्था उसे ले न सकी। फलत ग्रन्थमाला-समिति-ने १९-१०-१९६४ की कटनी बैठकमें हमें मत्री और हमे ग्रन्थमालाकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए स्वर्गीय सेठ भागचन्द्रजी डोगरगढ और उपाध्यक्ष श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रेरणा और आश्वासन दिया कि वे हमे अवश्य ग्रन्थमालाकी दशा सुधारनेमें सहयोग करेंगे। किन्तु हमें स्वय उसकी स्थितिको उन्नत करनेमे लगना पडा और सरक्षक-सदस्यकी योजना द्वारा न केवल ग्रन्थ-मालाकी स्थितिको उन्नत किया अपितु कई ग्रथोको प्रकाशित भी किया गया। पूज्य वर्णीजीका समयसार प्रवचनके दो सस्करण, वर्णी वाणी १, २, ३ के दो-दो सस्करण, मेरी जीवनगाथाका द्वितीय सस्करण, जैनदर्शनका दूसरा-तीसरा सस्करण, द्रव्यसग्रह भाषावचनिका, मन्दिरवेदीप्रतिष्ठा कलशारोहणविधिका दूसरा सस्करण, सामायिकपाठ, अनेकान्त और स्याद्वादका दूसरा सस्करण, अध्यात्म-पत्रावली व सत्यकी ओर के दो-दो सस्करण, आदिपुराणमे प्रतिपादित भारत, तत्त्वार्थसार, सत्प्ररूपणासूत्र और कल्पवृक्ष इन ग्रथोका पिछले वर्षोंमे प्रकाशन हुआ है और इससे ग्रन्थमाला सप्रमाण हो गयी।

किन्तु हमें दु ख ही नही मार्मिक पीडा है कि पिछले दिनोमें हमें जो आर्थिक सकट रहा उसे बार-बार अध्यक्षजीके सामने रखा। किन्तु हम उनसे उस सकट-निवारणमें असमर्थ रहे। सौभाग्यकी बात है कि जैनसाहित्यके इतिहासके अगले दो भागोंको स्वर्गीय डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी और

हमने व्यवस्थित रूप देनेका प्रयास ही नही किया, आर्थिक सहयोगमें भी प्रयत्न किया है। बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता और उनकी प्रेरणासे तैयार कुछ दाताओंने भी इन भागोंके प्रकाशनमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक दान दिया। सुहृद्वर प० खुशालचन्द्रजी गोरावालाकी प्रेरणाको भी हम नही भुला सकते, जिन्होने भी इनके प्रकाशनमें हाथ बटाया है। अभी इन दोनो भागोकी छपाई-बाईंडिग, कागज आदिमें हमे लगभग छ हजार रुपएकी आवश्यकता है। आशा है हमारे उपर्युक्त सहयोगी तथा अन्य उदार दानी हमें उक्त छोटी-सी राशिके प्राप्त करानेमें पूरा-पूरा सहकार करेंगे।

हम श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्यके बहुत आभारी हैं, जिन्होने ये दोनो भाग १३ वर्ष पूर्व लिखकर ग्रन्थमालाको दे दिये थे और अब तक धैर्य पूर्वक उनके प्रकाशनकी प्रतीक्षा की। किन्तु हम सकारण विवश थे इससे पूर्व छापने मे। फिर उनसे क्षमा प्रार्थी हूँ। हर कार्यकी काल-लब्धि होती है, तभी वह सम्पन्न होता है। पिछले दो वर्षोंकी एक लम्बी कहानी है, जिसे हम यहाँ छोड रहे हैं।

हमे इतनी ही प्रसन्नता है कि वर्द्धमान मुद्रणालयकी प्रतीक्षित सलग्नतासे अब दोनो भाग दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशमें आ जायेंगे और सरक्षक सदस्योको दिये आश्वासनोकी पूर्ति हो सकेगी।

जय महावीर।

भ० महावीरकी २५००वी,
निर्वाण-शताब्दी
३ नवम्बर १९७५

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

लेखकके दो शब्द

जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका सन् १९६३ में प्रकाशित हुई थी। अब बारह वर्षोंके पश्चात् जैनसाहित्यका यह करणानुयोग विषयक इतिहास प्रकाशित हो रहा है, यह भी मेरे लिये परम सन्तोष और प्रसन्नताकी बात है। मुझे तो इसके प्रकाशनकी कोई आशा ही नही थी, क्योकि उक्त प्रकाशनके साथ ही श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमालाका काय ठप्प जैसा हो गया था। किन्तु सौभाग्यवश उसके मन्त्रित्वका भार डॉ० प० दरबारीलालजी कोठियाने उठा लिया और उन्हीके प्रयत्नके फलस्वरूप मेरा यह श्रम रद्दीकी टोकरीमें जानेसे बच गया। यह करणानुयोगके अन्तगत केवल कमसिद्धान्त विषयक साहित्यका ही इतिहास है। लोकानुयोग विषयक साहित्यका इतिहास इसके दूसर भागमें आयेगा। वह भी प्रेसमें है और यदि वद्धमान मुद्रणालयके मालिक की कृपा दृष्टि रही तो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा और मैं उसे प्रकाशित हुए अपनी आँखोंसे देख सकूँगा।

दि० जैनसमाजमें विद्वानोकी तो कमी नही है किन्तु जैनसाहित्य और उसके इतिहासके प्रति विशेष अभिरुचि नही है। दि० जैनसमाजमें भी चरित्रके प्रति तो आदरभाव है किन्तु ज्ञानके प्रति आदरभाव नही है। इसीसे जहाँ दि० जैनमुनिमाग वृद्धि पर है वहाँ जैन पण्डित धीरे-धीरे कालके गालमें जाते हुए समाप्तिकी ओर बढ रहे हैं। दि० जैनमुनिमाग पर धन खच करनेसे तो श्रीमन्तोको स्वर्ग सुखकी प्राप्तिकी आशा है किन्तु दि० जैन विद्वानोके प्रति धन खर्च करनेसे उन्हें इस प्रकारकी कोई आशा नही है। फलत निर्ग्रन्थोंके प्रति तो धनिकोंके द्रव्यका प्रवाह प्रवाहित होता है और गृही जैन विद्वानोंको आजकी महँगाईमें भी पेट भरने लायक द्रव्य भी कोई देना नहीं चाहता। इससे विद्वान तैयार होते हैं और समाजसे विमुख होकर सावजनिक क्षेत्र अपना लेते है। वहाँ उन्हें धन-सम्मान दोनों मिलते हैं। ऐसेमें साहित्यकी सेवा तो वही कर सकता है जिसे उससे अनुराग होता है। ऐसे अनुरागी थे डॉ० हीरालाल और डॉ० उपाध्ये। किन्तु आज दोनों ही नहीं हैं। डॉ० हीरालालजीके पश्चात डा० उपाध्येके स्वर्गत हो जानेसे दि० जैनसमाजका साहित्यिक क्षेत्र सूना जैसा हो गया है। उनकी सब साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नि शेष हो गई हैं और ग्रन्थमालाएँ अनाथ जैसी हो गई हैं।

डॉ० उपाध्येसे पहले डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री तो एकदम असमयमें ही स्वर्गवासी हो गये।

मैंने यह इतिहास आजसे बीस वष पहले लिखना शुरू किया था। उस समय मैं लिखता चला गया और फिर उसे व्यवस्थित करनेकी रुचि भी नही हुई क्योकि प्रकाशनकी तो कोई आशा नही थी। लिखकर समाप्त करनेके दस वष पश्चात् जब उसके प्रकाशनकी बात चली तो मैं उस लिखे विषयसे दूर चला गया था, मेरी स्मृतिमे वह नही था। उसमे मन भी नही लगता था। तब यह तय हुआ कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ एक बार उसका पारायण कर लिया जाये। स्वर्गवासी हानेके तीन मास पूव वह कुछ दिन बनारसमें ठहरे और उनकी तथा डॉ० कोठियाकी उपस्थितिमें उसे व्यवस्थित किया गया। तब किसे कल्पना थी कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ यही अन्तिम सगोष्ठी है।

आज इसके प्रकाशनके समय उनकी स्मृति विशेष रूपसे होना स्वाभाविक है। वह भी जैनसाहित्यरूपी महलके एक स्तम्भ थे। उनके पश्चात हो डॉ० गुलाबचन्द चौधरी भी स्वगवासी हो गये। जैनसाहित्य और इतिहासके वे भी एक सुलेखक विद्वान थे। इन सबके अभावमें जैनमाहित्यका यह इतिहास प्रकाशित हानेसे भी एक तरहका दु ख ही होता है कि अव इसका आगे गति कौन देगा ?

दि० जैन समाजमें एक वग ऐमा है जो अपनेमें ही मग्न रहता है और विश्वमे क्या होता है, इसे देखकर भी नही देखता। दि० जैनमाहित्य कितना पिछड गया है, मावजनिक क्षेत्रमें उमका मूल्याकन करनेकी ओरसे कितना अज्ञान या उपेक्षा है इसे अनुभव करनेवाले भी इने गिने है। डॉ० उपाध्ये दश विदेशके जनल्सम जनसाहित्यके विषयमे लिखते रहते थे। उनके पश्चात ता कोई ऐसा विद्वान् दृष्टिगाचर नही होता। अत अब यह पिछडना और भी बढेगा। इस ओर मैं उदीयमान जन विद्वानोका घ्यान आर्काषित करना चाहता हूँ। अस्तु

कमसिद्धान्तका विषय सूक्ष्म है। आज तो उसके अध्येता भी अत्यन्त विरल ह। तब मेर इस इतिहासको कौन पढेगा यह मैं नही जानता। किन्तु इसे देखकर भी यदि किन्हीकी साहित्यिक इतिहास विषयक रुचि जाग्रत हुई तो मै अपने श्रमको सफल समझूँगा।

जब पीठिकाका प्रकाशन हुआ था तो उसमें जो खर्चेकी विगत दी गई थी, उसमे पारिश्रमिक मध्ये दस हजार रुपये दिखाये गये थे। उसकी कोई विगत नही दी गई थी और न उस विषयमे कुछ लिखा ही गया था। फलत एक आवाज समाचार पत्रोमें उठाई गई कि जैनसाहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिकाका पारिश्रमिक मुझे दस हजार रुपया दिया गया है। ग्रन्थमालाकी ओरसे उसका स्पष्टीकरण किया गया। यहाँ मैं अपने उन मित्रोकी गलतफहमी दूर करनेके लिये यह स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि यह भाग और इसका आगामी दूसरा भाग भी पूव

पारिश्रमिकमें ही सम्मिलित है, इनका मैंने कोई नया पारिश्रमिक नहीं लिया है। भगवान महावीरके पच्चीससौंवे निर्वाण महोत्सव वर्षकी समाप्तिके साथ ही इसका प्रकाशन विशेष आनन्दकारी है। इसमें उन्हींकी दिव्यध्वनिसे निसृत वाङ मयका इतिहास गुम्फित है। वीरप्रभुका शासन जयवन्त रहो।

दीपावली
वीर नि० स० २५०२

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

जैनसाहित्यका इतिहास

•

जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम अध्याय

मूलागम-साहित्य

प्रथम परिच्छेद

कसायपाहुड

प्रास्ताविक

पूवमें प्रकाशित 'जैन साहित्यका इतिहास' (पूव पीठिका) प्रथम भागमें श्रुता-वतार और श्रुत परिचय विस्तारपूवक लिखा गया ह। अत यहाँ केवल सन्दभ-निर्वाहके लिए जैन साहित्यके उद्गम, विस्तार और श्रुतावतारपर सक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है।

जैन साहित्यका उद्गम

जैनसाहित्यके उदगमकी कथाका आरम्भ भगवान महावीरसे होता है, क्योकि पाश्वनाथके कालके जैनसाहित्यका कोई सकेत तक उपलब्ध नही है। फिर जैन परम्पराके अनुसार महावीर भगवानने जिस दिन धमतीथका प्रवतन करना प्रारम्भ किया उसी दिन पाश्वनाथका तीथकाल समाप्त हो गया और भगवान महावीरका तीथकाल चालू हो गया। आज भी उन्हीका तीथ प्रवर्तित है। अत उपलब्ध समस्त जैनसाहित्यके उदगमका मूल भगवान महावीरकी वह दिव्यवाणी ह, जो १२ वषकी कठोर साधनाके पश्चात केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर लगभग ४२ वषकी अवस्थामें (ईस्वी सनसे ५५७ वष) श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके[1] दिन ब्राह्ममुहूतमे राजगृहीके बाहर स्थित विपुलाचल पवतपर प्रथम बार निसृत हुई थी और तीस वष तक निसृत होती रही थी।

उनकी उस वाणीको हृदयगम करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अगोमे निबद्ध किया था। उस द्वादशागमे प्रतिपादित अथको यत गणधरने भगवान महावीरके मुखसे श्रवण किया था, इससे उसे 'श्रुत नाम दिया गया और भग-वान महावीर उसके[2] अथकर्ता कहलाये। गौतम गणधरने उसे ग्रन्थका रूप दिया,

---

१ षटखं० पु० १, पृ० ६२ ६३।

२ 'तत्थ कत्ता दुविहो अत्थकत्ता गथकत्ता चेदि। तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेत्ति।' —षट्खं० पु० १, पृ० ६०-६५

इसलिये वह ग्रन्थकर्ता कहलाये।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् वही द्वादशागरूप श्रुत गुरु शिष्यपरपराके रूपमें मौखिक ही प्रवाहित होता रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय तक अविच्छिन्न बना रहा। किन्तु उनके समयमे मगधमें बारह वर्षका भयकर दुर्भिक्ष पडनेसे सघ-भेद हो गया। और इस सघ भेदके कारण सबसे अधिक क्षति द्वादशागरूप श्रुतको पहुँची। उस समय द्वादशाग श्रुतके एकमात्र प्रामाणिक उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। किन्तु बौद्ध सगीतिकी तरह पाटलिपुत्रमे जो प्रथम जैन वाचना हुई कही जाती है वह उनकी अनुपस्थितिमे ही हुई। और उसमें भी केवल ग्यारह अगोका ही सकलन किया जा सका। किन्तु सबसे अधिक महत्त्व पूण बारहवा अग सकलित नही हो सका, क्योकि उसका जानकार श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरा व्यक्ति नही था।

भद्रबाहुके पश्चात जैन सघ दिगम्बर और श्वेताम्बर पन्थमे विभाजित हो गया और दोनोकी गुरुपरम्परा भी भिन्न हो गई। सभवतया श्रुतकेवली भद्रबाहुका वारसा दोनो ही परम्पराओको प्राप्त हुआ था। फलत दिगम्बर परम्परामे महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वष तक (विक्रम सम्वतकी दूसरी शताब्दी पयन्त) अगज्ञान यद्यपि प्रचलित रहा, किन्तु दिन पर दिन क्षीण होता चला गया।

श्वेताम्बर परम्परामे पाटलिपुत्रके बाद दूसरी वाचना मथुरामे की गई और वीर निर्वाणसे ९८० वष अथवा ९९३ वष पश्चात बलभीकी तीसरी वाचनाके समय सकलित ग्यारह अगाका पुस्तकारूढ किया गया। किन्तु महत्त्वपूण बारहवा अग तो नष्ट ही हो गया। उसीके भेद चौदह पूव थे। उन्हीके कारण बारहवे अगका महत्त्व था। श्वेताम्बर परम्पराम तो ग्यारह अगोकी उत्पत्ति पूर्वोमे ही मानी गई है। अत पूर्वोका महत्त्व निर्विवाद है।

इन्ही चौदह पूर्वोमेस दा पूर्वोके दो अवान्तर अधिकारोसे सम्बद्ध दो महान ग्रन्थराज दिगम्बर परम्पराम सुरक्षित है। उनम वर्णित विषय और उसका विस्तार भी पूर्वोके महत्त्वको स्थापन करता ह। दिगम्बर परम्पराके जनसाहित्यका इतिहास एक तरहसे इन्ही ग्रन्थराजोसे आरम्भ होता है। अथवा यह कहना उचित होगा कि दिगम्बर परम्पराके साहित्यका उद्गम पूर्वोके उन विशकलित अशोसे होता ह जो उसे उत्तराधिकारके रूपमे प्राप्त हुए थे।

जैनसाहित्यका विस्तार

जैन साहित्य बहुत विस्तृत ह, ऐसा कोई विषय नही है जिसपर जैनाचार्योंने अपनी लेखनी न चलाई हो। और इसका कारण यह ह कि भगवान् महावीरने अपने समयमें उपस्थित किसी चर्चाको अव्याकृत कहकर अलक्षित या उपेक्षित

नहीं किया था। तत्त्वज्ञान, आचार, लोकविभाग आदि सभी विषयोंपर उनकी वाणी प्रवाहित हुई थी। उनमेंसे अनेक विषयोंके सम्बन्धमें उनकी स्वतन्त्र और मौलिक देन थी, जो जैन तत्त्वज्ञानकी अपनी विशेषता कहलाती है। उनके पश्चात् उनके अनुयायी शिष्यो और प्रशिष्योंने टीकाओं और मौलिक रचनाओंके रूपमें उनके सिद्धान्तोको निबद्ध करके जैन साहित्यके भण्डारको बराबर समृद्ध किया।

यद्यपि भगवान् महावीरने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधीको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया था, और इस तरह गौतम गणधरके द्वारा ग्रथित द्वादशांग श्रुतकी भाषा भी अर्धमागधी थी। किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृतके ही भेद हैं, जैन आगमिक साहित्यकी रचनाका माध्यम रही। और जब संस्कृतभाषा लोकप्रिय हुई तो जैनाचार्योंने उसके भण्डार-को अपनी कृतियोंसे भरा। पीछे अपभ्रंश भाषाका प्रचार होनेपर अपभ्रंश भाषा-को अपनाकर उसे समृद्ध बनाया। अपभ्रंश भाषा तो एक तरहसे जैन ग्रन्थकारोकी कृतियोसे ही समृद्ध हुई थी।

इसलिये डाक्टर विन्टरनीटसने[1] लिखा था कि "भारतीय भाषाओके इतिहा-सकी दृष्टिसे भी जैनोका साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैनोंने सदा इस बात-का ध्यान रखा है कि उनकी रचनाएँ अधिक-से-अधिक जनताके लिये उपयोगी हो। इसीसे आगमिक रचनाएँ और प्राचीनतम टीकाएँ तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ और काव्य लिखना शुरू किये। कुछ ग्रन्थकारोने सरल संस्कृतमे रचनाएँ की, तो कुछने काव्यशैलीमे परिश्रमसाध्य संस्कृतभाषाको अपना कर प्राचीन संस्कृत-कवि-योस टक्कर ली। "।

अन्तमे काफी आधुनिक कालमें जैनोने विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषा-ओका भी उपयोग किया और उन्होने खासतौरसे हिन्दी और गुजराती भाषाको समृद्ध बनाया।[2]

---

१ हि० इ० लि०, भा० २, पृ० ४२७।

२ जैन साहित्यकी तालिकाके लिये देखिये—आर० जी० भण्डारकरकी रिपोर्ट १८८३ ८४, पिटर्सनकी रिपोर्ट ४, और ५, ए० बी० कीथकी 'बोडलियन (Bodlian) लाइब्रे-रीके प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, मध्यप्रदेश और बरारकी सरकारी आज्ञासे प्रकाशित संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची (नागपुर १९२६), रायल एशियाटिक सोसायटी बम्बई शाखा की लायब्रेरीके संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंकी वर्णनात्मक सूची जिल्द ३,४। इण्डिया आफिसके संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, जिल्द २। जिनरत्नकोश, पूना। जैन सिद्धान्त भवन आराकी सूची भा० ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित कन्नड प्रान्तीय ग्रंथसूची। राजस्थानके जैन भण्डारोंकी ग्रन्थसूची छह भाग। ऐलक पन्नलाल सरस्वती भवन बम्बईकी ग्रन्थ सूची तथा पाटन और जैसलमेरके भण्डारोंकी सूचियाँ, तथा अन्य सूचियाँ।

दक्षिणकी तमिल और कनडी भाषामे भी जैन साहित्य कम नहीं है। चन्द्र-गुप्त मौर्यके राज्यकालके अन्तमें श्रुतकेवली भद्रबाहु मगधमें दुर्भिक्ष पडने पर एक बडे साधु-सघके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। उसके बादसे दक्षिण जैन सस्कृतिका केन्द्र बन गया और लिंगायताके अत्याचारोके आरम्भ होने तक वहाँ जनोका अच्छा प्रभाव रहा। दिगम्बर परम्पराके अधिकाश प्राचीन ग्रन्थकार दक्षिणके थे। अत उन्होने प्राकृत और सस्कृतकी तरह कनडी और तमिलमें भी खूब रचनाए की। अतएव कनडी और तमिल भाषाम भी प्रचुर जैन साहित्य उपलब्ध ह। इस तरह जन साहित्य बहुत विस्तत है।

वर्गीकरण और कालक्रम

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओके साहित्यमें समस्त जैन साहित्यका वर्गीकरण विषयकी दष्टिसे चार भागोमे किया ह। वे चार विभाग है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयाग और द्रव्यानुयोग। पुराण चरित आदि आख्यानग्रन्थ प्रथमानयोगमे गर्भित किये गये ह। करणशब्दके दो अथ है—परिणाम और गणितके सूत्र। अत खगोल और भूगोलका वणन करनेवाले तथा जीव और कम के सम्बन्ध आदिके निरूपक कमसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ करणानुयोगमे लिए गये ह। आचार-सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोगमे आता है और द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोगमें आते है।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यह अनुयोग विभाग आयरक्षितसूरिने किया था। अन्तिम दसपूर्वी आयवज्रका स्वगवास वि० स० ११४ में हुआ। उसके बाद आयरक्षित हुए। उन्होने भविष्यमे होनेवाले अल्पबुद्धि शिष्योका विचार करके आगमिक साहित्यको चार अनुयोगामे विभाजित कर दिया। जैसे, ग्यारह अगोको चरणकरणानुयोगमें समाविष्ट किया ऋषिभाषितोका समावेश धमकथानुयागमे किया, सूयप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदिको गणितानुयोगमे रखा और बारहवें अग दष्टिवादको द्रव्यानुयागमे रखा[1]।

दिगम्बर परम्परामें जिसे प्रथमानुयोग नाम दिया है उसे ही श्वेताम्बर परम्परामें धमकथानुयोग कहा है और श्वे० परम्परामें जिसे गणितानुयोग सज्ञा दी गई है उसका समावेश दिगम्बर परम्पराके करणानुयोगमें होता है।

इस तरह विषयकी दष्टिसे जन आगमिक तथा तदनुसारी अन्य साहित्य चार भागोमें विभाजित है।

डा० विन्टरनीटसने लिखा है[2] कि यद्यपि जैनधम बौद्धधर्मसे प्राचीन है तथापि

---

१ आव० नि० गा० ७६३ ७७७।

२ हि० इ० लि० भा० २ पृ० ४२६।

जैनोका आगमिक साहित्य अपने प्राचीनतम रूपमें हम तक नही आ सका। दुर्भाग्य-से उसके कुछ भाग ही सुरक्षित रह सके और उनका वर्तमान रूप अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है।

डा० भण्डारकरने[1] दिगम्बर परम्परके कथनको विश्वस्त मानते हुए यह मत प्रकट किया था कि 'वीरनिर्वाणके पश्चात् ६८३ वष पर्यन्त, (ई० १३६) जब कि अगोके अन्तिम ज्ञाता आचार्यका स्वर्गवास हुआ, जैनोमे कोई लिखित आगम नही था'।

सम्भवतया यह बात बारह अगोके सम्बन्धमें कही गई है, क्योकि उनका लेख-नकाय श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार वीरनिर्वाणसे ९८० या ९९३ वष पश्चात् हुआ था।

किन्तु डा० विन्टरनीटसका मत ह कि उक्त द्वादशागरूप आगमसाहित्यसे इतर आगमिक जैन साहित्यकी रचना श्वेताम्बरीय आगम-सकलनासे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गई थी, जैसा कि हमें आगे ज्ञात हो सकेगा।

सब बातोको दृष्टिमे रखते हुए जैन साहित्यके विकासका इतिहास प्रथम शताब्दी ईस्वीपूवसे आरम्भ होकर वतमानकाल तक आता ह। इस सुदीघ कालको पाँचसौ-पाँचसौ वर्षोंम विभाजित करनेसे निम्न प्रकारसे उसका विभाग होगा—

१ ईस्वी पूव प्रथम शताब्दीसे ईस्वी सन्की चतुथ शताब्दीके अन्ततक।

२, ईस्वी सनकी पाचवी शताब्दीके प्रारम्भसे ईस्वी सनकी नौवी शताब्दीके अन्ततक।

३ ईस्वी सनकी दसवी शताब्दीके प्रारम्भमे १४वी शताब्दीके अन्ततक।

४ और ईस्वी सन १५ वी शताब्दीके प्रारम्भसे १९ वीं शताब्दीके अन्ततक।

श्रुतावतार

अन्तिम[2] तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामीने केवलज्ञान होनेके पश्चात राज-गृह नगरके निकट विपुल नामक पर्वतपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन ब्राह्म मुहू-र्तमें अपनी प्रथम धर्मदेशना दी। उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमने उसे बारह अगो और चौदह पूर्वोमे निबद्ध किया। इस श्रुतके अथकर्ता भगवान महा-वीर थे और ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर। गौतम गणधरसे वह श्रुत लोहाचार्य अपर नाम सुधर्मा स्वामीको प्राप्त हुआ और सुधर्मासे जम्बू स्वामीको। जम्बू स्वामीके

---

१ रिपोर्ट १८८३ ८४, पृ० १२४।

२ भूतबली पुष्पदन्तकृत षट्खं०, पु० १, पृ० ६५-६६। गुणधरकृत क० पा०, भा० १, पृ० ८३-८७।

पश्चात क्रमश पाच आचाय श्रुतज्ञानके पारगामी हुए, जिनमे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भद्रबाहुके पश्चात श्रुतज्ञानका क्रमश विच्छेद होना प्रारम्भ हो गया।

भद्रबाहुके पश्चात ग्यारह आचाय ग्यारह अगो और दस पूर्वोके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात क्रमश पाँच आचाय ग्यारह अगोके पारगामी और चौदह पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमश चार आचाय आचारागके पूण ज्ञाता और शेष अगो तथा पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। इस तरह भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात ६८३ वषतक श्रुतकी परपरा चालू रही।

तत्पश्चात सब अगा और पूर्वोका एकदेश धरसेनाचाय और गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधर भट्टारक ज्ञानप्रवाद नामक पचम पूवकी दसवी वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत नामक महासमुद्रके पारगामी थे। उन्होने ग्रन्थविच्छेदके भयसे सोलह हजार पदप्रमाण 'पेज्जदोसपाहुड का एकसौ अस्सी गाथाओमें उपसहार किया और उन्हे कसायपाहुड (कषायप्राभृत) नाम दिया। आचाय धरसेन अष्टाग महा निमित्तक पारगामी थे और उस समय सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामे रहते थे। उन्होने ग्रन्थ विच्छेदके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर महिमा नामकी नगरीम सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योके पास एक लेख भेजा। उस लेखमे धरसेनाचायके अभिप्रायको भली भाँति जानकर उन आचार्योने दो सुयाग्य साधुओको आध्र देशम बहनेवाली वेणा नदीके तटसे भेजा।

इधर एक दिन धरसनाचायने रात्रिके पिछले पहर स्वप्नमे दो श्वेत विनम्र बैलोको अपने चरणोमे नमस्कार करते हुए देखा। उसी दिन वे दोनो साधु धर-सेनाचायके चरणोमे पहुँच गये। मागका श्रम दूर होने पर तीसरे दिन दोनो साधुओने अपने आगमनका प्रयोजन आचायसे निवेदित किया। आचायने उनकी परीक्षा लेनेके निमित्तसे उन्ह विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए दी। उनमेसे एकमे अधिक अक्षर थे और दूसरीमे कम। विद्याएँ सिद्ध हो गइ, किन्तु दोनों विद्यादेवताओका रूप विकृत था एक देवीके दाँत बाहर निकले थे और दूसरी कानी थी। 'देवता विकृत अगवाले नही होत' ऐसा विचारकर उन दोनोने मत्रशास्त्र-सम्बन्धी व्याक-रणसे अपनी अपनी विद्याओके हीनाधिक अक्षरोको ठीक करके पुन सिद्ध किया, तो दोनों विद्यादेवताएँ अपने स्वाभाविक रूपमें दृष्टिगोचर हुइ।

विद्या सिद्ध करनेपर उन्होने आचार्यसे सब वृत्तान्त निवेदित किया। सन्तुष्ट होकर धरसेनने उन्हे पढाना प्रारम्भ किया। पठन समाप्त होनेपर उनमेंसे एक-की पूजा भूत जातिके देवोने की। इससे धरसेनने उनका नाम भूतबलि रखा। दूसरे साधुकी भूतोंने अस्त व्यस्त दतपक्तिको पूजापूवक सुन्दर बना दिया, इससे

उसका नाम पुष्पदन्त रखा ।

धरसेनसे विदा लेनेके पश्चात् दोनो साधुओंने अकलेश्वर (गुजरात) में वर्षावास किया । वर्षायोग समाप्त होनेपर आचार्य पुष्पदन्त तो जिनपालितको देखनेके लिए बनवास देशको चले गये और भूतबलि द्रमिल देशको चले गये । पुष्पदन्तने सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी रचना की और जिनपालितको दीक्षा देकर तथा पढ़ाकर भूतबलिके पास भेज दिया । भूतबलिने जिनपालितके पास सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे और उसके द्वारा यह भी जाना कि पुष्पदन्तकी अल्प आयु शेष है । अत उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जानेकी आशका हुई । तब उन्होंने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ रचना की । इस तरह भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यने षटखण्डागम सिद्धान्तकी रचना की ।

श्रुतावतारका यह विवरण वीरसेन स्वामीने कसायपाहुडकी टीका जयधवलामें तथा षटखण्डागमकी टीका धवलामे दिया है । किन्तु इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे[1] दोनो ग्रन्थोके अवतारका वर्णन क्रमश किया है । उन्होने प्रथम षट्खण्डागमके अवतारकी कथा दी है, पश्चात कसायपाहुडके अवतारकी । षट्खण्डागमकी अवतारकथामे इतना विशेष कथन है कि भूतबलि आचार्यने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारको लेकर पाँच खण्डोकी रचना की फिर महाबन्ध नामक छठे खण्डकी रचना की । इस तरह भूतबलि आचार्यने षटखण्डागमकी रचना करके उन्हे पुस्तकोमे स्थापित किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमीके दिन चतुर्विध सघके साथ पुस्तकोके द्वारा विधिपूर्वक पूजा की । इससे वह तिथि श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई । आज भी जैन उस दिन श्रुतपूजा करते हैं ।

सक्षपमे यह उन दो सिद्धान्त-ग्रन्थोके अवतारकी कथा है जिनका पूर्वोके साथ साक्षात् सम्बन्ध है और जिनके ऊपर कितनी ही टीकाएँ रची गई थीं ।

यद्यपि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागमके अवतारकी कथाको प्रथम स्थान दिया है और वीरसेन स्वामीने भी प्रथम उसीपर टीका रची थी, तथापि रचनाकाल आदिकी दृष्टिसे कषायपाहुड प्रथम प्रतीत होता है । अत प्रथम उसीके सम्बन्धमें विवेचन किया जाता है ।

---

१ 'एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यै ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु तत ॥१४२॥
ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेत ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्या श्रुतपूजां कुर्वते जैना ॥१४४॥
—तत्त्वानु० पृ० ८६

कषायपाहुड

कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर

वीरसेन स्वामीकी जयधवला टीका तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे यह तो स्पष्ट है कि कसायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधर थे। किन्तु वे कौन थे और कब हुए थे इत्यादि बातोंका जाननेके कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन्द्रनन्दिने[1] तो अपने श्रुतावतारमें स्पष्ट लिख दिया है कि गुणधर और धरसेनके वंशगुरुके पूर्वापर क्रमको हम नहीं जानते, क्योंकि उनके अन्वयका कथन करने वाले आगम और मुनिजनोंका अभाव है। ऐसी स्थितिमें गुणधर और धरसेनकी वंशपरम्पराके सम्बन्धमें तथा उनके पौर्वापर्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कितना कठिन है, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रनन्दिके पूर्वज वीरसेन दोनोंको वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् हुआ बतलाते हैं, किन्तु दोनोंकी पूर्वपरम्पराके सम्बन्धमें वह भी मूक हैं। अतः स्पष्ट है कि वीरसेन स्वामीको भी दोनोंका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं था। चूंकि वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त अंगज्ञानके प्रवाहित होनेकी परम्परा प्रवर्तित थी और अंगज्ञानके प्रवर्तित रहते किसी अंगज्ञानीने अंगज्ञानको पुस्तकारूढ़ करनेका प्रयत्न किया हो, ऐसा कोई संकेत अनुपलब्ध था और गुणधर तथा धरसेनका नाम अंगज्ञानियोंकी परम्परामें था नहीं। अतः वीरसेनने दोनोंको वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् बतला दिया। किन्तु ६८३ वर्षके कितने काल पश्चात् दोनों हुए, यह भी वह नहीं बतला सके।

जहाँ तक हम जान सके हैं, वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त होने वाले अंगज्ञानियोंकी परम्पराका सबसे प्राचीन निर्देश[2] त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें मिलता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति आचार्य यतिवृषभकी कृति मानी जाती है। और आचार्य यतिवृषभने ही गुणधरके कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। किन्तु उन्होंने भी गुणधरके विषयमें कुछ नहीं लिखा।

अतः हमें गुणधराचार्यके विषयमें जयधवला टीका और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ही नीचे लिखी जानकारी प्राप्त होती है—

१. गुणधराचार्य ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत या पेज्जदोसपाहुडरूपी महासमुद्रके पारगामी थे।

---

१. गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

२. ति० प० अ० ४, गा० १४७६-१४९२।

२ उन्होंने सोलह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडको एकसौ अस्सी गाथाओंमें निबद्ध किया था ।

३ जयधवलाकारके अनुसार वे गाथाएँ आचार्य-परम्परासे आकर आयमक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुई थी । किन्तु इन्द्रनन्दिके अनुसार गुणधरने स्वयं उनका व्याख्यान नागहस्ती और आयमक्षुके लिये किया था ।

४ गुणधराचार्य अंगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जाने पर वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात किसी समय हुए ।

५ जयधवलाकारने उन्हे वाचक भी लिखा है ।

अत गुणधराचार्यकी परम्परा तथा कालनिर्णय करनेके लिये उनके उत्तराधिकारी आयमक्षु और नागहस्तीकी ओर ध्यान देना आवश्यक है ।

आयमक्षु और नागहस्ती—

किन्तु गुणधरकी तरह आयमक्षु और नागहस्तीका उल्लेख कषायप्राभृतके प्रसंगसे केवल जयधवलाटीका और श्रुतावतारमे ही मिलता है, उपलब्ध अन्य दिगम्बर जैन साहित्य या शिलालेखो अथवा पट्टावलियोमे नही मिलता । जयधवलाकारने[1] गुणधरको तो केवल वाचक लिखा है किन्तु आयमक्षु और नागहस्तीके पहले महावाचक[2] और पीछे 'खवण' या 'महाखवण' जैसे आदरसूचक विशेषण लगाये हैं । इससे इतना ही व्यक्त होता है कि दोनो महान आचार्य थे । इससे अधिक इनके सम्बन्धमे ज्ञात करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है । हाँ, एक बात अवश्य उल्लेखनीय है । चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे कई विषयोके सम्बन्धमे दो उपदेशोका उल्लेख किया है और उनमेसे एक उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है । जयधवलाकारने 'पवाइज्जमाण' का अर्थ 'सर्वाचार्यसम्मत और गुरुशिष्यपरम्पराके क्रमसे आया हुआ' किया है । तथा उक्त उपदेशोमें नागहस्तीके उपदेशको पवाइज्जमाण और आयमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है । इसके सम्बन्धमे आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा ।

कतिपय श्वेताम्बर पट्टावलियोमे आयमंगु और नागहस्ती नामके आचार्योका निर्देश अवश्य मिलता है । नन्दिसूत्रकी[3] स्थविरावलीमें इन दोनो आचार्योका सम-

---

१ 'एतनाशङ्का यानिता आत्मीया गुणधरवाचकेन । —क० पा० भा० १ पृ० ३६५ ।

२ महावाचयाणमज्जमखुखवणाणमुवदेसेण
महावाचयाणं णागहत्थिखवणाणमुवदेसेण । —ज० ध० प्रे सकापी, पृ० ७५८१ ।

३ 'भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥'
वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।
वागरणकरणभंगियकम्मपयडीपहाणाणं ॥३०॥, —नन्दि०

रण बडे आदरके साथ करते हुए आयमगुको ज्ञान और दशन गुणोका प्रभावक तथा श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा ह और नागहस्तीका कमप्रकृतिमे प्रधान बतलाते हुए उनके वाचकवशकी वृद्धिकी शुभकामना की ह ।

आवश्यक नि० मे[1] गणधरवशके साथ वाचकवशको भी नमस्कार किया है। टीकाकार मलयगिरिने इसकी टीकामे वाचकका अथ उपाध्याय, और गणधरका अथ आचाय किया है। किन्तु नन्दिसूत्रकी टीकाम उन्होने वाचकका दूसरा ही अथ दिया ह—'जो शिष्योको पूवगत सूत्र तथा अन्य सूत्रोकी वाचना करता है उसे वाचक कहते[2] ह ।

षटखण्डागमके वगणाखण्डके अन्तगत बन्धन अनुयोगद्वारके १९व सूत्रमे भी वाचक गणि आदि लब्धियोका निर्देश ह । धवलाटीकाकार वीरसेन स्वामीने ग्यारह अगोके ज्ञाताको गणी और बारह अगोके ज्ञाताको वाचक[3] कहा ह । इससे यही व्यक्त होता ह कि पूर्वोके ज्ञाताको वाचक कहा जाता था और वाचकोकी परम्पराको वाचकवश कहा जाता होगा ।

श्वेताम्बर मुनि दशनविजयजीने लिखा[4]—'विक्रमकी छठी शताब्दी तक जैन ग्रन्थोमें पूववित होनेका उल्लेख ह । पूवज्ञानका विच्छेद हानेके बाद वाचकवश या वाचकशब्दका कोई पता नही लगता । इससे भी वाचक और पूववितका सम्बन्ध ठीक मालूम होता ह ।'

मुनिजीके लेखानुसार वाचकवश माथुरी वाचनाका सूत्रधार अर्थात आगमसग्राहक सम्प्रदाय था । इसकी पट्टावली नन्दिसूत्रमे है । उसके अनुसार आय नागहस्तिसे आय नागाजुन वाचक तक वाचकवश होना सम्भव है ।

उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उल्लेखोसे यह प्रकट है कि पूवविदको वाचक कहते थे । किन्तु वाचकवशकी स्थिति स्पष्ट नही होती । नागहस्तीके वाचकवश' से तो यही ज्ञात होता ह कि नागहस्ती वाचकवशके सस्थापक थे । किन्तु आगे नन्दीसूत्रमे[5] रेवती नक्षत्रके वाचकवशकी वृद्धिकी कामना की गई है। और टीका-

---

१ एक्कारस वि गणहरे पवायए पवयणस्य वदामि ।
सव्व गणहरवम वायगवस पवयण च ॥८२॥
—आ० नि०

२ पूर्वगत सूत्रमन्यच्च विनेयान् वाचयन्तीति वाचका तेषां वंश —क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाह ।'
—नं० सू० टी०, गा० ३० ।

३ षट्ख०, पु० १४ पृ० २२ ।

४ अनेकान्त, वर्ष १ पृ० ५७७ ।

५ जच्चं जणधाउसमप्पहाणमुद्दिय कुवलयनिहाणं ।
वड्ढउ वायगवसो रेवइनक्खत्तनामाण ॥३१॥'

कार मलयगिरिने उन्हे नागहस्तीका शिष्य बतलाया है ।

इसके सिवाय प्रज्ञापनासूत्रके प्रारम्भमे दो गाथाओके द्वारा उसके कर्ता श्यामार्यको नमस्कार करते हुए उन्हें वाचकवरवंशका तेईसवाँ धीर पुरुष बतलाया है । चूकि ग्रन्थकी आदिमें ग्रन्थकार अपनेको नमस्कार नही करता, इसलिए टीकाकार मलयगिरिने उन दो गाथाओको अन्यकर्तृक कहा है, किन्तु व्याख्यान दोनों गाथाओका किया है । उन्होने लिखा है कि सुधर्मा स्वामीसे लेकर भगवान आर्य श्याम तेवीसवें थे । इसका मतलब यह होता है कि परम्परा सुधर्मासे आरम्भ हुई । किन्तु सुधर्मासे श्यामार्य तक स्थविरोकी संख्या १२ ही होती है । अत भगवान् महावीर और उनके शेष दस गणधरोको भी उसमें सम्मिलित करके वीरसे श्यामार्य तककी तेईस[1] संख्या पूरी की गई है और इस तरहसे वाचकवरोका वंश भगवान् महावीरसे प्रारम्भ हुआ माना जाता है । किन्तु जिस श्यामार्यको प्रज्ञापनाका कर्ता और वाचकवंशका तेवीसवाँ पुरुष कहा है उनकी स्थिति निर्विवाद नही है । मेरुतुगकी विचारश्रेणिमे उस स्थान पर कालकाचार्यका नाम है । और व्याख्यामे लिखा है कि यह निगोदव्याख्याता कालकाचार्य ही श्यामार्य हैं या अन्य हैं, यह विचारणीय है । तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें उन्हे तत्त्वार्थसूत्रकार स्वातिका शिष्य बतलाया है । और वीर निर्वाणके ३७६वें वर्षमें उनका स्वर्गवास बतलाया है । पट्टावलीसारोद्धारमे[3] भी यही काल दिया है । एक टिप्पणीमें[5] लिखा है कि चार कालकाचार्य हुए, जिनमेसे प्रथम इन्द्रके प्रतिबोधक निगोदका व्याख्यान करनेवाले श्यामाचार्य थे, जो स्वातिके शिष्य थे और वी० नि० सं० ३२० से ३३५ में हुए थे । नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमे भी उन्हे स्वातिका शिष्य बतलाया है ।

किन्तु प्रज्ञापनामे जो उन्हें वाचकवरवंशका तेवीसवाँ पुरुष बतलाया है उससे

---

१ वायगवरवंसाउ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं ॥३॥
सुयसागराविणेऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिण्ण ।
सीसगणस्स भगवओ तस्स णमो अज्जसामस्स ॥४॥
टी०—'वाचका पूर्वविदो वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवरा वाचकप्रधानास्तेषा वंश प्रवाह । सुधर्मस्वामिन आरभ्य भगवानार्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव ।'
—प्रज्ञा०

२ 'अयं च प्रज्ञापनोपाङ्गकृतसिद्धान्ते श्रीवीरादनेकादशगणभृद्भि सह त्रयोविंशतितम पुरुष श्यामार्य इति व्याख्यात ।' ततोऽसौ श्यामार्योऽन्यो वेति चिन्त्यम् ।'—वि०श्र० ।

३ पट्टा० स० पृ० ४६ ।

४ पट्टा० सं०, पृ० १५० ।

५ चत्वार कालिकाचार्या । तद्यथा—प्रथम शक्रप्रतिबोधक- प्रज्ञापनासूत्रकृत् श्रीस्वातिसूरिशिष्य श्यामाचार्य वी० सं० ३२० त ३३५'—पट्टा० स०, पृ० १९८ ।

केवल यही व्यक्त होता है कि वे पूर्वविदोकी परम्परामेंसे थे। किन्तु उससे वाचक-वशकी स्थितिपर कोई प्रकाश नही पडता।

यह हम ऊपर लिख आये है कि आवश्यकनियुक्तिमे गणधरवशके साथ वाचक-वशको भी नमस्कार किया ह। विशेषावश्यकभाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमें[1] उसका विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यदि गणधरो और वाचकोका वश न होता तो जिनवर भगवान और गणधरोसे उत्पन्न हुए श्रुतका ग्रहण, धारण और दान आदि कौन करता? जैसे गणाधिप (गौतमादि) और गणधर (जम्बूस्वामी आदि शेष आचाय) द्वादशागके वक्ता होनेके कारण शिष्योके हितकारी ह, वैसे ही उस सूत्रके पाठक उपाध्याय भी शिष्योके हितकारी हैं। अत उन उपाध्यायोके वशको भी नमस्कार करते है।'

इस भाष्यके अथसे स्पष्ट ह कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने वाचकवशसे द्वादशागके पाठकोकी परम्पराका ही ग्रहण किया ह। उन्होने वाचकनामके किसी विशेष वशको सचना नही की।

अत मूल द्वादशागके वक्ता वाचक कहे जाते थे और उनकी परम्पराका वाचकवश कहते थे। किन्तु नन्दिसूत्रम जो नागहस्तीके वाचकवशका उल्लेख है वह उक्त सामान्य अथम प्रयुक्त न होकर विशेप अथमे प्रयुक्त हुआ है।

आयमगु और नागहस्तीमेसे आयमगुकी गणना दशपूर्वियोमें की जाती है, क्योकि वे अन्तिम दशपूर्वी वज्रस्वामीसे पहले हुए माने जाते है। किन्तु नागहस्ती वज्रस्वामीके पश्चात हुए थे, अत वे दशपूर्वी नही थे। वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी[2] आयरक्षित थे। वे सम्पूण नौ पूव और दशम पूवके २४ यविक मात्रके पाठी थे। उनके शिष्य दुवलिका पुष्पमित्र नौ पूव पढ़कर भी नवें पूवका भूल गये।

प्रभावकचरितम[3] आयनन्दिलको आयरक्षितके वशका तथा साढे नौपूर्वी बतलाया ह। किन्तु नन्दीसूत्रकी टीकामे मलयगिरिने आयनन्दिलको आयमगुका शिष्य बतलाया ह और आय नन्दिलके शिष्य नागहस्ती थे। नन्दिसूत्रमें आयमगुको श्रुत-सागरका पारगामी और आयनन्दिलको दशन, ज्ञान एव तपमें नित्य उद्यत तथा नागहस्तीको कमप्रकृतिम प्रधान बतलाया है। टीकाकार मलयगिरिने नदिसू० टीकामे 'कमप्रकृति प्रसिद्ध ह' मात्र इतना ही लिखा है। किन्तु कर्मप्रकृतिकी टीकामे उन्होने दूसरे अग्रायणी पूवके पचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुथ प्राभृतका

१ जिणगणहरुग्गयस्स वि सुयस्स को गहणधरणदाणाइ
कुणमाणा यह गणहरवायगवसो न होज्जाहि ॥१०६६॥
सीसहिया वत्तारो गणाहिवा गणहरा तपत्थस्स
सुत्तस्सोवज्झाया वंसो तेसिं परम्परओ ॥१०६७॥ —विशे० भा०।

२ विशे० भा०, टी गा० २५११।

३ आर्यनन्दिल प्रबन्ध —प्र० च०।

नाम कर्मप्रकृति बतलाया है। यह वही कर्मप्रकृतिप्राभृत है जिसके अन्तिम ज्ञाता दिगम्बर परम्परामे धरसेनाचार्य थे और जिसे उनसे पढ़कर भूतबलि और पुष्पदन्तने षट्खण्डागमकी रचना की थी। अत नागहस्ती पूर्वपदांशवेदी थे। उनके समयमें पूर्वोके ज्ञानका बहुत कुछ लोप हो गया था। सम्भवत इसीसे उन्होंने वाचकोकी परम्परा (वश) स्थापित करके उनके बचे-खुचे अशोको सुरक्षित बनाये रखनेका प्रयत्न किया था।

श्वेताम्बर परम्परामे पूर्वोके ज्ञानकी परम्पराका चलन वीर नि० के एक हजार वष पयन्त माना गया है। माथुरी वाचनाके समयमे बलभीमें आगमवाचना करनेवाले नागाजुनको नन्दिसूत्रमे वाचक तथा उनके गुरु हिमवतका पूवधर लिखा है। इससे प्रकट होता है कि कम-से-कम माथुरी वाचना पयन्त पूर्वविद थे। किन्तु माथुरी और उसके समकालीन बालभी वाचनाओमें यद्यपि ग्यारह अगोंकी वाचना ता हुई किन्तु पूर्वोके किसी भी अशकी वाचना नही हुई। यदि हुई होती तो माथुरी वाचनाके डेढसौ वष बाद वलभीमे हुई अन्तिम वाचनामे ग्यारह अगो-की तरह पूर्वोके भी कुछ अश अवश्य लिपिबद्ध किए जाते, किन्तु ऐसा नही किया गया। अत स्पष्ट है कि श्वेताबर परम्परामे पूर्वोका ज्ञान नागहस्तीसे पहले ही विलुप्त हो चुका था। वह भी घटते-घटते देवर्द्धिगणिके कालमें केवल विषयसूची आदिके रूपमे ही अवशिष्ट रहा, जिसका प्रमाण नन्दिसूत्र तथा समवायागसूत्रमें पायी जानेवाली दष्टिवादविषयक सूची है। अस्तु, अब हमें देखना है कि नन्दिसूत्र-की स्थविरावलीमें आगत आयमगु और नागहस्ती कब हुए थे।

नन्दिसूत्रमे आयमगुके पश्चात आय नन्दिलको स्मरण किया है और उनके पश्चात नागहस्तीको। नन्दिसूत्रकी चूर्णि और हरिभद्रकी नन्दिवृत्तिमें भी यही क्रम पाया जाता ह। तथा दोनोमे आयमगुका शिष्य आय नन्दिलको और आय नन्दिलका शिष्य नागहस्तीको बतलाया है। इससे नागहस्ती आयमगुके प्रशिष्य अवगत होते है। किन्तु मुनि कल्याणविजयजीका कहना है कि आयमगु और आय नन्दिलके बीचमे चार आचार्य और हो गये हैं और नन्दिसूत्रमें उनसे सम्बद्ध दो गाथाएँ छूट गई ह जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस कथनके समथनमें उनका कहना है कि आय मगुका युगप्रधानत्व वीर नि० ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आय नन्दिल आय रक्षितके पश्चात हुए थे और आर्य रक्षितका स्वर्गवास वी० नि० स० ५९७ में हुआ था। इसलिए आर्य नन्दिल वी० नि० स० ५९७ के पश्चात हुए थे। इस तरह मुनिजीकी कालगणनाके अनुसार आर्य मगु और आर्य नन्दिलके मध्यमें १२७ वषका अन्तराल है। और उसमें आर्य नन्दिलका समय और जोड देने पर आर्य मंगु और नागहस्तीके बीचमें १५० वर्षके लगभग अतर बैठता है। अत मुनि कल्याणविजयजीके अनुसार आर्य मगु और नागहस्ती सम-

कालीन नहीं हो सकते । किन्तु जयधवलाकार[1] चूर्णिसूत्रोंके कर्ता आचार्य यतिवृषभको आर्य मक्षुका शिष्य और नागहस्तीका अन्तेवासी बतलाते हैं । यद्यपि साधारणतया शिष्य और अन्तेवासीका एक ही अर्थ माना जाता है तथापि चूँकि अन्तेवासीका शब्दार्थ 'निकटमें रहनेवाला' भी होता है और इसलिये यतिवृषभको नागहस्तीका निकटवर्ती साक्षात शिष्य और आर्यमक्षुका परम्परा शिष्य माना जा सकता है । किन्तु जयधवलाकारका कहना है कि यतिवृषभने उन दोनोंके पादमूलमें गुणधर कथित गाथाओंके अर्थका श्रवण किया । अतः दोनों समकालीन होने चाहिये ।

जयधवलाकारके अनुसार गुणधर आचार्य अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त होनेपर वीर नि० सम्वत् ६८३ के बादमें हुए । और श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार आर्य मंगुका युगप्रधानत्व वीर नि० सम्बत ४७० में समाप्त हुआ । अतः गुणधरका समय मंगुसे दो सौ वर्षोंसे भी अधिक उत्तरकालीन होनेसे गुणधरकी गाथाएँ आर्य मंगुको प्राप्त नहीं हो सकती । रहे नागहस्ती । सो यदि मुनि कल्याणविजयजीके मतानुसार आर्य मंगु और नागहस्तीके मध्यमें १५० वर्षोंका अन्तर मान लिया जाता है तो वीर नि० सं० ६२० में उन्हें पट्टासीन होना चाहिए । श्वेताम्बर परम्परामें उनका युगप्रधानकाल ६९ वर्ष माना जाता है । अतः उनका समय वी० नि० ६८९ तक जाता है । यदि गुणधराचार्यको वीर नि०सं० ६८३ के लगभगका मानकर सीधे गुणधरसे ही नागहस्तीका कसायपाहुडकी प्राप्ति हुई मान ली जाये, जैसा कि इन्द्रनन्दिका मत है तो गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जाता है किन्तु एक दूसरी बाधा उपस्थित होती है—

जयधवलाकार और इन्द्रनन्दि दोनोंका कहना है कि आर्यमक्षु और नागहस्तीके पास कसायपाहुडके गाथासूत्रोंका अध्ययन करके यतिवृषभ आचार्यने उनपर चूर्णिसूत्र रचे । वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभका समय वी० नि० सं० १०००के आस पास होता है । अतः उक्त प्रकारसे गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जानेपर भी नागहस्ती और यतिवृषभका गुरु शिष्यभाव नहीं बनता, नागहस्तीके दूसरे साथी आर्य मंगुको तो पहले ही छोड़ा जा चुका है ।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वयं यतिवृषभने आर्य मक्षु या नागहस्तीका कोई निर्देश नहीं किया । उनके चूर्णिसूत्रोंमें किसी आचार्य का संकेत तक नहीं है । त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथामें गुणधरका नाम होनेकी सम्भावना अवश्य है । अपने चूर्णिसूत्रोंमें वे पवाइज्जमाण और अपवाइज्जमाण

---

१ जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥'

—क० पा० भा० १०, पृ ४ ।

उपदेशका निर्देश अवश्य करते हैं, किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है इसकी कोई चर्चा नही करते। यह चर्चा करते हैं जयधवलाकार, जिन्हे इस विषयमें अवश्य ही अपने पूर्वके अन्य टीकाकारोका उपदेश प्राप्त रहा होगा। ऐसी अवस्थामें आय मक्षु, नागहस्ती तथा यतिवृषभके गुरुशिष्य-भावको सहसा काल्पनिक और भ्रान्त भी नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या दिगम्बर परम्परामें आयमक्षु और नागहस्ती नामके श्वेताम्बर परम्पराके उक्त नामधारी दोनो आचार्योंसे भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य हुए है जो महावाचक और क्षमाश्रमण जैसी उपाधियोंसे भूषित थे ? किन्तु इस विषयमें कहीसे प्रकाश प्राप्त नही होता, क्योंकि किसी दिगम्बर पट्टावलीमे इन आचार्योंका नाम नही मिलता।

इसके सिवाय दोनोंकी तुलना करनेसे कतिपय बातोमें समानता भी पायी जाती है। श्वेताम्बर परम्पराके आर्यमंगुकी तरह दिगम्बर परम्पराके आर्यमक्षु भी नागहस्तीसे जेठे थे, क्योंकि जयधवलाकारने सवत्र नागहस्तीसे पहले आर्य मक्षुका नाम निर्देश किया है। दूसरे, मगलाचरणमें तो आर्य मक्षुको ही विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है—'जिन आर्यमक्षुने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओंके समस्त अथका अवधारण किया, नागहस्ती सहित वे आर्यमक्षु हमें वर प्रदान करे।' यहाँ नागहस्तीका केवल नाम निर्देश किया है और आर्यमंक्षुको गुणधरकृत गाथाओके समस्त अथका अवधारक कहा है। किन्तु आय मक्षुको ज्येष्ठता देनेपर भी जयधवलाकारने उनके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण और नागहस्तीके उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है। जो उपदेश सर्वाचाय सम्मत होता है और चिरकालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्यपरम्पराके द्वारा लाया जाता है उसे पवाइज्जमाण कहते है। किन्तु जयधवलाकारने आय मक्षुके सभी उपदेशोको 'अपवाइज्जमाण' नही कहा है। ऐसे भी प्रसग है जहाँ दोनोके उपदेशोको 'पवाइज्जमाण' कहा है। परन्तु ऐसे प्रसग वे ही हैं जिनमे आयमक्षु और नागहस्तीमें मतैक्य है। इससे यह प्रकट होता है कि नागहस्तीके उपदेश ही पवाइज्जमाण माने जाते थे—आर्य मक्षुके नही।

उधर श्वेताम्बर साहित्यमें आर्य मगुकी एक कथा पाई जाती है, जिसमें लिखा है कि आर्य मंगु मथुरामे जाकर भ्रष्ट हो गये थे और मरकर यक्ष हुए थे। शायद इसीसे उनके उपदेशोंका मूल्य नही रहा था। इत्यादि बातोसे दोनो परम्पराओंके उक्त समान नामवाले दोनों आचार्य एक ही प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। नन्दिसूत्रके अनुसार नागहस्ती कमप्रकृति (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) के विशिष्ट ज्ञाता थे और जयधवलाके अनुसार कषायप्राभृतके विशिष्ट ज्ञाता थे। नागहस्तीसे कषायप्राभृतका अध्ययन

करके यतिवषभने उसके ऊपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। उन चूर्णिसूत्रोमें यति-वषभने 'एसा कम्मपयडीसु' के द्वारा कमप्रकृतिका निर्देश किया है। इससे यह प्रकट होता ह कि यतिवृषभ महाकमप्रकृतिप्राभतके भी ज्ञाता थे। सम्भवतया उसका भी अध्ययन उन्होने नागहस्तीसे किया होगा। इसमे भी नन्दिसूत्रमें निर्दिष्ट नागहस्ती और जयधवलामे निर्दिष्ट नागहस्ती एक प्रतीत होते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चू कि कषायप्राभृत और कमप्रकृति दोनों कर्मसिद्धा-न्तसे सम्बद्ध थे, इसलिए दोनोके कुछ प्रतिपाद्य विषयोमे समानता थी। दिगम्बर परम्परामें तो 'कमप्रकृति' नामक कोई ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नही है किन्तु श्वे ताम्बर परम्परामें कमप्रकृति नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात) से प्रकाशित हुआ है। उसके कर्ताका नाम शिवशमसूरि कहा जाता ह। किन्तु अभी वह निर्विवाद नही है। कमप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामे कहा है'— मैंने अल्पबुद्धि होते हुए भी जैसा सुना वैसा कमप्रकृतिप्राभतसे इस ग्रन्थका उद्धार किया। दृष्टिवादके ज्ञाता पुरुष स्खलिताशोको सुधारकर उनका कथन करे।' इस ग्रन्थपर एक चूर्णि ह। उसके आरम्भमे लिखा ह कि—'विच्छिन्न कम-प्रकृति महाग्रन्थके अथका परिज्ञान करानेके लिए आचाय ने उसीका साथक नाम धारी कमप्रकृतिसग्रहणी प्रकरण प्रारम्भ किया ह।' अत यह ग्रन्थ प्राचीन होना चाहिए।

इसके सक्रमकरण नामक अधिकारमे कषायप्राभृतके बन्धक महाधिकारके अन्तगत सक्रम अनुयोगद्वारकी तेरह गाथाए अनुक्रमसे पाई जाती हैं। तथा सर्वोपश मनानामक प्रकरणमे कषायप्राभृतके दशनमोहोपशमना नामक अधिकारकी चार गाथाए पाई जाती ह। दोना ग्रन्थोम आगत उक्त गाथाओके कुछ पदा और शब्दो में व्यतिक्रम तथा अन्तर भी पाया जाता ह।

यहाँ इस बातके निर्देशसे केवल इतना ही अभिप्राय व्यक्त करना ह कि कषायप्राभतके ज्ञाता कमप्रकृतिके और कमप्रकृतिके ज्ञाता कषायप्राभतके अशत या पूणत ज्ञाता होते थे। अत नागहस्ती दानोके ज्ञाता थे और उन्होकी तरह यतिवृषभ भी दोनोक ज्ञाता थ। किन्तु कषायप्राभतके वह विशिष्ट ज्ञाता थ।

इसके सिवाय आय मक्षु और नागहस्तीको महावाचक कहा गया ह। उधर नन्दीसूत्रमे नागहस्तीके वाचकवशका निर्देश ह

इन सब बाताके प्रकाशम दोनो परम्पराओके उक्त दोनो आचाय हमे तो अगल अलग व्यक्ति प्रतीत नही हाते। किन्तु ऐसी स्थितिमे यह प्रश्न पदा होना स्वाभाविक है कि वे किस परम्पराके थे—दिगम्बर थे या श्वेताम्बर? क्योकि यो

१ 'इय कम्मप्पगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि।
सोहियणा भोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नु॥"

तो अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके निर्वाणके साथ ही दोनों परम्पराओके आचार्योंकी नामावली भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु उसके मध्यमे एक ऐसे आलोकस्तम्भ है, जिनके प्रकाशकी किरणोको दोनो अपनाये हुए हैं। उनके पश्चात ही संघभेदका सूत्रपात होता ह, जा आगे जाकर विक्रम सम्वतकी द्वितीय शताब्दीके पूर्वार्धमे स्पष्ट रूप ले लेता है। अत श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात अन्य कोई आचार्य ऐसा नही हुआ, जिसे दोनों परम्पराओने मान्य किया हो। इससे उक्त प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक ह। उसके समाधानके लिए हमे दोनों परम्पराओमें उक्त दोनो आचार्योंकी स्थितिका विश्लेषण करना होगा।

गुणधर और धरसेनकी गुरुपरम्परा भिन्न थी। गुणधररचित कषायप्राभृतको आर्यमक्षु और नागहस्तीके द्वारा जानकर यतिवृषभने उसपर चूर्णिसूत्रोकी रचना की और धरसेनसे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतको पढकर भूतबलि और पुष्पदतने उसके आधारपर षट्खण्डागम सिद्धान्तकी रचना की। इन दोनो ग्रन्थोके कतिपय मन्तव्यो-मे भेद भी पाया जाता ह—जयधवला और धवलाटीकामे उनकी चर्चा है। उनका निर्देश करते हुए टीकाकारने दोनोका भिन्न[1] आचार्योंका कथन' कहा है। इससे भी दोनों सिद्धान्तग्रन्थोकी परम्पराके भेदका समर्थन होता है। किन्तु इस गुरु-परम्पराभेदमें ऐसी कोई बात नही ज्ञात होती है जिसमें श्वेताम्बर-दिगम्बरपरम्परा रूप भेदका समर्थन होता हो या सकेत मिलता हो।

उधर श्वेताम्बर परम्परामें न तो गुणधराचार्यका नामोनिशा मिलता है और न यतिवृषभका। हाँ, [2]सित्तरीचूर्णिमे 'कषायप्राभृत का निर्देश अवश्य पाया जाता है। इधर दिगम्बर परम्परामे गुणधर, आर्यमक्षु और नागहस्तीका नाम कषाय-प्राभृतके निमित्तसे केवल जयधवला और श्रुतावतारमें ही स्पष्टरूपसे आता ह। किसी गुर्वावली या पट्टावलीमे इनका नाम हमारे देखनेमे नही आया।

श्वेताम्बर परम्परामें भी आर्यमगु और नागहस्तीका विवरण एक-एक गाथा के द्वारा केवल नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें ही पाया जाता है। इनके किसी मत-का या किसी कृतिका कोई उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमे नही मिलता। जब कि जयधवलाके देखनेसे यह प्रकट होता है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीके सामने कोई ऐसी रचना अवश्य थी, जिसमे इन दोनो आचार्योंके मतोका स्पष्ट निर्देश था, क्योकि यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें 'पवाइज्जमाण' उपदेशका निर्देश अवश्य किया है किन्तु किसका उपदेश 'पवाइज्जमाण' और किसका उपदेश 'अपवाइ-ज्जमाण' है, यह निर्देश नही किया। इसका स्पष्ट विवेचन किया है टीकाकारने,

---

[1] क० पा०, भा० १, पृ० ३८६। षट्खं०, पु० ?, पृ० २१७।

[2] 'तं च कसायपाहुडादिसु विहडंतित्ति काउं परिसेसियं'—सि० चू०, पृ० १२।

अत उनके सामने कोई उक्त प्रकार की रचना अवश्य होना चाहिये । इस तरह आयमंक्षु और नागहस्तीको हम दोनो परम्पराओमें इस रूपमें पाते है कि उसपर से यह निणय करना शक्य नही है कि ये दोनो आचाय अमुक परम्पराके ही थे । किन्तु इतना स्पष्ट है कि ये दोनो दष्टिवादके अगभूत कमसिद्धान्तके प्रमुख ज्ञाता थे और इसीसे महावाचक कहे जाते थे । कमसिद्धान्त एक ऐसा विषय है जिसमे दिगम्बर और श्वेताम्बरत्वकी दष्टिसे मतभदोको कम ही स्थान प्राप्य ह । कम-शास्त्रके वेत्ताओकी एक स्वतत्र परम्परा भी था, जा कर्मिक कहलाते थे । इन कार्मिकोका सैद्धान्तिकोसे अनेक विषयामें मतभेद था, श्वेताम्बर साहित्यके अव-लोकनसे ही यह बात प्रकट होती ह । सद्धान्तिकोका मत दिगम्बर परम्परामे नही पाया जाता, किन्तु कार्मिकोका मत दिगम्बर परम्पराके मतसे प्राय मेल खाता ह । आयमगु और नागहस्ती सम्भवतया कार्मिक परम्पराके आचाय थ । दूसरी बात यह भी ह कि ये दोनो आचाय ऐसे समयमे हुए, जब दिगम्बर श्वेताम्बर भेदका प्राबल्य नही हुआ था । अत कम-से कम कमसिद्धान्तके पठन-पाठनम उस समय आम्नायभेदका प्रश्न नही था । आगे सद्धान्तिको और कार्मिकोके मतभदोके प्रदशन द्वारा इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायेगा ।

इस तरह दोनो परम्पराओके उक्त आचाय हमें भिन्न भिन्न प्रतीत नही होते । फिर भी दोनोकी समकालीनताका प्रश्न बना ही रहता ह । उसके समाधानके लिय हमें सवप्रथम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीका ही पयवेक्षण करना होगा ।

श्वेताम्बर आम्नायकी दो स्थविरावलिया प्रमुख और प्राचीन मानी जाती है । उनमेसे एक कल्पसूत्रम पाई जाती ह और दूसरी नन्दिसूत्रमे । भद्रबाहु श्रुतकेवली-के गुरुभाई सभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे दोनो स्थविरावलिया चलती है । स्थू-लभद्रसे पूवके स्थविरोमे कोई अन्तर नही है ।

स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आय महागिरि और सुहस्ती । आय महागिरिकी स्थविरावली नन्दिसूत्रमें ह और आय सुहस्तीकी कल्पसूत्रमें । किन्तु दोनो गुर्वावलियाँ देवर्द्धिगणिसे सम्बद्ध होनेसे देवर्द्धिगणिकी कही जाती है । मुनि दशनविज-यजी कल्पसूत्रस्थविरावलीको गणधरवंशीय और नन्दिसूत्रपट्टावलीको वाचकवंशीय बतलाते है । कल्प० स्थ० को क्यो गणधरवशीय माना गया है, यह हम नही समझ सके क्योकि दोनो ही स्थविरावलियाँ सुधर्मा गणधरसे आरम्भ हुई हैं । स्थूलभद्रके दो शिष्योमे ही उनमें भेद पडता है । तथा आय महागिरिकी शिष्यप-रम्परामें ही आयमगु और नागहस्तीका नाम आया है । आय महागिरिकी नन्दि-सूत्रोक्त शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—बलिस्सह, स्वाति, श्यामाय, शाण्डिल्य, समुद्र, मगु, नन्दिल, नागहस्ति आदि । और आय सुहस्तिकी शिष्यपरम्परामें उनके

दो शिष्य हुए—सुस्थित और सुप्रबुद्ध । उन दोनोंके इन्द्रदिन्न नामका शिष्य हुआ । उसके आर्यदिन्न, उसके सिंहगिरि, उसके वज्रसेन आदि । नन्दिसूत्र स्थ० में मगु और नन्दिलके बीचमें चार नाम और भी पाठान्तररूपमें मिलते हैं—वे हैं—आर्य धम, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित । वज्रका नाम कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें भी आया है । ये वज्रस्वामी[1] अन्तिमदसपूर्वी थे । इन्होंने सिंहगिरिसे दीक्षा ली थी और भद्रगुप्तसे पूर्वोंका अध्ययन किया था । इसीसे शायद उन्हें दोनों स्थविरावलियोंमें स्थान दिया गया है । किन्तु कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमे चार नाम हैं । और नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें यदि उक्त चार नामोको सम्मिलित किया जाता है तो आर्य महागिरि और वज्र स्वामीके बीचमे आठ नाम हो जाते है । अर्थात् वज्रस्वामी आर्य सुहस्तीकी पाचवी पीढ़ीमें थे और आर्य महागिरिकी आठवी पीढीमें थे । उधर एक 'दुःषमाकाल श्री श्रमणसंघस्तोत्र'[2] नामक पट्टावलीमे आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमें होनेवाले सात युगप्रधानोंके नाम दिये हैं और तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें भी उनका निर्देश किया है । वे सात युगप्रधान हैं—गुणसुन्दर, कालिकाचार्य, स्कन्दिलाचार्य रेवतीमित्र धर्मसूरि भद्रगुप्त और श्रीगुप्त । ये सातो नाम न तो कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमे हैं और न नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमे । हाँ पाठान्तररूपमे जो चार नाम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें सम्मिलित किये जाते हैं उनमेसे दो नाम 'धर्मसूरि और भद्रगुप्त इनमे हैं ।

मेरुतुंगने अपनी विचारश्रेणीमे लिखा है—'स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती । उनमेंसे आर्य महागिरिकी शाखा मुख्य हैं । स्थविरावलीमे वह इस प्रकार कही है—सूरि बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, शाडिल्य, समुद्र मगु, नदिल नागहत्थी, रेवती, सिंह, स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन, गोविन्द भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणि और देवर्द्धि । श्रीवीरस्वामीके पश्चात् सत्ताईसवें युग प्रधान देवर्द्धिगणिने सिद्धान्तोंका व्यवच्छेद न हो, इसलिये उन्हें पुस्तकारूढ किया दूसरी शाखा, जो कल्पसूत्रमें कही है, इस प्रकार है—'आर्य सुहस्ती, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, सिंहगिरि, वज्रस्वामी, वज्रसेन । इन दोनों शाखाओंमें आर्य सुहस्तीके पश्चात् गुणसुन्दरका और श्यामार्यके पश्चात् स्कन्दिलाचार्यका नाम नहीं

---

१ देखो, प्रभा० च० में वज्रस्वामीका चरित ।

२ पट्टा० स० पृ० १६ ।

३ 'श्रीआर्यसुहस्ती श्रीवज्रस्वामिनोर तराले श्रीगुणसुन्दरसूरि॰, श्रीकालिकाचार्यः, श्रीस्कंदिलाचार्य, श्रीरेवतीमित्रसूरि, श्रीधर्मसूरिः, श्रीभद्रगुप्ताचार्यः, श्रीगुप्ताचार्यश्च क्रमेण युगप्रधानसप्तकं बभूव ।' —पट्टा० स०, पृ० ४७

पाया जाता, तथापि सम्प्रदायमे देखा गया इसलिये यहाँ वैसा ही लिख दिया'।

अत श्वेताम्बर पट्टावलियाँ भी व्यवस्थित नही है। डा० वेबरने (इ० ए०, जि० १९ पृ० २९३ आदि) नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीके विषयमें लिखा है कि उसम बडी अनिश्चितता है। अवचूरी गाथा ३१–३२ के विषयमे लिखा है कि क्षेपक होनेसे वृत्तिमें इनका कथन नही किया। गाथा ३३–३४ पर टिप्पणी हैं कि इन दोना गाथाओका अर्थ आवश्यकदीपिकाके आधारसे लिखा है अवचूर्णिमें भी नही है। गाथा ४१–४२ प्रक्षिप्त है। गोविन्दाचार्यके विषयमें उसका कथन है कि 'शिष्यक्रमका अभाव होनेसे वृत्तिमें नही कहा—आवश्यकटीकासे लिखा है।'

डा० बेवरने जो गाथानम्बर दिया है वह गाथानम्बर हमारे सामने उपस्थित स्थविरावलीसे मेल नही खाता। वह लिखते हैं कि गाथानम्बर ३३ जिसमें आर्य नन्दिलका निर्देश है सन्देहास्पद है। मलयगिरिटीकावाले नन्दिसूत्रमें तथा पट्टावलीसमुच्चयमें प्रकाशित नन्दिसूत्रपट्टावलीमे आर्य नन्दिलवाली गाथाका नम्बर २ है। इस तरह चारका अन्तर है। यदि दो प्रक्षिप्त गाथाओको भी सम्मिलित कर लिया जाय तो भी दोका अन्तर रहता ही है। अत नन्दिसूत्रकी पट्टावली भी सुव्यवस्थित नही है और इसलिये उसके आधारपर आर्यमगु और नागहस्तीके मध्यमे जो एक शताब्दिसे भी अधिकका अन्तराल निकलता है विश्वसनीय नही माना जा सकता।

गुणधर और धरसेनका पौर्वापर्य

आर्यमक्षु और नागहस्तिकी प्रासगिक चर्चाके अनन्तर हम पुन आ०गुणधरकी ओर आते है। आचार्य गुणधरके समयपर प्रकाश डालनेके लिए धरसेनके समय पर सक्षेपमे चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

धवलाकारने वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात जब अगपरम्पराका विच्छेद हो गया, उनका भी होना बतलाया है। किन्तु जैसे गुणधर और यतिवृषभका नाम किसी दि० जैन पट्टावलीमे नही पाया गया वैसी बात धरसेन और उनके शिष्य भूतवलि पुष्पदन्तके विषयमे नही कही जा सकती। नन्दीसघकी प्राकृतपट्टावलीमें इन गुरु शिष्योका नाम पाया जाता है। यह पट्टावली कई दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें भी महावीरके निर्वाणके पश्चात ६८३ वर्षोंमें कालक्रमसे होने वाले आचार्योंकी नामावली प्राय उसी क्रमसे दी है जिस क्रमसे वह तिलोय पण्णत्ति धवला, जयधवला आदिमें पाई जाती है किन्तु उसमे जो कालगणना दी है उसम उक्त सब ग्रन्थोमे वैशिष्ट्य है। उक्त ग्रन्थोमें महावीर-निर्वाणसे अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्य तककी कालगणना ६८३ वर्ष बतलाई है। किन्तु नन्दी० पट्टा० के अनुसार लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही होते है। इस तरह

दोनोंकी कालगणनामें ११८ वर्षका अन्तर है।

उक्त ग्रन्थोंके अनुसार महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमें तीन-केवली, १०० वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली और १८३ वर्षोंमें ग्यारह दसपूर्वी हुए। न०प० में भी यहाँ तक कोई अन्तर नहीं है। आगे उक्त ग्रन्थोंमें पाँच एकादशांग-धारियोंका काल २२० वर्ष और चार एकांगधारी आचार्योंका काल ११८ वर्ष बतलाया है, जो अधिक प्रतीत होता है। किन्तु न० पट्टा० में ५ ग्यारह अंग-धारियोंका काल १२३ वर्ष और चारका काल ९९ वर्ष बतलाया है जिसमें २ वर्ष की भूल होनेसे ९७ वर्ष होते हैं, अतः ११८ वर्षका अन्तर स्पष्ट है। इन ११८ वर्षोंमें क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि हुए। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। पट्टावली[1]में धरसेनका काल १९ वर्ष, पुष्पदन्तका तीस वर्ष और भूतवलिका बीस वर्ष बतलाया है। अतः इन तीनोंका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् ६१४से ६८३ वर्षके अन्दर आता है।

पीछे धवलासे जो श्रुतावतारका आख्यान दिया है उससे यह स्पष्ट है कि धरसेनाचार्य मंत्रशास्त्रके भी विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित एक जोणिपाहुड नामक ग्रन्थका निर्देश १५५६ वि० सम्वतमें लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नामक सूचीमें पाया जाता है। उसमें[2] उसे धरसेनके द्वारा वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् रचा हुआ लिखा है।

इससे भी नन्दी० पट्टा० के धरसेनविषयक समयकी पुष्टि होती है। अतः धरसेनका समय वि०मकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

पहले लिख आये हैं कि वीरसेनने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद गुणधर और धरसेनका होना बतलाया है। और इन्द्रनन्दिके कथनसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों आचार्योंकी गुरुपरम्परा विस्मृतिके गर्तमें जा चुकी थी। फिर भी जो वीरसेन स्वामीने उक्त दोनों आचार्योंका उक्त समय बतलाया है वह सम्भवतया इस आधारपर बतलाया है कि अंगज्ञानके रहते हुए उसे लिपिबद्ध करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया। अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हो जानेपर जब श्रुतविच्छेद-

---

१ 'अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूतबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीसं बीस वास पुणो ॥१६॥
इगसय अठार वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छसय तिरासिय वासे णिव्वाणा अंगदित्ति कहिय जिणे ॥१७॥ न०प०

इस पट्टावली तथा धरसेनके समयकी विवेचनाके लिए देखें—षटखं० पु० १ की प्रस्तावना, तथा समन्तभद्र' पृ० १६१।

२ योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्।' बृह० टिप्प०, जैन०सा०सं० भाग १, २।

का भय उपस्थित हो गया तभी उसके बचे-खुचे अशोको लिपिबद्ध करनेकी भिन्ना उत्पन्न हुई।

किन्तु अगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जानेके बाद ही श्रुतविच्छेदके भयकी सम्भावनाका होना हमें समुचित प्रतीत नही होता, क्योकि कषायप्राभृत और षट्खण्डगमकी रचना पूर्वोके अवशिष्ट बचे अशोके आधारपर हुई थी और पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त वीरनिर्वाणसे ३४५ वष पश्चात ही हो गया था। उसके होनेपर धीरे धीरे पूर्वोके अवशिष्ट बचे अश भी विस्मृत होते गये। पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त हो जानेपर भी अगज्ञान तीन सौ वषसे भी अधिक कालतक क्रमश हीयमान अवस्थानमे वतमान रहा। इतने सुदीघ कालतक विच्छिन्न पूर्वोके अवशिष्ट अशको सुरक्षित रखनेकी भावनाका न होना और जब अगज्ञान ही नष्ट हो चुका तब वैसा होना बुद्धिग्राह्य प्रतीत नही होता। पीठिकाम यह स्पष्ट किया गया है कि अगोसे पूर्वोका विशेष महत्त्व था। और पूर्वोका ज्ञान ६८३ वर्षोके मध्यम ही विच्छिन्न हो गया। अत उनके विच्छिन्न होनेके पश्चातस ही उनको सुरक्षित रखनेकी भावनाका उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

फिर भी यत धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वाध प्रमाणित होता ह और लगभग यही समय (वी० नि० ६२० ६८९) श्वेताम्बरीय पट्टावलीके अनुसार नागहस्तीका आता ह। और गुणधरके द्वारा रचित गाथाए आयमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई थी, अत गुणधर अवश्य ही उनस पूववर्ती होने चाहिये।

धरसन और नागहस्तीकी समकालीनता इसलिये भी सभव प्रतीत होती ह कि दानो कर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे। धरसनने कमप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान भूतवलि-तथा पुष्पदन्तको दिया उन्होन उसके आधारपर षटखण्डागमकी रचना की। उसके पश्चातम कमप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होगया। टीकाकार वीरसेन[1] स्वामीके अनुसार उसो कर्मप्रकृतिप्राभृतका निदश अपने चूर्णिसूत्रोम एसा कम्मपयडीसु लिखकर यतिवृषभन भी किया ह। यतिवषभको नागहस्तीसे कषायप्राभृतका ज्ञान प्राप्त हुआ था और नागहस्ती कमप्रकृतिके विशिष्ट ज्ञाता थे। अत धरसेन और उनके शिष्य भूतवलि पुष्पदन्त तथा नागहस्ती और उनक शिष्य यतिवृषभ ऐसे समयमे हुए थे जब कमप्रकृतिप्राभृत विच्छिन्न नही हो सका था। अत इनके मध्यमे दीघकालका अन्तर सभव प्रतीत नही होता। और ऐसी स्थितिमे आचाय गुणधर अवश्य ही धरमनक पूवकालिक प्रतीत होते ह।

यह ऊपर लिख आये है कि नन्दिसघकी पट्टावलीमें लोहाचायके पश्चात् ११८

१ एसा कम्मपयडीसु। कम्मपयडीओ णाम विदियपुव्वपचमवत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुड साण्णिदो अहियारो अत्थि। —ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६५६७।

वर्षमें क्रमश पाँच आचार्योंका होना बतलाया है वे आचार्य हैं—अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि। इनमेसे अर्हद्बलिके विषयमें इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि उन्होने जैनधममें सघोकी रचना की थी। जो मुनि शाल्मलिमहावृक्षके मूलसे पधारे थे उनमेंसे कुछको 'गुणधर'[1] सज्ञा दी और कुछको 'गुप्त' नाम दिया। यदि ये 'गुणधर' नाम आचाय गुणधरकी स्मृतिमें दिया गया हो तो स्पष्ट है कि गुणधराचाय अर्हद्बलिसे पहले हो चुके थे। किन्तु चू कि गुणधर संज्ञा देनेका कोई कारण नही बतलाया गया, इसलिये इसपर विशेष जोर नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह सज्ञा उपेक्षणीय भी नही है।

प्रकृत विषयपर और भी प्रकाश डालनेके लिये हमे धवला और जयधवलाको टटोलना होगा। वीरसेन स्वामीने गुणधरको वाचक और आर्यमंक्षु तथा नागहस्तीको महावाचक लिखा हैं। और धवलाकी टीकामे वाचकका अथ पूर्वविद किया है। जैसे गुणधर कषायप्राभृतके ज्ञाता थे, वैसे ही धरसेन भी कमप्रकृतिप्राभृतक ज्ञाता थे। किन्तु फिर भी धरसेनको वाचक नही लिखा, इसका कारण क्या है ?

इसके समाधानके लिये हमे धवला और जयधवलाके प्रारम्भिक भागपर दृष्टि डालनी चाहिये। धवलाके प्रारम्भमे वीरसेन स्वामीने धरसेनको अष्टाग[2]महानिमित्तका पारगामी लिखा है, किन्तु किसी पूव या उसके अशका ज्ञाता नही लिखा, पुष्पदन्त-भूतबलिको क्या पढाया, यह भी स्पष्ट नही किया—ग्रन्थ पढाया[3] और ग्रन्थ समाप्त होगया। जब पुष्पदन्त सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना करके जिनपालितको भूतबलिके पास भेजते हैं तब उन्हे भय होता है कि [4]महाकमप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जायेगा। और उसपरसे यह अनुमान करना पडता है कि धरसेनने अपने शिष्योको महाकमप्रकृतिप्राभृत पढ़ाया था और वह उसके ज्ञाता थे। आगे ता वीरसेनने[5] स्पष्टरूपसे उन्हे महाकमप्रकृतिप्राभतका ज्ञाता लिखा है। अब जयधवलाको देखिये। मगला[6]चरणके पद्यसे ही यह स्पष्ट होजाता है कि गुणधरने कषायप्राभृतका गाथा-

---

१ य शालमलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेषु। काँश्चित् गुणधरसंज्ञान् काँश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥९४॥ श्रुता०।

२ अट्ठगमहाणिमित्तपारएण —षट्ख०, भा०१, पृ० ६७।

३ गथो पारद्धो गथो समाणिदा —पृ० ७०।

४ महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदित्ति —पृ० ७१।

५ महाकम्मपयडिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारय सपत्तो। भूतबलि पुप्फदताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयल समाणिद। महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिऊण छखंडाणि कयाणि।—षट्ख, पु० ९, पृ० ५३।

६ 'जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं। गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारय वंदे ॥६॥ क० पा० भा० १।

ओंद्वारा व्याख्यान किया। मगलाचरणके पश्चात आदिवाक्यसे ही गुणधरका गुणगान करते हुए वह लिखते ह—'ज्ञानप्रवाद पूवके निमल दमवे वस्तु-अधिकारके तीसरे कषायप्राभतरूपी समुद्रके जलसमूहसे धाये गये मतिज्ञानरूपी लोचनोसे जिन्हाने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे गुणधर भट्टारक हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओमें सम्पूण कषायप्राभतका अथ समाया हुआ ह। आगे पुन वीरसन स्वामीने तीसरे कषायप्राभतको महासमद्रकी उपमा दी ह और गुणधरका उसका पारगामी बतलाया ह। किन्तु धवलाम धरसेनाचायके प्रति इस प्रकारके उद्गार दृष्टिगोचर नही होते।

इन बातोसे प्रतीत हाता है कि गुणधर पूवविदोकी परम्परामेसे थे। किन्तु धरसेन पूवविद होत हुए भी पूवविदोकी परम्परामेसे नही थे। दूसरे, धरसेनकी अपेक्षा गुणधर अपन विषयके विशिष्ट अथवा पूण ज्ञाता थे और इसका कारण यह हो सकता ह कि गुणधर ऐसे समयमे हुए थे जब पूर्वोके आशिक ज्ञानम उतनी कमी नही आई थी जितनी कमी धरसनके समयमें आगयी था। इन सब बातोपर विचार करनेसे गुणधर धरसेनसे पूववर्ती प्रतीत होते ह।

इस विषयमे एक बात और भी स्पष्ट कर दना आवश्यक ह। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे लिखा ह कि भूतबलि आचायने षटखण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोम न्यस्त किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमीके दिन चतुर्विध सघके साथ उसकी पजा की। उसके कारण यह तिथि श्रुतपचमीके नामसे ख्यात हुई। आज भी जैन उस दिन श्रुतकी पूजा करत ह।'

धरसनाचायने मुनिसघको पत्र लिखकर दो मुनियोको बुलाया था और पढा-लिखाकर उन्हे याग्य बनाया था। उन्होने अधीत आगमके आधारसे ग्रन्थरचना करके उसको पुस्तकाम न्यस्त कराया, अत सघके द्वारा उसका उत्सव मनाया जाना उचित हा था। किन्तु गुणधरने ता स्वय ही दासौ तेतीस गाथाओमे समस्त कषायप्राभतको निबद्ध किया था। और उन्हे पुस्तकोम भी न्यस्त नही किया था, क्योकि जयधवलाम लिखा[1] ह कि आचायपरम्परासे आती हुई वे गाथाएँ आयमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई। और उन दोनोंके पादमूलमें उनके अथको सम्यक प्रकारसे सुनकर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र बनाये।

---

1 'पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखु णागहत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसि दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्म सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्त कयं'—क० पा० भा० १ गा० १, पृ० ८८।

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि गुणधरने गाथासूत्रोको रचकर नागहस्ति और आर्यमक्षुके लिये उनका व्याख्यान किया और उन दोनोके पास यतिवृषभने उन गाथासूत्रोका अध्ययन किया और उनपर वृत्तिसूत्ररूप चूर्णिसूत्रोकी रचना की।

उक्त दोनो कथनोसे यही प्रमाणित होता है कि कषायप्राभृतके गाथासूत्र मौखिक ही प्रवाहित हुए। जब कि षट्खण्डागमके सूत्र पुस्तकबद्ध किये गये। अत आगमका सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करनेके उपलक्ष्यमें हर्ष मनाना उचित ही था।

इससे भी यही प्रतिफलित होता है कि कषायप्राभृतकी रचनाके समय आगमको पुस्तकारूढ करनेकी परिपाटी प्रचलित नही हुई थी। जबकि षट्खण्डागमके समय उसका प्रचलन हो चुका था। इससे भी षट्खण्डागमसे कषायप्राभृतके पूर्ववर्तित्वका ही समर्थन होता है। अत गुणधर धरसेनसे पहले होने चाहिये।

कषायपाहुड नाम और विषयवस्तुका स्रोत

कषायप्राभृत प्राकृतगाथासूत्रोमे निबद्ध है। इसकी पहली गाथा[2]मे बतलाया है कि पाँचवे पूर्वके दसवे वस्तु अधिकारमे पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है, उससे यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है।

पीठिकामे पूर्वोके अन्तर्गत अधिकारोका परिचय कराते हुए बतलाया गया है कि प्रत्येक पूर्वमे वस्तुनामक अनेक अधिकार होते हैं और एक एक वस्तु अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार होते हैं। तथा एक एक प्राभृताधिकारके अन्तर्गत चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार होते हैं। पाँचवे पूर्वका नाम ज्ञानप्रवाद है और उस ज्ञानप्रवादके अन्तर्गत वस्तु नामक बारह अधिकार है। और प्रत्येक वस्तु अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार हैं। उनमेंसे दसवे वस्तु अधिकारके अन्तर्गत केवल एक तीसरे प्राभृतसे प्रकृत कषायप्राभृत रचा गया है। इससे पूर्वोके महत्त्व, वैशिष्ट्य और विस्तारका अनुमान किया जा सकता है।

कषायप्राभृतकी जयधवला[3] टीकामे तीसरे पेज्जपाहुडका परिमाण सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है। उस प्राभृतरूपी महार्णवको गुणधराचार्यने एकसौ अस्सी मात्र गाथाओमे उपसंहृत किया है। इससे गुणधराचार्यकी उस विषयकी

---

1. एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि। प्रविरच्य व्याचख्यौ नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम्। पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभ। यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमति ॥—श्रुता०

2. 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। पज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥१॥—क०पा०, भा० १ पृ० १०।

3. 'एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंत असीदिसदमेत्तगाहाहि उवसंघारिदं। क० पा० भा० १ पृ० ८७।

पारगतता और कुशलताका परिचय मिलता है। इस तरह पहली गाथासे ग्रन्थका नाम और उसकी उत्पत्तिका स्रोत ज्ञात हो जाता है।

अधिकारो और गाथाओका विभाग

दूसरी[1] गाथाके द्वारा यह बतलाते हुए कि एकसौ अस्सी गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोमे विभक्त है, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा की गयी है कि किस[2] अधिकारके अन्तर्गत कितनी-कितनी सूत्रगाथाए है। आगे तीसरी, चौथी[3], पाँचवी[4] और छठी[5] गाथामे बतलाया है कि प्रारम्भके पाँच अधिकारोमे तीन गाथाएँ है। वेदकनामके छठे अधिकारमे चार गाथाएँ है। उपयोगनामक सातवें अधिकारमे सात गाथाएँ है। चतु स्थाननामक अधिकारमें सोलह गाथाएँ है। व्यजननामक नौवें अधिकारमे पाँच गाथाए है। दर्शनमोहोपशमनानामक दसवे अधिकारमें पन्द्रह गाथाए है। दर्शनमोहक्षपणानामक ग्यारहवे अधिकारमें पाँच गाथाएँ है। सयमासयमलब्धिनामक बारहवे और चारित्रलब्धिनामक तेरहवें अधिकारमे एक गाथा है। और चारित्रमोहोपशमनानामक चौदहवे अधिकारमे आठ गाथाए है।

सातवी[6] और आठवी[7] गाथामे चारित्रमोहक्षपणानामक पन्द्रहवे अधिकारके अवातर अधिकारोका निर्देश करते हुए उनमे अट्ठाईस गाथाए बतलाई है। नौवी[8] और दसवी[9] गाथामे बतलाया है कि चारित्रमोहक्षपणा-अधिकारसम्बन्धी अट्ठाईस

---

१ गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि। वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥२॥—क० पा०, पृ० १५१।

२ पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेव। तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥३॥ वही, पृ० १५५।

३ चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ। सोलस य चउट्ठाणे वियजणे पंच गाहाओ ॥४॥ वही, पृ० १५९।

४ दसणमोहस्सुवसामणाए पण्णारस होंति गाहाओ। पचेव सुत्तगाहा दसणमोहस्स खवणाए ॥५॥ वही, पृ० १६०

५ लद्धी य सजमासजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स। दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणक्कम्मि ॥६॥ वही, पृ० १६३

६ चत्तारि य पट्ठवए गाहा सकामए वि चत्तारि। ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए ॥७॥ वही, पृ० १६४

७ 'चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स। एक्का संगहणीए अट्ठावीस समासेण ॥८॥ वही, पृ० १६६

८ 'किट्टीकयवीचारे सगहणी खीणमोहपट्ठवए। सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥९॥ वही, पृ० १६८

९ सकामण ओवट्टण किट्टीखवणाए एक्कवीस तु। एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भासगाहाओ ॥१०॥ वही, पृ० १७०

गाथाओमे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी असूत्रगाथाएँ हैं। ग्यारहवी[1] और बारहवी गाथामें जिस जिस सूत्रगाथाकी जितनी भाष्यगाथाएँ हैं उनका निर्देश है। और तेरहवी[2] तथा चौदहवी गाथामें कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है।

इस प्रकार प्रारम्भमे ही ग्रन्थके अन्तगत अधिकारो और उनमें गाथाओके विभागका सूचन कर दिया गया है।

अधिकारोके अनुसार सूत्रगाथाओ और भाष्यगाथाओकी तालिका इसप्रकार है—

अधिकार नाम	गाथा स०	चारित्रमोहक्षपणाकी भाष्य गाथाएँ		
		चारित्रमोह-क्षपणा	गाथा स०	भाष्य गाथा
१ ५प्रारम्भके				
५ अधि०	३	१ प्रस्थापक	८	(१)५,(२)११ (३)
६ वदक ,,	४	२ सक्रामक	४	४ गा०(४)२ = २३
७ उपयोग ,,	७	३ अपवतना	३	(१)३,(२)१,(३)
चतु स्थान	१६	४ कृष्टिकरण	११	४ = ८
				(१)३,(२)२,(३)१२,
९ व्यजन	५			(४)३,(५)४,(६)२
१० दशनमाहो	१५			(७)४,(८)४,(९)२
पशमना				(१०) ५, = ४१
११ दशनमोहक्षपणा	५	५ कृष्टिक्षपणा	४	(१)१,(२)१,(३)१०
१२ सयमासयम-				(४) २ = १४
लब्धि और	१	६ क्षीणमोह	१	
१३ चारित्र लब्धि				८६
१४ चरित्रमोहो-	८	७ सग्रहणी	१	भाष्यगाथा
पशमना			२८	
१५ चारित्रमोह-	२८		सूत्रगाथा	
क्षपणा	९२			

१ 'पच्च य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य। चत्तारि य तिण्णि उभे पच्च य एक्कं तह य छक्क ॥११॥ वही, पृ० १७१
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्कं च। दो पच्चेव य एक्का अण्णा एक्का य दस दो य ॥१२॥' क० पा० पृ० १७१

२ पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय। वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्तदेसविरयी संजमे उवसामणा च खवणा च। दंसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ क० पा०, मा० १, पृ० १७८।

इस प्रकार पन्द्रह अधिकारोकी मूलगाथाओका जोड ९२ है और इनमेसे चारित्रमोहकी क्षपणासे सम्बन्ध रखनेवाली २८ गाथाओमेंसे २१ गाथाओकी भाष्य गाथाओका जोड ८६ है। इन सबका जोड ९२ + ८६ = १७८ होता है। प्रारम्भ मे पन्द्रह अधिकारोका नाम निर्देश करनेवाली दो गाथाओको जोडनेसे कुल गाथाओ की सख्या १८० होती है।

कसायपाहुडकी गाथासख्या

किन्तु कसायपाहुडकी कुल गाथाओकी सख्या २३३ है। पूर्वोक्त एकसौ अस्सी गाथाओके सिवाय ५३ गाथाएँ और भी है। १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक हैं, ६ गाथाएँ अद्धापरिमाणका निर्देश करती है सक्रमवृत्तिसे सम्बन्द्ध ३५ गाथाएँ है। इन १२ + ६ + ३५ = ५३ गाथाओका १८० मे जोडनेसे कसायपाहुडकी गाथा सख्या २३३ होती है। जयधवला टीकाके रचयिता श्रीवीरसेन स्वामीके अनुसार इन समस्त गाथाओके रचयिता आचार्य गुणधर थे।

किन्तु जयधवला[1]मे उन्होने स्वय यह शका उठाई है कि जब कसायपाहुडकी गाथासख्या २३३ थी, तो गुणधराचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमे १८० गाथाओका ही निर्देश क्यो किया? वीरसेन स्वामीने उसका समाधान करते हुए लिखा है कि पन्द्रह अधिकारोमे विभक्त गाथाओका निर्देश करनेकी दृष्टिसे गुणधराचार्यने १८० गाथासख्याका निर्देश किया है किन्तु बारह सम्बन्धगाथाएँ और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोमेसे किसी भी अधिकारसे बद्ध नही है अत उनको छोड दिया है।

तब पुन शका की गई कि सक्रमणसम्बन्धी ३५ गाथाए तो बन्धक नामक अधिकारमे प्रतिबद्ध है अत उनको १८० के साथ मिलाकर २१५ गाथासख्या-का निर्देश करना क्या उचित नही समझा? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने कहा है कि प्रारम्भके पाँच अर्थाधिकारोमे केवल तीन ही गाथाएँ हैं और उन तीन गाथाओमे बचे हुए पाच अधिकारोमेसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त पैतीस गाथाएँ सबद्ध है, इसलिये उन पैतीस गाथाओको १८० मे सम्मिलित नही किया।

क्या इन गाथाओमे कुछ गाथाए नागहस्तिकृत भी है? इस प्रश्नपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जयधवलाके अनुसार वीरसेन स्वामीसे पहले होनेवाले कुछ टीकाकारोका ऐसा मत रहा है कि एकसौ अस्सी गाथाओके सिवाय जो शेष ५३ गाथाएँ है वे नागहस्तिकृत है[2]।

---

1. क० पा० भा० १, पृ० १८२–१८३।
2. 'असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबद्धापरिमाणणिद्देससंकमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे। —क० पा०, भा० १, पृ० १८३।

अर्थात् प्रारम्भकी सम्बन्धनिर्देशक बारह गाथाएँ, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली १५ से २० तक छै गाथाएँ और सकमवत्तिसम्बन्धी ३५ गाथायें किन्हीं व्याख्याकारोके मतसे नागहस्तीकृत है। अत 'गाहासदे असीदे' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है गुणधरका नही। इन गाथाओंके सम्बन्धमें दो बातें उल्लेखनीय है—एक तो प्रारम्भकी पहली गाथाको छोडकर 'गाहासदे असीदे' आदि सम्बन्धनिर्देशक गाथाओंपर और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाओंपर यतिवषभके चूर्णिसूत्र नही है दूसरी बात यह है कि सक्रमसे सम्बद्ध ३५ गाथाओमेंसे तेरह गाथाएँ शिवशर्म रचित माने जाने वाली कमप्रकृतिमें भी पायी जाती है।

यद्यपि इन बातोंसे उक्त गाथाओके नागहस्तीकृत होनेका समर्थन नही होता, तथापि ये बाते उक्त गाथाओकी स्थितिपर यत्किञ्चित प्रकाश तो डालती ही है।

किन्तु वीरसेन स्वामी उक्त व्याख्याकारोके मतसे सहमत नही है। उनका कहना है कि ऐसा माननेसे गुणधराचार्यकी अज्ञता द्योतित होती है। किन्तु यह युक्ति कोई जोरदार नही है। क्योकि सोलह हजार पदप्रमाण कषायप्राभृतका एकसौ अस्सी गाथाओमे सक्षिप्त करनेवाले गुणधराचार्य स्वरचित गाथाओका अधिकारोमे विभाजन बतलानेके लिये ग्यारह गाथाएँ जितना स्थान नही रोक सकते थे। फिर गाहासदे असीदे' आदि गाथाओकी रचनाशैलीसे भी उनके अन्यकर्तृक होनेका आभास होता है। उन गाथाओका रचयिता पन्द्रह अधिकारो मे विभक्त एकसौ अस्सी गाथाओको किस अधिकारमें कितनी गाथाए हैं, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा गुणधरकृत सभव नही है उन्हे यदि प्रतिज्ञा करनी होती, तो सोलह हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको एकसौ अस्सी गाथाओमें सक्षिप्त करता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी। व कसाय-पाहुडका उपसहृत करनके लिये सन्नद्ध हुए थे, न कि स्वरचित गाथाओको स्व रचित अधिकारोमे विभाजित करनेके लिये।

दूसरे 'सत्तेदा गहाओ', 'एदाओ सुत्तगाहाओ आदि पद यह सूचित करते है कि इन गाथाओकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओ और भाष्यगाथाओकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक अमुक सूत्रगाथा है, इस प्रकारका कथन सम्भव नही था। एक बात और भी द्रष्टव्य है। गाथा १३–१४ में गुणधराचार्यने अधिकारोंका निर्देश किया है। उन गाथाओकी [1]टीकाके आरम्भमें ही जयधवलाकारने यह शका उठाई है कि 'इस इस अधिकारमें इतनी इतनी गाथाए है' इस प्रकारके कथनसे ही पन्द्रह अधिकारोका ज्ञान हो जाता है। फिर इन गाथाओके द्वारा १५ अधिकारो

---

१ कसा० पा०, भा० १, पृ० १७८।

का कथन किस लिये किया गया है ?

इसका समाधान करते हुए जयधवलाकारने कहा है कि पूर्व निर्दिष्ट जिन गाथाओमे यह बतलाया है कि अमुक अमुक अधिकारसे अमुक अमुक गाथा सम्बद्ध है, वे गाथाएँ इन्ही दो गाथाओकी वृत्तिगाथाएँ है अत इनके बिना उनका कथन नही बन सकता।

इस कथनसे यह स्पष्ट है कि अधिकार निर्देशक गाथाओके पश्चात ही अधिकारोंमे गाथाओका निर्देश करनेवाली गाथाएं रची गई है, क्योकि सूत्रगाथासे वृत्तिगाथा पहले नही रची जा सकती। और वृत्तिगाथाका सूत्रगाथासे पूर्व निर्देश भी कुछ विचित्र सा ही लगता है।

अत अन्य व्याख्याकारोका यह कथन कि 'गाहासदे असीदे आदि प्रतिज्ञा वाक्य नागहस्तीका है नितान्त उपेक्षणीय नही है।

कसायपाहुडकी गाथाओका सूत्रत्व

यह पहले लिख आये है कि १६ हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको गुणधराचार्यने केवल १८० गाथाओमे निबद्ध किया था। इतने विस्तृत ग्रन्थका इतनी थोडी गाथाओमे निबद्ध किये जानेसे उन गाथाओका सूत्ररूप होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये गाथानम्बर २ मे 'वोच्छामि सुत्तगाहा' पदके द्वारा गाथाओके सूत्ररूप होनेका निर्देश किया गया है।

'सूत्र' शब्दका इतिहास बतलाते हुए डा० विन्टर नीटस्‌ने लिखा है—'सूत्र' शब्दका मूल अर्थ धागा या डोरा था, फिर 'थोडसे शब्दोमे निबद्ध 'नियम' या 'उपदेश' हो गया। जैसे वस्त्र अनेक धागोसे बुना जाता है वैसे ही एक शिक्षणका क्रम इन संक्षिप्त नियमोमे ग्रथित किया जाता है। इस प्रकारके संक्षिप्त सूत्रोमे ग्रथित बडे ग्रन्थोको भी सूत्र कहा जाता है। ये ग्रन्थ केवल प्रयोगात्मक कार्योंके काम आते है। इनमे अतिसंक्षिप्त किन्तु सुष्ठुरीतिसे किसी ज्ञान विज्ञानका समावेश रहता है और इसलिये विद्यार्थी उन्हे सरलतासे स्मृतिमे रख सकते है। संभवतया भारतीयोके इन सूत्रोके समान विश्वके समस्त साहित्यमे दूसरी वस्तु नही है। कम-से-कम शब्दोमे अधिक से अधिक कहना इन सूत्रात्मक ग्रन्थोकी रचना करने वालोका कर्तव्य होता है। भाष्यकार पतञ्जलिकी इस उक्तिको प्राय उद्धृत किया जाता है, जिसका आशय यह है कि सूत्रकार अर्धमात्राके लाघवसे उतना ही प्रसन्न होता है जितना पुत्रोत्पत्तिसे (हि० इ० लि० भा० १, पृ० २६८-२६९)।

कसायपाहुडके गाथासूत्रोमे भी कम से-कम शब्दोमें अधिक-से अधिक कहनेका सफल प्रयास किया गया है, यदि ऐसा न किया जाता तो इतने विशाल ग्रन्थका इतनी थोडी गाथाओके द्वारा उपसहार करना सभव न होता।

जैन साहित्यके अवलोकनसे यह प्रकट है कि द्वादशांग बडा विशाल था।

उसकी विशालताका परिचय पूर्वपीठिकामें दिया गया है। किन्तु उस विशाल द्वादशांगको 'सूत्र' भी कहते थे। कालक्रमसे जैन परम्परामे व्यक्तिविशेषके द्वारा रचित ग्रन्थोंको ही सूत्र कहनेकी परिपाटी प्रवर्तित होगई थी। उसके अनुसार जो गणधरके द्वारा कथित अथवा प्रत्येकबुद्धके द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवलीके द्वारा कथित, अथवा अभिन्नदसपूर्वीके द्वारा कथित हो उसे सूत्र[1] कहते थे।

इसीसे जयधवलामें[2] यह शका की गई है कि गुणधराचार्य न तो गणधर थे, श्रुतकेवली थे न प्रत्येकबुद्ध थे और न अभिन्नदसपूर्वी थे। तब उनके द्वारा रचित गाथाओको सूत्र क्यो कहा गया ? इस शकाका समाधान करते हुए श्रीवीरसेन स्वामीने कहा है कि गुणधराचार्यके द्वारा रचित गाथाए निर्दोष है, अल्पाक्षर हैं, और असदिग्ध है अत सूत्रसम होनेमे उन्हे सूत्र कहा गया है।

इस समाधानके द्वारा जयधवलाकारने सूत्रके सर्वप्रसिद्ध लक्षणको उद्धृत करके कसायपाहुडकी गाथाओकी सूत्रसज्ञाका समर्थन किया है। सूत्रका[3] सर्वप्रसिद्ध लक्षण इस प्रकार है—'जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें सार भरा हो, जिसका निर्णय गूढ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो उसे विद्वान सूत्र कहते हैं। सूत्रका यह लक्षण सर्वमान्य है।

इसपर भी जयधवलामे यह शका की गई है कि यह सम्पूर्ण सूत्रलक्षण तो जिनदेवके मुखसे निकले हुए अर्थपदोमे ही सभव है, गणधरके मुखसे निकली हुई ग्रन्थरचनामे नही, क्योकि गणधरके द्वारा रचित द्वादशागरूप श्रुत तो बडा विशाल होता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि गणधरके वचन भी सूत्रसम होनेसे सूत्र कहे जानेके योग्य होते हैं।

इस चर्चासे यही प्रकट होता है कि 'सूत्रसज्ञाके योग्य वे ही रचनाएँ होती है जिनमें सूत्रका उक्त लक्षण घटित होता है। चूंकि इस प्रकारकी रचना करना साधारण व्यक्तिका काम नही है, अत विशिष्ट व्यक्तियोकी उक्त प्रकारकी कृतिया भी सूत्र कही जा सकती है। फलत गुणधररचित कसायपाहुडकी गाथाओको भी सूत्र कहा जा सकता है।

किन्तु गुणधराचार्यने जिन एकसौ अस्सी गाथाओंमें कसायपाहुडको उपसहृत किया है उनमें उन्हें 'सुत्तगाहा' नही कहा। 'गाहासदे असीदे' आदि जिन गाथाओ के गुणधरकृत होनेमें विवाद रहा है उनमें ही उन्हें 'सुत्तगाहा' कहा है। उनमें भी

---

१ 'सुत्तं गणधरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च। सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥३४॥ भ० आ०।

२ क० पा०, भा० १, पृ० १५३ १५४।

३ 'अत्रोपयोगी श्लोकः—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्‌गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।'—क० पा० भा० १, पृ० १५४।

कुछको 'सुत्तगाहा', कुछका 'गाहा' और कुछको 'सभासगाहा' कहा है।

चारित्रमोहकी क्षपणा नामक पन्द्रहवें अधिकारमें कुल अट्ठाईस गाथाएँ हैं। उनमेंसे सातको[1] 'गाहा' और शेष इक्कीसको 'सभासगाहा' कहा है। जिन गाथाओंका व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाएँ हैं उन्हें 'सभासगाहा' (सभाष्यगाथा) कहा है। २८ मेंसे इक्कीस गाथाएँ ऐसी हैं जिनकी भाष्यगाथाएँ भी हैं, अतः उन्हें सभाष्यगाथा कहा है। और शेष सातको केवल 'गाहा' लिखा है। किन्तु 'सत्तेदा गाहाओ'का व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने[2] लिखा है कि 'ये सात गाथाएँ सूत्रगाथाएँ नहीं हैं क्योंकि इनके द्वारा सूचित किये गये अर्थका व्याख्यान करने वाली भाष्यगाथाओंका अभाव है।

इसका मतलब तो यह हुआ कि सभाष्यगाथाओंको ही सूत्रगाथा कहना चाहिए। और ऐसा माननेमें केवल इक्कीस गाथाएँ ही सूत्रगाथा ठहरती हैं।

गाथासंख्या नौकी उत्थानिकामें जयधवलाकारने लिखा है— 'अब पन्द्रहवें अधिकारमें आई अट्ठाईस गाथाओंमेंसे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी सूत्रगाथाएँ नहीं हैं, इसप्रकार पूछने पर असूत्रगाथाओंका प्रमाण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं। जिसमें अनेक अर्थ सूचित हों उसे सूत्रगाथा[3] कहते हैं और जिसमें अनेक अर्थ सूचित न हों उसे असूत्रगाथा कहते हैं।' इससे भी उक्त कथनका ही समर्थन होता है।

किन्तु गाथासंख्या दोमें एकसौ अस्सी गाथाओंको सूत्रगाथा कहा है और जयधवलाकारने उसका समर्थन किया है। 'वोच्छामि सुत्तगाहा जयिगाहा जम्मि अत्थम्मि' पदका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'उन एकसौ अस्सी गाथाओंमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ पाई जाती हैं उन सूत्रगाथाओंका मैं कथन करता हूँ। इस सूत्रगाथाके तीसरे चरणमें स्थित 'गाथा' शब्दके साथ लगे हुए 'सूत्र' शब्दको इसी गाथाके चौथे चरणमें स्थित 'गाथा' शब्दके साथ भी लगा लेना चाहिये[4]।

इसप्रकार जयधवलाकारने सभी गाथाओंको सूत्रगाथा स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमें यही समाधान उचित प्रतीत होता है कि गाथासंख्या नौमें जो सात गाथाओंको असूत्रगाथा कहा है वह आपेक्षिक कथन है। चारित्रमोहक्षपणा नामक अधिकारकी इक्कीस गाथाओंकी दृष्टिसे ही वे असूत्रगाथाएँ हैं क्योंकि उनकी भाष्यगाथाओंका अभाव है।

---

१ 'सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥७॥

२ क०पा०, भा० १, पृ० १६९

३ का सुत्तगाहा? सूचिदाणेगत्था। अवरा असुत्तगाहा। वही, पृ० १६८।

४ वही पृ० १५३।

रूप गाथाओंको 'भाष्यगाथा' कहा है। तथा अन्य गाथाओंको 'सुत्तगाहा' शब्दसे निर्दिष्ट किया है।

इन्द्रनन्दिने[1] भी अपने श्रुतावतारमें सब गाथाओंको गाथासूत्र कहा है। किन्तु उनमेंसे १८३ को (१८० होना चाहिये) मूलगाथा और शेष ५३ को विवरण-गाथा कहा है।

किन्तु जयधवलाकारने 'मूलगाथा'[2] का अर्थ भी सूत्रगाथा ही किया है। सभवतया वे १८० गाथाओंको मूलगाथा[3] या सूत्रगाथा मानते हैं। किन्तु चूर्णि-सूत्रकारने 'मूलगाथा' शब्दका व्यवहार केवल चारित्रमोहक्षपणानामक अधि-कारमें आगत सभाष्य-गाथाओंके लिये ही किया है और भाष्यगाथाओंको छोड़-कर शेष सबको सूत्रगाथा कहा है। यही हमें उचित प्रतीत होता है।

चूर्णिसूत्रकार श्रीयतिवृषभने कतिपय सूत्रगाथाओंको उनके विषय-प्रतिपादन-के अनुसार कुछ अन्य नाम भी दिये है। वे नाम हैं—पुच्छासुत्त, वागरणसुत्त और सूचणासुत्त।

जिन गाथाओंमें किसी विषयकी पृच्छा की गई हो, कोई बात पूछी गई हो वे गाथाएं पृच्छासूत्र कही गई हैं। चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारकी तीस मूलगाथाएँ पृच्छासूत्र हैं। अन्य अधिकारोंमें भी पृच्छात्मक गाथासूत्रोंकी पर्याप्त सख्या पाई जाती है।

पृच्छासूत्रका उदाहरण इस प्रकार है—

'किस[4] कषायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? कौन उपयोगकाल किससे अधिक है और कौन जीव किस कषायमें निरन्तर एक-सा उपयोगी रहता है? ॥ ६३ ॥

जयधवलाकारने 'वागरणसुत्त' का अर्थ किया है व्याख्यानसूत्र। अर्थात् जिसके द्वारा किसी विषयका व्याख्यान किया जाता है उसे व्याकरणसूत्र कहते हैं। इसका उदाहरण—'विवक्षित कृष्टिका बन्ध अथवा सक्रमण नियमसे क्या सभी स्थितिविशेषोंमें होता है? विवक्षित कृष्टिका जिस कृष्टिमें सक्रमण किया

---

१ अधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्। विवरणगाथानां च अधिकं पञ्चाशत मकार्षीत् ॥१५३॥
एवं गाथासूत्राणि पञ्चदश महाधिकाराणि प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥१५४॥

२ 'मूलगाहाओ णाम सुत्तगाहाओ'—क० पा० भा०।

३ 'एत्थेव पयडी य मोहणिज्जा पदिस्से मूलगाहाए अत्थो समत्तो।' क० पा० भा०

४ 'केवचिरं उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो। को वा कम्मि कसाए अभिक्ख मुवजोगमुवजुत्तो ॥६३॥

जाता है उसके सब अनुभागविशेषोमें सक्रमण होता है। किन्तु उदय मध्यम-कृष्टिसे जानना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस गाथाका[1] पूर्वाध तो पृच्छासूत्ररूप है किन्तु उत्तराधको चूर्णिसूत्रकारने वागरणसुत्त कहा ह।

जिस गाथाके द्वारा किसी विषयकी सूचना की गई हो उसको 'सूचनासूत्र' कहा ह। जैसे गाथा ६७ के 'केवडिया[2] उवजुत्ता' पदसे द्रव्यप्रमाणानुगम, 'सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' पदसे कालानुगम, 'केवडिया च कसाए' पदसे भागाभाग और 'के के च विसिस्सदे केण' पदसे अल्पबहुत्व इस प्रकार ये चार अनुयोग तो सूत्रनिबद्ध है। किन्तु शेष चार अनुयोग सूचनारूप अनुमानसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

कसायपाहुड शैली

गाथाओके उक्त विवरणसे कसायपाहुडकी शैलीका आभास मिल जाता ह। रचनाकी दृष्टिसे गाथाओकी शब्दावली क्लिष्ट नही हैं किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तसे सबद्ध होनेके कारण जैन कर्मसिद्धान्तका ज्ञाता ही उनका रहस्य समझ सकता है। परन्तु अधिकतर गाथाएँ पृच्छारूप है—उनमें प्रत्येक अधिकारसे सबद्ध विषयो को प्रश्नके रूपमें निर्दिष्ट किया गया ह किन्तु कही तो उन प्रश्नोसे सम्बद्ध कुछ आवश्यक बातोको सूत्ररूपसे कह दिया गया है, अन्यथा प्रश्नोके द्वारा ही विषयो की सूचना देकर ज्यो का त्यो छोड दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थकी रचना जनसाधारणके लिये नही की गई ह, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तके पारगामी बहुश्रुतोके लिये की गई है। अत इसके पृच्छासूत्रोमें उठाये गये प्रश्नो को हृदयगम करके उनका समाधान वही कर सकता ह जो आर्यमक्षु और नाग हस्तीकी तरह उस विषयका मर्मज्ञ हो।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो यह लिखा है कि गुणधर आचार्यने अपने द्वारा रचित कसायपाहुडकी गाथाओका व्याख्यान आर्यमक्षु और नागहस्तीको किया, उसमे कितना तथ्य है यह कहना तो शक्य नही है, किन्तु इसमें सन्देह नही कि गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी रचना करके अवश्य ही उनका व्याख्यान अपने

---

१ 'बंधो व संकमो वा णियमा सव्वेसु ट्ठिदिविसेसु। सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ ॥२१९॥—'सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ' त्ति एदं सव्वं वागरण सुत्तं —क पा सु, पृ० २८३।

२ 'केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' चेति एदिस्से गाहाए अत्थ विहासा एसा गाहा सूचणासुत्त। एदीए सूचिदाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि।—क पा सु, पृ० ५८२।

किसी बहुश्रुत शिष्यको अवश्य किया होगा और वही व्याख्यान साक्षात् या परम्परा-से आर्यमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ होगा। यदि ऐसा न होता, तो कसाय-पाहुडरूपी गागरमें जो श्रुत सागर भरा हुआ है उसका उद्घाटन करना शक्य नही था।

प्रश्नात्मक प्रणाली बहुत प्राचीन ह। बौद्धोंके अभिधम्मपिटककी शैली भी प्रश्नात्मक प्रणालीको लिये हुए है। प्रश्न और उत्तरके रूपमें विषयको सम-झाया गया है। श्वेता० आगमसाहित्यमें भी इस प्रणालीके दर्शन होते हैं। भगवती-सूत्र तो प्रश्नोत्तररूपमें ही है। गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर भगवान् महावीर देते ह। सभवतया प्रश्नात्मक प्रणाली उसीकी सूचक है, क्योकि भगवान महावीर गौतम गणधरके प्रश्नोका उत्तर देते थे। उसीसे श्रुतकी धाराको गति मिलती थी। वीरसेन स्वामीने [1]जयधवलामे प्रश्नात्मक प्रणालीके विषयमे यही समाधान किया है। आचार्य यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोमे इस प्रणालीको अपनाया ह। उसका व्याख्यान करते हुए यह शका उठाई गई है कि यह पच्छासूत्र किस लिये कहा ह? इसका उत्तर दिया है—शास्त्रकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये। इस पर पुन शका की गई कि पृच्छाके द्वारा शास्त्रकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? पुन उत्तर दिया गया—चूँकि यह पच्छा गौतम स्वामीने तीर्थङ्कर भगवान महावीरसे की ह, अत इससे शास्त्रकी प्रमाणिकताका बोध होता है।

वीरसेन स्वामीने इस सम्बन्धमे इतना और भी लिखा है कि 'इस पच्छासूत्रके द्वारा चूर्णिसूत्रकारने अपने कर्तृत्वका निवारण किया है अर्थात् इससे उन्होंने यह सूचित किया है कि उन्होने जिस तत्त्वका कथन किया ह वह उनकी अपनी उपज नही ह बल्कि गौतम गणधरने महावीर स्वामीसे जो प्रश्न किये थे और उनका जो उत्तर उन्हे भगवानसे प्राप्त हुआ था, उसे ही उन्होने यहाँ निबद्ध किया है।'

अतएव सक्षेपमें कसायपाहुडकी शैली प्रश्नोत्तररूप सूत्र शैली है। यह शैली वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मयके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है।

कसायपाहुडका विषय-परिचय

पहले लिख आए हैं कि आचार्य गुणधरने सोलह हजार पद प्रमाण कसाय पाहुडको मात्र दो सौ तेतीस गाथाओंमें उपसहृत किया है तथा उनमेंसे कुछ गाथाएँ सूचनात्मक, कुछ पच्छात्मक और कुछ व्याकरणात्मक या व्याख्यात्मक हैं।

सर्वप्रथम गाथामें आचार्य गुणधरने यह बतलाया है कि पाँचवे पूर्वकी दसवी वस्तुमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा अधिकार है उससे यह कसायपाहुड उत्पन्न हुआ

---

1 क० पा०, भा २, पृ २११।

है। इस तरह इस गाथाके द्वारा ग्रन्थकारने ग्रन्थका नाम और उसके पूर्वाधारको सूचित किया है।

दूसरी गाथामे कहा है कि इस कसायपाहुडमें एकसौ अस्सी गाथाएँ हैं और वे पन्द्रह अधिकारोमे विभक्त है। उनमेंसे जिस अधिकारमे जितनी सूत्रगाथाएँ प्रतिबद्ध है उन्हे मै कहूँगा।

आगेकी छह गाथाओके द्वारा कहा है कि पेज्जदोसविभक्ति स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति बन्धक अर्थात बन्ध और सक्रम इन पाँच अधिकारोंमें तीन गाथाएँ निबद्ध हैं। वेदकनामक अधिकारमें चार उपयोगनामक अधिकारमें सात, चतु स्थाननामक अधिकारमे सोलह और व्यजननामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। दर्शनमोहउपशामनानामक अधिकारमें पन्द्रह और दर्शन-मोहक्षपणानामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ हैं। सयमासयमलब्धि और चारित्र लब्धिनामक अधिकारमें एक ही गाथा है तथा चारित्रमोहउपशामनानामक अधिकारमें आठ सूत्रगाथाएँ है। चारित्रमोहकी क्षपणाके सम्बन्धमे चार, सक्रमणमे चार, अपवर्तनमे तीन, कृष्टिकरणमें ग्यारह कृष्टियोकी क्षपणामें चार, क्षीणमोहमें एक, सग्रहणीमें एक, इसप्रकार सब मिलाकर चारित्रमोहके क्षपणानामक अधिकार-मे अट्ठाईस गाथाए हैं।

इस तरह आठ गाथाओमे प्रत्येक अधिकार सम्बन्धी गाथाओका विभाजन करके आचार्य गुणधरने आगेकी चार गाथाओंसे सूत्रगाथाओ और उनकी भाष्य गाथाओका निर्देश किया है। इसके पश्चात दो गाथाओमे ग्रन्थके पन्द्रह अर्थाधि-कारोका निर्देश किया है।

इसके पश्चात छह गाथाओंसे अद्धापरिमाणका कथन है। उसमें कालके अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—दर्शनोपयोगका जघन्यकाल सबसे कम है। इससे विशेष अधिक चक्षुइन्द्रियावग्रहका जघन्यकाल हैं। इससे विशेष अधिक श्रोत्राव ग्रहका जघन्यकाल है। इसी तरह घ्राण-अवग्रह, जिह्वा अवग्रह, मनोयोग, वचन-योग, काययोग स्पर्शन-अवग्रह अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और श्वासो-च्छ्वासका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका काल तथा सकषाय जीवके शुक्ललेश्याका काल श्वासोच्छ्वासके जघन्यकालसे विशेष अधिक है। इन तीनोके जघन्यकालसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका जघन्यकाल विशेष अधिक है। इसी तरह पृथक्त्ववितर्कसवीचार ध्यान, उपशमश्रेणिसे गिरे हुए सूक्ष्मसाम्परायिक, उपशमश्रेणिपर चढ़नेवाले सूक्ष्म-साम्परायिक, क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसाम्परायिक, मान, क्रोध, माया, लोभ, क्षुद्रभव ग्रहण, कृष्टिकरण, सक्रमण, अपवर्तन, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह, उपशामक,

क्षपकका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। इसी तरह आगे इनका उत्कृष्ट-काल कहा है।

जैनसिद्धान्तमें चर्चित उक्त विषयोंको हृदयंगम करनेके लिए कालके अल्प-बहुत्वका कथन अपना विशेष महत्व है। इसीसे आचार्य गुणधरने ग्रन्थके प्रारम्भमें छह गाथाओंसे उसका कथन किया है। इसके पश्चात् पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बद्ध गाथाएँ प्रारम्भ होती हैं।

सबसे प्रथम अधिकार-सम्बन्धी गाथामें यह शका की गई है कि 'किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें पेज्ज (प्रेय) होता है अथवा किस कषायमें किस नयकी अपेक्षा द्वेष होता है? कौन नय किस द्रव्यमे दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमे प्रेय होता है?'

इस आशकासूत्रका अभिप्राय यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंमेंसे किस नयकी दृष्टिमें कौन कषाय राग है और कौन द्वेषरूप है? रागद्वेषसे आविष्ट जीव किस द्रव्यको अपना अहितकारी द्वेषरूप मानता है और किस द्रव्यको रागरूप मानता है? राग-द्वेष ही ससारकी जड हैं। इनके नष्ट हुए बिना जीव ससारसे मुक्त नहीं हो सकता। अत उन्हीसे वर्ण्य विषयका प्रारम्भ होता है। आचार्य गुणधरने इस आशकासूत्रका स्वय कोई उत्तर नही दिया। यह काय चूर्णिसूत्रकार और उसके व्याख्याकारोने किया है।

इससे आगेकी गाथामे कहा है—'मोहनीयकमकी प्रकृति-विभक्ति, स्थिति-विभक्ति अनुभाग-विभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टप्रदेश-विभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिककी प्ररूपणा करना चाहिए।'

इस एक गाथाके द्वारा ही इस गाथामे आगत अधिकारोका कथन आचाय गुणधरने कर दिया है। वृत्तिकार और टीकाकारोंने प्रत्येक अधिकारका पथक्-पथक् विवेचन किया है।

यहाँ प्रसगवश सक्षेपमें कमसिद्धान्तपर थोड़ा-सा प्रकाश डालना उचित होगा।

कम-सिद्धान्त—

कसायपाहुड, छक्खंडागम आदि समस्त करणानुयोगविषयक साहित्य कम-सिद्धान्तसे सम्बद्ध है। अत उस सिद्धान्तका सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है।

यह तो प्राय सभी परलोकवादी दर्शनोंने माना है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा संस्कार पड जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है। परन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे संस्कार आत्मामें मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलोंका उस आत्मासे बन्ध भी

मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोकमें सूक्ष्म कमपुद्गलस्कन्ध भरे हुए हैं, जो इस जीवकी कायिक, वाचनिक या मानसिक प्रवत्तिसे, जिसे जैन सिद्धान्त में योग कहा ह, आकृष्ट होकर स्वत आत्मासे बद्ध हो जाते है और आत्मामें वतमान कषायके अनुसार उनमें स्थिति और अनुभाग पड जाता ह। जब वे कम अपनी स्थिति पूरी हाने पर उदयमे आत ह तो अच्छा या बुरा फल देते हैं। इस तरह जीव पूवबद्ध कमके उदयसे क्रोधादि कषाय करता ह और उससे नवीन कर्मका बन्ध करता ह। कमसे कषाय और कषायसे कर्मबन्धकी यह परम्परा अनादि ह। इसी बन्धनसे छूटनेका उपाय धम माना जाता है। कमबन्धके चार भेद ह—प्रकृ निबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। कर्मामे ज्ञानका घातने, सुख-दु खादि देनेका स्वभाव पडना प्रकृतिबन्ध हैं। कम बन्धनेपर जितने समय तक आत्माके साथ बद्ध रहेग उस समयकी मयादाका नाम स्थितिबन्ध ह। कम तीव्र या मन्द जसा फल दे उस फलदानकी शक्तिका पडना अनुभागबन्ध है। कमपर माणुओकी सख्याके परिमाणका नाम प्रदशबन्ध है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध याग म हाते ह और स्थितिबन्ध एव अनुभागबन्ध कषायस हात ह। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका नाम याग है। यह योग जितना तीव्र या मन्द होता ह, तदनुसार ही पौदगलिक कमस्कन्ध आत्माकी आर आकृष्ट होत ह। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती ह तदनुसार ही धूल उडती ह। और कषाय—क्रोध, मान, माया, लाभ जैस—तीव्र या मन्द होते है, तदनुसार ही कमपुदगलोमे तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पडता ह। इस तरह याग और कषाय बन्धके कारण हैं। इनमें भी कषाय ही ससारका जड ह।

कमके आठ मूल भेद हैं—१ ज्ञानावरण—जो आत्माके ज्ञानगुणको ढाकता ह २ दर्शनावरण—जो आत्माके दर्शनगुणको ढाकता है ३ वेदनीय—जा जीवको सुख-दु खका अनुभव कराता ह ४ मोहनीय—जा जीवको अपने स्वरूपके सबध मे विपरीत बुद्धि पैदा करता ह ५ आयु—जिसके उदयमे जीव किसो एक जन्म-म अमक समय तक रहता है, ६ नाम—जिसके उदयसे जीवका नया शरीर वगैरह बनता ह, ७ गोत्र—जिसके उदयमे जीव उच्च या नीच कहलाता है और ८ अन्तराय—जो जीवके कार्योंमे बाधा डालता है।

ये आठ कर्म मल है। इनके १४८ भेद है जिन्हें कमप्रकृतियाँ कहते हैं। इन कर्मोंकी दस अवस्थाए होती है उन्हें करण कहते हैं। सबसे प्रथम बन्ध करण होता है—जीव कमसे बधता है या कम जीवसे बधता है। बधनेके पश्चात् ही कम तत्काल फल नही देता, उस अवस्थाको सत्ता कहते हैं। फल देनेका नाम उदय है। फल देनेके भी दो प्रकार है—समय पर फल देनेका नाम उदय है और असमयमें

फल देनेका नाम उदीरणा है। जैसे—आम पेड़पर लगा-लगा पके तो वह सामयिक पकना है और उसे कच्ची अवस्थामें तोड़कर भूसे वगैरहमें दबाकर जल्दी पका लिया जाये तो वह असमयका पकना है। इसी तरह बंधे हुए कर्म जीवके परिणामोका निमित्त पाकर असमयमें भी उदयमें लाकर नष्ट किये जा सकते हैं उसे उदीरणा कहते हैं। बन्धे हुए कर्ममे अपने अच्छे-बुरे परिणामोंके प्रभावसे स्थिति-अनुभागको कम कर देना अपकर्षण करण है और बढ़ा देना उत्कर्षण करण है। परिणामोंसे कर्मको इस योग्य कर देना कि वह अमुक समय तक उदयमें न आसके उसे उपशम करण कहते है। परिणामोंके द्वारा एक कर्मको अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमा देना संक्रम करण है। कर्मकी उस अवस्थाको निधत्ति कहते है जिसमें न तो उसे उदयमे लाया जासके और न अन्य कर्मरूप ही किया जा सके। और उस अवस्थाको निकाचना कहते हैं जिसमे कर्मका उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण चारो ही संभव न हो।

इन आठ कर्मोंमे सबसे प्रधान मोहनीय कर्म है। उसके दो मुख्य भेद है—१ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयमे जीवका अपने स्वरूपकी रुचि श्रद्धा प्रतीति नही होती और जब तब वह न हो तब तक उसका समस्त धर्माचरण निरर्थक होता है, उसके होने पर ही मुक्तिका द्वार खुलता है। चारित्रमोहके भेद कषाय है। इस ग्रन्थमें केवल एक मोहनीयकर्मका ही विवेचन है, उसीके सत्त्व, बन्ध, उदय संक्रमण, उपशम और क्षयका विवेचन है। प्रारम्भके अधिकारोमें प्रकृतिसत्त्व स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व आदिका कथन है। इनके साथ ही बाईसवी गाथा समाप्त होती है।

तेईसवी गाथा बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध है। इसमे कहा है कि 'कितनी प्रकृतियोको बाधता है? कितना स्थिति-अनुभागको बाधता है? कितने प्रदेशोको बाधता है? कितनी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका संक्रमण करता है?'

बन्धका कथन तो नही किया, संक्रमका कथन आचार्य गुणधरने पैतीस गाथाओके द्वारा किया है। एक प्रकृतिका तथा उसकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका अन्य सजातीय प्रकृति आदिमे परिवर्तनको संक्रम कहते है। यह भी चार प्रकारका है—प्रकृति संक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम। इन्हीका इसमें विवेचन है।

आगे चार गाथाओंसे वेदक अधिकारका कथन है। ये चारों गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं। यथा—कितनी प्रकृतियोका उदयावलीमें प्रवेश कराता है? और किन जीवोंके कितनी प्रकृतियाँ उदयावलीमें प्रविष्ट होती हैं? क्षेत्र, भव, काल, और पुद्गलको निमित्त करके कितने कर्मोंका स्थिति, विपाक और उदयक्षय होता है?

आशय यह है कि कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं। इसके दो रूप हैं—उदय

और उदीरणा। कर्मोंकी स्थिति यथाक्रम पूरी होने पर फल देना उदय है। और तप आदिके द्वारा बलपूर्वक स्थितिका अपकर्षण करके कर्मोंको उदयमें ले आना उदीरणा है। इन्हीका विवेचन इस अधिकारमें है। आगे विवेचन उत्तरकालमे वृत्तिकार और टीकाकारने किया।

इसके आगे सात गाथाओंसे उपयोग अधिकारका कथन है। ये गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं। यथा— किसी कषायमे एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है ? किस उपयोगका काल किससे अधिक है ? कौन जीव किस कषायसे निरन्तर एक सदश उपयोगमें रहता है आदि ?

आगे सोलह गाथाओसे चतुस्थान अर्थाधिकारका कथन है। इसमे क्रोध, मान माया और लोभके चार-चार प्रकारोका कथन है। इसीमे इसे चतु स्थान नाम दिया है। ये गाथाए प्रश्नात्मक नही है, विवरणात्मक है। केवल अन्तकी दो गाथाए प्रश्नात्मक है।

क्रोधादिके उत्तरोत्तर हीनताकी, अपेक्षा चार स्थान जिनागममे प्रसिद्ध ह— क्रोध चार प्रकारका ह—पाषाण रेखाके समान, पथिवी रखाके समान, बालू रेखाके समान और जल-रेखाके समान। मानके भी चार भेद ह— पत्थर, हड्डी, लकडी और लताके समान। मायाके भी चार प्रकार है—बाँसकी जड मेढेके सीग, गोमूत्र और अवलेखनीके समान। तथा लोभके भी चार प्रकार है—कृमिराग, अक्षमल पाशुलेप और हल्दीमे रगे वस्त्रके समान।

आगे इनके अनुभागकी हीनाधिकताका विवेचन है।

आगे पाँच गाथाओसे व्यजन अधिकारका विवेचन ह। इनमे चारो कषायोके समानार्थक नाम बतलाये है। जसे—क्राध, कोप, रोष आदि। मान, मद, दप, माया, निकृति, वचना काम राग, निदान, लोभ आदि।

यहाँ तक बन्धरूप कषायोका कथन करनेके पश्चात आगेके अधिकारोमे दर्शन-मोह और चारित्रमोहके उपशमन तथा क्षपणका कथन है।

सबसे प्रथम मोक्षमार्गी जीवको उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अत सम्यक्त्व-अधिकारम प्रथम चार गाथाओके द्वारा तो कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये ह। जैसे—दर्शनमोहके उपशामकका परिणाम कैसा होता ह ? किस योग, कषाय, उपयोग, लेश्या और वेदसे युक्त जीव दर्शनमोहका उपशम करता है ? पन्द्रह गाथाओसे सम्यग्दर्शनसे सम्बद्ध बातोका विवेचन ह। जैसे—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करने वाला जीव चारो गतियोमें होता है तथा वह नियमसे पञ्चेन्द्रिय सज्ञी और पर्याप्तक होता है। दर्शनमोहका उपशम होनेपर सासादन भी हो जाता है। किन्तु क्षय होनेपर सासादन नही होता। साकार उपयोग वाला

जीव ही दर्शनमोहके उपशमनका प्रस्थापक होता है किन्तु निष्ठापक भजितव्य है। दर्शनमोहकी उपशान्त अवस्थामें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनों उपशान्त रहते हैं। उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियमसे उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिमेंसे किसी एकका उदय होता है। सम्यक्त्वका प्रथम बार लाभ सर्वोपशमसे होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो नियमसे श्रद्धान करता है। किन्तु अज्ञानवश सद्भूत अर्थका स्वयं नहीं जानता हुआ गुरुके नियोगसे असद्भूत अर्थका भी श्रद्धान करता है।'

इस प्रकार इस अधिकारमें सम्यक्त्वका कथन विस्तारसे किया है।

इससे आगे दर्शनमोहक्षपणा अधिकारमें कहा है कि नियमसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और मनुष्यगतिमें वर्तमान जीव ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है, किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतिमें होती है। मिथ्यात्ववेदनीय कर्मके सम्यक्त्व प्रकृतिमें अपवर्तित होनेपर जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है। दर्शनमोहके क्षीण हो जानेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है। मनुष्यगतिमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नियमसे संख्यात हजार होते हैं। शेष गतियोंमें असंख्यात होते हैं।

उपशमसम्यक्त्वके पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व होने पर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना मुक्तिकी प्राप्ति संभव नहीं है।

आगे संयमासंयमलब्धि नामक अधिकारमें एक गाथासे कहा है—'संयमासंयमकी लब्धि तथा चारित्रकी लब्धि, परिणामोंकी वृद्धि और पूर्वबद्ध कर्मोंकी उपशामना इस अधिकारमें वर्णन करने योग्य हैं। इतना कहकर ही यह अधिकार समाप्त कर दिया गया है। आगे चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें प्रारम्भकी ५ गाथाएं तो प्रश्नात्मक हैं। बादकी तीन गाथाओंमें विषयसे सम्बद्ध बातोंका विवेचन किया है। जैसे, यह प्रश्न किया गया है कि चारित्रमोहकी उपशमना करने वाले जीवका प्रतिपात कितने प्रकारका है तथा वह सर्वप्रथम किस कषायमें गिरता है? उत्तरमें कहा है प्रतिपात दो प्रकारका है—एक भवक्षयसे अर्थात् आयु समाप्त हो जानेसे और दूसरा उपशमकालके समाप्त हो जानेसे। उपशमकालके समाप्त होनेसे जो प्रतिपात होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर दसवेंमें आता है। किन्तु आयुक्षयसे जो प्रतिपात होता है वह स्थूल रागमें होता है। वह मरकर देव होता है।

अन्तिम अधिकार चारित्रमोहक्षपणा है। दर्शनमोहका क्षय करनेके पश्चात जीव चारित्रमोहका या तो उपशम करता है या क्षय करता है। यदि उपशम

करता है तो ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुँचकर नियमसे नीचे गिरता है। जैसा ऊपर कहा है। और क्षय करनेपर नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। इसीसे इस अधिकार की गाथासख्या एकसौसे भी अधिक ह।

चारित्रमोहनीयकी इक्कीस कमप्रकृतियोका क्षय करने वाले जीवके पूर्वबद्ध कमकी क्या स्थिति रहती है उनमे अनुभाग कसा रहता है, उस समय किस कम-का सक्रमण होता ह और किसका सक्रमण नही होता, इत्यादि प्रश्नपूवक उनका समाधान किया गया है। साथ ही क्षय होने वाली प्रकृतियोका क्षय किस प्रकार-से किस किस आन्तरिक क्रियाके द्वारा होता है, यह भी विस्तारसे स्पष्ट किया है। कषायोके अनुभागका घटाकर उन्हे कृश किया जाता है इसे कृष्टिकरण कहते हैं इस कृष्टिकरणविषयक जिज्ञासाका भी सूत्ररूपमे समाधान किया गया ह।

इस तरह मोहनीयकमक अनुभागका कृष्टिकरण करनेपर कृष्टिवेदनके प्रथम समयमे वर्तमान जीवक पूवबद्ध ज्ञानावरणादि कम किन किन स्थितियोमे और अनुभागोम वतमान रहते ह तथा वतमानमे बँधने वाले और उदयमें आने वाले कम किन किन स्थितियोमे और अनुभागाम पाये जाते ह, ये जिज्ञासाए करके उनका समाधान किया गया ह। यथा—मोहनीयकमका कृष्टिकरण कर देनेपर नाम, गोत्र और वदनीय य तीन कम असख्यात वर्षोकी स्थितिवाले होते हैं और शेष तीन घातिया कम सख्यात वर्षोकी स्थितिवाले रहते ह इत्यादि। अन्तिम गाथामें कहा ह—इस प्रकार मोहनीयकमक क्षीण होने तक सक्रमणा विधि, अपवतना विधि, और कृष्टिक्षपण विधि य क्षपणा विधिया मोहनीयकमकी क्रमस जानना।

इस अन्तिम कथनके साथ कसायपाहुड समाप्त होता ह।

इस तरह आचाय गुणधरने इस ग्रन्थमे मोहनीयकमके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वक पच्छासूत्रात्मक कथनके साथ बन्ध, उदय उदीरणाका निर्देशमात्र करके सक्रमणका कुछ विस्तारसे कथन किया है। एक कमप्रकृतिके अन्य सजातीय प्रकृतिरूप होनेको सक्रमण कहते है। इसके पश्चात दशनमोहके उपशम और क्षपणका कथन करके अन्तमे चारित्रमोहके उपशमन और क्षपणका विस्तारस कथन किया ह।

जिस तरह मोहनीयकमका बन्ध जीवक परिणामोसे होता है उसी तरह उनका सक्रमण, उपशम, क्षय भी जीवके ही परिणामोसे होता है। परिणामोकी विशुद्धि मोहनीयकर्मके उपशमादिमें निमित्त पडती है और उपशमादि परिणामोकी विशुद्धिमें निमित्त पडते है। विशुद्धिके तरतमाशका चित्रण कमसिद्धान्तके द्वारा किया जाता है। इसास कमसिद्धान्तके विश्लेषणने इतना बृहत् रूप लिया है।

●

द्वितीय परिच्छेद

छक्खण्डागम (षट्खण्डागम)

दिगम्बर परम्पराका दूसरा महनीय ग्रन्थ छक्खडागम है। इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु केवल जैन साहित्यकी दृष्टिसे ही नही, अपितु समस्त भारतीय वाङमयके इतिहासकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। जीवकी स्वतन्त्रता और उसके कर्मसम्बन्धका सूक्ष्म विवेचन धर्म दर्शन एवं संस्कृतिकी दृष्टिसे नितान्त श्लाघनीय है। यह केवल ग्रन्थ ही नही अपितु वाङमय कोष है। अतएव वाङमयके इतिहासके विवेचन-सन्दर्भमें इस ग्रन्थकी विषय वस्तु रचना-काल, रचयिता रचना-स्थान आदिपर विचार करना परमावश्यक है।

छक्खडागमका रचनाकाल

इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमे विचार करनेके हेतु ग्रन्थावतारका इतिवृत्त अंकित किया जा चुका है। बताया है कि यह ग्रन्थ उस समय रचा गया था, जब अङ्गो और पूर्वोंका ज्ञान प्राय लुप्त हो चुका था और विशकलित अंशज्ञानके भी लुप्त होनेका भय उपस्थित हो गया था। अतएव धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनियोको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया। गुरुद्वारा प्राप्त अपने ज्ञानके आधारपर ही उक्त दोनो आचार्योंने छक्खण्डागमकी रचना की।[1]

नन्दिसंघकी पट्टावलिके[2] अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात आता है। धरसेनाचार्यकृत 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत) ग्रन्थ उपलब्ध होता है। विक्रम संवत् १५५६ में लिखी गयी 'बृहट्टिप्पणिका'[3] नामकी सूचीके आधारपर उसे वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चातका रचा हुआ माना गया है।

---

१ लोहाइरिये सग्गलोगं गदे आयारदिवायरो अत्थमिओ। एवं बारससु दिणयरेसु भरहखेत्तम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसभूदपेज्जदोसमहाकम्मपयडिपाहुडादीणं धारया जादा। एवं पमाणीभूदमहरिसीपणालेण आगंतूण महाकम्मपयडिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। तेण वि गिरिणयरचंदगुहाए भूदबलि पुप्फदंताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयलं समप्पिदं। तदो भूदबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि। —षट्खं० पु० ९ पृ० १३३।

२ षट्ख पु० १ की प्रस्ता० पृ०, २५ २९।

३ 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्।'—जै सा स १, ०, परिशिष्ट।

इस टिप्पणिका' ग्रन्थकी एक प्रति भाण्डारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना-मे उपलब्ध है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही बताया है। पर रचयिताका[1] नाम पण्णसमण' मुनि लिखा है। इन महामुनिने कुषमाण्डिनी देवीसे इसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलिके लिए लिखा था।

इस कथनसे यानिप्राभृतके रचयिता धरसेनकी सभावना की जाती है। प्रज्ञा-श्रमणत्व एक ऋद्धि है। सम्भवत धरसेनाचाय इस ऋद्धिके धारी रहे हो। इसी कारण उन्ह प्रज्ञाश्रमण कहा जाता रहा हो।

यहाँ यह स्मरणीय ह कि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे गुणधरके समान धरसेनाचायकी गुरुपरम्परा अकित नही की है और न ऐसा स्रोत ही उपलब्ध है, जिसक आधारपर धरसेनाचायकी गुरुपरम्परापर विचार किया जा सके। पर हाँ, पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो इनके शिष्य है। उनके सम्बन्धमे पहले लिखा जा चुका ह। पट्टावलीसे केवल इतना ही ज्ञात होता ह कि धरसेनका समय वीर निर्वाण सवत ६१४ ६८३ के बीच होना चाहिए। अत छक्खडागमका रचनाकाल विक्रम सवतकी प्रथम शताब्दीका अन्तिम पाद और द्वितीय शताब्दीका प्रथम पाद होना चाहिए।

रचनास्थान

[2]धरसेनाचायन गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे निवास करते हुए पुष्पद त और भूतबलिको महाकमप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया था। यह नगर सौराष्ट्रमें गिरिनारके नामस प्रसिद्ध ह।

पुष्पदन्त और भूतबलिन गिरिनारस लौटकर अकुलेश्वरमे वर्षावास किया। सम्भवत गुजरातका भडोच जिलेका अकलेश्वर ही अकुलेश्वर रहा होगा। इन्द्र-नन्दिन अपने श्रुतावतारमे बताया ह कि धरसेनाचायने उन्हे कुरीश्वरपत्तन भेजा था, जहाँ वे नौ दिनमे पहुँच थ। विबुध श्रीधरने भी अकुलेश्वरमें वर्षावास करनेका उल्लेख किया है। अत कुरीश्वर अकुलेश्वरका ही भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है।

वर्षायोग समाप्तकर पुष्पदन्ताचाय जिनपालितको देखकर और उसे साथ ले वनवास देशको चले गये और भूतबलिने द्रमिल (द्रविड) देशको प्रस्थान किया—

---

१ इय पण्हसवणरइए भूयवली पुप्फदतआलिहिए। कुसुमडीउवहट्ठे विज्जयविपम्मि अवियारे।'—अनेका० वर्ष २ पृ० ४८७।

२ 'सोरट्ठविसयगिरिणयरपट्टणचन्दगुहाठिएण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पसिदो।'—षट्खडागम, पु० १ पृ० ६७।

[1]इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे इतना ही ज्ञात होता है कि वर्षावास समाप्त होनेपर दोनों ही मुनि दक्षिणकी ओर विहार कर गये और वे करहाट पहुँचे। करहाटको कुछ विद्वानोंने सितारा जिलेका करहाड या कराड और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हापुर बतलाया है।[2] यह नगर प्राचीन समयमें विद्याका उत्कट स्थान रहा है। यहाँ आचार्य समन्तभद्र भी पहुंचे थे।[3]

पुष्पदन्ताचार्यका भानजा करहाटकमें निवास करता था। अत बहुत सम्भव है कि आचार्य पुष्पदन्तका जन्म उसीके कहीं आस-पास रहा हो। दूसरी बात यह है कि धरसेनाचार्यने अपना पत्र महिमानगरीमें सम्मिलित दक्षिणापथके आचार्योंके पास भेजा था। और आंध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास गये थे। वर्तमान सतारा जिलेमें वेण्णा नामकी नदी भी है और उसी जिलेमें महिमा नामक ग्राम भी है। अत यह बहुत सम्भव है कि यह महिमानगढ ही प्राचीन महिमानगरी हो। अतएव सितारा जिलेका करहाटक प्रतीत होता है।

वनवासदेश उत्तर करनाटकका प्राचीन नाम है, वहाँ कदम्बवंशका राज्य था और उसकी राजधानी वनवास थी। इस देशमें ही पुष्पदन्तने 'वीसदि' सूत्रोंकी रचना की और जिनपालितको उन्हें पढाकर भूतबलिके पास भेजा। भूतबलिने 'विंशति' सूत्रोंको देखा और जिनपालितसे ज्ञात किया कि पुष्पदन्ताचार्यकी अल्पायु शेष है। अतएव कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेके भयसे उन्होंने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थरचना की।

इस अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि छक्खंडागम सिद्धान्तका आरम्भिक भाग तो वनवासदेशमें और अवशेष ग्रन्थ द्रविड देशमें रचा गया होगा।

ग्रन्थरचना-विभाजन और रचयिता

धवलाकार वीरसेन[4] स्वामीने लिखा है कि आचार्य पुष्पदन्तने "वीसदि" सूत्रोंकी रचना की और इन सूत्रोंको देखकर आचार्य भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अवशिष्ट ग्रन्थकी रचना की। छक्खंडागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम अनुयोगद्वारका नाम सत्प्ररूपणा और दूसरेका नाम द्रव्यप्रमाणानुगम है। स्पष्ट है कि प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी रचना पुष्पदन्ताचार्यने की है। 'वीसदि' सूत्रसे अभिप्राय सत्प्ररूपणाका लेना चाहिए।

---

१ अगमत्तुरथ करहाटे तयोः स य पुष्पदन्तनाम मुनिः। जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽसौ भागिनेयं स्वं॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्। तस्थौ भूतबलिरपि मधुरायां द्रविड देशेऽस्थात्॥—श्रुतावतार श्लो० १३२ १३३

२ जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७२। ३ 'प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।' जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७४। ४ षट खं० पु० १, पृ० ७१।

[1]इन्द्रनन्दिने भी यही लिखा है—गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्रकारके सूत्रोकी सत्प्ररूपणासे युक्त जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना पुष्पदन्तने की। किन्तु यदि 'वीसदिसुत्त मे अभिप्राय सत्प्ररूपणासे है तो सत्प्ररूपणा न कहकर उसे 'वीसदिसुत्त' शब्दसे क्यो अभिहित किया, यह स्पष्ट नही होता।

सूत्राका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर वीरसेन स्वामीने उनकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए [2]प्ररूपणाका अर्थ किया है—सामान्य और विशेषकी अपेक्षा गुणस्थानो, जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, सज्ञा, गति इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, अभव्यत्व, सम्यक्त्व सज्ञी, असज्ञी आहारी अनाहारी और उपयोग इनमे पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंसे विशिष्ट जीवोकी परीक्षा प्ररूपणा है।'

यह कह करके वीरसेन स्वामीने एक गाथा उद्धृत की है, जिसमें कहा गया है कि—गुणस्थान जीवसमास, पर्याप्ति प्राण सज्ञा चौदह मार्गणाएँ और उपयोग इस प्रकार क्रमसे बीस प्ररूपणाएँ कही गई है।'

आगे धवलाटीका[3]में यह शका की गई है कि यह बीस प्रकारकी प्ररूपणा सूत्रके द्वारा कही गई है या नही ? वीरसेनस्वामीने यह स्वीकार किया है कि यह सूत्र प्रतिपादित है। यहाँ सूत्रसे अभिप्राय पुष्पदन्ताचार्य प्रणीत सत्प्ररूपणाके सूत्रोसे ही जान पडता है। चूकि उन सूत्रोमे बीस प्ररूपणाओका कथन है इसलिये उन्हे वीसदिसुत्त' कहा जान पडता है।

किन्तु धवलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोका व्याख्यान समाप्त करनेके पश्चात लिखा[4] है कि—सत्सूत्राका विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा कहेगे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य पुष्पदन्तने सत्सूत्रोकी ही रचना की है उसकी प्ररूपणाका कथन नही किया। यद्यपि उन्होने अनुयोगद्वारका नाम 'सतपरूवणा ही रखा, ऐसी स्थितिमे पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा रचे गये सूत्रोको 'सतसुत्त' कहना उचित हो सकता था। किन्तु यह न कहकर 'वीसदिसुत्त ही क्यो कहा गया इस सम्बन्धमे विशेष सन्तोषजनक समाधान नही मिलता।

इन्द्रनन्दिने लिखा है कि पुष्पदन्तने सौ सूत्रोको पढाकर जिनपालितको

---

१ वाक्यैन गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया। युक्त जीवस्थानाद्यधिकार व्यरचयत् सम्यक्। १३५॥—श्रु ता०

२ 'सपहि सतसुत्तविवरणसमत्ताणतर तेसिं परूवणं भणिस्सामो। परूवणा णाम किं उत्त होदि।—षट्खं०, पु २ पृ ४११।

३ षट्खं० पु २ पृ ४१। ४ षट्खं पु २, पृ ४११।

५ 'सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरो पार्श्वम्। तदभिप्राय ज्ञातु प्रस्थापयद गमदेपोऽपि ॥१३६॥ —श्रु ता०

भूतबलिके पास भेजा। किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी संख्या १७७ है। अत उनका यह कथन भी स्खलित प्रतीत होता है। इसप्रकारकी कतिपय विप्रतिपत्तियोंके रहते हुए भी धवलासे तो यही प्रमाणित होता है कि सत्प्ररूपणाके सूत्र पुष्पदन्ताचार्यने रचे थे, क्योंकि उनकी उत्थानिकाओंमें धवलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है। द्रव्यप्रमाणानुगम[1] अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें भूतबलिका नाम निर्देश किया है। अत द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर भूतबलि आचार्यकी रचना आरंभ होती है।

रूपरेखाका निर्माण

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतबलि और पुष्पदन्तमेंसे किसने किया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रन्थके निर्माणका आरम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया। उन्होंने[2] चौदह जीवसमासोंके गुणस्थानोंके) निरूपणके लिए आठ अनुयोगद्वारोंको ही जानने योग्य बताया है। वे आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम स्पर्शनानुगम कालानुगम, अन्तरानुगम भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। जीवस्थाननामक प्रथम खण्डके ये ही आठ अधिकार हैं। इन अधिकारोंके पश्चात जीवस्थानकी चूलिका है इस चूलिकाके अन्तगत अधिकारोंका कोई निर्देश 'जीवट्ठाण के उक्त आठ अनुयोगद्वारोंमें नहीं पाया जाता। अत चूलिका अधिकारको भी जीवस्थानका ही भाग सिद्ध करनेके लिए, चूलिकाके आरम्भमें[3] ही धवलाकारको शङ्का समाधान करना पड़ा है, जो इस प्रकार है—

शङ्का—आठों अनुयोगद्वारोंके समाप्त हो जानेपर यह चूलिका नामक अधिकार किसलिए आया है ?

समाधान—पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोंके नियम-स्थलोंका विवरण करनेके लिए आया है।

शङ्का—चूलिका अधिकार आठ अनुयोगद्वारोंसे प्ररूपित अर्थका ही कथन करता है अथवा अन्य अर्थका। यदि उसी अर्थका कथन करता है

---

१ संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिबोहणट्ठ भूदबलियाइरिओ सुत्तमाह। षट्खं, पु ३, पृ० १।

२ एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥५॥ तं जहा ॥६॥ संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो, अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥ षट्खं पु, १, पृ १५३ १५५।

३ षट्खं पु ६, पृ १२।

तो पुनरुक्त दोष आता है। दूसरे पक्षमें वह चौदह जीवसमासोसे प्रतिबद्ध अथका कथन करता है अथवा अप्रतिबद्ध अथका ? प्रथम विकल्पमें 'चौदह जीवसमासोके कथनके लिए ये आठ ही अनुयोग-द्वार जानने योग्य है' इस सूत्रमे आये हुए एकबार (ही) की विफलता प्राप्त होती है, क्योकि चौदह जीवसमासोसे प्रतिबद्ध अथका कथन करने वाला चूलिका नामक नौवाँ अधिकार पाया जाता है। दूसरा पक्ष मानने पर चूलिका नामक अधिकार जीवस्थानसे पृथक-भूत हो जाएगा, क्योकि वह जीवस्थानसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन नही करता।

समाधान— पुनरुक्त दोष नही आता क्योकि चूलिका नामक अधिकारमे आठ अनुयोगद्वारोसे नही कहे गये तथा कहे गये अथका निश्चय कराने वाल और आठ अनुयोगद्वारोसे सूचित किंतु उनसे कथचित भिन्न अथका कथन किया गया है।

इस शका समाधानके पश्चात धवलाकारने चूलिकाका अन्तर्भाव उक्त आठ अनुयोगद्वारोमें ही करके यह बतलाया ह कि चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नही है।

इस चर्चासे प्रमाणित होता ह कि पुष्पदन्त आचायके द्वारा सूचित आठ अनुयोगद्वारोमें जो बाते कथन करनेसे छूट गयी, उनका या सम्बद्ध अन्य बातोका कथन चलिका नामक अधिकारम किया गया। अत चूलिका अधिकार भूतबलिकी उपज जान पडता ह और उसपरसे यही व्यक्त होता है कि पुष्पदन्तने केवल जीवस्थाननामक खण्डकी ही रूपरेखा निर्धारित की थी।

धवला टीकाके आरम्भमें[1] भी वीरसेनस्वामीने जीवस्थानके ही अवतारका कथन किया ह, छक्खडागमसिद्धातका नही। जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए उन्होंने बतलाया ह कि—दूसरे[2] अग्रायणीय पूर्वके अन्तगत चौदह वस्तु अधिकारोमें एक चयनलब्धि नामक पाचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमें बीस प्राभृत हैं। उनमेसे चतुथप्राभृत कमप्रकृति है। उस कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अर्थाधिकार ह। उनमें एक बन्धन नामक अर्थाधिकार है। उस बन्धन नामक अर्थाधिकारमें भी चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमेंसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमे पाचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। जीवस्थाननामक खण्डमे जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इस बन्धकनामक अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला है।

---

१ मपहि जीवट्ठाणस्स अवयारा उच्चदे।'—षट्खं पु १, पृ ७२।

२ षटखंडा०, पु १, प १२३-१३।

बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेशबन्ध। इन चार बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तन तथा तीन महादण्डक निकले हैं। और तेईसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है। अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छै अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। ये छै और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोंमेंसे द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला द्रव्यप्रमाणानुगम, तथा एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अधिकारोंमेंसे तेईसवें भावानुगम अधिकारसे निकला भावानुगम, ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार होते हैं।

स्थितिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थिति बन्ध। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे अर्धच्छेद दो प्रकारका है—जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद। इनमें जघन्यस्थिति अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदसे उत्कृष्ट स्थिति निकली है। सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक अधिकार निकला है। पहले जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध अधिकारके समुत्कीर्तना नामक प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डकोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं उन पाँचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति अद्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अद्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति आगति इन चार अधिकारोंको मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार होते हैं। इस सब कथनको मनमें अवधारण करके आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा है।' इस कथनसे केवल जीवस्थानकी ही नहीं, उसकी चूलिकाकी भी रूपरेखा पुष्पदन्ताचार्यकृत थी, ऐसा वीरसेनस्वामीका मत है। किन्तु समस्त छक्खडागमकी रूपरेखा उनकी निर्धारित की हुई ज्ञात नहीं होती।

अतः समग्र सिद्धान्तग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतबलिने ही किया जान पड़ता है क्योंकि कृति [1]अनुयोगद्वारके आदिमें ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए

१ 'तदो भूदबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्खं०, पु० ९, पृ० १३३।

वीरसेन स्वामीने स्पष्ट लिखा है कि 'धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें पुष्पदन्त और भूतबलिको समग्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृत समर्पित कर दिया। तत्पश्चात भूतबलि भट्टारकने श्रुतनदीके प्रवाहके विच्छेदके भयसे भव्य जीवोके उपकारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसहार करके छह खण्ड किये।'

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढानेके लिये कमप्रकृतिप्राभृतका छ खण्डोमें उपसहार किया और जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढाकर भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये उनके पास भेजा। उससे सत्प्ररूपणाके सूत्रोको सुनकर, भूतबलिने पुष्पदन्त गुरुकी षटखण्डागम रचनाका अभिप्राय जाना।

इन्द्रनन्दिने यह भी लिखा है कि भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोमे लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमीको उसकी पूजा की। इसीसे यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई। तत्पश्चात भूतबलिने उस छक्खडा गमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। जिनपालितके हाथमें छक्खडागम पुस्तकको देखकर 'मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ' यह जान पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुतपञ्चमीके दिन ग्रन्थकी पूजा की।

इस सब कथनसे तो यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने छक्खडागमकी रूपरेखा निर्धारित करके सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी रचना की थी।

किन्तु धवलासे इसका समथन नही होता, उसमें यह भी नहीं लिखा कि भूतबलिने छक्खडागमके सूत्रोकी रचना करके उन्हे पुष्पदन्ताचार्यके पास भेजे थे। धवलाके अनुसार तो पुष्पदन्ताचायके द्वारा सत्प्ररूपणाके सूत्रोको भूतबलिके पास भेजनेका कारण पुष्पदन्ताचायका अल्पायु होना था। अत यह सभव प्रतीत होता है कि छक्खडागमकी रचना पूण होने पर पुष्पदन्त स्वगवासी हो चुके हो। किन्तु श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्ताचायने भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिए उनके पास सत्प्ररूपणाके सूत्रोको भेजा था और भूतबलिने उन्हे सुनकर जाना कि पुष्पदन्ताचायका अभिप्राय छक्खडागमकी रचना करनेका है। उन्होने छक्खडागमकी रचना की।

इन दोनो कथनोमें हमें धवलाकारका कथन विशेष समुचित प्रतीत होता है, क्योकि पुष्पदन्ताचाय अकलेश्वरसे लौटते हुए ही अपने भानजे जिनपालितको अपने साथ लेते गये थे और उन्हें जिन-दीक्षा भी दे दी थी। ऐसा उन्होंने महा-

---

१ अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितु स्वभागिनेयं तम्।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसहार्यैव षड्भिरिह खण्डै.॥—श्रुता० १३४

कर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके उसे जिनपालितको पढ़ाकर उसकी परम्परा चलानेके अभिप्रायसे किया था। किन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरी आयु थोड़ी शेष है अत उन्होंने अपनी रचनाको जिनपालितके साथ भूतबलिके पास भेज दिया। यदि उन्होंने केवल भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये जिनपालितको उनके पास भेजा होता तो भूतबलि अपने अभिप्रायके साथ जिनपालितको पुष्पदन्ताचार्यके पास लौटा देते, स्वयं रचना करनेमें न लग जाते। अस्तु,

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितके हाथ केवल 'विसदिसुत्त' ही भेजे थे या षट्खण्डोकी कोई रूपरेखा भी भेजी थी।

षट्खण्डोंके क्रम तथा महाकमप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंसे उनके उद्धारका जो वर्णन मिलता है, उसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डोकी रूपरेखा किसी एक व्यक्तिकी निर्धारित की हुई नही है, बल्कि दो व्यक्तियोकी और ऐसे दो व्यक्तियोकी—जो आपसमे नही मिल सके, निर्धारित की हुई है। हमारे इस अनुमानकी सत्यताके लिये महाकमप्रकृतिप्राभृतके अनुयोगद्वारोके साथ छ-खण्डोका मिलान करके देखें।

महाकमप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम दो अनुयोगद्वारोसे वेदनाखण्डका उद्धार हुआ, जो चौथा खण्ड है। तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अनुयोगद्वारके बंध और बन्धनीय भेदोको लेकर पाँचवां वगणा खण्ड बना। इसी छठे अनुयोगद्वारके एक भेद बन्धकसे दूसरा खण्ड खुद्दाबन्ध बना, और दूसरे भेद बन्धविधानसे छठा खण्ड महाबन्ध बना। शेष दो खण्ड—पहला और तीसरा भी इसी बन्धविधानके अवान्तर अनुयोगद्वारोसे निष्पन्न हुए।

ग्रन्थनाम—मूलसूत्रोमें ग्रन्थका नाम नही दिया। अत नही कह सकते कि इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलिने इसे किस नामसे अभिहित किया था। धवलाटीकाके[1] प्रारम्भमें इसे 'खण्डसिद्धान्त' कहा है और धवलाकारने कृति अनुयोगद्वारमें[2] लिखा है कि भूतबलि भट्टारकने महाकमप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके छ खण्ड किये। इन छ खण्डोके आधार पर ही इसका नाम उत्तरकालमें छक्खंडागम प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधरने

---

१ 'तदो एयं खंडसिद्धंतं पडुच्च' भूतबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति'-षट्ख०, पु० १, पृ० ७१। इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि—वही, पृ० ७४।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।'—षट्ख, पु० ९, पृ० १३३। षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरु ॥ १३७ ॥ 'एवं षट्खंडागमरचनां प्रविधाय'—॥ १४२ ॥ श्रुता०

अपने-अपने श्रुतावतारमें इसी नामसे ग्रन्थका उल्लेख किया है। किन्तु धवला-कारने कही भी छक्खडागम नामसे इस ग्रन्थका निर्देश नही किया। धवला और जयधवलामे छ खण्डोके नामोसे या उनके अन्तगत अनुयोगद्वारोके नामोसे ही उनका निर्देश मिलता है।

यथा—'जुत्त खुद्दाबधम्हि भागलद्धादो एयरूवस्स अवणयण, एत्थ पुण जीव ट्ठाणम्हि । —षटख , पु० ३, प० २५०।

'एत्थ णेरइयमिच्छाइट्ठीण जीवट्ठाणे परूविदा एदेण खुद्दाबधेण सह विरोहादो।—पु० ७, प० २४५।

'वग्गणासुत्ते भणिद'- पु० १४, पृ० ३८५।

'अथवा जहा वेयणाए परूवणा कदा तहा वि कायव्वा, पु० १४ प० ३५१।

'त कथ णव्वदे ? पचिदिएसु उवसामेता गब्भोवक्कतिएसु उवसामेदि णो सम्मुच्छिएसु त्ति चूलियासुत्तादो।—पु० ५ प० ११९।

जीवस्थान खुद्दाबन्ध, वदना, वर्गणा ये सब पटखण्डागमके अन्तगत खण्डोके नाम ह। तथा 'चूलिया' जीवट्ठाणका अन्तिम भाग है। उसका निर्देश भी 'जीव-ट्ठाण' के नामस न करक चूलिका' के नामस किया है। एक ही ग्रन्थमे उसके अन्तगत खण्डोका उल्लेख खण्डके नामसे न करके मूलग्रन्थके नामसे करनेमें पाठकका कुछ भ्रम न हो, इसलिये ऐसा किया गया है यह कहा जा सकता है किन्तु जयधवलाम भी उनका उल्लेख खण्डोके नामोसे ही पाया जाता ह। यथा—

'खुद्दाबधे जो आलावो सो कायव्वो'।—क० पा०, भा० २, प० ८२।

ण च जीवट्ठाणेण सह विरोहो'।— ,, ,, प० ३६१।

खिप्पाग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखड परूविदो तहा एत्थ वि परूविदव्वो। क० पा०, भा० १, प० १४।

पटखण्डागमके अन्तगत खण्डोका उल्लेख ग्रन्थान्तरोमे क्वचित ही मिलता है, मगर वहाँ भी खण्डोके नामोसे ही मिलता ह। यथा—अकलकदवने अपने[1] तत्त्वार्थवार्तिकमे जीवस्थान' का निर्देश किया ह। और एक जगह[2] आर्ष' करके खुद्दाबन्धका उल्लेख किया ह। और एक जगह[3] वगणाखण्डका उल्लेख किया है किन्तु षट्खण्डागम करके निर्देश नही किया।

इससे ता यही प्रमाणित होता है कि वैसे प्रत्येक खण्ड अपने-अपने स्वतत्र

१ आह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायां'—पृ० १५१।
२ एवं ह्यार्षे उक्तम त्रसविधाने —पृ० २४४।
३ 'एवं ह्युक्तमार्षे वर्गणाया बन्धविधाने। —त० वा० ५।३७।

नामोसे ही अभिहित किया जाता था। किन्तु सामूहिक रूपसे उन्हें छःखण्ड या षट्खण्ड कहा जाता था, क्योंकि जयधवलाकी [1]प्रशस्तिमें वीरसेनस्वामीका गुणगान करते हुए कहा गया है कि चक्रवर्ती भरतकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती षट्-खण्डमें स्खलित नहीं हुई। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपने कर्मकाण्डमें 'छक्खण्ड' नामसे ही उसका उल्लेख किया है। अतः छहों खण्डोंको उनके रचयिता भूतबलिने कोई नाम नहीं दिया था। इसीसे बादका षट्खण्ड नामसे व अभि-हित किये जाने लगे।

वीरसेनस्वामीने 'खण्ड' के साथ सिद्धान्तशब्दका प्रयोग करके उन्हें 'खण्ड सिद्धान्त' कहा है। जयधवलाकी प्रशस्तिमें इस सिद्धान्तशब्दकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है—जिसके अन्तमें सिद्धोंका कथन हो उसे सिद्धान्त कहते हैं। अतः वीरसेनस्वामीके अनुसार इसका नाम षट्खण्डसिद्धान्त था। किन्तु इन्द्रनन्दिने आगमशब्दका प्रयोग करके उन्हें छक्खडागम कहा है। यद्यपि सिद्धान्त[3] और आगमशब्द एकार्थवाची हैं, फिर भी दोनों शब्दोंका यौगिक अर्थ भिन्न है और दोनों अपना अपना इतिहास रखते हैं।

सतकम्मपाहुड (सत्कर्मप्राभृत)

धवलाटीका और जयधवलाटीकामें भी 'सत्कर्मप्राभृत' का उल्लेख मिलता है। धवलाके[4] आरम्भमें ही लिखा है कि यह सतकम्मपाहुडका उपदेश है। और कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोंका क्षपण होने पर पीछे अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है। इस पर आशंका की गई कि इन दोनों वचनोंमें विरोध क्यों है, तो कहा गया कि वे दोनों आम्नायवचन हैं, 'जिनेन्द्रवचन नहीं हैं' अतः उनमें विरोध होना सम्भव है।

इसी तरह जयधवलाटीकामें[5] भी सतकम्मपाहुडका उल्लेख मिलता है। ऊपर धवलामें कसायपाहुडके प्रतियोगीरूपमें सतकम्मपाहुडका जिस प्रकार निर्देश किया गया है उससे बराबर यह व्यक्त होता है कि सतकम्मपाहुड कसायपाहुडका सम-कक्ष आगमग्रन्थ होना चाहिये। उसके नामके साथ भी पाहुडशब्द जुड़ा हुआ है,

---

१ 'भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥'—ज० प्र०।

२ 'सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक् ॥ १ ॥'—ज० प्र०।

३ 'आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो'—षट्ख०, पु० १, पृ० २०।

४ 'एसो संतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण ...।' षट्खं०, पु० १, पृ० २१७ २२१।

५ 'एसो अत्थविसेसो संतकम्मपाहुडे वित्थारेण भणिदो। एत्थ पुण सम्भागउरबभएण ण भणिदो।'—ज०ध० प्रे० का०, पृ० ७४४१।

जो उसे पूर्वोंका ही अंश बतलाता है।

प्रो० हीरालालजीने इसके सम्बन्धमें लिखा था—'यहाँ स्पष्टत कसायपाहुडके साथ सत्कमपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षटखण्डागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है क्योकि पूर्वोंकी रचनामे उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंका नाम महाकमप्रकृतिपाहुड है महाकर्मप्रकृति और सत्कम संज्ञाएँ एक ही अर्थकी द्योतक है, अत सिद्ध होता है कि इस समस्त छक्खडागमका नाम सत्कर्मप्राभृत है। और चूँकि इसका बहुभाग धवलाटीकामें ग्रथित है, अत समस्त धवलाको भी सत्कमप्राभृत कहना अनुचित नही। उसी प्रकार महाबन्ध या निबन्धनादि अठारह अधिकार भी इसीके खण्ड हानेसे सत्कम कहे जा सकते है।' (षटख० पु० १, प्रस्ता० प० ६९-७०)।

किन्तु वेदनाखण्डके [1]क्षेत्रविधानमे स्वामित्वका कथन करते हुए सूत्रकार भूतबलिने क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना किसके होती है इस प्रश्नका समाधान करते हुए लिखा है—'जो मत्स्य एक हजार योजनकी अवगाहनावाला स्वयभुरमण समुद्रके बाह्य तटपर स्थित है, और वेदनासमुद्घातको प्राप्त हुआ है, तनुवातवलयसे स्पृष्ट है, फिर भी जो तीन विग्रह लेकर मारणान्तिकसमुदघातसे समुदघातको प्राप्त हुआ ह और अनन्तर समयमे सातवी पथिवीके नारकियोमे उत्पन्न होगा, उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट हाती है।'

धवलामें इस पर यह शका की गई है कि उस महामत्स्यको सातवी पृथिवीको छोडकर नीचे सात राजु मात्र जाकर निगोदिया जीवोमें क्यो उत्पन्न नहीं कराया? इसका समाधान करनेके पश्चात धवलाकारने लिखा है कि—सतकम्मपाहुडमें उसे निगोदमे उत्पन्न कराया है क्योंकि नारकियोंमे उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके समान सूक्ष्म निगोदजीवोमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा तिगुने बाहुल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नही है, क्योंकि अत्यधिक असाताका अनुभवकर्ता सातवी पृथ्वीमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदजीवोमे उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना सदृश नही हो सकती।'

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षटखण्डागमसे सतकम्मपाहुड भिन्न है क्योकि दोनोके कथनोमें अन्तर है।

इसी तरह सत्प्ररूपणाकी[2] टीका धवलामें जहाँ सतकम्मपाहुड और कसाय-

१ से काले अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइएसु उप्पज्जिहिदि त्ति तस्स णाणावरणीयवेदणा खेत्तदो उक्कस्सा ॥ १२ ॥ ' संतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो ण च एदं जुज्जदे। —षट्ख०, पु० ११, पृ० २१ २२।

२ षट्खं० पु० १, पृ० २१७।

पाहुडके उपदेशोंमें भेद बतलाया है। वहाँ लिखा है कि अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है, फिर अन्तर्मुहूर्त बिताकर आठ कषायोंका क्षय करता है, यह संतकम्मपाहुडका उपदेश है। किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश है कि पहले आठ कषायोंका क्षय हो जाने पर पीछे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है।'

यहाँ जो सतकम्मपाहुडके नामसे कथन है वह षट्खण्डागममें नहीं मिलता। अत षट्खण्डागमसे सतकम्मपाहुड भिन्न होना चाहिए।

सम्पूण धवलाटीकामे सतकम्मपाहुडका उल्लेख तीन बार आया है। उसमें-से उपयोगी दो उल्लेखोंकी चर्चा यहाँ की गई है। अब देखना यह है कि क्या महाकमप्रकृतिप्राभृतका नाम सतकम्मपाहुड है ?

महाकम्मपयडिपाहुडका उल्लेख धवलाटीकामें छै सात बार आया है। तीन बार तो उसका उल्लेख भगवान भूतबलिके निमित्तसे आया है। एक[1] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान्ने महाकम्मपयडिपाहुडका उपसहार करके छै खण्डोकी रचना की। दूसरी[2] जगह लिखा है कि भूतबलि भट्टारक असबद्ध बात नही कह सकते, क्योकि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी अमृतके पीनेसे उनका समस्त राग-द्वेष मोह दूर हो गया था। तीसरी[3] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान चौबीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकम्मपयडिपाहुडके पारगामी थे। इस तरह तीन उल्लेख तो भूतबलिके सम्बन्धसे आये हैं। शेष तीन उल्लेख चर्चाके प्रकरणसे आये हैं।

एक[4] जगह लिखा है कि दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानके अन्तिम समयमे होती है यह महाकम्मपयडिपाहुडका उपदेश है।

वगणाखण्डके[5] स्पश अनुयोगद्वारमें लिखा है कि अध्यात्मविषयक इस खण्डग्रन्थमें कर्मस्पशप्रकरण प्राप्त है। महाकम्मप्रकृतिप्राभृतमें तो द्रव्यस्पर्श, सवस्पर्श और कमस्पश तीनोका प्रकरण है।

---

१ 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।—षट्खं०, पु० ९, पृ० १३३।

२ 'ण चासंबद्ध भूदबलिभडारओ परूवेदि महाकम्मपयडिपाहुडअमियवाणेण ओसारिदासेसरागदोसमोहत्तादो'—पु० १०, पृ० २७४ ७५।

३ 'चउवीसअणियोगद्दारसरूवमहाकम्मपयडिपाहुडपारयस्स भूदबलिभयवतस्स । पु० १४, पृ० १३४।

४ 'दसण्हं पयडीणं मिच्छाइट्ठिस्स चरिमसमयम्मि उदयवोच्छेदो। एसो महाकम्मपयडिपाहुडउवएसो'—पु० ८, पृ० ९।

५ 'एदं खंडगथमज्झप्पविसयं पडुच्च कम्मफासे पयदमिदि भणिदं। महाकम्मपयडिपाहुडे पुण दव्वफासेण सव्वफासेण कम्मफासेण पयद,'—पु० १३, पृ० ३६।

इसी खण्ड[1] में आगे एक जगह यह शका की गई है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमें शेष चौदह अनुयोगोके द्वारा कथन किसलिये किया है ?

इस तरह छै बार महाकर्मप्रकृतिप्राभतका उल्लेख हमें धवलाटीकामें मिला है। सतकम्मपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुडके उक्त उल्लेखोमें कोई ऐसी बात लक्षित नही होती, जिससे हम दोनोको एक मान सकें। सत्कर्म और महाकर्मप्रकृति सज्ञाएँ भी एक अर्थकी द्योतक नही ह। धवलाकारके कथनसे ही यह बात स्पष्ट हा जाती है और उसीसे यह भी प्रकट हो जाता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और सत्कर्मप्राभृत एक नही है।

महाकर्मप्रकृतिप्राभतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे केवल छै अनुयोगद्वारो-के ऊपर ही भूतबलिस्वामीने षटखण्डागमके सूत्रोकी रचना की थी। उन छै खण्डोमेसे पाच खण्डो पर धवलाटीका रचनेके पश्चात वीरसेन स्वामीने शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोका भी कथन किया है। उन अनुयोगद्वारोमेसे एक अनुयोग द्वारका नाम प्रक्रम है और एकका उपक्रम। यहाँ शका की गई ह कि प्रक्रम और उपक्रममें क्या अन्तर ह ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा ह[2]—'प्रक्रम-अनुयोग द्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभागमे आने वाले प्रदेशाग्रका कथन करता है और उपक्रम अनुयोगद्वार बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोके व्यापारका कथन करता है। अत दोनोमे अन्तर है।

इसके पश्चात वीरसेनस्वामीने बन्धन-उपक्रमके चार भेद किये है—प्रकृति बन्धन-उपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धन-उपक्रम और प्रदेशबन्धन उपक्रम। इन चारोका स्वरूप बतलाकर लिखा है कि 'इन चार उपक्रमोका कथन जैसे सतकम्मपाहुड' मे किया गया ह वैसे ही करना चाहिए।'

इसपर यह शका की गई कि महाबन्धमे जैसा कथन किया गया ह वैसा कथन इन चारोका यहाँ क्यो नही किया जाता, तो उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि महाबधका व्यापार प्रथम समय सम्बन्धी बधमें ही है, अत यहाँ उसका कथन करना योग्य नही है।

---

१ 'महाकम्मपयडिपाहुडे किमट्ठ तेहि अणिओगद्दारेहि तस्स परूवणा कदा। षट्०, पु० १३ पृ० १०६।

२ 'पक्कम उवक्कमाण को भेदो ? पयडिट्ठिदिअणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवण पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बंधविदियसमयप्पहुडिसतसरूवेणट्ठिदकम्मपोग्गलाण वावार परूवेदि। —एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयडिपाहुडे परूविद तहा परूवेयव्व। जहा महाबधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबधम्मि चेव वावारादो। —षट्०, पु० १५, पृ० ४२–४३।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सतकम्मपाहुडमें बन्धके पश्चात् सत्तारूपमें स्थित प्रकृतियोंका ही कथन किया गया है, अत महाबधसे वह भिन्न है ।

अतएव 'संतकम्मपाहुड' किसका नाम है ? इस प्रश्नका समाधान सत्कर्मपजिकासे होता है। वीरसेनस्वामीने जो शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंको लेकर धवलाटीका रची है, उसके प्रारम्भिक चार अनुयोगोंपर एक पजिका उपलब्ध हुई है, उसका नाम सत्कमपजिका है। उसमें धवलाके उक्त अंशका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'सतकम्मपाहुड[1] क्या है ? महाकमप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमें दूसरा अधिकार वेदना नामक है। उसके सोलह अनुयोगद्वारोमेंसे चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वारोका नाम द्रव्यविधान, कालविधान और भावविधान है,' तथा महाकमप्रकृतिप्राभृतका पाँचवाँ प्रकृतिनामा अधिकार है उसमें चार अनुयोगद्वार है। आठो कर्मोके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वका कथन करके उत्तरप्रकृतियोके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वको सूचित करनेके कारण उन्हें सतकम्मपाहुड कहते है।'

सत्कमपजिकाके इस कथनके अनुसार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके जिन अनुयोगद्वारोमें सत्तारूपसे स्थित कमका कथन है उन्हे सतकम्मपाहुड कहते हैं। वे अनुयोगद्वार हैं—वेदना नामक अधिकारके चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार तथा महाकमप्रकृतिप्राभृतका प्रकृतिनामक पाँचवाँ अधिकार।

महाकमप्रकृतिप्राभतके स्पश, कर्म और प्रकृतिनामक तीन अनुयोगद्वारोंको लेकर वर्गणानामक पाँचवाँ खण्ड रचा गया है। उसके प्रकृतिनामक अनुयोगमें केवल आठो कर्मोकी प्रकृतियाँ मात्र बतलाई गई हैं। शेष कथनके लिए लिख दिया है कि वेदनाकी[2] तरह जानना। पजिकाकारका अभिप्राय उसीसे जान पडता है। अत उनके कथनानुसार उक्त अनुयोगद्वारोको संतकम्मपाहुड कहा जाता था। अत सतकम्मपाहुड महाकमप्रकृतिप्राभृतके अन्तगत ही जानना चाहिए।

---

१ 'संतकम्मपाहुडं णाम तं कथ (द) म ? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसअणिओगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम ? तस्स सोलसअणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमाणियोग द्दाराणि दव्वकालभावविहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडीणामहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माणं पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्ताणि परूविय सूचिदुत्तरपयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्तादो एदाणि सत्त (सत) कम्मपाहुडं णाम। मोहणीय पडुच्च कसायपाहुडं वि होदि।'—षट्ख, पु० १५ परि०, पृ० १८।

२. 'सेसं वेदणाए भंगो।'—षट्खं०, पु० १४, पृ० १९२।

किन्तु जयधवलामे लिखा है[1] कि कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में प्रतिबद्ध सतकम्ममहाधिकारमें एक उदय नामक अधिकार है, जो प्रकृतियो-के स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य उदयका कथन करता है। उसमें उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व सिद्ध करनेके लिए 'सम्मुत्पत्ति' आदि ग्यारह गुणश्रेणियोका कथन करके लिखा है कि जो गुण-श्रेणियाँ सक्लेशके साथ भवान्तरमें सक्रान्त होती हैं उन्हें कहेंगे।

इस प्रसगमे जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे वाक्य षट्खण्डागमके उक्त सत्कर्म नामक अधिकारमें, जिसपर पंजिका है, वतमान हैं। अत वीरसेनस्वामीके द्वारा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंको लेकर जो धवला रची गयी है वही सतकम्ममहाधिकार है, यह प्रमाणित होता है। किन्तु जय-धवलामें संतकम्ममहाधिकारको अट्ठारह अनुयोगद्वारोमें प्रतिबद्ध न बतलाकर चौबीस अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध बतलाया है। इसके साथ जब हम सत्कर्मपंजिका-के कथनको मिलाते हैं और वीरसेनस्वामीके इस कथनको सामने रखते हैं कि बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारके कथनको उपक्रम कहते है, तो उससे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पडता है। चौबीस अनुयोगद्वारो-मेंसे जिन-जिनमें उक्त सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोका कथन है वे सब सतकम्म-महाधिकार या सतकम्मपाहुडमें गर्भित समझे जाने चाहिये। और सम्पूण चौबीसो अनुयोगद्वार महाकमप्रकृतिप्राभृत कहे जाते हैं। उसमे महाबन्ध भी गर्भित है। किन्तु सतकम्मपाहुडमें महाबन्ध गर्भित नही है। अत सतकम्मपाहुड महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतका नामान्तर नही है, बल्कि उसके अन्तर्गत ही है।

जैसा कि षट्खण्ड नामसे स्पष्ट है। यह ग्रन्थराज छै खण्डोमें विभक्त है। पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। दूसरे खण्डका नाम खुद्दाबंध (क्षुल्लक बन्ध) है। तीसरे खण्डका नाम बंधस्वामित्वविचय है। चौथे खण्डका नाम वेदना है, पाँचवं खण्डका नाम वर्गणा है और छठे खण्डका नाम महाबन्ध है।

---

१ 'सतकम्ममहाहियारे कदिवेदणादिचउवीसअणिओगद्दारेसु पडिबद्धे उदओ णाम अत्थाहियारो 'जाओ गुणसेढीओ सकिलेसेण सह भवतर संकामेंति ताओ वत्तइस्सामो। त जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेढी सजदासजदगुणसेढी अधापवत्तसजदगुणसेढि त्ति एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ अप्पसत्थमरणेण्ण वि मदस्स परभवे दीसंति। सेसासु गुणसेढीसु झीणासु अप्पसत्थमरण भवे' इदि वुत्तं।—ज०ध० प्रे०का० पृ० ६१९७-९८।
'जाओ गुणसेढीओ अण्णभव संकामंति ताओ वत्तइस्सामो। त जहा—उवसमसम्मत्त गुणसेढी संजदासजदगुणसेढी अधापमत्तगुणसेढी एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ अप्पसत्थ मरणेण वि मदस्स परभवे दिसंति। सेसासु गुणसेढीसु झीणासु अप्पसत्थमरणं भवे।'
—षट्खं०, पु० १५, पृ० २९७।

प्रस्तुत षट्खण्डागममें शुरूके पाँच खण्ड ही हैं। छठा महाबंध नामका खण्ड स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें पृथक माना जाता है।

[1]इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि भूतबलिने पुष्पदन्तविरचित सूत्रोंको मिलाकर पाँच खण्डोंके छह हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रन्थरूप रचना की।

षट्खण्डागमके सूत्रोंके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवट्ठाण-के आदिमें सत्प्ररूपणासूत्रोंके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मंगलाचरण किया है। और तदनुसार धवलाकारने भी कर्ता, श्रुतावतार आदिका, जो कि ग्रन्थके प्रास्ताविक कथन माने गये हैं, कथन किया है। षटखण्डागमके कर्ता भूतबलिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमें पुन मंगल किया है और तदनुसार धवलाकारने भी जीवट्ठाणके आदिकी तरह कर्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुन चर्चा की है। इससे यह षट्-खण्डागम ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमें आदिके तीन खण्ड हैं और दूसरे भागमें अन्तके तीन खण्ड हैं। इस दूसरे भागमे ही यथायत महाकमप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अधिकारोका वणन किया गया है। अत प्रो० हीरालालजीने उसकी विशेष सज्ञा सत्कमप्राभृत बतलाई है।

उन्होने लिखा है—'इस समस्त विभागमे प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओं-का विवरण होनेसे उसकी विशेष सज्ञा सत्कमप्राभृत है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अपर नाम सत्कमप्राभृत समझकर ही प्रोफेसर साहबने ऐसा लिखा प्रतीत होता है, किन्तु इन दोनोके अन्तरकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। अत उन सबको सत्कर्म-प्राभृत नही कहा जा सकता।

खण्डोके नाम—

षटखण्डागमके मूलसूत्रोंमें जैसे ग्रन्थका कोई नाम नही पाया जाता, वैसे ही खण्डोका नाम भी प्राय नही पाया जाता।

पहले खण्डका नाम जीवटठाण मूलसूत्रोमें नही पाया जाता। इस खण्डमें जीव-के भेद-प्रभेदोको मुख्यतासे वणन होनेके कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। दूसरे खण्डका प्रथम सूत्र है—'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो', इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्डमें बन्धकोका कथन है। अत उस परसे इसे बन्ध-संज्ञा दी गई है और सम्भवतया 'महाबन्ध' को दृष्टिमें रखकर बन्धके पहले 'खुद्दा' विशेषण लगाकर खुद्दाबन्ध नामसे इसे अभिहित किया गया है।

किन्तु इस खण्डकी धवलाटीकाके प्रारम्भमें टीकाकारने इसके नामके सम्ब-

---

१ 'सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं तत षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥' त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रु ता०।

न्थमें कुछ नहीं कहा । हाँ, इसका उद्गम स्थान अवश्य बतलाया है ।

तीसरे खण्ड 'बंधसामित्तविचअ के पहले सूत्रमे उसका नाम आया है । यथा—
जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण य आदेसेण य ।

महाकमप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेसे प्रथम दोका नाम कृति और वेदना है। इन्ही दो अनुयोगद्वारोका कथन वेदना नामक चौथे खण्डमें है । पहले कृति का कथन है और फिर वेदनाका । वेदना अधिकारके पहले सूत्रमे—'वेदणा त्ति तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' ऐसा उल्लेख है । इस परसे कहा जा सकता ह कि सूत्रकारने इस खण्डका नाम सूचित कर दिया है।

उक्त दो अनुयोगद्वारोके पश्चात् स्पश, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोग द्वारका कथन ५वे वगणाखण्डमे है। बन्धन-अनुयागद्वारमे वगणाका बहुत विस्तार-से वणन ह । इसीसे सम्भवतया इस खण्डको वगणा नाम दिया गया है ।

वेदनाखण्ड और वगणाखण्डके बीचमे सूत्रकारने काई ऐसी भेदरखा सूचित नही की, जिससे इन दानोके भेदका स्पष्ट सूचन हा सके । फिर भी वेदनाखण्डमे सालह अनुयोगद्वार उन्होने बतलाये है अत उनकी समाप्तिके साथ ही वदना-खण्डकी समाप्ति समझ लेनी चाहिय। जैसे वदनाखण्डमे पहले कृतिका कथन है फिर अन्तमे वदनाका कथन ह और वही उस खण्डका प्रधान तथा अन्तिम विषय ह, वसे ही वगणामे पहले स्पश, कम और प्रकृतिका कथन है फिर बन्धनके निमित्तसे वगणाका कथन ह । वगणाका कथन ही इस खण्डका प्रधान और अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है । अत बेदनाके पश्चातसे वर्गणा पयन्त ही वगणाखण्ड होना चाहिये ।

खण्डोकी ये सज्ञाएँ वीरसेनस्वामीसे प्राचीन ह, क्योकि वीरसेनस्वामीके पूर्वज अकलकदेवने अपने तत्त्वाथवार्तिकमें 'जीवस्थान और 'वगणा' खण्डोका उल्लेख किया है, यह हम पहले लिख आये है ।

वगणाखण्डका अन्तिम सूत्र है—

'ज त बधविहाण त चउव्विह—पयडिबधो, *टिठदिबधो*, अणुभागबधो, पदेस बधो चेदि ।

इसके पश्चात महाबन्ध नामक छठा खण्ड प्रारम्भ होता ह ।

इसका महाबन्ध नाम मूल-सूत्रोमे उपलब्ध नही होता । ग्रन्थका प्रथम ताडपत्र अनुपलब्ध होनेसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस खण्डकी रचनाके आरम्भमे भूतबलिने उसका नाम दिया था, या नही । किन्तु इसमें बन्धके चारो भेदोका वणन विस्तारसे है, अत इसे महाबन्धसज्ञा दी गई है ।

सत्कर्मपंजिकाके[1] प्रारम्भिक कथनसे भी इसी बातका समर्थन होता है। उसमें लिखा है—'महाकम्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमेसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनके चार अनुयोगोमेंसे बन्ध और बन्धनीयका वर्गणाखण्डमे, बन्धनविधान नामक अनियोगद्वारका महाबन्धमे और बन्धक अनियोगद्वारका खुद्दाबन्धमे विस्तारसे कथन किया है। शेष अठारह अनुयोगद्वार सतकम्ममें कहे गये हैं।

तीर्थंकर महावीरकी वाणीसे इसका सम्बन्ध और स्रोत

भगवान महावीर स्वामीकी धर्मोपदेशनाको श्रवण करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने उसे बारह अगोमे निबद्ध किया था। बारहवा अग दृष्टिवाद शेष सब अगोसे महत्वपूर्ण और विशाल था। उसके महत्व और विशालताका कारण था उसके अन्तगत चौदह पूर्व। उनमेंसे द्वितीय आग्रायणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकार चयनलब्धिमें बीस प्राभृताधिकार थे। उन प्राभृत नामके अधिकारोमे चौथे प्राभृतका नाम महाकर्मप्रकृति था। उस महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार थे। उनको उपसहृत करके इस षटखण्डागम ग्रन्थकी रचना की गई है। इस बातका निर्देश चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमे कृति अनुयोगद्वारका अवतरण करते हुए स्वय सूत्रकार भूतबलिने किया है—

'अग्गेणियस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम। तत्थ इमाणि चउवीस अणिओगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति—कदि वेदणाए पस्से कम्मे पयडीसु बंधणे णिबंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे पुण संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे तत्थेव सादमसादे दीहेरहस्से भवधारणीए तत्थ पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्त णिकाचिदमणिकाचिद कम्मट्ठिदि पच्छिमक्खंधे अप्पाबहुगं च सव्वत्थ' ॥४५॥

अर्थात आग्रेयणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकारके अन्तगत चतुर्थ प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। उसके विषयमे ये चौबीस अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—१ कृति, २ वेदना, ३ स्पर्श, ४ कर्म, ५ प्रकृति, ६ बन्धन, ७ निबन्धन, ८ प्रक्रम, ९ उपक्रम, १० उदय, ११ मोक्ष, १२ सक्रम, १३ लेश्या, १४ लेश्याकर्म,

---

१ महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेयणाखण्डम्मि पुणो प (पस्स-कम्म पयडि बधण त्ति) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बध बधणिज्जणामाणियोगेहि सह वग्गणा खडम्मि, पुणो बधविधाण णामाणियोगद्दारो महाबधम्मि पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबधम्मि च सप्पवचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत कम्मे सव्वाणि परूविदाणि।'—षट्खं पु० १५, परि० पृ० १।

१५ लेश्यापरिणाम, १६ सातासात, १७ दीर्घह्रस्व, १८ भवधारणीय, १९ पुद्गलत्व, २० निधत्त-अनिधत्त, २१ निकाचित-अनिकाचित, २२ कर्मस्थिति, २३ पश्चिमस्कन्ध, २४ अल्पबहुत्व।

इन्हीं चौबीस अनुयोगद्वारोको छै खण्डोंमें उपसंहृत किया गया है। पहले कृति और दूसरे वेदना अनुयोगद्वारका उपसंहार करके चौथा वेदनाखण्ड निष्पन्न हुआ है। तीसरे स्पर्श, चौथे कर्म और पाँचवें प्रकृति और छठे बन्धन अनुयोगद्वारसे पाँचवाँ वर्गणाखण्ड निष्पन्न हुआ है। और छठे बन्धन अनुयोगके भेद-प्रभेदोंसे शेष चार खण्ड उपसंहृत हुए हैं।

प्रथम खण्ड [1]जीवस्थानका अवतार बतलाते हुए वीरसेनस्वामीने सत्प्ररूपणाके द्वितीय सूत्रकी धवलाटीकामें विस्तारसे यह बतलाया है कि जीवस्थानका अवतार चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतके किस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत किन किन भेदों-प्रभेदोसे हुआ। यह हम पीछे लिख आये हैं।

दूसरे खण्ड खुद्दाबन्धके प्रथमसूत्रकी[2] धवलामें वीरसेनस्वामीने लिखा है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें छट्ठे बन्धन अनुयोगद्वारके अन्तर्गत चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बंधविधान। उनमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है वही यहाँ सूत्रके द्वारा सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमें जो बन्धक कहे गये हैं उन्हीका यहाँ निर्देश है।'

इससे स्पष्ट है कि दूसरे खण्डका उद्धार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारके अवान्तर अधिकारोंसे किया गया है।

तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचयके प्रथमसूत्रकी धवलाटीकामें[3] वीरसेनस्वामीने लिखा है—'कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें बन्धन नामक छठा अनुयोगद्वार है। उसके चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धविधानके चार भेद हैं प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

---

१ षट्खं०, पु० १ पृ० १२३१३०।

२ 'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥' टी०—'जे ते बंधगा णाम' इति वयण बंधगाणं पुव्वपसिद्धत्तं सूचेदि। पुव्वं कम्हि पसिद्धे बंधगे सूचेदि? महाकम्मपयडिपाहुडम्मि। तं जहा—महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणादिगेसु चदुवीसअणिओगद्दारेसु छट्ठस्स बंधणेत्ति अणियोगद्दारस्स बंधो बंधगो बंधणिज्जं बंधविहाणमिदि चत्तारि अहियारा। तेसु बंधगेत्ति विदियो अहियारो एदेण वयणेण सूचिदो।—षट्खं०, पु० ७, पृ० १–२।

३ षट्खं०, पु० ८, पृ० २।

मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्ध। अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजाकारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। इनमें उत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उन चौबीस अनुयोगद्वारोंमें एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है। उसीका नाम बंधस्वामित्वविचय है।

इस तरह बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरा खण्ड भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारसे उपजा है।

चतुर्थ खण्ड वेदनाके अन्तर्गत कृति अनुयोगद्वारके आदिमें तो सूत्रकारने स्वय ४४ सूत्रोंसे मगलरूप नमस्कार किया है और पैतालीसवें सूत्रमें ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूपमें आग्रायणीय पूर्वके पचम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है। जिससे स्पष्ट है कि चतुर्थादि खण्ड कमप्रकृतिप्राभृतके कृति आदि अनुयोगद्वारोंको ही सक्षिप्त करके लिखे गये हैं। सभवत इसीसे ही वीरसेनस्वामीने शुरूके तीन खण्डोंकी तरह उत्तरके तीनों खण्डोके सम्बन्धमें यह कथन नहीं किया कि वे अमुक अनुयोगद्वारसे निकले हैं।

किन्तु कृति अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक मागलिक सूत्रोंको लेकर वीरसेनस्वामीने जो लम्बी चर्चा की है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं, क्योंकि इन तीन खण्डोका द्वादशाग वाणीसे सीधा सम्बन्ध होनेके सम्बन्धमें उससे पर्याप्त प्रकाश पडता है।

शका—निबद्ध[1] और अनिबद्धके भेदसे मगलके दो प्रकार हैं। उनमेंसे यह मगल निबद्ध मगल है अथवा अनिबद्ध?

समाधान[2]—यह मगल निबद्ध नही है क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारवाले महाकमप्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतमस्वामीने यह मगल किया है। और भूतबलि भट्टारकने इसे वहाँसे उठाकर वेदनाखण्डके आदिमें ला रखा है। अत इसे निबद्ध मगल नही मान सकते, क्योंकि न तो वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है, अवयवको अवयवी नहीं माना जा सकता, और न भूतबलि गौतम गणधर हैं, क्योंकि धरसेनाचार्यके शिष्य और विकलश्रुतके धारक भूतबलि वर्धमानस्वामीके शिष्य और सकल श्रुतके धारक गौतम नहीं हो सकते। यदि ऐसा हो सकता, तो इस मगलको निबद्ध मंगल कह सकते थे। अत यह अनिबद्ध मगल है। अथवा इसे निबद्ध मगल भी कह सकते हैं।

---

१ सूत्रके आदिमे सूत्रकारके द्वारा जो देवताको नमस्कार किया जाता है उसे निबद्धमगल कहते हैं। और जो सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध देवतानमस्कार हैं उसे अनिबद्धमगल कहते हैं।

२ छक्खं०, पु० ९, पृ० १०३–१०४।

शंका—इसे निबद्ध मगल तो तभी कहा जा सकता है जब वेदना आदि खण्ड और महाकमप्रकृतिप्राभत एक हो, किन्तु खण्डग्रन्थको महाकमप्रकृतिप्राभृत कैसे माना जा सकता ह ?

समाधान—महाकमप्रकृतिप्राभृत चौबीस अनुयोगद्वारोसे सवथा पृथकभूत नही ह। अर्थात चौबीस अनुयोगद्वारोका ही नाम महाकमप्रकृतिप्राभृत ह और उन्ही अनुयोगद्वारोसे वेदना आदि खण्ड निष्पन्न हुए हैं अत उन्हे महा कमप्रकृतिप्राभृतपना प्राप्त है।

शका—अनुयोगद्वारोको कमप्रकृतिप्राभृत मानने पर बहुतसे कमप्रकृति प्राभत हो जायेंगे ?

समाधान—इसमें कोई दोष नही है कथचित् ऐसा इष्ट ही ह।

शंका -महाकमप्रकृतिप्राभृतका वेदना-अनुयोगद्वार तो महापरिमाणवाला ह—बडा विशाल है उमके उपसहाररूप इस वेदनाखण्डको वेदनापना कैसे सभव है ?

समाधान—अवयवी अपने अवयवोसे सवथा पथक नही पाया जाता।

शका—भूतबलिका गौतम होना कैसे संभव है ?

समाधान—उनके गौतम होनेसे क्या प्रयोजन है ?

शका—क्योकि भतबलिको गौतम माने विना यह मगल निबद्ध नही हो सकता।

समाधान—इस खण्डग्रन्थके कर्ता भूतबलि नही हैं क्योकि दूसरेके द्वारा रचित ग्रन्थके अधिकारोके एकदेशरूप पूर्वोक्त शब्दाथ सन्दर्भका कथन करने वाला कर्ता नही हो सकता। ऐसा माननेसे अतिप्रसग दोष आता है।

उक्त चर्चामे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो वेदनाखण्डके आदिमें जो ४४ सूत्र मगलात्मक हैं वे भूतबलिकृत नही है, बल्कि महाकमप्रकृतिप्राभृतके मगलसूत्र हैं और वहीमे ज्यो-का-त्यो उठाकर भूतबलिने उन्हें वेदनाखण्डके आदि में रख दिया है। दूसरे, प्रकृत षटखण्डागमके सूत्रोमें वर्णित अथ ही महा-कमप्रकृतिप्राभृतका ऋणी नही है किन्तु शब्द भी उसीके हैं। भूतबलि तो उसके प्ररूपकमात्र है, कर्ता नही हैं।

इन दोनो बातोसे प्रकृत षटखण्डागमका द्वादशांग वाणीके एक अगरूप पूर्वो-से साक्षात सम्बन्ध सिद्ध होता है।

आगे षटखण्डोका उद्गम आग्रायणीय पूर्वके किस भेद-प्रभेदसे हुआ, इसके स्पष्टीकरणके लिए उनका यहाँ वृत्त दिया जाता है।

बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका दूसरा भेद—

बंधकके ग्यारह अनुयोगद्वारोमे पाँचवे द्रव्यप्रमाणानुगमसे जीवट्ठाणकी सख्या

रचना शैली

प्रस्तुत छक्खडागमके अन्तर्गत पाँचो खण्ड प्राकृत भाषाके प्रसादगुणयुक्त सूत्रोमे रचे गये हैं। पाँचो खण्डोके सूत्रोकी सख्या साढे छ हजारसे अधिक है। चौथे और पाँचवे खण्डमें कुछ गाथासूत्र भी है।

सूत्र अपने आपमे पूर्ण और बहुत स्पष्ट है। प्राकृत भाषाका साधारण जानकार भी सूत्रोको पढते ही उनका शब्दार्थ समझ सकता है। किन्तु चूँकि उनमें प्रतिपादित विषय जैन सिद्धान्तके गूढ और गम्भीर तत्त्वोसे सम्बद्ध हैं, अत पारिभाषिक शब्दोके बाहुल्यके कारण उनका भाव समझ सकना सरल नही है। जो जैन कर्म सिद्धान्तकी मोटी मोटी बातोसे परिचित है वे उनके सूत्रोके आशयको भी सरलतासे हृदयगम कर सकते है, पर सभी खण्डोके विषयमें ऐसा नही कहा जा सकता।

सभी सूत्र अल्पाक्षर हैं, असन्दिग्ध हैं और सारवान् हैं। अल्पाक्षरका यह अभिप्राय नही है कि सभी सूत्र छोटे हैं। प्रतिपाद्य विषयके अनुसार उनकी रचना है। उदाहरणके लिये 'सव्वद्धा' जैसे छोटे सूत्र भी हैं और ऐसे भी हैं जो कई पंक्तियोंमें समाप्त होते हैं।

संक्षेपमें इस ग्रंथकी शैली आगामिक सूत्रशैली है।

इस शैलीकी निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ विषयानुसार सूत्रोंके शब्दोंकी योजना।

२ निरर्थक शब्दोका अभाव।

३ प्रसादयुक्तता।

४ पारिभाषिक शब्दोका प्रयोग।

५ अथगाम्भीय।

विषय-परिचय—

जीवट्ठाण[1]

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण या जीवस्थान है। इसके आठ अनुयोगद्वार है—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। इनमेंसे प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त है और शेषके कर्ता आचार्य भूतबलि हैं।

सत्प्ररूपणा—इसके सूत्रोकी संख्या १७७ है। इसका प्रारम्भ जैनोंके प्रसिद्ध महामंत्रसे होता है। वही इसका प्रथम सूत्र है, जो इस प्रकार है—

णमो अरिहंताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाणा णामो लोए सव्व-साहूण ॥१॥

इसका व्याख्यान[2] करते हुए वीरसेनस्वामीने मंगलके दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध किये हैं। सूत्रोंके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध किये गये देवता नमस्कारको निबद्ध मंगल और सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा किये गये देवता-नमस्कारको अनिबद्ध मंगल बतलाकर उन्होंने इसे निबद्ध मंगल कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यह मंगल पुष्पदन्तके द्वारा रचित है क्योंकि निबद्धसे उनका

१ यह पहला खण्ड प्रथम बार श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, भेलसासे ५ जिल्दोंमें प्रकाशित हुआ है।

२ 'तत्थ णिबद्ध णाम जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदा णमोक्कारो त णिबद्ध मंगल। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कय देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगल। इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगल। यत्तो 'इमेसिं चोद्दसण्ह जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरिहंताणं' इच्चादिदेवदा णमोक्कार दंसणादो।'

—षट्खं०, पु १, पृ० ४१।

अभिप्राय स्वरचितसे ह और किये गये (कृत) से अभिप्राय है दूसरेके द्वारा रचे गये मगलको ग्रन्थके आदिमें स्थापित कर लेना। वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वार[1]-के आदिमें भूतबलिन जो मगलरूपसे ४४ सूत्र स्थापित किये है उन्हे वीरसेन-स्वामीने अनिबद्ध मगल कहा ह क्योकि व सूत्र महाकमप्रकृतिप्राभतके मगलसूत्र है और वहीसे लेकर उन्ह स्थापित किया गया ह। अत उक्त मगलका पुष्पदन्त रचित होना स्पष्ट ह। किन्तु इसम अनेक विप्रतिपत्तियाँ है—श्वताम्बर सम्प्रदाय में भी यह मत्र इसी रूपम मान्य ह। भगवतीसूत्रका प्रारम्भ इसी मगलसूत्रसे हुआ है। आवश्यकसूत्रके मध्यम भी यह मत्र पाया जाता है।

इसके सिवाय खारवेलके प्रसिद्ध शिलालेखका आरम्भ भी 'णमो अरहताण णमो सिद्धाण इन पदोसे होता ह।' अत यह कथन[2] विवादग्रस्त है। अस्तु। सूत्र दोसे ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयका आरम्भ होता है—

एत्तो इमेसिं चोददसण्ह जीवसमासाण मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवति ॥२॥

'इन चौदह जीवसमासो (गुणस्थानो) के अन्वेषणके लिये ये चौदह मार्गणा-स्थान जानने योग्य ह।

सूत्र ४ मे चौदह मार्गणाओके नाम गिनाये ह—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय, ज्ञान, सयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यक्त्व, सज्ञी आहारक।

सूत्र ५ मे लिखा ह कि—इन चौदह गुणस्थानोके कथनके लिये ये आठ अनु योगद्वार जानन योग्य ह।

सूत्र ७ मे उन अनुयोगद्वारोके नाम गिनाये ह—

सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अतराणुगमो भावाणगमा, अप्पबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥'

इन्ही आठ अनुयोगद्वारोम जीवट्ठाण-खण्ड विभक्त है। सूत्र ८ से प्रथम अनु-योगद्वार सतपरूवणा'का कथन प्रारम्भ होता ह।

सतपरूवणाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥८॥

जीवसमासो (गुणस्थानो)के सत्वका प्ररूपणामे दो प्रकारका निर्देश है—ओघ अर्थात सामान्यसे और आदेस अर्थात विशेषसे।'

सतका मतलब[3] ह सत्ता। और प्ररूपणाका मतलब है—निरूपण या प्रज्ञापन या कथन। गुणस्थानके लिये यहाँ जीवसमासशब्दका प्रयोग किया है। जीवसमास

---

१ षट्खं० पु० ९, पृ० १०३।

२ इसके विशेष विचारके लिये प० कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित 'नमस्कारमत्र' नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

३ 'सत्सत्त्वमित्यर्थ, प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्'—षट्खं०, पु० १, पृ० १५९।

का अर्थ है जिनमे जीव भले प्रकार रहते हैं अथवा पाये जाते हैं उन्हें जीवसमास[1] कहते हैं। जैन सिद्धान्तमें गुणोके अनुसार ससारके सब जीवोका वर्गीकरण चौदह विभागोमें किया गया है। उन चौदह विभागोंको ही गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान ससारके जीवोके क्रमिक विकासके सूचक स्थान हैं। इन पर अवरोह मोक्षकी ओर और अवतरण ससारकी ओर ले जाता है। उनके अस्तित्वके कथनके दो प्रकार हैं—सामान्य कथन और विशेष कथन। प्रथम सामान्य कथन किया है फिर विशेष कथन किया है। इन दोनो प्रकारके कथनके लिये जैन सिद्धान्तमे ओघ और आदेश शब्द रूढ हैं।

सूत्रकारने चौदह सूत्रोंके द्वारा चौदह गुणस्थानाके नामोंका निर्देश किया है। उनका स्वरूप जाने बिना प्रकृत सिद्धान्तग्रन्थके रहस्यको समझना शक्य नही है। अत सक्षेपमे उनका स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा—

१ ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी[2] ॥९॥

ओघसे मिथ्यादष्टि जीव हैं। यहाँ मिथ्याशब्दका अथ असत्य है। और दृष्टिशब्दका अथ दशन अथवा श्रद्धान है। जिन जीवोको दष्टि मिथ्या होती है उन्हे मिथ्यादष्टि कहते है। दृष्टिके मिथ्या होनेका कारण मिथ्यात्वमोहनामक कमका उदय है। जिन जीवोके मिथ्यात्वका उदय होता है उनका श्रद्धान विपरीत होता है और जैसे पित्तज्वरके रोगीको मीठा दूध भी कडुवा लगता ह वैसे ही उन्हे यथाथ धम भी अच्छा नही लगता। यह पहला गुणस्थान है।

२ 'सासणसम्माइट्ठी[3] ॥१०॥'

दूसरे गुणस्थानका नाम सासादनसम्यग्दृष्टि ह। सम्यग्दशनकी विराधनाको आसादन कहते हैं। जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते है। जो जीव सम्यग्दृष्टी होकर अपने सम्यग्दशनको विनष्ट कर लेता है और इस तरह सम्यक्त्वसे मिथ्यात्वकी ओर अभिमुख होता है उसे सासादनसम्यग्दष्टी कहते हैं। कहा है—'सम्यग्दशनरूपी रत्नपवतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि (पहला गुणस्थान) के अभिमुख होता है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शनरूपी रत्न तो नष्ट हो चुका है किन्तु जो मिथ्यात्वको प्राप्त नही हुआ है, पतनकी इस मध्य अवस्था वाले जीवको सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

३ 'सम्मामिच्छाइट्ठी[4] ॥११॥

---

१ 'जीवसमास इति किम्? जीवा सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमास। क्वासते? गुणेषु।
षट्खं, पु १, पृ० १६०।

२ षट्खं०, पु० १, पृ० १६१।

३ वही, पृ० १६३।

४ वही, पृ० १६६।

तीसरे गुणस्थानका नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। जिसकी दृष्टि अर्थात श्रद्धा या रूचि सच्ची और विपरीत दोनो प्रकारकी होता ह उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा ह—जैस दही और गुडको मिला देने पर उन्हे अलग अलग नही किया जा सकता। उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए भाव वाले जीवको सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

४ 'असजदसम्माइट ठी'[1] ॥१२॥

जिसकी दृष्टि अर्थात श्रद्धा सम्यक—सच्चा होती ह उसे सम्यग्दृष्टि कहते ह। और सयमरहित सम्यग्दृष्टिको असयतसम्यग्दृष्टि कहते ह। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारसे होते ह—क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक सम्यग्दृष्टि।

मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्त्वमोहनीय अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया, लोभ ये मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियाँ जीवकी श्रद्धाको दूषित करती ह। अत इन सातो कर्मप्रकृतियोका सर्वथा विनाश हो जाने पर जीवमे जो सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता ह उसे क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते ह और उस जीवको क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते ह। उक्त सात प्रकृतियोके उपशम (दब जाने)से जिसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता ह उसे औपशमिकसम्यग्दृष्टि कहते। उक्त सात कर्मप्रकृतियो मसे सम्यक्त्वमोहनीयकर्मका उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसके धारी जीवको वेदकसम्यग्दृष्टि कहते ह।

इन तीनोमेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वम नही जाता किन्तु औपशमिकसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्वके छूट जाने पर मिथ्यात्वनामक पहले गुणस्थानवाला हो जाता ह। या सासादनगुणस्थानवाला होकर फिर मिथ्यात्व गुणस्थानमे जाता ह। कभी तीसरे गुणस्थानवाला भी हो जाता ह। कहा है—जो न तो इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त ह और न त्रस और स्थावर जीवोकी हिंसासे विरत है, किन्तु जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए तत्त्वोपर श्रद्धा रखता है उसे असयतसम्यग्दृष्टि कहते ह। आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते ह।

५ सजदासजदा[2] ॥१३॥

जो सयत होते हुए भी असयत होते हैं उन्हे सयतासयत कहते है। कहा ह— जो जिनेन्द्रदेवमे ही श्रद्धा रखते हुए त्रसजीवोकी हिंसासे विरत और स्थावर जीवोकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या सयतासयत कहते है।

---

१ षट्ख, पु १, पृ० १७१।
२ वही, पु० १, पृ० १७३।

६ 'पमत्तसंजदा'[1] ॥१४॥

प्रमादसे युक्त जीवको प्रमत्त कहते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरतको संयत कहते हैं। प्रमादी संयमीको प्रमत्तसंयत कहते है। कहा भी है—'जो व्यक्त या अव्यक्त प्रमादमें निवास करता है किन्तु समस्त गुणो और शीलोंसे युक्त महाव्रती होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। उसका आचरण प्रमाद-के कारण सदोष होता है।

७ 'अप्पमत्तसजदा'[2] ॥१५॥

जो प्रमत्तसंयत नहीं है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। अर्थात् प्रमादरहित संयमी जीवोंको अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। सातवे गुणस्थानके बाद आठवें गुणस्थानसे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है। एक उपशमश्रेणि और एक क्षपक श्रेणि। उपशमश्रेणिमे चढ़ने वाला जीव मोहनीयकर्मको नष्ट न करके दबाता जाता है। इसीसे ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचकर वह नीचे गिर जाता है। और क्षपकश्रेणिपर आरोहण करने वाला मोहनीयकर्मको नष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है। अत उसका पतन नही होता। ये दोनो श्रेणियाँ ध्यानमग्न साधुओंके ही होती हैं।

८ 'अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा'[3] ॥१६॥'

आठवें गुणस्थानका नाम अपूर्वकरणसंयत है। 'करण' शब्दका अर्थ है परि-णाम—जीवके भाव या विचार। अपूर्व अर्थात जो इससे पहले नही हुए, ऐसे सत्प-रिणाम वाले संयमी अपूर्वकरणसंयत कहे जाते हैं। इन अपूर्वकरणसंयतोंमें उपशम-श्रेणिवाले भी होते हैं और क्षपकश्रेणिवाले भी होते हैं।

९ 'अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा'[4] ॥१७॥'

नौवें गुणस्थानका नाम अनिवृत्तिबादरसाम्परायसंयत है। इस गुणस्थानमे एक समयमे एक ही परिणाम निश्चित है। अत इसमें समानसमयवर्ती जीवों-के परिणाम सदृश ही होते हैं। इसीको अनिवृत्तिशब्दसे कहा है। साम्पराय-शब्दका अर्थ है कषाय और बादरका अर्थ है स्थूल। अत स्थूल कषायको बादर-साम्पराय कहते है और अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामवाले संयमियोंको अनिवृत्तिबादरसाम्परायसंयत कहते हैं। वे संयत उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं।

---

१ षट्खं० १, १४, पृ० १७५।

२ वही, पृ० १७८।

३ वही, पृ० १७९।

४ वही, पृ० १८३।

यहाँ जो 'बादर' शब्द है वह इस बातका सूचक है कि पूर्वके सब गुणस्थानों में स्थूल कषाय रहती ह ।

१० 'सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा'[1] ।। १८ ।।

दसवें गुणस्थानका नाम सूक्ष्मसापरायसयत ह । जिन सयमियोंके सूक्ष्म कषाय रहती हैं उन्हे सूक्ष्मसाम्परायसयत कहते हं । वे उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी ।

११ उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था ।। १९ ।।'

जिनकी कषाय उपशान्त ह उन्हे उपशान्तकषाय कहते हैं । और जिनका राग नष्ट हो गया ह उन्हे वीतराग कहते ह । तथा अल्पज्ञानियोको छद्मस्थ कहते हैं । उपशान्तकषाय वीतरागी छद्मस्थोको उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं । यह ग्याहरहवां गुणस्थान ह । कहा भी ह—

'निर्मलीसे युक्त जलकी तरह अथवा शरदऋतुमे होने वाले सरोवरके निर्मल जलकी तरह सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे होनेवाले निर्मल परिणामवाले जीवको उपशान्तकषाय कहते ह ।

१२ खीणकसायवीयरायछदुमत्था[3] ।। २० ।।

जिनकी कषाय क्षीण हो गई ह उन्हे क्षीण कषाय कहते है । जो क्षीण कषाय होते हुए वीतराग होते ह किन्तु छद्मस्थ होते ह उन्हे क्षीणकषायवीत रागछद्मस्थ कहते ह । यहा जो छद्मस्थ' शब्द ह वह पूर्वके सब गुणस्थानवर्ती जीवोको छद्मस्थ सूचन करता ह । यह बारहवा गुणस्थान ह । कहा भी ह—

जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है अतएव जिनका चित्त स्फटिक मणिके निर्मल पात्रमे रक्खे हुए जलके समान निर्मल है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु को क्षीणकषायगुणस्थानवाला कहा ह ।'

१३ 'सजोगकेवली'[4] ।। २१ ।।'

मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते है । और योगसहितको सयोग कहते ह । तथा इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदिकी सहायताके बिना होने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हं और जिसके केवलज्ञान होता है उसे केवली कहते हैं । तथा योगसहित केवलीको सयोगकेवली कहते है । यह तेरहवा गुणस्थान है । उसके चारो घातियाकर्म नष्ट हो जाते ह । और शेष चार कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं । कहा भी है—

---

१ षट्खं० पु० १ पृ० १८७ ।

२ वही पृ० १८८ ।

३ वही, पृ० १८९ ।

४ वही, पृ० १९० ।

'जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है और जो केवललब्धियोंके प्रकट हो जानेसे जो 'परमात्मा' कहा जाता है उसको ज्ञान और दर्शन परकी सहायतासे नहीं होता, इसलिये उसे केवली कहते हैं और योगसे युक्त होनेके कारण सयोग कहते हैं।'

इस तरह तेरहवें गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है।

१४ 'अजोगकेवली'[1] ॥ २२ ॥'

जिसके योग नहीं होता उसे अयोग कहते है। और योगरहित केवलज्ञानीको अयोगकेवली कहते है। कहा है—

'जिन्होंने शीलके अट्ठारह हजार भेदोके स्वामित्वको प्राप्त कर लिया है। समस्त कर्मोंके आस्रवको रोक दिया है, और कर्मबन्धनसे मुक्त है तथा योगसे रहित केवली हैं उन्हे अयोगकेवली कहते है। यह चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमे आनेके पश्चात ही जीव ससारके बन्धनोसे मुक्त हो जाता है।'

इस तरह ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिये सोपानके तुल्य हैं।

इस तरह ओघसे चौदह गुणस्थानोका कथन करके सूत्रकारने आदेशसे (विस्तारसे) गुणस्थानोका कथन किया है।

जिस तरह चौदह गुणस्थान होते हैं उसी तरह चौदह मार्गणास्थान होते हैं। जिनमें या जिनके द्वारा जीवोको खोजा जाता ह उन्हे मार्गणा कहते है। इन मार्गणाओके द्वारा गुणस्थानोका कथन करनेको आदेश कथन कहा जाता है। जैसे—
१ गति चार है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकगतिमें प्रारम्भके चार गुणस्थान वाले ही जीव होते है। तिर्यञ्चगतिमें आदिके पाँच गुणस्थानवाले ही जीव होते है। मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थानवाले जीव होते हैं। देवगतिमें नरकगतिकी तरह चार ही गुणस्थानवाले जीव होते हैं।

२ इन्द्रिय पाच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। जिसके एक स्पर्शन ही इन्द्रिय होती है उन्हे एकेन्द्रिय जीव कहते है जैसे वनस्पति। जिसके स्पर्शन रसना दो इन्द्रियाँ होती है उन्हें दो इन्द्रिय कहते ह, जैसे लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन्हे त्रि-इन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिउटी। जिसके शुरूकी चार इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे भौंरा। और जिनके पांचों इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं, जैसे गाय, भैंस, मनुष्य। इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय जीवके तो चौदह गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु शेष एकेन्द्रिय आदिके पहला ही गुणस्थान होता है।

३ कायकी अपेक्षा जीवोंके छै भेद हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्नि-

---

[1] षट्खं०, पु० १, पृ० १९२।

कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। शुरूके पाँच कायिक जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। अत उनके पहला गुणस्थान ही होता है। शेष दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीव त्रस कहे जाते हैं। अत त्रसोके चौदह गुणस्थान होते है क्योकि पञ्चेन्द्रिय भी त्रस हैं।

४ योगके तीन भेद हैं—काययोग वचनयोग और मनोयोग। इन तीनो योगोके अनेक भेद है। ये तीनो योग तेरहवे गुणस्थान तक होते है।

५ वेद भी तीन है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद। ये तीनो वेद नौवे गुणस्थान तक होते ह।

६ कषाय चार ह—क्रोध मान माया और लोभ। शुरूकी तीन कषाय नौवे गुणस्थान तक और अन्तकी लोभ कषाय दसवे गुणस्थान तक रहती है। आगेके गुणस्थानोमे कषाय नही होती।

७ ज्ञान पाँच ह—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। इनमेसे प्रारम्भके तीन ज्ञान मिथ्या भी होते ह। ये तीनो मिथ्याज्ञान पहले और दूसर गुणस्थानमे रहत ह। तीसर मिश्रगुणस्थानम आदिके तीन मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान मिले-जुले हात ह। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चौथ गुणस्थानसे लेकर बारहव गुणस्थान तक हात ह। मन पर्ययज्ञान छठे प्रमत्तसयतगुणस्थानसे लेकर बारहव गुणस्थान तक हाता ह। कवलज्ञान सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानोंम तथा सिद्धजीवोम रहता ह।

८ सयममार्गणाके[1] सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यात ये पाँच सयम, एक सयमासयम और एक असयम।

छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तकके जीव सयमके धारी होते है। उनमेसे सामायिकसयम और छेदोपस्थापनासयम छठेसे नौवें गुणस्थान तक होते ह। परिहारविशुद्धिसयम प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानवाले जीवोके होता है। सूक्ष्मसाम्परायसयम एक सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुण स्थानवाले जीवोके ही होता है। यथाख्यातसयम अन्तके चार गुणस्थानोमे होता है। सयमासयम एक सयतासयत गुणस्थानमे ही होता है। प्रथम चार गुणस्थान वाले जीव असयत होत है—उनमे सयम नही हाता।

९ दर्शनमार्गणाके[2] चार भेद है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीव बारहवे गुणस्थान तक होते ह। अवधिदर्शन चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। केवलदर्शन सयोग-केवली, अयोगकेवली और सिद्धोके होता है।

१ षट्खं, पु० १, पृ० ३६८–३७८।
२ वही, पृ० ३७८–३८५।

१० लेश्याके[1] छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या चौथे गुणस्थान तक होती हैं । तेजोलेश्या और पद्मलेश्या सातवें गुणस्थान तक और शुक्ललेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है । उसके बाद लेश्या नहीं होती, क्योंकि योग और कषायके मेलका नाम लेश्या है और तेरहवें गुणस्थानके बाद योग और कषाय दोनों नहीं रहते ।

११ भव्यत्वमार्गणाके[2] दो भेद हैं—भव्य और अभव्य । जो जीव आगे मुक्ति-लाभ करेंगे उन्हें भव्य कहते हैं । और जिन जीवोंमें मुक्ति प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं । अभव्य जीवोंके पहला ही गुणस्थान होता है और भव्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं ।

१२ सम्यक्त्वमार्गणाके[3] छै भेद हैं—क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं । वेदकसम्य-ग्दृष्टि चौथेसे लेकर सातवे गुणस्थान तक होते हैं । उपशमसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होते हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि एक सासादन गुण-स्थानमें ही होते ह । सम्यकमिथ्यादष्टि एव सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं ।

१३ सञ्ज्ञीमार्गणाके[4] दो भेद हैं—सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी । सञ्ज्ञीके पहले मिथ्या-दृष्टि गुणस्थानसे लेकर बारहवे क्षीणकषाय गुणस्थान तक होते हैं । असञ्ज्ञी पहले ही गुणस्थानमें होते हैं ।

१४ आहारमार्गणाके[5] दो भेद है—आहारक और अनाहारक । आहारक तेरहवे गुणस्थान तक होते हैं और अनाहारक विग्रहगति अवस्थामें पहले-दूसरे और चौथे गुणस्थानमें, समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्ध अवस्थामें होते हैं ।

अन्तिम आहारमार्गणाके कथनकी समाप्तिके साथ ही सत्प्ररूपणा समाप्त हो जाती है । पुष्पदन्ताचार्यकी रचनाका अन्त भी उसीके साथ हो जाता है ।

सामान्य सत्प्ररूपणामें चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवके अस्तित्वका प्रति-पादन किया गया है और विशेषमें चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें जीवो-

---

१ षट्खं० पु० १, पृ० ३८६–३९२ ।

२ वही, पृ० ३९२–३९४ ।

३. वही, पृ० ३९५–४०८ ।

४ वही, पु० १, पृ० ४०८–४०९ ।

५. वही, पृ० ४०९–४१० ।

के अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। इसीसे इसका नाम सत्प्ररूपणा है। यही कथन आगेके कथनका प्रवेशद्वार है। उसमें प्रवेश हुए बिना आगेके खण्डोंमें गति होना कठिन है। अत पहले खण्ड 'जीवट्ठाण के आदिम ही उसे स्थान दिया है।

गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंके द्वारा इस प्रकारसे जीवकी सत्ताका विवेचन जैन परम्पराके सिवाय न बौद्ध परम्परामें पाया जाता है और न वैदिक परम्परामें। उपनिषदोंमें आत्मतत्त्वका प्रतिपादन अवश्य है किन्तु मोक्षके सोपानभूत ऐसी किन्हीं भूमिकाओंका वर्णन उनमें नहीं है, जिनकी तुलना गुणस्थानोंसे की जा सके। और न जीवकी विविध दशाओं और गुणोंकी परिणतियोंको लेकर ऐसा ही कोई विचार उनमें मिलता है जिसकी तुलना जैन सिद्धान्तके मार्गणास्थानोंसे की जा सके।

हाँ, योगवाशिष्ठ और पातञ्जल योगदर्शनमें आत्माकी भूमिकाओंका विचार अवश्य मिलता है। योगवाशिष्ठमें[1] सात भूमिकाएँ ज्ञानकी और सात भूमिकाएँ अज्ञानकी इस तरह चौदह भूमिकाएँ बतलाई हैं जो जैन परम्पराके उक्त १४ गुणस्थानोंका स्मरण कराती हैं। उनमें जो सात ज्ञानभूमिकाएँ हैं वे इस दृष्टिसे द्रष्टव्य हैं—पहली भूमिकाका नाम शुभेच्छा है। वैराग्यपूर्व इच्छाको शुभेच्छा[2] कहते हैं। शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे तथा वैराग्यके अभ्यासपूर्वक जो सदाचार प्रवृत्ति होती है उसे दूसरी विचारणा[3] भूमिका कहते हैं। विचारणा और शुभेच्छासे जो इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति होती है उसे तीसरी तनुमानसा[4] भूमिका कहते हैं। तीसरी भूमिकाके अभ्याससे शुद्ध आत्मामें चित्तकी स्थितिको चौथी सत्त्वापत्ति[5] भूमिका कहते हैं।

सात ज्ञानभूमिकाओंका उक्त वर्णन चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें स्थित आत्माके लिए लागू होता है। योगवाशिष्ठके कुछ अन्य वर्णनोंमें भी जैन विचारोंकी

---

१ 'अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि। पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥२॥'
— उत्प० प्र०, स० ११७।

२ स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ ८ ॥

३ शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥

४ विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥

५ 'भूमिकात्रितयाभ्यासात् चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥ उ० प्र० सं० ११८।

झलक मिलती है। और जब श्री रामचन्द्र[1] कहते हैं कि मेरे कोई चाह नही है और न मेरा मन विषयोमें लगता है। मैं तो 'जिन' की तरह अपनी आत्मामें शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ, तब तो विचारोंकी भूमिकाकी उपर झलकका रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

योगकी परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है 'मोहेंजोदड़ो' से प्राप्त योगीकी मूर्ति उसका प्रमाण है। योगका लक्ष्य आध्यात्मिक विकास था, उसीको भूमिका अथवा गुणस्थानोंके द्वारा चित्रित करनेका प्रयास किया गया है।

जैन परम्परामे गुणस्थानो और मार्गणाओंके द्वारा जीवके कथनकी परम्परा बहुत प्राचीन है क्योकि भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोमें उनका साग्रो पाग कथन था और जैन परम्पराके विभिन्न सम्प्रदायगत साहित्यमें भी उस कथनमें एकरूपता है। अत इसे भगवान महावीरकी देन कहना अनुचित न होगा।

मार्गणाओमें लेश्यामार्गणा अपना वैशिष्ट्य रखती है। उनके छै भेद किये गये है और ससारके जीवोको उनके भावोंके अनुसार छै लेश्याओंमें विभाजित किया है।

दीघनिकायकी टीकामें बुद्धघोषने लिखा है—गोशालकने शिकारी वगैरह-को कृष्णमे, बौद्ध भिक्षुओको नीलमें, निग्रन्थोको लालमे, अचेलकोके अनुयायियो-को पीतमे और आजीविकोको शुक्लमें विभाजित किया था। अंगुत्तरनिकायमें इसे पूरणकाश्यपका मत कहा है। इस परसे डॉ० हार्नलेका[2] अनुमान था कि छै रगोमें मनुष्योको विभाजित करनेका विचार बुद्धके छहो विरोधी तीर्थङ्करोंमें साधारण रूपसे प्रचलित था। डा० हार्नलेका उक्त अनुमान ठीक हो सकता है, किन्तु इस विचारका उद्गम जैन विचार क्षेत्रमें होना अधिक सभाव्य जान पड़ता है क्योकि रगोके इस विचारके मूल उपादान योग और कषायके साथ लेश्याओका वर्णन जैन शास्त्रोमें मिलता है।

२ द्रव्यप्रमाणानुगम—जीवट्ठाणके इस दूसरे अनुयोगद्वारसे भूतबलिकी रचना का प्रारम्भ होता है। इस भागमें बतलाया है कि विभिन्न गुणस्थानोंमें सामान्यसे तथा विभिन्न मार्गणाओकी अपेक्षा जीवोंकी सख्या कितनी है।

आजका पाठक इस बातको बडे कौतूहलके साथ पढेगा कि जैन सिद्धान्तमें ससारके जीवोकी संख्या तकका विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारसे किया है। सबसे प्रथम तो यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस विवेचनका आधार क्या

१ 'नाहं रामो न मे वाञ्छा विषयेषु न मे मन ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥'

२. इं० ए० रि०, जि० १, पृ० २६२ ।

है ? प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी धवला-टीकाके प्रारम्भमें[1] वीरसेनस्वामीने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ कर्मप्रकृतिपाहुडके अन्तर्गत चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे बन्धननामक छठा अनुयोगद्वार है। उसके चार अर्थाधिकार है। उनमेंसे बन्धक नामक दूसरे अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वारोंमेंसे पाँचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणनामक है। उसीसे प्रकृत द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है।

पुन यह जिज्ञासा हो सकती है कि कर्मप्रकृतिप्राभृतमें इन सब बातोंका कथन किसने किस आधारपर किया ? यह पहले लिख आये है कि द्वादशांगकी रचना गौतम गणधरने भगवान महावीरकी वाणीके आधारपर की। गौतम गणधर भगवानसे प्रश्न करते थे और भगवान उनका उत्तर देते थे। षट्खण्डागमके बहुत-से सूत्र प्रश्नोत्तररूपमें ही निबद्ध हैं जो इस बातके सूचक हैं कि गौतम और भगवान महावीरके बीचमें प्रश्नोत्तर होते थे और गौतम गणधरने प्रामाणिकता-की सुरक्षाके लिए उन्हे उसी रूपमें निबद्ध किया था और वहाँसे लेकर सग्रह करने वाले भूतबलि आचार्यने भी उन्हे उसी रूपमें रखा। यथा—

'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणता ॥ २ ॥'

ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने है ? अनन्त है ॥ २ ॥

इसकी धवला टीकामें[2] यह प्रश्न उठाया गया ह कि प्रश्नोत्तररूप दिये बिना 'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण अणता' (ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्त ह) ऐसा क्यो नही कहा ? इसका समाधान करते हुए धवलाकारने कहा है कि—'इस प्रकारकी सूत्ररचनाका फल है—अपने कर्तव्यको हटाकर आप्तके कर्तृत्वका प्रतिपादन करना। अर्थात भूतबलिने इस प्रकारकी सूत्ररचनासे यह बतलाया है कि इसके कर्ता स्वय वह नही है। किन्तु यह आप्तपुरुष भगवान महा-वीरका कथन है। तब पुन यह प्रश्न किया गया कि—'तब भूतबलिने क्या किया ? तो उत्तर दिया गया कि भूतबलि तो आप्तवचनोंके व्याख्याता मात्र है। अत षट्खण्डागममे जो कुछ कहा गया है उसका उद्गम-स्थान भगवान् महावीर की वाणी है।

भगवान महावीरको जैनागमोंमें सर्वज्ञ सर्वदर्शी बतलाया है। और बौद्ध त्रिपिटिकोसे भी पता चलता है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेकी चर्चा थी। सर्वज्ञ सर्वदर्शीका मतलब है—सबको जानने देखने वाला,

---

१ षट्ख०, पु० १ पृ० १२६।

२ वही, पु० ३, पृ० ७११।

कोई बात जिसके ज्ञानसे बाहर न हो। भगवान महावीरकी इस सर्वज्ञताका उपहास करते हुए भी सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने कहा था—'सर्वज्ञ सबको देखे या न देखे, किन्तु उसे इष्ट तत्त्वोंको अवश्य जानना चाहिये। कीट-पतंगोंकी संख्याका उसका ज्ञान हमारे लिए क्या उपयोगी है?'

यह 'कीट-संख्याज्ञान' द्रव्यप्रमाणानुगम जैसे जैन ग्रन्थोंमें वर्णित जीवोंकी संख्याकी ओर ही संकेत करता है। अस्तु,

गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवराशिका प्रमाण बतलाते हुए कहा है कि सर्वजीवराशि अनंतानंत है। उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और शेष बाकीके तेरह गुणस्थानोंमें और सिद्धोंमें विभाजित हैं। मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण अनन्तानन्त बतलाते हुए लिखा है कि अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके बीत जानेपर भी उनकी संख्याका कभी अन्त नहीं आता।

चौदह गुणस्थानोंकी जीवराशियोंका कथन करनेके पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणाओंमें और उनके भेद-प्रभेदोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है।

इस भागके सूत्रोंकी संख्या १९२ है, जिनमेंसे प्रारम्भके चौदह सूत्रोंमें गुणस्थानोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है और सूत्र १५ से मार्गणास्थानोंमें प्रमाणका निर्देश है।

जहाँ तक हम जानते हैं संसारकी जीवराशिकी संख्याका इस तरह निर्देश जैन आगमोंके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता।

पहले जीवट्ठाण नामक खण्डमें आठ अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे दो अनुयोगद्वारोंका विवेचन यहाँ करके स्थगित करते हैं क्योंकि षट्खण्डागमकी टीका धवलाके प्रसंगमें षट्खण्डागमके विषयका विस्तृत विवेचन करनेमें लाघव और सुगमता होगी। यहाँ केवल शेष खण्डोंका सामान्य परिचय दिया जाता है।

३ क्षेत्रानुगम—में[1] जीवोंके निवास व विहारादि सम्बन्धी क्षेत्रका परिमाण बतलाया है।

प्रथम सूत्र है—'खेत्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य'। क्षेत्रानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है—ओघसे और आदेशसे। दूसरे सूत्रमें उसी प्रश्नोत्तररूप शैलीमें कहा है—'ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? सर्वलोकमें रहते हैं।'

तीसरे सूत्रमें कहा है—'सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? लोकके असंख्यातवें भागमें रहते हैं।'

---

१. षट्खं० पु० ४ में क्षेत्र, स्पर्शन और कालानुगम मुद्रित है।

चौथे सूत्रमे कहा है—'सयोगकेवली कितने क्षेत्रमे रहते हैं ? लोकके असख्या तवें भागप्रमाण क्षेत्रमे, लोकके असख्यात बहुभागप्रमाण क्षेत्रमे अथवा सब-लोकमे रहते है ।

इन सबका उपपादन धवला टीकामे विस्तारसे किया गया है। इस तरह आदिके चार सूत्रोके द्वारा ओघकथन करके पाँचवें सूत्रसे आदेशकथन है। इसमें कुल ९२ सूत्र हैं।

क्षेत्रावगाहनाकी अपेक्षासे जीवोकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—स्वस्थान, समुदघात और उपपाद। स्वस्थानके भी दो भेद है—जीवके स्थायी निवासके क्षेत्रको स्वस्थान कहते ह और विहार कर सकने योग्य क्षेत्रको विहारवत्स्वस्थान कहते हैं। मूल शरीरको छोडे बिना जीवके प्रदेशोके बाहर निकलनेका समुदघात कहते हैं। समुदघातके सात प्रकार है—वेदनासमुद्घात कषायसमुद्घात, वक्रियिक समुद्घात मारणान्तिकसमुदघात, तेजससमुद्घात, आहारकसमुदघात और केवलि समुद्घात। पूर्व शरीरको छोडकर अपने नये जन्मस्थान तक जीवके गमन करनेको उपपाद कहते हैं। इन दस अवस्थाओकी अपेक्षासे जीवोंके क्षेत्रका कथन इस क्षेत्रानुयोगद्वारमें किया गया है। किन्तु सूत्रोमे इन दस अवस्थाओका निर्देश नही है। किन्तु क्षेत्रकी सगति बठानसे वे दस अवस्थाए फलित होती ह।

४ स्पर्शनानुगम—क्षेत्र और स्पर्शन कथनमे इतना अन्तर ह कि क्षेत्रका कथन तो केवल वर्तमान कालकी अपेक्षासे किया जाता है और स्पर्शनके कथनमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालोका क्षेत्र मान लिया जाता है। मिथ्यादृष्टि जीवोका क्षेत्र और स्पर्शन दोनो सर्वलोक ह। क्योकि एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं और वे सर्वलोकमे रहते और गमनागमन करते है। अतएव उनका वर्तमान क्षेत्र भी सर्वलोक है और अतीतकालमे भी उन्होने सर्वलोकको स्पर्श किया ह। किन्तु अन्य गुणस्थानवालोमें ऐसी बात नही है। अन्य सब गुणस्थान त्रसजीवोके ही हो सकते ह। और त्रसजीव केवल त्रसनाडीमें ही रहते है। एक दो अपवादोको छोडकर त्रसनाडीके बाहर नही रहते। लोकके मध्यमे एक राजु लम्बी चौडी और चौदह राजु ऊँची त्रसनाडी है। जो जीव उसके जितने क्षेत्रको स्पर्श करता है उसका उतना ही स्पर्शन क्षेत्र माना गया है। जैसे विहारवत्स्वस्थान और विक्रियासमुद्घातकी अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शन त्रसनाडीके चौदह भागोंमेंसे आठ भाग बतलाया है। यह आठ भाग घन राजु प्रमाण क्षेत्र तीसरी बालुका पृथिवीसे लेकर सोलहवें स्वर्ग तक लेना चाहिये। क्योकि भवनवासी देव नीचे तीसरी पृथिवी तक और ऊपर यदि ऊपरके देव ले जायें तो सोलहवें स्वर्ग तक विहार कर सकते ह। इस क्षेत्रका प्रमाण त्रसनाडीके चौदह भागोमेंसे आठ भाग

है। यही उक्त अपेक्षाओंसे सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवालोंका स्पर्शनक्षेत्र है।

इस प्रकार इस स्पर्शनानुगममें चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंमें जीवोंके स्पर्शनविषयक क्षेत्रका कथन है। इसमें १८५ सूत्र हैं।

५ कालानुगम—इसमें ओघ और आदेशकी अपेक्षा कालका कथन है, अर्थात् यह बतलाया है कि नाना जीव और एक जीव किस गुणस्थान अथवा मार्गणा-स्थानमें कम-से-कम और अधिक-से अधिक कितने काल तक रहते हैं।

जैसे, सूत्र २ में यह प्रश्न किया गया है कि ओघसे मिथ्यादृष्टी जीव कितने काल तक होते हैं? इसके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल होते हैं (क्योंकि मिथ्यादष्टि जीव सर्वदा पाये जाते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादिसान्त काल है। अभव्यजीव कभी मिथ्यात्वको नहीं छोडता, अत उसकी अपेक्षा अनादि अनन्तकाल है। जो भव्यजीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु मिथ्यात्व-का छोडकर सम्यग्दृष्टि हो जाते उनके मिथ्यात्वका काल अनादि सान्त है। और जो भव्यजीव सम्यक्त्वको छोडकर मिथ्यादष्टि हो जाते हैं उनका काल सादि और सान्त है। ऐसे जीवोके मिथ्यात्वमें रहनेका काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त होता है, अन्तर्मुहूत तक मिथ्यत्वमें रहकर वे पन उससे निकलकर सम्यग्दृष्टी आदि हो जाते है। और उत्कृष्ट काल कुछ कम अधपुदगलपरावर्तन है। चौदहमेंसे छै गुण-स्थानोमें जीवोंका कभी अभाव नहीं होता। वे छै गुणस्थान हैं—पहला, चौथा, पाँचवा, छठाँ, सातवाँ और तेरहवाँ।

इमी प्रकार सब गुणस्थानोमे और सब मागणास्थानोंमें कालका कथन किया गया है। इस कालानुगमके सूत्रोकी सख्या ३४२ है।

६ अन्तर[1]—किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवके उस गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें चले जानेसे पुन उसी गुणस्थानमें आनेके कालको अन्तर कहते हैं। इस अन्तरानुगममें ओघ और आदेशकी अपेक्षा इसी अन्तरका कथन किया गया है।

जैसे—ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टी जीवोका अन्तर काल कितना है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नही है, मिथ्यादृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागरोपम काल है।

धवलाटीकामें इस अन्तरकालकी सगति विस्तारसे सिद्ध की है। चौदह गुण-स्थानोंमेंसे जिन छै गुणस्थानोंमें सर्वदा जीव पाये जाते हैं, नाना जीवोंकी अपेक्षा

---

१ षट्खं०, पु० ५ में अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार मुद्रित हैं।

उन गुणस्थानोंका अन्तरकाल नही होता, शेष आठ गुणस्थानोका होता है। अर्थात् उन आठ गुणस्थानोंमें कुछ समय तक कोई जीव नही पाया जाता। जैसे क्षपक[1] श्रेणीके चार गुणस्थानोंमे और अयोगकेवली गुणस्थानमें अधिक से अधिक छै मास तक कोई जीव नही पाया जाता।

इसमें कुल ३९७ सूत्र हैं।

७ भावानुगम—कर्मोंके उपशम क्षय आदिके निमित्तसे जीवके जो परिणाम विशेष होते हैं उन्हें भाव कहते है। वे भाव पाच प्रकारके है—औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते है। कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले भावको औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाले जीवके भावको क्षायिकभाव कहते हैं। कर्मका उदय रहते हुए भी जो जीवगुणका अंश उपलब्ध होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। जो पूर्वोक्त चारो भावोसे भिन्न जीव और अजीवगत भाव होता है वह पारिणामिक भाव है।

इस अनुयोगद्वारमें ओघ और आदेशसे उक्त भावोंका कथन किया है। ओघसे कथन करते हुए कहा है[2]—'मिथ्यादृष्टि यह कौन सा भाव है? औदयिक भाव है ॥ २ ॥ सासादनसम्यग्दृष्टी यह कौन-सा भाव है? पारिणामिक भाव है ॥ ३ ॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौन सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है ॥ ४ ॥ असयत सम्यग्दृष्टी यह कौन-सा भाव है? औपशमिक भाव भी है क्षायिक भाव भी है और क्षायोपशमिक भाव भी है ॥ ५ ॥ सयतासयत प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत यह कौन-सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है ॥ ७ ॥ इसी प्रकार चौदह गुणस्थानोंमे भावकी प्ररूपणा करके पुन मार्गणास्थानोंमे भावोंका कथन किया है। धवलाटीकामें प्रत्येकका उपपादन किया है कि क्यो अमुक भाव है। इसमे ९३ सूत्र हैं।

८ अल्पबहुत्वानुगम—द्रव्यप्रमाणानुगममे बतलाई गई जीवसख्याके आधार पर गुणस्थानो और मार्गणास्थानोंमें सख्याकृत हीनता और अधिकताका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। अन्य अनुगमोकी तरह इसका आरम्भ भी 'दुविहो णिद्दसो

---

१ 'चदुण्हं खवग अजोगि केवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणा जीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं' ॥ १६ ॥ उक्कस्सेण छम्मासं ॥ १७ ॥—षटख०, पु० पृ० २०-२१।

२ 'ओघेण मिच्छादिट्ठि त्ति को भावो? ओदइओ भावो ॥ २ ॥ सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो? पारिणामिओ भावो ॥ ३ ॥ सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, खओवसमिओ भावो ॥ ४ ॥ असजदसम्मादिट्ठि त्ति को भावो उवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो' ॥ ५ ॥' षटखं० पु० ५, पृ० १९४ आदि।

ओघेण ओदेसेण य' सूत्रसे होता है। पहलेके सब अनुयोगद्वारोंमें ओघकथन पहले गुणस्थानसे आरम्भ होता है किन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ संख्याके अल्पत्वके और बहुत्वके आधारपर कथन है। जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या सबसे कम है उसका निर्देश प्रथम है और आगे जिन जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या क्रमश बढती जाती है उनका कथन है। यथा—'ओघसे[1] अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशामक जीव प्रवेशकी अपेक्षा परस्पर तुल्य हैं किन्तु अन्य सब गुणस्थानोंसे अल्प है ॥ २ ॥ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानवाले जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं ॥ ३ ॥ उससे क्षपक असख्यातगुणे हैं ॥ ४ ॥

इस तरह आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ करके ऊपरकी ओर ले गये हैं क्योंकि अन्य सब गुणस्थानोंसे उपशमश्रेणीके इन गुणस्थानोंमें जीवोंकी सख्या सबसे कम होती है। गुणस्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन करके फिर मार्गणाओमें अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—'आदेशसे[2] गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोमें सासादनसम्यग्दृष्टी जीव सबसे कम हैं ॥ २७ ॥ सम्यकमिथ्यादृष्टि जीव सख्यातगुणे हैं ॥ २८ ॥ इत्यादि। इसमें ३८२ सूत्र हैं। इस अल्पबहुत्वानुगमके साथ जीवट्ठाण नामक प्रथम खडके आठों अनुयोगद्वार समाप्त हो जाते हैं। और इस तरहसे पहला खड समाप्त हो जाता है। किन्तु इनके पश्चात भी जीवस्थानकी चूलिकाके नामसे एक अधिकार और भी है।

जीवस्थान चूलिका—इसकी धवलाटीकाके प्रारम्भमें[3] ही यह शंका की गई है कि जीवस्थानके आठो अनुयोगद्वारोके समाप्त हो जानेपर चूलिका किसलिये आई है? इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है—पूर्वोक्त आठों अनुयोगद्वारोके विषम स्थलोके विवरणके लिये आई है। पुन यह शंका की गई है कि सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमे कहा गया है कि 'चौदह गुणस्थानोंके कथनके लिये ये आठ ही अनुयोगद्वार जानने योग्य है' यदि चूलिका उन्हींसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो आठ ही कहना व्यर्थ हो जाता है क्योंकि चूलिका नामक नौवां अधिकार भी हो जाता है। यदि चूलिका चौदह गुणस्थानोंसे अप्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो उसे जीवट्ठाण' सज्ञा नही दी जा सकती?

---

१ 'ओघेण तिसु अद्धासु उवसमा पवेसणेण तुल्ला थोवा ॥ २ ॥ उवसतकसायवीदरागछदुमत्था तत्तिया चेव ॥ ३ ॥ खवा सखेज्जगुणा ॥ ४ ॥ षट्खं० पु० ५, पृ० २४३ आदि।

'आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु सव्वत्थोवा सासणसम्मादिट्ठी ॥ २७ ॥ —षट्खं०, पु० ५, पृ० २६१।

३ 'सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु चूलिया किमट्ठमागदा ? पुव्वुत्ताणमट्ठण्णमणिओगद्दाराणं विसमपएसविवरणट्ठमागदा।' षट्खं०, पु० ६ पृ० २।

इसका समाधान करते हुए धवलाकारने लिखा है कि चूलिकामें ऐसे अर्थोंका कथन है जो आठों अनुयोगद्वारोमें नही कहे गये हैं किन्तु उनसे सूचित होते हैं। अत चूलिका उक्त आठो अनुयोगद्वारोमें ही अन्तभूत ह, उनसे बाहर नही है।

इस चूलिकाके अन्तगत नौ अधिकार ह। प्रकृतिसमुत्कीर्तन स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, ततीयमहादण्डक उत्कृष्टस्थिति, जघन्य स्थिति सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति चूलिका। चूलिकाके इन नौ अधिकारो का अन्तर्भाव उक्त आठ अनियोगद्वारोंमें करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] ह— क्षेत्र काल और अन्तर अनियोगद्वारोंसे गति आगति चूलिका सूचित की गई ह वह गति-आगति चूलिका भी प्रकृतिसमत्कीतन और स्थानसमत्कीतनको सूचित करती ह क्योकि बन्धके बिना गतियोमें गमनागमन नही बनता। प्रकृतिसमुत्कीतन और स्थानसमुत्कीर्तनके द्वारा कर्मोंकी जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति सूचित की गई ह क्योकि सकषाय जीवके स्थितिबन्धके बिना प्रकृतिबन्ध नही होता। कालानुयोगद्वारमे जो सादिसान्त मिथ्यादष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम अधपुद्गल परावतन बतलाया ह उससे प्रथमसम्यक्त्वका ग्रहण किया गया ह क्योंकि उ . बिना मिथ्यादष्टिका उक्त उत्कृष्टकाल नही बनता। प्रथम सम्यक्त्वमे तीन महा दण्डक सूचित होते ह। इस तरह वीरसेनस्वामीने चूलिकाके नौ अधिकारोका पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोम ही अन्तभूत बतलानेका सत्प्रयत्न किया ह। उनका आशय यह ह कि गुणस्थान और मार्गणाओके द्वारा जीवके अस्तित्व सख्या क्षेत्र स्पशन, काल अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात यह कथन करना शेष रह जाता ह कि जीव मरकर किस गतिसे किस गतिमे जाता ह। अत उस कथनके लिये गति आगति चूलिका अधिकार है और शेष अधिकार प्राय उसीके सम्बन्धसे अवतरित हुए हैं। इनमेसे प्रकृतिसमत्कीतन आदि कुछ अधिकार ऐसे भी ह जो दूसरे खण्ड बन्धक के लिये उपयोगी हैं। अत इस चूलिकाके द्वारा सूत्रकार भूतबलिने जीवस्थानके साथ आगेके खंडोको सम्बद्ध करनेका प्रयत्न किया हो, यह भी हम सम्भव प्रतीत होता है। अस्तु

चूलिकाके प्रथमसूत्रके[2] द्वारा सूत्रकारने नीचे लिखे प्रश्न किये हैं—१ (सम्यक्त्वको उत्पन्न करनवाला मिथ्यादष्टि जीव) कितनी और किन प्रकृतियोको

---

१ षट्खं० पु० ६ पृ० ३।

२ 'कदिकाओ पयडीओ बंधदि, केवडिकालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्त लभदि वा ण लभदि वा, केवचिरेण वा कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्त, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीय कम्म खवेंतस्स चारित्त वा सपुण्ण पडिवज्जतस्स ॥ १ ॥—षट्खं०, पु० ६, पृ० १।

बाँधता है ? २ कितने काल स्थितिवाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है ? ३ कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमे कितने दर्शनमोहनीय कर्मको क्षपण करनेवाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होनेवाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ?

इन्हीं प्रश्नोंके समाधानके रूपमें चूलिकाके नौ अधिकारोंकी रचना सूत्रकारने की है।

१ इनमेंसे 'कितनी किन[1] प्रकृतियोंको बाँधता है' इस पदकी विभाषा—व्याख्यानके रूपमें प्रकृतिसमुत्कीतन नामक पहली चूलिका है।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन—प्रकृतियोंके समुत्कीतन अर्थात स्वरूपनिरूपणको प्रकृतिसमुत्कीर्तन कहते हैं।

प्रकृतिसमुत्कीतनके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिसमुत्कीर्तन और उत्तरप्रकृतिसमुत्कीर्तन।

मूलकमप्रकृतियाँ आठ हैं—ज्ञानावरणीय[2], दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानका आवरण करने वाले कमको ज्ञानावरण कहते हैं। दर्शनका आवरण करने वाले कमको दशनावरण कहते हैं। जीवके सुख-दुखके अनुभवनमें कारण पुद्गलस्कन्धको वेदनीयकम कहते हैं। जिसके द्वारा जीव मोहित हो उस कमको मोहनीयकम कहते हैं। जो कम जीवको नरकादिभवोमे अमुक समय तक रोके रखता है उसे आयुकर्म कहते हैं। शरीर आदिकी रचनामें कारणभूत कर्मको नाम कम कहते है। उच्च और नीच कुलमें उत्पन्न करान वाले कमको गोत्रकम कहते है। दान लाभ भोग उपभोग आदिमें विघ्न करने वाले कमको अन्तरायकर्म कहते हैं। इस तरह मूल कर्म आठ हैं।

जैन सिद्धान्तमें कमके दो भेद हैं—द्रव्यकम और भावकम। जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। और जीवके रागादि परिणामोंके निमित्त से जो पुद्गलस्कन्ध कमरूप परिणत होते हैं उन्हे द्रव्यकम कहते हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयोंको पाकर जीवके जैसे भाव होते हैं तदनुसार ही उसके कर्मबन्ध होता है। अत योग और कषायके निमित्तसे जीवके साथ सम्बद्ध हुए जो पुद्गल

---

१ 'कदि काओ पगडीओ बधदि त्ति ज पद तस्स विहासा ॥२॥ इदाणि पगडिसमुक्कित्तणं कस्सामो ॥३॥ षट्खं०, पु० ६, पृ० ४ ५।

२ 'णाणावरणीय ॥५॥ दसणावरणीयं ॥६॥ वेदणीयं ॥७॥ मोहणीयं ॥८॥ आउअं ॥९॥ णाम ॥१०॥ गोद ॥११॥ अंतराय चेदि ॥१२॥ वही, पु० ६, पृ० ५-१३।

ज्ञानका ढाँकना, दर्शनका ढाँकना सुख-दुःखका अनुभवन कराना, मोहित करना आदि कार्य करनेमें समर्थ होते हैं उन्हें कर्म कहते हैं। इन आठों कर्मोंके कारण ही जीव संसारमें भ्रमण करता है।

इन आठ कर्मोंमसे भी ज्ञानावरणीय[1] कर्मकी पाँच उत्तरप्रकृतियाँ है—मतिज्ञानावरणीय श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। मति आदि पाँच ज्ञान है, अतः ज्ञानका आवरण करने वाले ज्ञानावरणके भी पाँच प्रकार है। इसी तरह[2] दर्शनको ढाँकने वाले दर्शनावरणीय कर्मकी नौ प्रकृतियाँ है।[3] वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ है। मोहनीयकर्मके[4] दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आप्त आगम और पदार्थोंसे रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते है। उस दर्शनको जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है उसे दर्शनमोहनीयकर्म कहते है। इस कर्मके उदयमे जो आप्त नही है उसमे आप्तबुद्धि और झूठे पदार्थोंमे सत्य पदार्थकी बुद्धि होती है।

इसकी तीन प्रकृतियाँ है- सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यकमिथ्यात्व।

पापकार्योंसे निवृत्त होनेको चारित्र कहते है। उस चारित्रको आच्छादित करने वाले कर्मको चारित्रमोहनीय कहते है। चारित्रमोहनीयके दो भेद होते है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयके १६ भेद है और नोकषायवेदनीयके नौ भेद है। इस तरह मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियाँ है।

आयुकर्मकी[5] चार प्रकृतियाँ है—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु नामकर्मकी[6] ९३ प्रकृतियाँ है। गोत्रकर्मकी[7] दो प्रकृतियाँ है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। अन्तरायकर्मकी[8] पाँच प्रकृतियाँ है। इस तरह आठ कर्मोंकी ५ + ९ + २ + २८ + ४ + ९३ + २ + ५ = १४८ प्रकृतियाँ होती है।

कर्मप्रकृतियोंके इस निरूपणके साथ प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका समाप्त हो जाती है। इस चूलिकामें ४६ सूत्र है। उसके पश्चात् स्थानसमुत्कीर्तन[9] नामकी चूलिका आरम्भ होती है।

---

१ षट्खं० पु० ६ पृ० १४।
२ वही पृ० ३१।
३ वही पृ० ३४।
४ वही पृ० ३७।
५ वही, पु० ६ पृ० ४८।
६ वही पृ० ४९।
७ वही, पृ० ७७।
८ वही, पृ० ७८।
९ एत्तो ट्ठाणसमुक्कित्तणं वण्णइस्सामो ॥१॥ वही, पृ० ७९।

२ स्थानसमुत्कीर्तन—पहली चूलिकामें जिन प्रकृतियोंका कथन किया है, उनका बंध क्रमसे होता है या अक्रमसे होता है, इस प्रश्नका उत्तर इस दूसरी चूलिकाके द्वारा दिया गया है। बन्धक छै हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और संयत। अन्तके संयतसे ६ से लेकर तेरह तकके गुणस्थानवाले जीव विवक्षित हैं क्योंकि वे सभी सयत होते है। यद्यपि चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान वाले भी सयमी होते हैं किन्तु उनके एक भी कर्मका बन्ध नही होता।

१ ज्ञानावरणीयकर्मकी[1] पाँचो प्रकृतियाँ एक साथ बंधती हैं और उक्त सभी बधकोके बधती है। (किन्तु दसवें गुणस्थान तक ही बंधती है, आगे नही बधती)

२ दर्शनावरणीयकर्मके[2] तीन बन्ध स्थान हैं—नौप्रकृतिक छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक। पहले और दूसरे गुणस्थानमें एक साथ नौप्रकृतियाँ बधती हैं। तीसरे गुणस्थानसे लेकर आठवे गुणस्थानके प्रथम भाग पर्यन्त जीवोके नौमेसे एक साथ छ ही प्रकृतियाँ बधती है, तीन नही बधती। आगे आठवेंसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त छहमेंसे भी चारका ही बन्ध एक साथ होता है। इस तरह दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियोमेंसे तीन बन्धस्थान हैं।

३ वेदनीय कर्मकी दो ही प्रकृतियाँ है—साता और असाता। उन दोनोंमे से एक समयमें एक ही बधती है।

४ मोहनीयकर्मके[3] दस बन्धस्थान है—बाईस, इक्कीस, सतरह, तेरह, नौ पाँच, चार, तीन दो और एक प्रकृतिक। बाईससे अधिक प्रकृतियाँ किसी भी जीव के नही बधती। मिथ्यात्व सोलहकषाय स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद इन तीनो वेदोंमेंसे एक हास्य रति और अरति-शोक इन दो युगलोंमेंसे एक युगल, भय और जुगप्सा इन बाईस प्रकृतियोका एक साथ बन्ध मिथ्यादृष्टी जीवके होता है। इनमेसे मिथ्यात्वके सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियोका बन्ध (जिनमें नपुसकवेद नही लेना चाहिये) सासादनसम्यग्दृष्टीके होता है। इनमसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष सतरह प्रकृतियोका (जिनमें स्त्रीवेद नही लेना चाहिये) एक साथ बन्ध तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोके होता है। उन सतरहमेंसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभके सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोका बन्ध पाँचवे गुणस्थानवर्ती जीवोके होता है। उन तेरहमेंसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभको छोड़कर शेष नौ प्रकृतियोका बन्ध छठेसे आठवें गुणस्थानपर्यन्त

---

१. षटखं पृ० ८०।

२ वही, पृ० ८२।

३ वही, पु ६, पृ ८८।

जीवोंके ही होता ह। सज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ और पुरुषवेद इन पाँच प्रकृतियोका बन्ध एक साथ होता है। इनमेसे पुरुषवेदक सिवाय शेष चारका, क्रोध-सज्वलनको छोडकर शेष तीनका, सज्वलन मानको छोडकर शेष दोका और सज्व लन मायाको छोडकर शेष एक प्रकृतिका बन्ध भी मयमीके ही होता है।

५ आयुकमके[1] चार भेद ह। उनमेस नरकायुका बन्ध पहले, गुणस्थानम, तिर्यञ्चायुका बन्ध पहले और दूसरमे, मनुष्यायुका बन्ध पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें और देवायुका बन्ध ऊपर कहे छहो बन्धकोंके होता ह।

६ नामकमके[2] आठ बन्धस्थान ह—इकतीस, तीस, उनतीस, अट्ठाईस छब्बीस, पच्चीस तेईस और एक प्रकतिक स्थान। इन स्थानोके बन्धकोका वर्णन बहुत विस्तृत ह।

७ गोत्रकमकी[3] दो प्रकतियोमेसे एक समयम एक जावके एकका ही बन्ध होता ह। नीचगोत्रका बन्ध केवल पहले और दूसरे गुणस्थानमे होता है और उच्चगोत्रका ब ध उक्त छहो बन्धकोके होता ह।

८ अन्तरायकमकी[4] पाँचो प्रकतियाँ एक साथ बधती ह और सामान्यतया उक्त छहो बन्धक उनका बन्ध करते ह

इम तरह दूसरी चूलिकामे आठो कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन ह। इसीसे उसका नाम स्थानसमुत्कीतन ह। इसम ११७ सूत्र ह।

३ तीसरी चूलिकाका नाम प्रथम महादण्डक है। इसके प्रथमसूत्रके[5] द्वारा सूत्रकारने कहा है—अब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख जीव जिन प्रकृतियोको बाँधता ह उन प्रकृतियोको कहेंगे। अर्थात जब कोई मिथ्यादृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वका ग्रहण करनेक अभिमख होता ह तो वह किन किन कम प्रकृतियोका बन्ध करता ह? प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तियञ्च मनुष्य, दव और नारकी हो सकते ह। प्रथम महादण्डकमे एकसूत्रके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सज्ञी तियञ्च और मनुष्यके बधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई ह। इसमें केवल दो सूत्र ह।

४ दूसर महादण्डकमें[6] प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव और सातवे नरक

---

१ षट्खं० पु० ६, पृ० ९९।

२ वही पृ १०१।

३ वही, पृ० १३१।

४ वही, पृ० १३२।

५ 'इदाणिं पढमसम्मत्ताभिमुहो जाओ पयडीओ बधदि ताओ पडणीओ कित्तइस्सामो ॥१॥ —वही, पृ १३३।

६ 'तत्थ इमो बिदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—वही पृ १४० ॥

के नारकियोंको छोड़कर शेष नारकियोंके बंधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई हैं। इसमें भी दो ही सूत्र हैं।

५ तीसरे महादण्डकमें[1] सातवी पृथिवीके नारकीके प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख होनेपर बंधनेवाली प्रकृतियाँ गिनाई हैं। इसमें भी केवल दो सूत्र हैं। इस तरह इन तीन महादण्डकोंके रूपमें तीन चूलिकायें समाप्त होती हैं। सूत्रकारने क्यो एक-एक सूत्रका एक-एक महादण्डक बनाया है और क्यों उसकी महादण्डक सज्ञा रखी ह, यह जिज्ञासा होना सहज है। जैन परम्परामें सिद्धान्तग्रन्थोंके[2] अंशविशेषके लिये दण्डक या महादण्डक शब्दका भी व्यवहार होता था। सभव है जिस स्थानसे ये दण्डक लिये गये है वह महादण्डक नामसे अभिहित हो और वही नाम इन एक-एक सूत्र वाले दण्डकोको दे दिया हो।

६ उत्कृष्टस्थिति चूलिका—इसमें कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका कथन है। इस चूलिकाके प्रथमसूत्रमें[3] कहा है कि आरम्भिक सूत्रमे जो प्रश्न किये गये थे उनमें एक प्रश्न था कितनी स्थितिवाले कर्मोके होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करता ह अथवा नही प्राप्त करता है।' इसमेसे 'नही प्राप्त करता ह' इस पदकी विभाषा करते हैं। उसी विभाषाके लिए कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका विवेचन किया गया है। उसमें बतलाया ह कि किन किन कर्मोंका उत्कष्ट बन्धकाल कितना होता ह। और उनमें कितना आबाधाकाल होता ह। बन्धके पश्चात् जब तक कम अपना फल नही देता उतने कालको आबाधाकाल कहते है। आबाधाकाल बीतनेपर कम का उदय प्रारम्भ होता ह और स्थितिकालके पूरा होने तक उदय होता रहता ह। इस चूलिकामें ४४ सूत्र है।

७ जघन्यस्थिति चूलिका—इस चूलिकामे कर्मोंकी जघन्य स्थिति और उसका आबाधाकाल बतलाया है। इसमें ४३ सूत्र है।

८ सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका—इस चूलिकामें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए कहा है कि सब कर्मोंकी जब अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति को बाँधता है तब वह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय सज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है ॥ ४ ॥ जब इन सब कर्मोंकी अन्त कोडाकोडी सागर-प्रमाण स्थितिको संख्यात हजार सागर काल हीन कर देता है। तब प्रथमोपशम

---

१ 'तत्थ इमो तदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—पृ० १४२।

२ 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्'—त वा ४-२६-५।

३ 'केवडि कालट्ठिदीएहि कम्मेहि सम्मत्त लब्भदि वा ण लब्भदि वा, ण लब्भदि त्ति विभासा ॥१॥ एत्तो उक्कस्सयट्ठिदिं वण्णइस्सामो ॥'—पु० ६, पृ० १४५।

सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है ।।५।। प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हुए अन्तमुहूर्त तक अन्तरकरण करता है ।।६।। उसके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके उदयमे अन्तर डाल देता है जिससे एक अन्तमुहूर्तके लिए उसका उदय आना रुक जाता है। फलत सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। अन्तरकरण करके मिथ्यात्वके तीन भाग—सम्यक्त्व, सम्यकमिथ्यात्व और मिथ्यात्व—करता है ।।७।। इस तरह सात सूत्रोके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्ति और उसमे होने वाले मुख्य मुख्य कार्योंका निर्देश किया है। सूत्र ११ से क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वर्णन है। दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय होने पर क्षायिकसम्यक्त्व होता है। अत प्रथम यह बतलाया है कि अढाई द्वीप समुद्रोमे स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोमे जहाँ जिनकेवली और तीर्थङ्कर होते है वहाँ उस कालमे दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका आरम्भ करता है ।।११।। और उसकी पूर्ति चारो गतियोमे करता है ।।१२।। इस तरह दो सूत्रोसे दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका कथन किया है।

सूत्र १३ मे बतलाया है कि जब यह जीव क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख होता है तो आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंकी स्थितिको अन्त कोडा कोडि सागरप्रमाण कर देता है। सूत्र १४ मे बतलाया है कि यदि वह सम्यक्त्वके साथ चारित्रको भी ग्रहण करता है तो भी सातो कर्मोंकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरप्रमाण करता है।

सूत्र १ —१६ मे सकलचारित्र धारण करने वालेका स्वरूप बतलाते हुए कहा कि वह जीव उस समय चार घातिया कर्मोंकी स्थिति अन्तमुहूर्त मात्र करता है और वेदनीयकी बारहमुहूर्त नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष कर्मोंकी अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थिति करता है। इस तरह इस चूलिकामे केवल १६ सूत्र है।

९ गति आगति चूलिका—विषयके अनुसार इस चूलिकाको चार भागोमे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम ४३ सूत्रोके द्वारा चारो गतियोमे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति पर्याप्तक सज्ञीप पञ्चेन्द्रियको ही होती है। तथा प्रत्येक गतिमे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बाह्य कारण बतलाये है। जैसे नरकगतिमे पूर्वजन्मका स्मरण धर्मश्रवण और कष्टसहन। तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमे जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन। देवगतिमे जातिस्मरण धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन इत्यादि।

सूत्र ४४ से ७५ तक बतलाया है कि चारो गतियोमे प्रवेश करने और वहाँसे निकलनेके समय जीवोके कौन कौन गुणस्थान हो सकते है। जैसे, मनुष्य गतिमे कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित ही वहाँसे निकलते

है। कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते है। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते हैं। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते है, इत्यादि।

सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया है कि किस गतिसे किस गुणस्थानके साथ निकलकर जीव किन-किन गतियोमे जन्म ले सकता है। जैसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नरकसे निकल कर तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमे जन्म लेते है। और सम्यग्दष्टि नारकी नरकसे निकल कर मनुष्यगतिमें ही जन्म लेता ह इत्यादि।

सूत्र २०३ से २४३ तक बतलाया है कि किस गतिसे निकल कर जीव किस गतिमे जन्म लेता है और वहाँ कहाँ तक उन्नति कर सकता ह। जैसे सातवे नरकसे निकल कर नारकी जीव तिर्यञ्चगतिमे ही जन्म लेता है और वहाँ किसी तरहकी उन्नति नही कर सकता। मिथ्यादष्टिका मिथ्यादष्टि ही बना रहता है। इस तरह प्रत्येक नरकसे तथा प्रत्येक गतिसे निकले हुए जीवोंके सम्बन्धमे विस्तार-मे कथन किया गया ह। चूलिकाम २४३ सूत्र है और पूरी जीवस्थान चूलिका म सूत्रोकी सख्या ४८ + ११७ + २ + २ + २ + ४४ + ४३ + १६ + २४३ = ५१७ ह।

चूलिकाके साथ ही जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है। इस खण्डमे जीवके स्थानोका जो वणन जिस ढगसे किया गया है उसका आभास अन्यत्र नही मिलता। प्रथम तो जिन आठ अनुयोगोके द्वारा जीवका विवेचन किया गया है, उन अनुयोगोके नाम मत सख्या आदि भले ही अन्यत्र व्यवहृत होते हो, किन्तु उनके द्वारा वस्तु विवेचनकी परम्परा सम्भवतया महावीर भगवानकी मौलिक देन ह। जीव और कमके सम्बन्धमें जितना विचार उन्होने किया था, शायद अन्य किसी धमप्रवतकने नही किया था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण जीव-ट्ठाण ह।

उक्त आठ अनुयोगोका निर्देश अनुयोगद्वार[1] सूत्रमे मिलता है। अत अनु योगोंके द्वारा वस्तुविवेचनाकी परम्परा अखण्ड जैन परम्पराको सम्मत रही है। किन्तु जिस तरह आठ अनुयोगोके द्वारा ओघ और आदेशसे जीवका कथन जीव ट्ठाणमे किया गया है, श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं किया गया। हाँ, चतुथ कम-

1 'से किं त अणुगमे? नवविहे पण्णत्ते, त जहा—सतपयपरूवणया १ दव्वपमाण २ च, खित्त ३ फुसणा ४ य, कालो य ५, अंतर ६, भाग ७, भाव ८, अप्पाबहु चेव—अनु० सू० ८०।

ग्रन्थमें[1] जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व भाव और संख्याका संक्षिप्त कथन मिलता है। इसमे गाथा ९ से १३ तक मार्गणा स्थानके भेद तथा गाथा १९ से २३ तक मार्गणाओमें गुणस्थान बतलाये है। मार्गणाओमें गुणस्थानोका वर्णन करते हुए मतिअज्ञान और श्रुताज्ञानमे दो अथवा तीन गुणस्थान[2] बतलाये है। दिगम्बर परम्परामे[3] दो ही गुणस्थान माने गये है। गाथा ३७ से ४४ तक मार्गणाओम अल्पबहुत्वका विचार किया गया है। यह प्रज्ञापनाके अल्पबहुत्वनामक तीसरे पदसे लिया गया है। प्रज्ञापनाके तीसरे पदमे अल्पबहुत्व का विचार विस्तारसे किया गया है।

अनुयोगद्वारसूत्रमें केवल मनुष्यादिकी संख्याका थोडा-सा वर्णन मिलता है। किन्तु द्रव्यप्रमाणानुगमके[4] साथ उसका मेल नही खाता। इसका कारण यह है कि दोनोमें विभिन्न अपेक्षाओसे मनुष्योकी संख्याका कथन किया है। इस तरह जीवट्ठाणम प्रतिपादित विषयकी कुछ फुटकर बातोका थोडा सा कथन श्वेताम्बर साहित्य म मिलता है।

२ खुद्दाबन्ध[5]

इस खण्डका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमे खुद्दा अर्थात क्षुद्ररूपसे कर्मबन्धका विवेचन है। छठवे खण्ड महाबन्धमे इसका भेद करनेके लिए ही अथवा उसकी अपेक्षा इसकी लघुता सूचित करनेके लिए ही सूत्रकारने इसको खुद्दाबन्ध संज्ञा दी है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका प्रथम सूत्र है— जे ते बधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥—जो वे बधक जीव है उनका यहाँ निर्देश किया जाता है।

इसकी धवलाटीकामें लिखा है कि 'जे ते बधगा णाम' ये शब्द बन्धकाकी पूर्व प्रसिद्धिका सूचित करते है। सो महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमे छठवे अनुयोगद्वार बन्धनके बध बधक, बधनीय और बधविधान ये चार अधिकार है। उसमेसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है उसमे निर्दिष्ट बन्धकोका ही यहाँ निर्देश किया गया है। अस्तु दूसरे सूत्रमे चौदह मार्गणाओके नाम गिनाकर तीसरे सूत्रसे मार्गणाओके अनुसार बन्धकोका कथन प्रारम्भ होता है। यथा—नारकी जीव बन्धक है। तिर्यञ्च बन्धक है। देव बन्धक है। किन्तु

---

१ नमिय जिण जिअमग्गण गुणठाणुवओगजोगलेस्साओ।
बंधप्पबहुभावे संखिज्जाई किमवि वुच्छ ॥१॥

२ गा० २०।

३ षट्ख०, पु० १ पृ० ३६१।

४ षट्खं० पु० ३, सूत्र ४५ तथा अनुयोग०, पृ० १८५।

५ षट्खण्डागमकी ७वीं पुस्तकमे खुद्दाबन्ध खण्ड मुद्रित है।

मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी हैं। इस तरह तेतालीस सूत्र तक बन्धकोंके सत्वका कथन है।

आगे कहा है कि इन बन्धकोंके प्ररूपणार्थ ग्यारह अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—वे ग्यारह अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षा काल, एक जीवकी अपेक्षा अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, द्रव्य प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम स्पर्शनानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा काल नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व ।। सब अनुयोगद्वारोंका विवेचन प्रश्नोत्तरशैलीमें किया गया है।

१ स्वामित्व—नरक गतिमे नारकी जीव कैसे होता है? नरकगतिनाम कर्मके उदयसे। तिर्यञ्चगतिमें तियञ्च जीव कैसे होता है? तियञ्चगतिनाम-कर्मके उदयसे। जीव एकेन्द्रिय आदि कैसे होता है? क्षायोपशमिकलब्धिसे। जीव मतिज्ञानी कैसे होता है? क्षायोपशमिकलब्धिसे। इस तरह जिस मार्गणा-वाला जीव जिस कर्मके उदय या क्षयोपशम आदिमे होता है उसका वैसा कथन किया गया है (इस अनुयोगद्वारमे ९१ सूत्र है)।

२ एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम—नरकगतिमे नारकी जीव कितने काल तक रहता है? कम-से कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरकाल तक। भवनवासी देवोमे एक जीव कितने काल तक रहता है? कम-से कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक कुछ अधिक एक सागरोपम काल तक। जीव काययोगी कितने काल तक रहता रहता है? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तकाल तक और अधिक से-अधिक अनन्तकाल तक। इस प्रकार २१६ सूत्रोंके द्वारा कालका विवेचन किया गया है। जीवट्ठाणमे जो कालका कथन किया गया है वह गुणस्थानोकी अपेक्षासे है और यहाँ मार्गणास्थानोकी अपेक्षासे है। यही दोनोंमें अन्तर है।

३ एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम—नरकगतिमे नारकी जीवका अन्तर काल कितना है? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असख्यात पुद्गल-परिवर्तन प्रमाणकाल। क्योंकि कोई जीव नरकसे निकलकर मनुष्य या तिर्यञ्च-पर्यायमें उत्पन्न हो और तत्काल मरण करके पुन नरकमें जन्म ले लेता है। इस-तरह उसकी नारकी पर्याय छूट कर पुन नारकी पर्याय प्राप्त करनेके बीचमें केवल अन्तर्मुहूर्त कालका अन्तर रहता है। और कोई अधिक-से-अधिक उक्त काल तक नरकसे बाहर रहकर पुन नरकमें चला जाता है। इसतरह मार्गणाओं-की अपेक्षा १४१ सूत्रोंके द्वारा अन्तर कालका कथन किया गया है।

४ नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम—भंगका अर्थ है—भेद और विचयका अर्थ है विचारणा। इस अनुयोगद्वारमें यह विचार किया गया है कि मार्गणाओंमें जीव नियमसे रहते हैं अथवा कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते। उक्त चौदहों मार्गणाओंमें जीव नियमसे रहते हैं—उनमें कभी भी जीवोंका अभाव नहीं होता। उनके सिवाय आठ मार्गणाएँ ऐसी हैं जिनमें सदा जीव नहीं रहते। इसीसे उन्हें सान्तर मार्गणा कहते हैं। उक्त चौदह मार्गणाएं निरन्तर मार्गणा हैं। यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षा किया गया है। इसमें २३ सूत्र हैं।

५ द्रव्यप्रमाणानुगम—इसमें चौदह मार्गणाओंमें पाये जाने वाले जीवोंकी संख्याका पृथक् पृथक् कथन किया है। जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुगममें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंकी संख्याका कथन है। यही दोनोंमें अन्तर है। इसमें १७१ सूत्र हैं।

६ क्षेत्रानुगम—इसमें मार्गणास्थानोंकी अपेक्षासे वर्तमान जीवोंके क्षेत्रका कथन है। सूत्रसंख्या १२४ है।

७ स्पर्शनानुगम—इसमें भी गुणस्थानोंकी अपेक्षा न करके मार्गणास्थानोंमें जीवोंके वर्तमान व अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्रका कथन पूर्ववत् है। इसमें २७९ सूत्र हैं।

८ नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम—इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मार्गणाओंमें जीवोंके कालका कथन है। तदनुसार उक्त चौदह मार्गणाओंमें जीव सर्वदा पाये जाते हैं। इसमें ५५ सूत्र हैं।

[९] नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम—इसमें उक्त चौदह मार्गणाओंमें नाना जीव सर्वदा पाये जानेके कारण अन्तरकालका निषेध करते हुए शेष आठ सान्तरमार्गणाओंके अन्तरकालका कथन किया है। इसमें ६८ सूत्र हैं।

१० भागाभागानुगम—नरकगतिमें नारकी सब जीवोंके कितनेवें भाग हैं? अनन्तवें भाग हैं। तीर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च सब जीवोंके कितनेवें भाग हैं? अनन्त बहुभाग हैं। इस प्रकार चौदह मार्गणाओंमें सब जीवोंके भागाभागका कथन है। इसमें ८८ सूत्र हैं।

११ अल्पबहुत्वानुगम—मनुष्य सबसे थोड़े हैं। उनसे नारकी असंख्यातगुणे हैं। नारकियोंसे देव असंख्यातगुणे हैं। देवोंसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं। सिद्धोंसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं। इस प्रकार चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे जीवोंके अल्पबहुत्वका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। इसमें २०५ सूत्र हैं।

अन्तमें महादण्डक नामक अधिकार है। इसके प्रथम[1] सूत्रमें कहा है—

'इससे आगे सर्वजीवोंमें महादण्डक करना योग्य है।'

इस प्रथम सूत्रकी धवला-टीकामें इस महादण्डक अधिकारको लेकर जो शका-समाधान किया गया है उसे यहाँ द देना उचित होगा। उससे चूलिका और महादण्डकका भेद स्पष्ट होता है।

शका—ग्यारह अनुयोगद्वारोंके समाप्त होनेपर यह महादण्डक किसलिये कहा है?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें निबद्ध खुद्दाबन्धकी चूलिका रूपसे महा-दण्डकको कहते हैं।

शका—चूलिका किसे कहते हैं?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोंसे सूचित अर्थका विशेष रूपसे कथन करनेको चूलिका कहते हैं।

शका—यदि ऐसा ह ता यह महादण्डक चूलिका नही कहा जा सकता। क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अथको ही कहता है, अन्य अनुयोगद्वारोंमें कह गये अर्थको नही कहता?

समाधान—ऐसा काई नियम नहीं है कि सब अनुयागोके द्वारा सूचित अर्थों-का विशेषरूप कथन करनेवाली ही चूलिका होती है। किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणाको चूलिका कहते है। अत यह महादण्डक चूलिका ही है क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अथ का विशेषरूपसे कथन करता है।

इस प्रकार इस दूसर खण्डके सूत्रोंकी कुल सख्या अनुयोगद्वारोंके क्रमसे ४३ + ९१ + २१६ + १५१ + २३ + १७१ + १२४ + २७९ + ५५ + ६८ + ८८ + २०५ + ७९ =

३ बन्धस्वामित्वविचय[2]

षट्खण्डागमके तीसरे खण्डका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। इसका प्रथम सूत्र है—

'जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥' वह जो बन्धस्वामित्वविचय नामक (खण्ड) है उसका यह निर्देश दो प्रकार है—ओघसे और आदेशसे।

---

१ "एत्तो सव्वजीवेसु महादण्डओ कादव्वो भवदि" ॥१॥—षट्ख०, पु० ७, पृ० ५७५।

२ षट्खं०, पु० ८।

इस सूत्रकी धवला-टीकामें इसका उदगम बतलाते हुए लिखा है कि—कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें बन्धन नामक जो छठा अनुयोगद्वार है वह चार प्रकार है—बन्ध बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान। उनमें बन्ध नामक अधिकारनय की अपेक्षा जीव और कर्मोके मम्बन्धका कथन करता है। बन्धक अधिकार ग्यारह अनुयोगद्वारोसे बन्धकोका कथन करता है। बन्धनीय नामक अधिकार तेईस वगणाओमे बन्ध योग्य और अबन्ध योग्य पुद्गल द्रव्यका कथन करता है। बन्धविधानके चार भेद ह—प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। उनमें प्रकृतिबन्धके दो भेद ह—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद ह—एकैकमलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ मलप्रकृतिबन्ध। अव्वोगाढ मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद ह—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। उनमे उत्तरप्रकृतिबन्धका समुत्कीतन करनेवाले चौबीस अनुयोगद्वार है। उनमसे एक बन्धस्वामित्व नामक अनयोगद्वार ह। उसीका नाम बन्धस्वामित्वविचय ह।

मिथ्यात्व, असयम कषाय और योगोके द्वारा जो जीव और कर्मोका सम्बन्ध विशेष होता है उसे बन्ध कहते ह। और बन्धके स्वामित्वको बन्धस्वामित्व कहते ह। और बन्धस्वामित्वके विचारको बन्धस्वामित्वविचय कहते है। विचय विचारणा मीमासा, परीक्षा ये सब शब्द समानार्थक है। अत यहाँ यह विचार किया गया है कि किस किस गुणस्थान और मार्गणास्थानमें किस किस कर्मका बन्ध होता है। तदनुसार दूसरे सूत्रम कहा है कि ओघकी अपेक्षा बन्धस्वामित्वविचयके विषयमे चौदह जीव समास (गुणस्थान) जानने योग्य है। और तीसरे सूत्रके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नाम बतलाये हैं।

चौदह गुणस्थानोंके नाम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमे आ चुके ह। अत धवला टीकामे यह शका की गई ह कि जीवसमास तो पहले ही हमने जान लिये ह फिर यहाँ उनका कथन क्यों किया है? इसका समाधान करते हुए धवलाकारने कहा ह—विस्मरणशील शिष्योंके स्मरण करानेके लिये पुन कथन किया ह। किन्तु सूत्रकारने प्रत्येक खण्डको यथासभव स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमे निबद्ध किया है, ऐसा प्रतीत होता ह। तथा उनका यह भी आशय रहा ह कि जहाँ तक सम्भव हो कोई बात अस्पष्ट न रहे। इससे भी उन्होने पुनरुक्तिका दोष नही माना है।

चौथे सूत्रम कहा ह कि इन चौदह जीवसमासोंके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका कथन करना चाहिये।

किसी कर्मप्रकृतिके बन्धके रुकनेको प्रकृतिबन्धव्युच्छेद कहते ह। सूत्रका

अभिप्राय यह है कि किस-किस गुणस्थानमें कौन-कौन कर्म बन्धते हैं और आगे नहीं बँधते, यह कथन करते हैं।

इसपर सूत्र ४ की धवलाटीकामें यह शंका उठाई है कि यदि इसमें जीव-समासोंके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका ही कथन करना है, तो इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्व-विचय नाम कैसे घटित होगा। समाधानमें कहा गया है कि 'इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है' ऐसा कहनेपर यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं। अतः इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम सार्थक है।

सूत्र ५में कहा है—'पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पांच अन्तराय, इन कर्मोंका कौन बन्धक है, कौन अबन्धक है। सूत्र ६ में उत्तर दिया गया है—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत तक उक्त प्रकृतियोंके बन्धक है। अतः दसवें गुणस्थान तकके जीव उक्त कर्मोंके बन्धक हैं, शेष अबन्धक है। इस तरह कर्मप्रकृतियोंका निर्देश करते हुए पहले प्रश्न किया गया है और आगे उसका उत्तर दिया गया है कि अमुक कर्मोंके बन्धक अमुक गुणस्थान वाले जीव हैं।

इसप्रकार प्रारम्भके ४२ सूत्रोंमें तो गुणस्थानोंके अनुसार बन्ध और अबन्ध-का कथन है। तत्पश्चात मार्गणाओंके अनुसार कथन है।

सूत्र ३९में यह प्रश्न किया गया है कि कितने कारणोंसे जीव तीर्थंकरनाम-गोत्रकमको बाँधते हैं? सूत्र ४०में उत्तर दिया गया है कि इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थकरनामगोत्रकमको बांधते हैं। और सूत्र ४१में उन १६ कारणोंके नाम बतलाये हैं जो इसप्रकार हैं—

१ दर्शनविशुद्धता[1], २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतोंमें निरतिचारता, ४ छह आवश्यकोंमें अपरिहीनता ५ क्षणलवप्रतिबोधनता ६ लब्धिसंवेग-सम्पन्नता ७ यथाशक्ति तप, ८ साधुओंकी प्रासुकपरित्यागता, ९ साधुओंकी समाधिसंधारणा, १० साधुओंकी वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११ अरहंतभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ प्रवचनवत्सलता, १५ प्रवचनप्रभावना,

---

१ 'दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ।। ४१ ।।—षट्खं०, पु० ८, पृ० ७९ ।

१६ अभीक्ष्णअभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता। इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्मको बाँधते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमें[1] जो तीर्थकरनामकर्मके बन्धके सोलह कारण बतलाये हैं उनमें इनसे कुछ अन्तर है। यहाँ साधुओंकी प्रासुक परित्यागता है तत्त्वार्थसूत्र-में 'शक्ति अनुसार त्याग' है। इन दोनोंका आशय मिलता हुआ है। किन्तु यहाँ लब्धिसंवेगसम्पन्नता है, त० सू० में आचार्यभक्ति है। शेष चौदह कारण समान हैं। इन दोनोंमें कोई मेल नहीं है।

किन्तु श्वेताम्बरीय ज्ञाता[2] धर्मकथा नामक आठवें अंगमें २० कारण बतलाये हैं—१ अरहंत २ सिद्ध ३ प्रवचन ४ गुरु ५ स्थविर, ६ बहुश्रुत और ७ तपस्वियोंमें वत्सलता ८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९ दर्शन १० विनय, ११ आवश्यक १२ निरतिचार शीलव्रत १३ क्षणलव १४ तप १५ त्याग १६ वैयावृत्य १७ समाधि १८ अपूर्व ज्ञानग्रहण १९ श्रुतभक्ति २० प्रवचनप्रभावना।

इस अन्तरके सम्बन्धमें विशेष चर्चा तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी प्रकरणमें की जायेगी।

बन्धस्वामित्वविचयकी सूत्रसंख्या ३२४ है।

श्वेताम्बर परम्पराके तीसरे कर्मग्रन्थका नाम बन्धस्वामित्व है। कर्मग्रन्थ प्राचीन और नवीनके भेदसे दो प्रकारके हैं। दोनोंका विषय प्रायः समान है। प्राचीनमें विषय वर्णन थोड़ा विस्तृत है। तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थकी गाथासंख्या ५४ है जबकि नवीनकी गाथासंख्या २५ है। प्राचीनमें गति आदि मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका निर्देश अलगसे करके तब बन्धस्वामित्वका कथन है किन्तु नवीनमें ऐसा नहीं किया है। उसमें जो मार्गणाओंके आश्रयसे गुणस्थानोंमें बन्ध-स्वामित्वका कथन दिखाया, उससे मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका बोध हो जाता है।

---

1. 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥'—त० सू०, ६।२४।

2. 'अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुएसु वच्छल्लया य तवस्सी तेसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं। खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया। एएहि कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥
—ज्ञा० ध०, अ० ८ सू० ६४

षट्खण्डागममें गतिके आश्रयसे प्रकृतियोका निर्देश करके यह बतलाया है कि इन प्रकृतियोंका बन्ध अमुक गुणस्थानवाले करते हैं। जैसे—आदेशसे[1] गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोमें अमुक प्रकृतियोका (७० प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं) कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक बन्धक हैं। निद्रानिद्रा आदि (२५ प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं) का कौन बधक है कौन अबधक हैं? मिथ्यादष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं। मिथ्यात्व आदि ४ का कौन बधक है और कौन अबधक है? मिथ्यादष्टि बन्धक है शेष अबन्धक है। मनुष्यायुका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? मिथ्यादष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं। तीथकरनामकर्मका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है? असयतसम्यग्दष्टि बन्धक ह शेष अबन्धक है।

इसमे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यसे नरकगतिमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ७० + २५ + ४ + १ + १ = १०१ हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें १०० ही बन्धयोग्य है तीथकर बन्धयोग्य नही है। तथा १००मसे सासादनसम्यग्दष्टि गुणस्थानमें ९६ ही बन्धयोग्य है मिथ्यात्वादि चारका बन्ध केवल मिथ्यादृष्टिके ही होता ह। तथा नरकगतिमे चार ही गुणस्थान होते है। इन सब फलितार्थोंके अनुसार कमग्रन्थमे[2] कथन किया ह कि नारकी सामान्यसे १०१ कमप्रकृतियोंको बाँधते हैं। किन्तु पहले गुणस्थानम वतमान नारकी १०१ मेंसे तीर्थकरके बिना १०० कमप्रकृतियोको बाँधता है और सासादनगुणस्थानमें वतमान नारकी उनमेसे ४ प्रकृतियोको छोडकर ९६ का ही बाँधता है

इसी तरह इस तीसरे खण्डके प्रारम्भमें सामान्यसे प्रकृतियोका नाम निर्देश करके उनके बन्धक और अबन्धक गुणस्थानोंका निर्देश किया है। उससे यह फलित होता है कि अमुक गुणस्थानमें इतनी कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। तदनुसार दूसरे कमग्रन्थमें गुणस्थानोंमें बन्धयोग्य प्रकृतियोंका निर्देश किया है।

अत गुणस्थान और मागणास्थानोंमें जो कर्मप्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वका कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे पाया जाता हैं उसका मूल बन्धस्वामित्वविचयनामक तीसरा यह खण्ड ही प्रतीत होता है क्योंकि श्वेताम्बर परम्परामें भी इस विषयका निरूपक कोई अन्य आकर ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

---

१ षट्खं० पु० ८, सूत्र ४१–४२।

२ 'सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहि निरया। तित्थ विणा मिच्छिसयं सासणि नपु चउ विणा छनुई ॥ ४॥'—कर्म० ३।

४ वेदनाखण्ड

एक तरहसे चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है क्योंकि इसके प्रारम्भमें भूतबलीने ४४ सूत्रोंसे मंगलाचरण किया है। और धवलाकारने उस मगलको शेष तीनो खण्डोंका मगलाचरण कहा ह। क्योंकि पाँचवें और छठे खण्डके प्रारम्भमें कोई मंगल नहीं पाया जाता। इसी तरह—जीवट्ठाणके प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके आदिमें पुष्पदन्तने मगलाचरण किया था। वही मगलाचरण दूसरे और तीसरे खण्डका भी मान लिया गया, क्योंकि इन दोनो खण्डोके प्रारम्भमें कोई मगलाचरण नही पाया जाता। अत दोनो मगलोको पूर्वार्ध और उत्तरार्धका मगलाचरण कहना उचित होगा।

दूसरे जिस महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसहार करके ये छै खण्ड रचे गये हैं उसके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे क्रमानुसार ही चौथे आदि खण्डोका निर्माण हुआ है और उसीके मगलसूत्रोको वेदनाखण्डके आदिमें मगलरूपसे स्थान दिया गया है। अत चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता ह, यह कहना उचित ही ह।

इस चतुर्थ खण्डमें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे आदिके दो अनुयोगद्वार सक्षिप्त किये गये हैं। एक कृति अनुयोगद्वार और दूसरा वेदना अनुयोगद्वार इन दोनोंमसे वेदनाका प्राधान्य होनेसे खण्डको वेदना नाम दिया गया है।

१ कृतिअनुयोगद्वार[1]—इसके प्रारम्भमें सूत्रकार भूतबलीने 'णमो जिणाण' इत्यादि ४४ सूत्रोसे मगल किया है। ठीक यही मगल 'योनिप्राभृत' ग्रन्थमे गणधर वलयमत्रके रूपमे पाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योनिप्राभृतके कर्ता [2]आचार्य धरसेन थे और उन्होने अपने शिष्य भूतबली[3] पुष्पदन्तके लिये उसकी रचना की थी। इन मगलसूत्रोमें अन्तिम सूत्र 'णमोवड्ढमाणबुद्धरिसिस्स ॥४४॥' है। इसकी धवलाटीकामे वीरसेन स्वामीने इसे गौतमस्वामी रचित कहा है।

इसके ४५वें सूत्रमे बतलाया है कि अग्रायणीय पूर्वकी पचमवस्तुके चतुर्थ-प्राभृतका नाम कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) है। उसके चौबीस अनुयोगद्वार कृति आदि हैं।

---

१ षट्खण्डागम, पुस्तक ९ में मुद्रित है।

२ 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेन'। बृहट्टिपणि०—

३ 'इय पण्हसवणरइए भूयबली पुप्फयंतआलिहिए। कुसुमंडी उवइट्ठे विज्जयवियम्मि भवियारे।'—अनेकान्त वर्ष ७, पृ० ४८७ से।

कृतिका वर्णन करते हुए सूत्र ४६में कृतिके सात भेद बतलाये हैं—नामकृति[1], स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति।

सूत्र ४७में प्रश्न किया गया है कि कौन नय किन कृतियोंकी इच्छा करता है? सूत्र ४८, ४९, ५०से उत्तर देते हुए कहा है कि नैगम, संग्रह, व्यवहार सब कृतियोंको स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापना कृतिको स्वीकार नहीं करता और शब्द आदि नय नामकृति और भावकृतिको स्वीकार करते हैं।

सूत्र ५१से कृतिके उक्त सात भेदोंका स्वरूप बतलाया है, जो इसप्रकार है—जिस जीव या अजीव किसीका 'कृति' नाम रखा जाता है वह नामकृति है।

काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म (वस्त्रसे निर्मित प्रतिमा), लेप्यकर्म, लयनकर्म (पर्वतको काटकर बनाई गई प्रतिमा), शैलकर्म, गृहकर्म (जिनालयोंमें बनाई गई प्रतिमा), भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंड (?) कर्ममें अथवा अक्ष (पासे–शतरञ्जके मोहरे) और वराटक (कौड़ी) में 'यह कृति है' ऐसा आरोप करनेको स्थापनाकृति कहते हैं।

द्रव्यकृतिके दो भेद हैं—आगमद्रव्यकृति और नोआगमद्रव्यकृति। आगमद्रव्यकृतिके नौ अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम। धवलाटीकामें इन सबका स्वरूप बतलाया है। जिनमेंसे कुछ इसप्रकार है—

तीर्थङ्करके मुखसे निकले बीजपदोंको सूत्र कहते हैं। उस सूत्रसे उत्पन्न होनेके कारण गणधरदेवका श्रुतज्ञान सूत्रसम है। श्रुतज्ञानी आचार्योंकी सहायताके बिना ही स्वयंबुद्धोंको जो श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्वादशांगका ज्ञान हो जाता है उसे अर्थसम कहते हैं। गणधरदेवके द्वारा रचित द्रव्यश्रुतको ग्रन्थ कहते हैं। उनके द्वारा बोधितबुद्धोंको जो द्वादशांगका ज्ञान होता है उसे ग्रन्थसम कहते हैं। द्वादशांगके अनुयोगोंके मध्यमें स्थित द्रव्यश्रुतज्ञानके भेदोंको नाम कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योंमें स्थित श्रुतज्ञान नामसम है।

इस आगमके नौ अर्थाधिकारोंमें जो उपयोग है उसके भेद सूत्र ५५में बतलाये हैं। वे हैं—वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा वगैरह।

सूत्र ६६में गणनाकृतिके अनेक भेद बतलाये हैं—एक संख्या नोकृति है, दो संख्या न कृति है और न नोकृति। तीनसे लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त, राशियाँ कृति हैं।

---

१ 'कदि त्ति सत्तविहा कदी–णामकदी, ठवणकदी, दव्वकदी गणणकदी गंथकदी करणकदी भावकदी चेदि ॥४६॥

धवलाटीकामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस राशिके वर्गमें उसकी मूल राशिको घटा देने पर जो शेष रहे उसका वर्ग करने पर वृद्धिको प्राप्त हो उसे कृति कहते हैं। जैसे तीनके वर्ग नौमेंसे तीनको घटा देने पर छै शेष रहते हैं उसका वर्ग ३६ होता है अतः तीन राशि कृति है। एक राशिका वर्ग करने पर भी एक ही लब्ध आता है राशि बढ़ती नहीं और उसमेंसे मूलराशि एकको घटा देने पर कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः एक राशि नोकृति है। दो का वर्ग करने पर राशि बढ़ जाती है इसलिये दोको नोकृति नहीं कह सकते। और चूंकि उसके वर्ग ४ मेंसे उसके मूल दोको घटाने पर दो शेष रहते हैं और उसका वर्ग करने पर चार ही होते हैं—राशि बढ़ती नहीं, अतः दोको कृति भी नहीं कह सकते।

सूत्र ६७में ग्रन्थकृतिका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—लोकमें[1] वेदमें समयमें शब्दप्रबन्धरूप अक्षरकाव्यादिकी जो ग्रन्थरचना की जाती है उसे ग्रन्थकृति कहते हैं। सब कृतियोंका स्वरूप बतलानेके बाद सूत्रकारने यह प्रश्न किया है कि इन कृतियोंमेंसे कौन-सी कृतिसे यहाँ प्रयोजन है। और उसका उत्तर दिया है कि गणनाकृतिसे यहाँ प्रयोजन है। इसकी व्याख्यामें धवलाकारने लिखा है कि गणनाको जाने बिना शेष अनुयोगद्वारोंका कथन नहीं हो सकता।

इस कृति अनुयोगद्वारमें ७६ सूत्र हैं।

कृति अनुयोगद्वार और श्वेताम्बरी अनुयोगद्वारकी निरूपणशैलीमें बहुत कुछ समानता है। कृति अनुयोगद्वारमें कृतिके सात भेद किये हैं और अनुयोगद्वारसूत्रमें आवश्यककी चर्चा होनेसे आवश्यकके चार भेद किये हैं। नामआवश्यक स्थापनाआवश्यक द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। कृतिके सात भेदोंमें भी नामकृति स्थापनाकृति द्रव्यकृति और भावकृति ये चार भेद हैं। इन चारों भेदोंके स्वरूपबोधक सूत्रोंमें कितनी समानता है, यह दोनों ग्रन्थोंके सूत्रोंके मिलानसे स्पष्ट हो जाता है।

१ जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा अजीवस्स वा, जीवाण वा, अजीवाण वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाण च, जीवाण च अजीवस्स [च] जीवाण च अजीवाण च ॥ ५१ ॥'—षट्ख० पु० ९, पृ० २४६।

१ से किं तं नामावस्सयं ? जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नामं कज्जइ से तं नामावस्सयं ॥ ९ ॥ —अनु० सू०।

---

[1] 'जा सा गंथकदी णाम सा लोए वेदे समए सद्दपबंधणा अक्खरकव्वादीणं जा च गंथरयणा कीरदि सा सव्वा गंथकदी णाम ॥ ६७ ॥—पु० ९, पृ० ३२१।

कृतिमें आठो भंगोंका निर्देश किया गया है, किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें छहका निर्देश किया है। किन्तु उनमें शेष दो भी गर्भित हैं।

स्थापनाका लक्षण लीजिये—

२ 'जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम ॥५२॥'—षट्ख०, पु० ९, पृ० २४८।

२ से किं त ठवणावस्सय ? जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिम वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से त ठवणावस्सय ॥ १० ॥ —अनु० सू०।

३ जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिस्से इमे अट्ठाहियारा भवंति—ट्ठिद जिद परिजिद वायणोपगदं सुत्तसम अत्थसम गंथसम णामसम घोससम ॥५४॥ जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खणा वा थय-थुइ धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ॥ ५५ ॥'—षट्ख० पु० ९, पृ० २५१, २६२।

३ से किं त आगमओ दव्वावस्सय ? जस्स णं आवस्सए त्ति पद सिक्खित ठित जित मित परिजित नामसम घोससम गुरुवायणोवगय, से ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु ॥ १३ ॥ अनु० सू०।

यद्यपि दोनोके उक्त उद्धरणोमें कुछ अन्तर भी है। किन्तु जो समानता है वह उल्लेखनीय है।

दोनोंकी द्रव्यनिक्षपमें नययोजना भी दृष्टव्य है—

४ 'णेगमववहाराणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५६ ॥ संगहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५७ ॥ उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५८ ॥ सद्दणयस्स अवत्तव्वं ॥ ५९ ॥ सा सव्वा आगमदो दव्वकदी णाम ॥ ६० ॥'—षट्खं०, पु० ९, पृ० २६४–२६६।

४ ''णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सय दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एवं जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइयाइं दव्वावस्सयाइं, एवमेव

ववहारस्सवि। संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वास्सयं दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए। उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सय पुहत्त नेच्छइ। तिण्ह सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थु कम्हा? जइ जाणए अणुवउत्ते न भवति, जइ अणुवउत्ते जाण ए ण भवति, तम्हा णत्थि आगमओ दव्वावस्सय। से त आगमओ दव्वा वस्सय ॥ १४ ॥'—अनु० सू०।

दोनों नययोजनाओंमें कोई अन्तर नही है। कृतिका वणन सक्षिप्त है और अनुयोगद्वारका विस्तृत है।

इस साम्यसे केवल यही प्रकट होता है कि जन आगमिक शली यही थी। अनुयोगोके प्रारम्भमें निक्षेप और निक्षेपोमें नययोजना होना आवश्यक था। और उसको लेकर विषयगत और शब्दगत साम्य था। किन्तु श्वेताम्बरीय आगमोमे इस शैलीके दशन नही होते। सम्भव ह यह शली पूर्वोसे सम्बद्ध हो, क्योकि अनु योग पूवगत श्रुतके भेद ह्।

२ वेदना अनुयोगद्वार—वेदना अधिकारमें १६ अनुयोगद्वार हैं—वेदनानिक्षप वेदनानयविभाषणता, वदनानामविधान, वदनद्रव्यविधान वेदनक्षेत्रविधान, वेदन कालविधान, वदनभावविधान, वेदनस्वामित्वविधान वेदनवेदनविधान, वेदनगति विधान, वेदनअनन्तरविधान, वेदनसन्निकषविधान वदनपरिमाणविधान, वेदन भागाभागविधान, और वदनअल्पबहुत्वविधान। प्रथम सूत्रके द्वारा इन १६ अनु योगद्वारोका निर्देश किया गया ह।

१ वदनानिक्षप—दो सूत्रोके द्वारा वदनामे निक्षेपोका विधान किया ह। वदनाके चार भद हैं—नामवदना स्थापनावेदना, द्रव्यवदना और भाववेदना। वेदनाशब्दके अनक अथ हैं। उनमेसे अप्रकृत अथका निराकरण करके प्रकृत अथ को बतलानेके लिए यह अनुयोगद्वार ह।

२ वदनानयविभाषणता—सब व्यवहार नयाधीन है। अत नामादि निक्षेपगत व्यवहार किस नयके अधीन ह, यह इस अनुयोगद्वारमें बतलाया है। अथति आगमिक शलीके अनुसार चार सूत्रोके द्वारा निक्षेपोमें नययोजनाका कथन है। वेदनासे यहाँ बन्ध, उदय और सत्त्वरूप द्रव्यकमकी वेदना ली गई है।

३ वेदनानामविधान—बन्ध, उदय और सत्त्वरूपसे जो कमपुद्गल जीवमें स्थित ह उनमें किस किस नयका कहाँ कहाँ कैसा प्रयोग होता है इसके लिये यह वदनानामविधान अधिकार है। कर्मके आठ भेद हैं, अत आठो कर्मोंकी वेदनाके अनुसार वदना भी आठ रूप है। सग्रहनयकी अपेक्षा आठो कर्मोंकी एक वेदना है क्योंकि सग्रहनय अनेकोंको एकरूपसे ग्रहण करता है। और ऋजुसूत्रनय वतमान

पर्यायको ही ग्रहण करता है, अतः चूँकि वेदनाका अर्थ सुख-दुःख लोकमें किया जाता है और वे सुख-दुःख वेदनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मद्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते। अतः उदयागत वेदनीयकर्म ही ऋजुसूत्रनयसे वेदना है। इसमें भी ४ सूत्र है।

४ वेदनाद्रव्यविधान—वेदनारूप द्रव्यके विधान अर्थात् भेद उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य आदि अनेक हैं। उनका इस अनुयोगमें कथन है। इस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमांसामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयद्रव्यवेदना उत्कृष्ट भी है अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है। सूत्रको देशामर्षक मानकर धवलाकारने सादि, अनादि आदि अन्य भी नौ पदोंकी योजना की है। तथा बतलाया है कि सप्तम पृथिवीके गुणितकर्मांशिक नारकीके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी है और उक्त नारकीके सिवाय अन्यत्र सर्वत्र उसका अनुत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः अनुत्कृष्ट भी है। क्षपित कर्मांशिक जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका जघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना जघन्य भी है और उक्त जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको छोड़कर अजघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः अजघन्य भी है। शेष सातों कर्मोंमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

स्वामित्व अनुयोगद्वारमे ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि पद किन-किन जीवोंमें किस प्रकारसे सम्भव हैं, इस तरह उनके स्वामियोंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। और अल्पबहुत्वमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंको जघन्य उत्कृष्ट और जघन्य उत्कृष्ट वेदनाओंके अल्पबहुत्वका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंके पश्चात् वेदनाद्रव्यविधानकी चूलिका आती है। इसके आरम्भिक सूत्रमें चूलिकाकी उपयोगिता अथवा विषयका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उत्कृष्ट स्वामित्वका कथन करते हुए कहा है कि 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोंको प्राप्त करता है और जघन्य स्वामित्वका भी कथन करते हुए कहा है कि बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानोंको प्राप्त होता है। इन दोनों ही सूत्रोंका अर्थ भलीभाँति अवगत नहीं हो सका। इसलिए दोनों ही सूत्रोंका निश्चय करानेके लिए योगविषयक अल्पबहुत्व और प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वका कथन किया जाता है। यथा—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग सबसे थोड़ा है ॥१४५॥ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग उससे असंख्यात गुणा है ॥१४६॥ उससे दो इन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यात गुणा है ॥१४७॥ उससे तेइन्द्रिय

अपर्याप्तकका जघन्य योग असख्यातगुणा है ॥१४८॥ उससे चौइन्द्रिय अपर्याप्तक-का जघन्य योग असख्यात गुणा है ॥१४९॥ इत्यादि ।

जिस प्रकार योगविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करनेका निर्देश सूत्रकारने किया है ।

योगस्थानकी प्ररूपणाके लिए इन दस अनुयोगद्वारोंको जानने योग्य कहा है—

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा अनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥१७६॥ और आगे इनका कथन किया है । यथा—

एक-एक जीवप्रदेशमे असख्यातलोकप्रमाण योग अविभागप्रतिच्छेद होते है ॥१७८॥ असख्यातलोकप्रमाण योगअविभागप्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है ॥१८०॥ असख्यात वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है ॥१८२॥ इस प्रकार एक योगस्थानमें श्रेणिके असख्यातवे भाग मात्र स्पर्धक होते है ॥१८३॥ (दूसरे शब्दोम) श्रेणिके असख्यातवे भाग स्पर्धकोका एक जघन्य योगस्थान होता है ॥१८६॥

अनन्तरोपनिधाके अनुसार जघन्य योगस्थानमें थोडे स्पर्धक है ॥१८८॥ दूसरे योगस्थानमे स्पर्धक विशेष अधिक है ॥१८९॥ तीसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक है ॥१९०॥ इस प्रकार उत्कृष्ट योगस्थानपर्यन्त उत्तरोत्तर विशेष अधिक स्पर्धक होते गये हैं ॥१ १॥

समयप्ररूपणाके अनुसार चार समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके अस ख्यातवे भागमात्र है ॥१९७॥ पाँच समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भाग है ॥१९८॥ इसी तरह छै समय, सात समय और आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असख्यातवे भाग है ॥१९९॥

अल्पबहुत्वके अनुसार आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान सबसे थोड़े है ॥२०६॥ सात समय तक होनेवाले योगस्थान उनसे असख्यातगुणे हैं । इसी तरह क्रमश ६, ५ ४ आदि समय तक होनेवाले योगस्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे जानना चाहिये ।

वेदनाद्रव्यविधानके अन्तिम सूत्रमे कहा है कि जो योगस्थान है वे ही प्रदेश-बन्धस्थान है । अर्थात् प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान ही हैं । जैसा उत्कृष्ट या जघन्य योगस्थान होता है तदनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट या जघन्य प्रदेशबन्ध होता है । और प्रदेशबन्धके अनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट या जघन्य द्रव्यवेदना होती है । इसीसे वेदनामें योगस्थान और उनके अवयवों—वर्गणा आदिका कथन किया गया है ।

योग जीवकी एक शक्तिविशेष है, जो कर्मोंके आगमनमें कारण होती है। शक्तिके अविभागी अंशको अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं और उनके समूहको वर्गणा वर्गणाके समूहको स्पर्धक कहते हैं।

५ वेदनाक्षेत्रविधान—आठों कर्मोंके द्रव्यकी वेदना संज्ञा है। वेदनाके क्षेत्रको वेदनाक्षेत्र और उसके विधानको वेदनाक्षेत्रविधान कहते हैं। इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं।

पदमीमांसा स्वामित्व और अल्पबहुत्व।

वेदनाद्रव्यविधानकी ही तरह वेदनाक्षेत्रविधानका भी कथन किया गया है। पदमीमासामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयकर्मकी क्षेत्रकी अपेक्षा वेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है। इसीप्रकार सातों कर्मोंको जानना।

स्वामित्वके दो प्रकार हैं जघन्यपदरूप और उत्कृष्टपदरूप। स्वामित्वसे उत्कृष्टपदमें ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट किसके है ॥७॥ इस प्रश्नका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है— एक हजार योजनकी अवगाहना वाला जो मत्स्य स्वयंभुरमण समुद्रके बाह्य तट पर स्थित है ॥८॥ वह वेदना समुद्घातसे समुद्घातको प्राप्त हुआ और तनुवातवलयको उसने स्पृष्ट किया है। फिर तीन मोडोंके साथ वह मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुआ। अनन्तर समयमें वह सातवें नरकमें उत्पन्न होगा। उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। क्यों होती है, इसका समाधान धवलाटीकामें किया गया है।

इसी तरह ज्ञानावरणकी क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य वेदना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीवके बतलाई है।

अल्पबहुत्वमें भी तीन अनुयोगद्वार कहे हैं—जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद। और उनके द्वारा आठों कर्मोंकी उक्त वेदनाओंके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की है।

६ वेदनाकालविधान[1]—इसमें भी पूर्ववत तीन अनुयोगद्वार हैं। पदमीमासा स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमासामें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी वेदना कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बतलाई है।

स्वामित्वमें, ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदना कालकी अपेक्षा किस के होती है, यह पूर्ववत् बतलाया है। तथा ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट वेदना कालकी अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके बतलाई है और वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कैसा होना चाहिये उसका विस्तारसे कथन किया है। इसी तरह आठों कर्मोंकी वेदनाके

---

१ षट्खं , पु० ११, पृ० ७५ से।

स्वामीका कथन किया है। अल्पबहुत्वमें जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपदकी अपेक्षा आठो कर्मोंकी कालवेदनाके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारकी समाप्तिके पश्चात दो चूलिका-अधिकार है। प्रथम चूलिकामें चार अनुयोगद्वार है—स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणामे चौदह जीवसमासोके आश्रयसे स्थितिबन्धस्थानोके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है।

यथा—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिबन्धस्थान सबसे थोडे हैं। बादर एकोन्द्रिक अपर्याप्तकके स्थितिबन्धस्थान असख्यातगुणे हैं, इत्यादि।

यहाँ स्थितिबन्धके कारणभूत परिणामोंको स्थितिबन्ध कहा गया है और उनकी अवस्थाविशेषोका स्थितिबन्धस्थान कहते हैं। वे स्थितिबन्धस्थान सक्लेश रूप और विशुद्धिरूप होते हैं। शुभ प्रकृतियोके बन्धके कारणभूत कषायस्थानोको विशुद्धि स्थान कहते हैं और अशुभ प्रकृतियोके बन्धके कारणभूत कषायस्थानोका संक्लेशस्थान कहते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके सक्लेश विशुद्धिस्थान सबसे थोडे हैं। बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके सक्लेशविशुद्धिस्थान असख्यात गुणे है। उनसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके सक्लेश विशुद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं ॥५३॥ इत्यादि

सक्लेश विशुद्धिस्थानोके अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—सयमी मनुष्यके जघन्य स्थितिबन्ध सबसे थोडा है ॥६५॥ उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध विशेष अधिक है ॥६७॥ इत्यादि, विस्तारसे कथन है।

निषेकप्ररूपणा—कर्मपरमाणुओके स्कन्धोके निक्षेपण करनेको निषेक कहते है। योगस्थानके द्वारा प्रदेशबन्ध होता है। सो बन्धको प्राप्त हुए कर्मपरमाणु स्कन्ध आठो कर्मोंमें विभाजित हो जाते है। और आबाधाकाल बीतनेपर क्रमसे उदयमें आने लगते है और स्थिति पूरी होने तक उदयमें आते रहते है। उसीका कथन निषेकप्ररूपणामें है। यथा—अन्तरोपनिधाकी अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवोके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, और अन्तराय कर्मकी तीन हजार वर्ष प्रमाण आबाधाको छोडकर जो प्रदेशाग्र प्रथम समयमें निक्षिप्त है वह बहुत है। दूसरे समयमे जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त है वह उससे विशेष हीन है, तीसरे समयमें जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त है वह उससे विशेष हीन है। इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पर्यन्त प्रति समय निक्षिप्त प्रदेशाग्र उत्तरोत्तर विशेष हीन होता जाता है ॥१०२॥

सभी कर्मोंके प्रदेशाग्रके निक्षेपणका यही क्रम है। सूत्रकारने मोहनीय, आयु आदिके भी प्रदेशाग्रोंके निक्षेपणका कथन इसी प्रकार किया है। उक्त कर्मोंसे मोहनीय और आयु कर्मकी स्थिति और आबाधामें अन्तर होनेसे ही उनका पृथक कथन किया है।

आबाधाकाण्डकप्ररूपणा—'अबाधकदयपरूवणदाए' ॥१२१॥ सूत्रकी धवला-टीकामें यह शंका की गई है कि आबाधाकाण्डकप्ररूपणा किस लिये की गई है? समाधानमें कहा गया है कि सब स्थितिबन्धस्थानोंमें एक ही आबाधा होती है या भिन्न भिन्न आबाधा होती है, यह बतलानेके लिये आबाधाकाण्डकप्ररूपणा की गई है। यथा—

'सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय, तेइन्द्रिय दोइन्द्रिय, बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, इन पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके आयुको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिसे समय समयमें पल्योपमके असंख्यातवें भाग नीचे उतर कर एक आबाधा-काण्डकको करता है। यह क्रम जघन्य स्थिति तक है॥१२२॥

आशय यह है कि उत्कृष्ट आबाधाके अन्तिम समयको पकड़नेपर उत्कृष्ट स्थितिसे पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र नीचे उतरकर एक आबाधाकाण्डकको करता है। अर्थात् आबाधाके अन्तिम समयको पकड़कर उत्कृष्ट स्थितिको बांधता है, उससे एक समय कम स्थितिको बांधता है, दो समय कम स्थितिको बांधता है। इस प्रकार पल्योपमके असंख्यातवें भाग कम स्थिति तक ले जाना चाहिये। इस तरह आबाधाके अन्तिम समयमें बन्धयोग्य स्थितिविकल्पोंको एक आबाधाकाण्डक कहते हैं। आबाधाके उपान्त्य समयको पकड़कर भी इसी प्रकार दूसरे आबाधा-काण्डकका कथन करना चाहिये। आबाधाके त्रिचरम समयको पकड़कर तीसरे आबाधाकाण्डककी प्ररूपणा करना चाहिये। जघन्य स्थिति तक यही क्रम जानना चाहिये।

अल्पबहुत्वमें[२]—सूत्रकारद्वारा चौदह जीवसमासोंमें ज्ञानावरणादि सात कर्मों तथा आयुकर्मकी जघन्य व उत्कृष्ट आबाधा, आबाधा स्थान, आबाधाकाण्डक, नाना प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणस्थानान्तर, जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तथा स्थितिबन्धस्थान इन सबके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा विस्तारसे की गई है। यथा—

सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवोंके आयुको छोड़कर

---

१ पु० ११, पृ० २६६।

२ पु० ११, पृ० २७०

शेष सात कर्मोंकी जघन्य आबाधा सबसे थोडी ह ॥१२४॥ आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों ही समान सख्यातगुणे हैं ॥१२५॥

उत्कृष्ट आबाधामेसे एक समय कम जघन्य आबाधाको घटा देनेपर आबाधा स्थानोंकी उत्पत्ति होती ह । अत चूकि जघन्य आबाधाकी अपेक्षा उत्कृष्ट आबाधा सख्यातगुणी है इसलिय आबाधास्थान भी उससे सख्यातगुणे ह । और क्योकि एक एक आबाधास्थानसम्बन्धी जा पल्योपमके असख्यातवें भाग मात्र स्थितिबन्धस्थान है उनकी आबाधाकाण्डक सज्ञा है । इसलिये आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों समान हैं । इस तरहस अल्पबहुत्वका विवचन किया गया ह ।

दूसरा चूलिकामें—स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोका प्ररूपणा तीन अनुयोगके द्वारा की गई ह—

ये तीन अनुयोगद्वार ह—जीवसमुदाहार प्रकृतिसमुदाहार और स्थिति समुदाहार ।

स्थितिबन्धस्थानोंके कारणभूत सक्लेश विशुद्धिस्थानोंको स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं । असातावदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोको सक्लेश कहते हैं और सातावदनीयके बन्धयोग्य परिणामोको विशुद्धिस्थान कहते हैं । ये सक्लेश विशुद्धिस्थान स्थितिबन्धके मल कारण हैं । इनका वणन यहाँ तीन अनुयोगद्वारोमे किया गया हैं ।

साता और असाताकी एक एक स्थितिमें इतने जीव ह और इतने नही है इस बातका ज्ञान प्रथम अनुयोगद्वार जीवसमुदाहारके द्वारा कराया गया है । यथा—

'ज्ञानावरणीयके बन्धक जीव दो प्रकारके हैं—सातबन्धक और असातबन्धक ॥१८६॥

सातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं चतु स्थानबन्धक त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक ।

असातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक ।

आशय यह है कि साता या असतावेदनीयके बिना ज्ञानावरणीयका बन्ध नही होता । इसलिय ज्ञानावरणीयकर्मका बन्ध करनेवालोंके दो भेद कर दिये—सातवेदनीयबन्धक और असातवेदनीयबन्धक । साताकी अनुभागशक्तिका उपमा गुड खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गई है । गुडके समान प्रथम भागका पहला स्थान, खाडके समान दूसरे भागको दूसरा स्थान, शक्करके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और अमृतके समान चौथे भागका चौथा स्थान कहा जाता है । इसी तरह दु खदायी असाताके अनुभागको नीम, काजीर विष और हालाहलकी उपमा दी

गई है। नीमके समान प्रथम भागको पहला स्थान, काजीरके समान दूसरे भागको दूसरा स्थान, विषके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और हालाहलके समान चतुर्थ भागको चौथा स्थान कहते हैं।

जिस साता अथवा असाताके अनुभागमें अपने-अपने उक्त चारों स्थान होते हैं वह अनुभागबन्ध चतुःस्थान कहा जाता है और उसको बाँधनेवाले जीव चतुःस्थानबन्धक कहलाते हैं। इसीप्रकार त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक भी समझना चाहिये।

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध हैं ।। १६९ ।। त्रिस्थानबन्धक संक्लिष्टतर (उत्कृष्ट कषायवाले) हैं ।। १७० ।। द्विस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं ।। १७१ ।।

असातवेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध हैं ।। १७२ ।। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं ।।१७३।। चतुःस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं।।१७४।।

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिको बाँधते हैं ।।१७५।। साताके त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी मध्यम स्थितिको बाँधते हैं ।। १७६ ।। इत्यादि कथन जीवसमुदाहारमें किया गया है।

प्रकृतिसमुदाहारमें दो अनियोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगमके अनुसार ज्ञानावरणीयके असंख्यात लोकप्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं। इसीप्रकार शेष सात कर्मोंकी भी प्रमाणप्ररूपणा करना चाहिये। अल्पबहुत्वके अनुसार आयुकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे कम हैं। नाम और गोत्रकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान दोनों ही तुल्य असंख्यातगुणे हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय चारों कर्मोंके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तुल्य हैं किन्तु नाम-गोत्रसे असंख्यातगुणे हैं। मोहनीयके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान संख्यातगुणे हैं ।। २४५ ।।

तीसरे स्थितिसमुदाहार अधिकारमें तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रगणना अनुकृष्टि और तीव्रमन्दता ।। २४६ ।।

प्रगणना अनुयोगद्वार 'अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान इतने इतने होते हैं' इसप्रकार स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है। यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ।। २४७ ।। द्वितीय स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ।। २४८ ।। तीसरी स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक असंख्यातलोक असंख्यातलोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं ।। २५० ।।

इसीप्रकार सातो कर्मोंके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी प्ररूपणा करना चाहिये ॥ २५१ ॥ इत्यादि।

अनुकृष्टि अनुयोगद्वार प्रत्येक स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंकी समानता व असमानताको बतलाता है। यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिमें जो स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं द्वितीय स्थितिमें व स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान भी हैं और अपूर्व भी हैं।

तीव्र मन्दता अनुयोगद्वार जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोके अविभागी प्रतिच्छेदोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करता है। यथा—ज्ञानावरणीयका जघन्यस्थितिसम्बन्धी जघन्यस्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे मन्द अनुभागवाला है ॥ २७२ ॥ उसीका उत्कृष्ट स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा है ॥ २७३ ॥ इत्यादि।

७ वेदनाभावविधान[1]—चौथे वेदनानामक खण्डके वेदनाभावविधाननामक सप्तम अधिकारमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा स्वामित्व और अल्प बहुत्व। पदोंकी मीमांसाको पदमीमांसा कहते हैं। यह पहला अनुयोगद्वार है। स्वामित्वसे यहाँ कर्मभावके स्वामित्वका ग्रहण किया गया है। यह दूसरा अनुयोग द्वार है। अल्पबहुत्वसे भी यहाँ कर्मभावके अल्पबहुत्वका ही ग्रहण किया गया है। यह तीसरा अनुयोगद्वार है।

पदमीमांसामें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी उत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य भाववेदनाओंका विचार किया गया है। यथा—ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी होती है, अनुत्कृष्ट भी होती है जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है। इसी प्रकार शेष साता कर्मोंकी भी जाननी चाहिये।

स्वामित्वमें उत्कृष्ट आदि चार पदोंकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी भाववेदनाके स्वामीका कथन किया है। यथा—भावसे ज्ञानावरणीयकर्मकी उत्कृष्ट वेदना किसके होता है? पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त अवस्थाको प्राप्त, साकार उपयोगसे युक्त जागृत और नियमसे उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त जीवके द्वारा बाँधे गये उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व जिस जीवके होता है उसके ज्ञानावरणीय वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। चूँकि उक्त उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी, बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त जीव जीवोंके यथा योग्य चारों गतियोंमेंसे किसी भी एक गतिमें वर्तमान रहते हुए होता है अतएव उक्त जीवके ज्ञानावरणीयकी वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। इसी प्रकार से आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदनाओंके स्वामित्वका कथन किया गया है।

---

१ षट्खं०, पु० १२ में।

अल्पबहुत्वमें जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट पदोंके द्वारा पहले आठों मूल-कर्मोंके आश्रयसे अल्पबहुत्वका विचार किया है। फिर उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे अनुभागके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है।

इस कथनमें उल्लेखनीय बात यह है कि पहले गाथासूत्रोंके द्वारा कथन किया गया है फिर गाथासूत्रोंमें प्रतिपादित कथनको गद्यात्मक सूत्रोंके द्वारा कहा गया है। धवलाटीकामें इन गाथासूत्रोंके आधारपर रचे गये गद्यात्मक सूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम दिया है। कसायपाहुडकी गाथाओंके ऊपर यतिवृषभ द्वारा रचे गये चूर्णिसूत्रोंकी तरह ही उन्हें यह संज्ञा दी गई है। ये गाथासूत्र छै हैं और तीन-तीनकी संख्यामें दो बार आये हैं। अर्थात् पहले तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये हैं और पुन तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये है।

ये गाथाएँ प्रचीन प्रतीत होती हैं इसीसे उन्हें ज्यों का-त्यों देकर भूतबलीने अपने सूत्रोंके द्वारा उनमें कथित विषयका प्रतिपादन किया है।

अल्पबहुत्वानुगमके पश्चात् तीन चूलिकाएँ हैं।

प्रथमचूलिकाके प्रारम्भमें ये दो गाथाएँ हैं—

> 'सम्मत्तुप्पत्ती'[1] वि य सावय विरदे अणतकम्मंसे।
> दसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥ ७ ॥
> खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
> तव्विवरीदो कालो सखेज्जगुणा य सेडीओ ॥ ८ ॥

'सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत (महाव्रती), अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षपक, चारित्रमोहका उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थानजिन और योगनिरोधमें प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानोंमे उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा होती है। परन्तु निर्जराका काल उससे विपरीत है अर्थात् अन्तमे आदिकी ओर बढता हुआ सख्यात गुणित श्रेणिरूप है।

इन दोनो गाथाओंको देकर सूत्रकारने गद्यसूत्रके द्वारा गाथोक्त विषयका प्रतिपादन किया है।

ये दोनो गाथाएँ दिगम्बर[2] तथा श्वेताम्बर साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती हैं किन्तु इनकी सबसे प्राचीन उपलब्धि षट्खण्डागममें ही पाई जाती है क्योंकि अन्य जिन ग्रन्थोंमें ये दोनों गाथाएँ पाई जाती हैं उन सबमें कर्मप्रकृति[3] प्राचीन

---

१ षट्खं०, पु० १२, पृ० ७८।

२ कार्ति० अनु०, गा०, गो० जी० का० गा०।

३ 'सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए संजोयणाविणासे य। दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगुव-

है। किन्तु कर्मप्रकृति षट्खण्डागमसे अर्वाचीन है और उसमें थोड़ा-सा शब्द-भेद भी है। इन्ही गाथाओंके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रमें[1] भी एक सूत्र द्वारा उक्त विषयका प्रतिपादन किया गया है। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उक्त दोनों गाथाओंकी स्थिति उल्लेखनीय है।

दूसरी चूलिका

दूसरी चूलिकामे[2] अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानकी प्ररूपणा बारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा की गई है। वे बारह अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं—अविभागीप्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षटस्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा ॥१०८॥

एक एक अनुभागबन्धस्थानमें इतने इतने अविभागी प्रतिच्छेद होते है, यह बतलानेके लिए अविभागीप्रतिच्छेदप्ररूपणा की गई ह। एक परमाणुमें जो जघन्य अनुभाग पाया जाता है उसे अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं। यथा—जो जघन्य अनुभागस्थान ह उसके सब परमाणुओको एक जगह स्थापन करके, उनमेंसे सबसे मन्द अनुभाग वाले परमाणुको ग्रहण करो। उस परमाणुके रूप, रस और गन्धको छोड़कर केवल स्पर्शको ही बुद्धि द्वारा ग्रहण करो और बुद्धिके ही द्वारा उस स्पर्शगुणका तब तक छेद करो जब तक विभागरहित छेद हो सके। उसी विभागरहित अन्तिम छेदको अविभागप्रतिच्छेद कहते है। उस अविभागप्रतिच्छेद रूपसे स्पर्शगुणके खण्डित करनेपर उसमे समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते ह। उन सब अविभागी प्रतिच्छेदोके समूहका नाम वर्ग है। पुन उस परमाणुसमूहमेसे उसी परमाणुके समान दूसरे परमाणुको ग्रहण करके उसके स्पर्शगुणके भी पूर्ववत प्रज्ञाके द्वारा छेद करनेपर उतने ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होत है। इस क्रमसे पूर्वपरमाणुके सदृश एक एक परमाणुको लेकर प्रज्ञाके द्वारा उसके स्पर्शगुणके अविभागी प्रतिच्छेद करनेपर एक एक वर्ग उत्पन्न होता हैं। जघन्यगुणवाले सब परमाणुओके समाप्त होने तक यह क्रिया करनी होती है। इन सब वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते है।

पुन पूर्वोक्त परमाणुसमूहमेंसे एक परमाणुको ग्रहण करके प्रज्ञा द्वारा उसका छेद करनेपर उसमें पूर्वोक्त परमाणुसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते

सते ॥८॥ खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी। उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी ॥९॥ —कर्मप्र० उदया०।

१ 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा।'—त० सू० ९।४५।

२. पु० १२, सू० ८७ से।

है। यह एक वर्ग हुआ। इसे अलग स्थापित करना चाहिए। इसी क्रमसे उसके समान अन्य परमाणुओंको भी ग्रहण करके प्रत्येकका प्रज्ञाके द्वारा छेदन करनेपर तत्सदृश ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। उन सब वर्गोंके समूहकी दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागी प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे तीसरी, चौथी, पाँचवी आदि वर्गणाओंको उत्पन्न करना चाहिये। इन सब वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। एक जघन्यस्थानमें ऐसे बहुतसे स्पर्धक होते हैं। इनका विस्तृत विवेचन धवलाटीकामें किया गया है। इस तरह अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणामें अविभागप्रतिच्छेदोंका कथन है। एक जीवमें एक समयमें जो कर्मानुभाग पाया जाता है उसे स्थान कहते हैं। स्थानके दो भेद हैं—अनुभागबन्धस्थान और अनुभागसत्त्वस्थान। उनका वर्णन स्थानप्ररूपणामें है। एक स्थानसे उसके अनन्तरवर्ती स्थानमें कितना अन्तर होता है, इसका कथन अन्तरप्ररूपणामें किया गया है।

छै वृद्धियाँ होती हैं—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि। काण्डकप्रमाण पूर्ववृद्धिके होनेपर एक बार उत्तरवृद्धि होती है। यथा—काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके होनेपर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। और काण्डकप्रमाण असंख्यातभागवृद्धियोंके होनेपर एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणवृद्धि तक यही क्रम जानना चाहिये। एक स्थानमें इन वृद्धियोंका विचार काण्डकप्ररूपणामें किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणामें कहा गया है कि अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म हैं, स्थान कृतयुग्म है और काण्डक कृतयुग्म हैं। इसका खुलासा करते हुए धवलाकार श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि समस्त अनुभागस्थानोंके अविभागी प्रतिच्छेद कृत युग्म हैं, क्योंकि उन्हे चारसे भाजित करनेपर कुछ शेष नहीं रहता। अत विवक्षित राशिमें चारसे भाग देनेपर जहाँ कुछ शेष नहीं रहता या दो शेष रहते हैं उसे युग्म कहते हैं और जहाँ एक या तीन शेष रहते हैं उसे ओज कहते हैं।

उक्त सब प्ररूपणाओंका कथन सूत्रकारने तो केवल एक-एक सूत्रके द्वारा ही किया है। धवलाकारने प्रत्येकका व्याख्यान विस्तारसे करते हुए प्रत्येक प्ररूपणाका अभिप्राय व्यक्त किया है।

षट्स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिमें अनन्तसे जीवराशिका प्रमाण लेना चाहिये। असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धिमें असंख्यातसे असंख्यातलोकका प्रमाण लेना चाहिये। और संख्यातभागवृद्धि तथा संख्यातगुणवृद्धिमें संख्यातसे उत्कृष्टसंख्यात लेना चाहिये। अधस्तन-

स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि एक षट्स्थानवृद्धिमें अनन्तभागवृद्धि कितनी होती है, असख्यातभागवद्धि कितनी होती ह, सख्यातभागवृद्धि कितनी होती है इत्यादिका कथन किया ह।

समयप्ररूपणामें जघन्यअनुभागबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टअनुभागबन्धस्थान तक जितने अनुभागबन्धस्थान ह उनका प्रमाण बतलाकर उनमें परस्परमें अल्प-बहुत्व बतलाया ह। यथा—आठ समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान सबसे थोडे है। सात समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि।

वृद्धिप्ररूपणामे प्रथम तो यह बतलाया है कि अनुभागबन्धस्थानोंमें अनन्त-भागवृद्धि और अनन्तभागहानिसे लेकर छह वृद्धियाँ और छह हानियाँ होती हैं। फिर इन वृद्धि हानियोंका काल बतलाया है कि अमुक वृद्धि और अमुक हानि इतने काल तक होती है। यथा—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि कितने काल तक होती ह? जघन्यस एक समय तक और उत्कष्टसे अन्तमुहूर्त काल तक होती है ॥२५२॥

यवमध्यप्ररूपणामें यवमध्यके दो भेद बताये हैं—कालयवमध्य और जीवयव-मध्य। यहाँ कालयवमध्यका कथन है। यद्यपि समयप्ररूपणासे ही कालयवमध्य सिद्ध है तथापि उस यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति कौन-सी वृद्धि अथवा हानिमें हुई है, यह नही जाना जाता है। अत उसका प्रारम्भ और समाप्ति इन वृद्धि-हानियोमे हुई है यह बतलानेके लिए यवमध्यप्ररूपणा की गई है। इसमें केवल एक सूत्र है।

पयवसानप्ररूपणामे बतलाया ह कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके जघन्यस्थानसे लेकर पहले कहे गये समस्त स्थानोका पयवसान अनन्तगुणके ऊपर अनन्तगुणा होगा। इसमे भी एक ही सूत्र है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा अधिकारमे दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे अनन्तगुणवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं। उनसे असख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे ह। उनसे सख्यातगुणवृद्धिस्थान असंख्यात-गुण हैं। उनमे सख्यातभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे है। उनसे असख्यातभागवृद्धि स्थान असख्यातगुणे है। उनसे अनन्तभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं। परम्परोप निधामें अनन्तभागवद्धिस्थान सबसे थोडे हैं। उनसे असंख्यातभागवृद्धिस्थान असं-ख्यातगुणे हैं। उनसे सख्यातभागवृद्धिस्थान सख्यातगुणे हैं। उनसे सख्यातगुणवृद्धि-स्थान सख्यातगुणे है। उनसे असख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं। उनसे अनन्तगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं, इत्यादि कथन है।

तीसरी चूलिका—

तीसरी चूलिकामें जीवसमुदाहारका कथन है। पहले जिन असंख्यातलोक-

प्रमाण अनुभागबन्धस्थानोंकी प्ररूपणा की गई है उन सब स्थानोंमें जीव क्या सदृश होते हैं अथवा विसदृश होते हैं अथवा सदृश-विसदृश होते हैं? इन प्रश्नोंका समाधान जीवसमुदाहारमें किया गया है। इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं—एकस्थानजीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, नानाजीवकालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥२६८॥

एकस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि एक-एक स्थानमें यदि जीव होते है तो एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टसे आवलीके असंख्यातवें भाग होते हैं ॥२६९॥

निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि निरन्तरजीवसहितस्थान उत्कृष्टसे आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं ॥२७०॥

सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि जीवोंसे रहित अनुभागबन्धस्थान एक भी होता है, दो भी होते हैं तीन भी होते हैं। इस तरह उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं ॥२७१॥

नानाजीवकालप्रमाणानुगममें बतलाया है कि एक-एक अनुभागबन्धस्थानमें नाना जीवोंका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलीके असंख्यातवें भाग है। वृद्धिप्ररूपणामें दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे जघन्य अनुभागबन्धस्थानमें जीव सबसे थोड़े हैं ॥२७६॥ उनसे दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें जीव विशेष अधिक हैं ॥२७७॥ उनसे तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें जीव विशेष अधिक हैं ॥२७८॥ इस प्रकार यवमध्य तक जीव विशेष-अधिक विशेष-अधिक हैं ॥२७९॥ इसके आगे जीव विशेषहीन हैं ॥२८०॥

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तक जीव विशेषहीन विशेषहीन हैं। इसी प्रकार परम्परोपनिधासे कथन किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणामें बतलाया है कि सब स्थानोंके असंख्यातवें भागमें यवमध्य होता है। और यवमध्यके नीचेके स्थान थोड़े हैं और ऊपरके स्थान असंख्यातगुणे हैं।

स्पर्शनप्ररूपणामें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्य आदिका स्पर्शनकाल बतलाया है।

अल्पबहुत्वमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्यमें स्थित जीवोंके अल्पबहुत्वका विचार किया गया है।

इस वेदनाभावविधानमें ३१४ सूत्र हैं।

८ वेदनाप्रत्ययविधान[1]

इस अनुयोगद्वारमें नैगम आदि नयोंके आश्रयसे ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों-

---

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० २७५ से।

की वेदनाके बन्धके कारणोंका विचार किया गया है। यथा—नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना प्राणातिपात (प्राणीके प्राणोंका घातन) प्रत्ययसे, मृषावादप्रत्ययसे (असत्यवचन), अदत्तादानप्रत्ययसे (बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण), मथुनप्रत्ययसे, परिग्रहप्रत्ययसे, रात्रिभोजनप्रत्ययसे, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययसे, निदानप्रत्ययसे, तथा अभ्याख्यान, कलह, पशून्य, रति, अरति, उपधि, निकति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान मिथ्यादर्शन और प्रयोग प्रत्ययसे होती है। प्रत्ययका अर्थ कारण है। अत उक्त कारणोंसे ज्ञानावरणकी वेदना होती है। शेष सात कर्मोंकी वेदनाके प्रत्यय भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

इनम प्राणातिपात[1], मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पाँच पाप है, जिनका सवत त्याग महाव्रत और एकदेश त्याग अणुव्रत कहलाता है। अभ्याख्यान[2], कलह आदिको अकलकदेवन बारह भाषाओके रूपमें गिनाया है।

वदनाप्रत्ययविधानमे केवल १६ सूत्र है।

९ वेदनास्वामित्वविधान

इस अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्र 'वयणसामित्त[3] विहाणे त्ति' की धवलाटीकामें यह शका की गई ह कि जिस जीवके द्वारा जो कम बाँधा गया है वह जीव उस कमकी वेदनाका स्वामी है यह बात बिना कहे ही जानी जाती ह तब इस अनुयोगद्वारकी क्या आवश्यकता ह ? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा ह कि कर्मोंकी उत्पत्ति न केवल जीवसे होती ह और न केवल अजीवसे होती ह। किन्तु मिथ्यात्व, असयम कषाय और योगको उत्पन्न करनेमे समथ पुद्गलद्रव्य और जीव कमबन्धके कारण है। अत दो तीन अथवा चार कारणोंसे उत्पन्न होकर जीवमें स्थित वेदना उनमेंसे एकके ही होती है, अन्यके नही होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत वेदनास्वामित्वका कथन करना उचित है

वदनास्वामित्वका विधान करते हुए कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना कथञ्चित् जीवके होती है ॥२॥ कथञ्चित नोजीवके होती ह ॥३॥ धवलामें लिखा है कि अनन्तानन्त विस्रसोपचयोसे

---

१ 'पंचमहव्वया पण्णत्ता त जहा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमणं। पचाणुव्वता पण्णत्ता, त जहा—थूलातो पाणाइवायातो वेरमण थूलातो मुसावायाता वेरमण थूलातो अदिन्नादाणातो वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे।'—स्थाना० स्था० ५ उ० १, सू० ३८९।

२ 'अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासम्बद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यक् मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा।'—त० वा०, पृ० ७५।

३ षट्ख०, पु० १२, पृ० २९४ २९५।

उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथञ्चित् जीव है, क्योंकि वह जीवसे भिन्न नहीं पाया जाता। इस विवक्षासे जीवके वेदना होती है। तथा अनन्तानन्तविस्रसोपचयोंसे उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध प्राणरहित होनेसे अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित होनेसे नोजीव है और उससे अभिन्न होनेसे जीव भी कथञ्चित् नोजीव है।

इस तरह जीव, नोजीव, अनेक जीव, अनेक नोजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और अनेक नोजीव, अनेक जीव और एक नोजीव, तथा अनेक जीव और अनेक नोजीवोंकी वेदनाका स्वामी उक्त दो नयोंसे बतलाया है। धवलाकारने प्रत्येक भंगका स्पष्टीकरण धवलाटीकामें किया है। इस तरह वेदनाके स्वामी जीव और पुद्गल दोनों होते हैं। संग्रहनयकी अपेक्षा वेदनाका स्वामी जीव है क्योंकि संग्रहनय जीव और अजीवका अभेद मानता है। इस अनुयोगद्वारमें केवल १५ सूत्र हैं।

१० वेदनावेदनाविधान

जिसका वर्तमानमें वेदन किया जाता है या भविष्यमें वेदन किया जायगा, वह वेदना है। इस निरुक्तिके अनुसार आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धको वेदना कहा है। और अनुभवन करनेका नाम वेदना है। वेदनाकी वेदनाको वेदनावेदना कहते हैं अर्थात् आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धोंके अनुभवन करनेका नाम वेदना-वेदना है। उसके विधान—कथन करनेको वेदनावेदनाविधान[1] कहते हैं।

वेदनावेदनाका विधान करते हुए सूत्र २ के द्वारा कहा है कि नैगम नयकी अपेक्षा सभी कर्मको प्रकृति मानकर यह प्ररूपणा की जाती है। इस सूत्रकी धवला-में स्पष्टीकरण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि नैगमनय बध्यमान (जो बंध रहा है), उदीर्ण (जो उदयमें आ गया है) और उपशान्त (जो सत्तामें स्थित है) इन तीनों ही कर्मोंकी वेदनासंज्ञा स्वीकार करता है। तदनु-सार कहा गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना कथञ्चित् बध्यमानवेदना है, कथ-ञ्चित् उदीर्णवेदना है, कथञ्चित् उपशान्तवेदना है, इत्यादि अनेक भंगोंके द्वारा वेदनावेदनाका विधान कुछ विस्तारसे किया है। और धवलाटीकामें उन सब भंगोंके स्पष्टीकरणके साथ ही उनके अनेक अवान्तर भंगोंका भी कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ५८ सूत्र हैं।

११ वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वारमें वेदनाकी गति अर्थात् गमनका कथन है। इसलिए इसे

---

१. 'का वेयणा ?' वेद्यते वेदिष्यत इति वेदनाशब्दसिद्धेः। अट्ठविहकम्मपोग्गलक्खंधो वेयणा अणुहवणं वेदणा। वेदनाया वेदना वेदनावेदना अष्टकर्मपुद्गलस्कन्धानुभव इत्यर्थः। —षट्खं०, पु० १२, पृ० ३०१।

वेदनागतिविधान नाम दिया है। पहले लिख आये हैं कि जीवके साथ सम्बद्ध कर्मपुद्गलस्कन्धोकी वेदनासंज्ञा है। अत योगके द्वारा जीवप्रदेशोका सचरण होने-पर उनसे अभिन्न कर्मस्कन्धोका भी सचार होता है, क्योकि यदि ऐसा नही माना जायगा और कर्मप्रदेशोको स्थित ही माना जायगा तो देशान्तरमें गये हुए जीव-को सिद्धजीवके समान मानना होगा। क्योकि पूर्वसचित कर्म तो पूर्वस्थानमें ही स्थित हैं उनका देशान्तरमें जाना सभव नही है। अत जीव और कर्मके पार-तन्त्र्यस्वरूप सम्बन्धको बतलानेके लिए और जीवप्रदेशोके परिस्पन्दका हेतु योग ही है, इस बातको बतलानेके लिए इस अनुयोगद्वारका कथन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि नगम, सग्रह और व्यवहारनयोकी अपेक्षा ज्ञाना वरणीयवेदना कथञ्चित स्थित है क्योकि जीवप्रदेशोमे कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। और उक्त वेदना कथञ्चित स्थित-अस्थित है, क्योकि छद्मस्थ जीवके जो प्रदेश जिस समय सचाररहित होते हैं उनमे स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित होते हैं तथा जो प्रदेश सचार करते हैं उनमे स्थित कर्मप्रदेश भी सचार करते हैं। चूँकि उसकी वेदना एक है, अत वह वेदना स्थित अस्थित कही जाती है। दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मोकी वेदना भी ज्ञानावरणीयके समान स्थित और स्थित अस्थित होती है। वेदनीयकर्मकी वेदना कथञ्चित स्थित है क्योंकि चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीवके प्रदेश अवस्थित रहते हैं। तथा वह कथञ्चित अस्थित और कथञ्चित स्थित अस्थित है। नाम, गोत्र और आयुकर्मकी वेदना वेदनीयके तुल्य है क्योकि ये सब कर्म अघातिया हैं। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठो कर्मोकी वेदना कथञ्चित स्थित और कथञ्चित अस्थित है।

इस अनुयोगद्वारमे १२ सूत्र हैं।

१२ वेदनाअन्तरविधान[1]

वेदनावेदनाविधान अनुयोगद्वारमे यह कहा है कि बध्यमान कर्म भी वेदना है उदीर्ण और उपशान्त कर्म भी वेदना है। उनमे जो बध्यमान कर्म है वह क्या बधनेके समयमें ही पक कर अपना फल देता है अथवा द्वितीयादिक समयोमें अपना फल देता है, यह बतलानेके लिये इस अनुयोगद्वारका अवतार हुआ है। बन्धके दो प्रकार है—अनन्तरबध और परम्पराबन्ध। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोके द्वारा कार्मणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोके कर्मरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं और बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्मरूप पुद्गलस्कन्धो और जीवप्रदेशोका जो बन्ध होता है उसे परम्परा-बन्ध कहते हैं।

---

१ षट्खं०, पु० १२, पृ० ३७०।

इसमें बतलाया है कि नैगम और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध है, परम्पराबन्ध है और तदुभयबन्ध है। संग्रह-नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध और परम्पराबन्ध है। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठो कर्मोंकी वेदना परम्पराबन्ध है।

इसमें ११ सूत्र हैं।

१२ वेदनासन्निकर्षविधान[1]

ज्ञानावरणादि कर्मोंकी वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और जघन्य भी होती है। जघन्य तथा उत्कृष्ट भेदरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमेंसे किसी एकको विवक्षित करके उसमें शेष पद क्या उत्कृष्ट हैं, क्या अनुत्कृष्ट हैं, क्या जघन्य हैं, अथवा क्या अजघन्य हैं इस प्रकारकी जो परीक्षा की जाती है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं—स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष और परस्थानवेदनासन्निकर्ष। किसी एक विवक्षित कर्मका जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक सन्निकर्ष होता है वह स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष है। और आठो कर्मविषयक सन्निकर्ष परस्थानवेदनासन्निकर्ष है।

स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष दो प्रकारका है—जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष चार प्रकारका है, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे ॥ ॥

जिसके ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्र-की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ॥ ६ ॥ नियमसे अनुत्कृष्ट और असंख्यातगुणी हीन होती है ॥ ७ ॥ इसका खुलासा धवलाटीकामें किया है।

इसी तरह, जिसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रसे उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्यकी अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है अथवा अनुत्कृष्ट ? नियमसे अनुत्कृष्ट होती है ॥ १६ ॥

इत्यादि कथन है। इस अनुयोगद्वारमे ३२० सूत्र हैं।

१४ वेदनापरिमाणविधान

पहले द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करके आठ ही प्रकृतियाँ कही हैं। तथा उन आठो प्रकृतियोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिके प्रमाणकी भी प्ररूपणा की है। यहाँ पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करके प्रकृतियोंके परिमाणका कथन किया गया है। इसमें यह तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास ॥ २ ॥

प्रकृतिभेदसे कर्मभेदकी प्ररूपणा पहला अधिकार है। एक समयमें जो बाँधा जाता है वह समयप्रबद्ध है। समयप्रबद्धोंके भेदसे प्रकृतिभेदकी प्ररूपणा दूसरा

---

१ षट्खं०, पु० १२, पृ० ३७५ ।

अधिकार है और स भेदसे प्रकृतिभेदका कथन करनेवाला तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार वेदनापरिमाणकी प्ररूपणा तीन प्रकारसे की है।

यथा—प्रकृत्यर्थता अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मक। कितनी प्रकृतियाँ हैं ? ।।३।।

ज्ञानावरणीय और दशनावरणीयकर्मोंकी असख्यातलोकप्रमाण प्रकृतियाँ हैं ।।४।।

आशय यह है कि जितने ज्ञानके भेद ह उतनी ही कमकी आवरणशक्तियाँ हैं। उनके बिना असख्यातलोकप्रमाण ज्ञान नही बन सकते। तथा सब ज्ञान दशनपूवक ही होते है और जितने दशन हैं उतनी ही दर्शनावरणकी आवरणशक्तियाँ ह्। इम प्रकारसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ असख्यातलोकप्रमाण ह्।

वदनीयकमकी दो प्रकृतियाँ है ।। ।। मोहनीयकमकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ ह ।।१०।। आयुकमकी चार प्रकृतियाँ है ।।१३।। नामकर्मकी असख्यातलोकमात्र प्रकृतियाँ ह ।।१६।। गोत्रकमकी दो प्रकृतियाँ है ।।१९।। अन्तरायकमकी पाँच प्रकृतियाँ हैं ।।२२।।

समयप्रबद्धार्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय और अन्तरायकमकी कितनी प्रकृतियाँ ह ? ।।२५।। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकमकी एक एक प्रकृति, तीस कोडाकोडी सागरोपमोको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो, उतना ह ।।२६।।

आशय यह ह कि इन तीनो कर्मोंकी स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसके अन्तिम समयमे कमस्थितिप्रमाण समयप्रबद्ध होते हैं, क्योकि कर्मस्थितिके प्रथम समयसे लेकर उसके अन्तिम समय तक बाँधे गये समयप्रबद्धोके एक परमाणुसे लेकर अनन्तपरमाणु तक कमस्थितिके अन्तिम समयमें पाये जाते है। कालभेदमे प्रकृतिभेदका प्राप्त हुए इन समयप्रबद्धोंका सकलन करनेपर एक समयप्रबद्धकी शलाकाओको स्थापित करके उसे तीस कोडाकोडी सागरोपमोंसे गुणित करनेपर उतनी मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमेंसे एक-एक कर्मकी प्रकृतियाँ होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मकी स्थितिको उसकी समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर प्रत्येक कर्मकी प्रकृतियाँ जाननी चाहिये। आयुकर्म इसका अपवाद है। अन्तमुहूर्तकालको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उतनी ही आयुकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं, क्योंकि आयुकर्मका बन्ध सदा नही होता।

इसी तरह क्षेत्रप्रत्यासके अधिकारमें क्षेत्रप्रत्याससे गुणा करके प्रकृतियोंको लाया गया है। वीरसेनस्वामीने 'धवलामें'[1] लिखा है कि—प्रकृत्यर्थतामें ज्ञानावरणकी जिन प्रकृतियोंकी प्ररूपणा की गई है उनको अपनी-अपनी समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर समयप्रबद्धार्थता प्रकृतियाँ होती हैं। फिर उनको क्षेत्रप्रत्याससे गुणित करनेपर क्षेत्रप्रत्यास सम्बन्धी प्रकृतियाँ होती हैं। इसमें ५३ सूत्र हैं।

१५ वेदनाभागाभागविधान

इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास। इन तीनोंकी अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतियोंके भागाभागका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। यथा—प्रकृत्यर्थताकी अपेक्षा ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी प्रकृतियाँ अलग-अलग सब प्रकृतियोंके कुछ कम दो भागप्रमाण हैं। शेष छै कर्मोंमेंसे प्रत्येककी प्रकृतियाँ असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। इसी प्रकार समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा भी किस कर्मकी प्रकृतियाँ सब प्रकृतियोंके कितने भागप्रमाण हैं, इसका कथन किया है।

इसमें २१ सूत्र हैं।

१६ वेदनाअल्पबहुत्वविधान

इसमे भी प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मोंके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है। यथा—'प्रकृत्यर्थताकी अपेक्षा गोत्रकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोड़ी हैं ॥३॥ वेदनीयकर्मकी भी उतनी ही प्रकृतियाँ हैं ॥४॥' 'समयप्रबद्धार्थताकी अपेक्षा आयुकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोड़ी हैं ॥११॥' 'गोत्रकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे असंख्यातगुणी हैं ॥१२॥' 'वेदनीयकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक हैं ॥१३॥'

क्षेत्रप्रत्यासकी अपेक्षा अन्तरायकर्मकी प्रकृतियाँ सबसे थोड़ी हैं ॥१९॥' मोहनीयकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे संख्यातगुणी हैं ॥२०॥ आयुकर्मकी प्रकृतियाँ उनसे असंख्यातगुणी हैं ॥२१॥' इत्यादि।

इसमें २६ सूत्र हैं।

इन सोलह अनुयोगद्वारोंके साथ वेदनाखण्ड समाप्त होता है।

४ वर्गणाखण्ड

स्पर्शअनुयोगद्वार[2]

वर्गणाखण्डका प्रारम्भ स्पर्शअनुयोगद्वारसे होता है। इस अनुयोगद्वारमें ६६

---

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० ४९८।
२. वही, पु० १३, पृ० १ से।

अर्थान्तर अनुयोगद्वार हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्ययविधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनन्तरविधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व।

इनमेसे केवल स्पर्शनिक्षेप और स्पर्शनयविभाषणताका ही वर्णन स्पर्शअनुयोगद्वारमें किया गया है।

स्पर्शनिक्षेपका कथन करते हुए सूत्रकार भूतबलीने स्पर्शनिक्षेपके तेरह प्रकार बतलाये है—नामस्पर्श स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श।

तदनन्तर उनका अर्थ न कहकर सूत्रकारने नयोके द्वारा स्पर्शोका कथन दो गाथाओसे किया है। गाथाओ द्वारा बतलाया है कि ये सब स्पर्श नैगमनयके विषय हैं। किन्तु व्यवहारनय और सग्रहनय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको नही स्वीकार करते। ऋजुसूत्र एकक्षेत्रस्पर्श अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको स्वीकार नही करता। तथा शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्शका ही स्वीकार करता है ॥७ ८॥

वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामे इसपर प्रकाश डाला है कि क्यो अमुक नय अमुक स्पर्शको ही विषय करता है और अमुक स्पर्शका विषय नही करता।

स्पर्शनिक्षेपमे नययोजना करनेके पश्चात सूत्रकारने स्पर्शनिक्षेपके तेरह प्रकारोका अर्थ बतलाया है—

जिस जीव या अजीवका स्पर्श नाम रखा जाता है वह नामस्पर्श है। काष्ठकर्म चित्रकर्म आदिमे स्पर्शकी स्थापना स्थापनास्पर्श है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ स्पर्शको प्राप्त होना द्रव्यस्पर्श है ॥१२॥ इसकी धवलाटीकामे वीरसेनस्वामीने द्रव्यस्पर्शके ६३ विकल्पोका कथन किया है।

जो द्रव्य एक क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है ॥१४॥ जैसे एकआकाशप्रदेशमे स्थित पुद्गलस्कन्धोका जो स्पर्श होता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है। जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है ॥१६॥

जो द्रव्य एक देशरूपसे अन्य द्रव्यके अवयवके साथ स्पर्श करता है वह देशस्पर्श है ॥१८॥ जो द्रव्य त्वचा (छाल) या नोत्वचा (ऊपरी पपड़ी) को स्पर्श करता है वह त्वक्स्पर्श है ॥२०॥ जो द्रव्य सबका सब सर्वात्मना स्पर्श करता है वह सर्वस्पर्श है, जैसे परमाणु ॥२२॥ कर्कश, मृदु, आदि आठ प्रकारका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है ॥२४॥

आशय यह है कि जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, जैसे कोमलता आदि । और जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे भी स्पर्श कहते हैं, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय । इन दोनोंका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है । और वह आठ प्रकारका है ।

कर्मोंका कर्मोंके साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है । उसके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं । धवलाटीकामें[1] कर्मस्पर्शके भेदोंका विवेचन विस्तारसे किया है ।

बन्धस्पर्शके पाँच भेद हैं—औदारिकशरीरबन्धस्पर्श, वैक्रियिकशरीरबन्धस्पर्श, आहारकशरीरबन्धस्पर्श, तैजसशरीरबन्धस्पर्श और कार्मणशरीरबन्धस्पर्श । धवलाटीकामें[2] इन पाँचोंके २३ भंग बतलाये हैं, जिनमें १४ अपुनरुक्त हैं, शेष नौ पुनरुक्त हैं ।

विष, कूट (चूहेदान), यन्त्र, पिंजरा, कन्दक (हाथी पकड़नेका यन्त्र) वागुरा (हिरण फँसानेकी फाँसा) आदि तथा इनके कर्ता और इन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवाले, जो स्पर्शनके योग्य होंगे परन्तु अभी उसे स्पर्श नहीं करते, उन सबको भव्यस्पर्श कहते है ॥३०॥

आशय यह है कि जो पर्याय भविष्यमें होने वाली होती है उसे भव्य या भावी कहते हैं । अतः जो भविष्यमें स्पर्शपर्यायसे युक्त होगा वह भव्यस्पर्श है । उक्त यन्त्रादिका निर्माण पशुओंको पकडनेके लिए किया जाता है । अतः चूँकि भविष्यमें वे पशुओंका स्पर्श करेंगे, अतः उन्हें भव्यस्पर्श कहा है । इसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके उनके निर्माताओंको और उन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवालोंको भी भव्यस्पर्श कहा है । जो स्पर्शप्राभृतका ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह भावस्पर्श है ॥३२॥

इन तेरह प्रकारके स्पर्शोंमेंसे प्रकृत स्पर्शअनुयोगद्वारमें 'कर्मस्पर्श' लिया गया है ॥३३॥

इसमें ३३ सूत्र हैं ।

कर्मअनुयोगद्वार

इसमें १६ अनुयोगद्वार हैं—कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनामविधान, कर्मद्रव्यविधान, कर्मक्षेत्रविधान, कर्मकालविधान, कर्मभावविधान, कर्मप्रत्ययविधान, कर्मस्वामित्वविधान, कर्मकर्मविधान, कर्मगतिविधान, कर्मअनन्तरविधान, कर्मसन्निकर्षविधान, कर्मपरिमाणविधान, कर्मभागाभागविधान, कर्मअल्पबहुत्व ।

कर्मनिक्षेपके दस भेद हैं—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ॥४॥

---

१ षट्खं०, पु० १३, पृ० २६-२९ ।

२, वही, पृ० ३१-३३ ।

जिस जीव या अजीवका कर्म नाम रखा जाता है, वह नामकर्म है ॥१०॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमें यह कर्म है, इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापनाकर्म कहते हैं ॥१२॥ जो द्रव्य अपनी अपनी स्वाभाविक क्रियारूपसे निष्पन्न हैं वह सब द्रव्यकर्म है जैसे जीवद्रव्यका ज्ञानादिरूपसे परिणमन और पुद्गलद्रव्यका रूप-रसादिरूपसे परिणमन उनकी स्वाभाविक क्रिया है।

प्रयोगकर्मके तीन भेद हैं—मन प्रयोगकर्म वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोग-कर्म ॥१६॥ यह प्रयोगकर्म ससारदशामें वर्तमान पहलेसे बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जीवोंके होता है ॥१७॥

कार्मणपुद्गलोंका मिथ्यात्व, असयम, योग और कषायके निमित्तसे आठकर्म-रूप, सातकर्मरूप या छहकर्मरूप भेद करना समवदानकर्म है ॥२०॥

जो उपद्रावण (उपद्रव करना), विद्रावण (अगछेदन आदि करना), परिता-पन (सन्ताप उत्पन्न करना) और आरम्भ (प्राणियोंके प्राणोंका घात करना) रूप कार्यसे निष्पन्न होता है वह अध कर्म है ॥२२॥

ईर्याका अर्थ योग है। योगमात्रसे जो कर्म बधता है वह ईर्यापथकर्म है। वह छद्मस्थ वीतरागोंके और सयोगकेवलियोंके होता है। धवलाटीकामें[1] इसका विवेचन थोडा विस्तारसे किया है।

बारह प्रकारके अभ्यन्तर और बाह्य तपको तप कर्म कहते हैं ॥२६॥ धवला-टीकामें[2] तपोंका विस्तृत वर्णन है।

आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना, तीन बार नमस्कार, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त यह सब क्रियाकर्म है ॥२८॥

अर्थात् ये क्रियाकर्मके छै प्रकार है। क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना चाहिये, पराधीन नही। वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनालयकी प्रद क्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। तीनो सन्ध्याकालोमें वन्दनाका नियम करनेके लिये तीन बार करना कहा हैं।

पैर धोकर शुद्ध मनसे जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकितवदन होकर जिनेन्द्रके आगे नमना प्रथम नमस्कार है। पुन उठकर विनन्ति करके नमना दूसरा नमस्कार है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके कषायसहित कायका उत्सर्ग करके, जिनके अनन्तगुणोंका ध्यान करके, चौबीस तीर्थङ्करोंकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके

---

१ षट्खं०, पु० १३, पृ० ४८ ५४।

२ वही, पु० १३, ५४ ८८।

पृथ्वी पर नत होना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन नमस्कार होते हैं।

सब क्रियाकर्मोंमें चार बार सिर नमाया जाता है। सामायिकके आदिमें, फिर उसके अन्तमें, फिर 'थोस्सामि' दण्डकके आदिमें और फिर अन्तमें। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार बार सिर नमाया जाता है।

सामायिक और थोस्सामि' दण्डकके आदि और अन्तम मन-वचन-कायकी विशुद्धिके परावर्तनके बारह बार होते हैं। इसलिये एक क्रियाकर्म बारह आवर्तों-से युक्त होता है। यह सब क्रियाकर्म है।

कर्मप्राभृतका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त होता है उसे भावकर्म कहते हैं।

कर्मके इन भेदोंमेसे यहाँ समवदानकर्मसे प्रयोजन है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वार-में समवदानकर्मका ही विस्तारसे कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ३१ सूत्र[1] हैं। ३१वें सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेन-स्वामीने लिखा है कि 'मूलतंत्रमें तो प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथ कर्म, तप कर्म और क्रियाकर्म प्रधान हैं, क्योंकि वहाँ इनका विस्तारसे कथन है।

यहाँ इन छै कर्मोंको आधार मानकर सत्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्पर्शन अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोंके द्वारा कथन करते हैं। तदनुसार लगभग सौ पृष्ठोंमें उन्होंने विस्तारसे कथन किया है।

सूत्रकार भूतबलिने तो कर्मानुयोगद्वारमें समवदानकर्मसे ही प्रयोजन बतलाया है। इसलिए मूलतंत्रसे अभिप्राय महाकर्मप्रकृतिप्राभृतसे जान पड़ता है। उसके अन्तर्गत कर्मानुयोगद्वारमें उक्त छै कर्मोंका कथन रहा होगा।

प्रकृति अनुयोगद्वार[2]

प्रकृति अनुयोगद्वारके अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता, प्रकृतिनामविधान, प्रकृतिद्रव्यविधान, प्रकृतिक्षेत्रविधान, प्रकृतिकालविधान, प्रकृतिभावविधान, प्रकृतिप्रत्ययविधान, प्रकृतिस्वामित्वविधान, प्रकृतिप्रकृतिविधान, प्रकृतिगतिविधान, प्रकृतिअन्तरविधान, प्रकृतिसन्निकर्षविधान, प्रकृतिपरिमाणविधान, प्रकृतिभागविधान और प्रकृतिअल्पबहुत्वविधान ॥ २ ॥

---

१. 'एदेसि कम्माणं केण कम्मेण पयदं ? समोदाणकम्मेण पयदं ॥३१॥ (धव)—कुदो ? कम्माणियोगद्दारम्मि समोदाणकम्मस्सेव वित्थरेण परूविदत्तादो। मूलतंत्रे पुण पओअकम्म-समोदाणकम्म-आधाकम्म-इरियावहकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्माणि पहाणाणि तत्थ वित्थरेण परूविदत्तादो—षट्खं०, पु० १३, पृ० ९०।

२. वही, पु० १५, पृ० २०५ से।

प्रकृतिनिक्षेपके चार प्रकार हैं—नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ॥४॥ इनमेंसे नैगम संग्रह और व्यवहारनय सबको स्वीकार करते हैं ॥६॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनाप्रकृतिको नही चाहता ॥७॥ शब्दनय नाम-प्रकृति और भावप्रकृतिको स्वीकार करता है ॥८॥ जिस जीव या अजीवका 'प्रकृति' नाम किया जाता है वह नामप्रकृति है ॥९॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदि-में 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापनाका प्रकृति कहते हैं ॥१०॥ द्रव्यप्रकृतिके दो भेद हैं—आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति ॥११॥ आगमद्रव्यप्रकृतिके अर्थाधिकार इस प्रकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोगत सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम ॥१२॥

वदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वारमें भी इन सबका कथन आ चुका है।

नोआगमद्रव्य प्रकृतिके दो प्रकार हैं— कर्मप्रकृति और नोकर्मप्रकृति ॥१५॥ घट, थाली, सकोरा, अरंजण और उलुंचण आदि विविध भाजनविशेषोकी मिट्टी प्रकृति है। धान तप्पण[1] (तर्पण) आदि की जौ और गेहूँ प्रकृति है। सब नोकर्मप्रकृति हैं ॥१८॥ कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं ॥१९। और ज्ञानावरणीयके आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय आदि पाच भेद हैं ॥२१॥

पहले कहा है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतनी ही ज्ञानका आवृत करनेवाले ज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकृतिअनुयोगद्वारमें सूत्रकारने ज्ञानके भेदोका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोका कथन किया है। यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय कर्मके चार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद जानने चाहिये ॥२२॥ अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय ये चार भेद हैं ॥२३॥ अवग्रहावरणीय कर्मके दो भेद हैं—अर्थावग्रहावरणीय, और व्यञ्जनावग्रहावरणीय ॥२४॥ व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोसे होता है, अत व्यञ्जनावग्रहावरणीय कर्मके भी चार भेद है। अर्थावग्रह पाँचो इन्द्रियो और मनसे होता है, अत अर्थावग्रहावरणीय कर्मके छ भेद है। इसी तरह ईहा-वरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय कर्मोंके भी छै छै भेद होते हैं, क्योंकि ये चारो ज्ञान इन्द्रियो और मनसे उत्पन्न होते हैं।

उक्त चारो ज्ञानोको छहो इन्द्रियोसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं और उनके आवरण भी २४ ही होते हैं। इन चौबीस भेदोमें जिह्वा, स्पर्शन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी चार व्यञ्जनावग्रहोके मिलानेपर आभिनिबोधिक

---

१ 'घडपिढरसरावारंजणोलुंचणादीणं विविहभायणविसेसाणं मट्टिया पयडी, धाणतप्पणादीणं च जवगोधूमा पयडी, सा सव्वा णोकम्मपयडी णाम ॥१८॥—पु १३, पृ २०४-२०५।

ज्ञानके २८ भेद होते हैं और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं। इनमें चार मूल भेदोंके मिलाने पर बत्तीस आभिनिबोधिक ज्ञानके भेद और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानके ये भेद चार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस होते हैं।

ये ज्ञान बारह प्रकारके पदार्थोंको विषय करते हैं। वे हैं बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षी—एक, एकविध, चिर, निसृत, उक्त, अध्रुव। बस उक्त चौबीस भेदोंको छै से गुणा करने पर आभिनिबोधिक-ज्ञानके एकसौ चवालीस भेद होते हैं। उक्त अट्ठाईस भेदोंको छै से गुणा करने पर १६८ भेद होते हैं। और उक्त बत्तीस भेदोंको छै से गुणा करने पर १९२ भेद होते हैं। और उक्त चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेदोंको १२ से गुणा करने पर आभिनिबोधिकज्ञानके दोसौ अट्ठासी, तीनसौ छत्तीस और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं। जितने ज्ञानके भेद हैं उतने ही उसके आवरणके भेद हैं। अत आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके भेदोंको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'इस प्रकार आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस, बत्तीस अड-तालीस, एकसौ चवालीस, एकसौ अडसठ, एकसौ बानवे, दोसौ अठासी, तीन सौ छत्तीस, और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं ।।३५।।

श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाते हुए कहा है—कि जितने अक्षर और अक्षरसयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ है ।।४५।।

आशय यह है कि एक एक अक्षरसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है, बस जितने अक्षर हैं उतने ही श्रुतज्ञान हैं। तेतीस व्यञ्जन, नौ स्वर अलग अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस और चार अयोगवाह—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और विसर्ग इस तरह चौंसठ मूल अक्षर हैं। इनके सयोगी अक्षरोंको लानेके लिए सूत्रकारने एक 'गणित-गाथा' दी है—

संजोगावरणट्ठं चउसट्ठिं थावए दुवे रासिं।
अण्णोण्णसमब्भासो रूवूण णिद्दिसे गणिद ।।४६।।

अर्थात संयोगावरणोंको लानेके लिए चौंसठसंख्याप्रमाण दो राशि स्थापित करो—एक एकसे चौंसठ तक और दूसरी उसके नीचे चौंसठसे एक तक। दोनों-को परस्परमें गुणा करके जो लब्ध आवे उसमेंसे एक कम करनेपर कुल संयुक्ता-क्षरोंका प्रमाण होता है। इसके स्पष्टीकरणके लिये सूत्र ४६ की धवलाटीका देखना चाहिये।

उसी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके बीस भेद बतलानेके लिये सूत्रकारने एक गाथा-सूत्र दिया है।

'पज्जय अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराई ।
पाहुडपाहुड-वत्थू पुव्व समासा य बोधव्वा ॥१॥'

अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं।

इन्हीको लेकर सूत्रकारने सूत्र ४८ में श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके बीस भेद गिनाये हैं। श्रुतज्ञानके इन भेदोके विवेचनके लिये धवलाटीका देखना चाहिये।

श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्रमें ज्ञानकी सुन्दर चर्चा है। किन्तु श्रुतज्ञानके इन बीस भेदोंका कोई संकेत तक आगमिक परम्परामें नहीं मिलता। हाँ कर्मग्रन्थमें एक गाथाके द्वारा श्रुतज्ञानके ये बीस भेद अवश्य गिनाये गये हैं।

सूत्रकार भूतबलिने एक सूत्रके द्वारा श्रुतज्ञानके इकतालीस पर्यायशब्द गिनाये हैं। जो इस प्रकार है—प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोंमें मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसन्निकर्ष, नयविधि नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्र्य, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्यायनाम हैं ॥५०॥ धवलामें इनका व्याख्यान किया है।

अवधिज्ञानावरणीयकर्मकी असंख्यात प्रकृतियाँ बतलाते हुए अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्ययअवधिज्ञान देवनारकियोंके होता है और गुणप्रत्ययअवधिज्ञान तिर्यञ्चो और मनुष्योके होता है।

अवधिज्ञानके अनेक भेद हैं - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित अनवस्थित अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती अप्रतिपाती, एक क्षेत्र और अनेकक्षेत्र ॥५६॥

जिसके अवधिज्ञान होता है उसके शरीरमे नाभिसे ऊपर श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्दावर्त आदि आकार बन जाते हैं। इन्ही चिन्होंसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। उन्हीके कारण उसे एक क्षेत्र या अनेक क्षेत्र कहते हैं।

आगे गाथासूत्रोंके[1] द्वारा सूत्रकारने अवधिज्ञानके क्षेत्रसे सम्बद्ध कालका और कालसे सम्बद्ध क्षेत्रका, तथा देवोके अवधिज्ञानके विषयका कथन किया है। सूत्र गाथा १५ के द्वारा परमावधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कथन किया

१ षट्खं०, धवला, पु० १३, पृ० ३०१ ३२७।

है। गाथा नं० १७ के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञानके स्वामित्वका कथन किया है।

अवधिज्ञानसे सम्बद्ध ये गाथाएँ दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड[1] तो षट्खण्डागम और उसकी टीका धवलाके आधार पर ही संगृहीत किया गया है, अतः उसमें तो कतिपय गाथाएँ यहींसे ली गई हैं।

महाबन्धके[2] आदिमें ये सब गाथाएं थोडेसे व्यतिक्रमके साथ पायी जाती हैं। चूँकि महाबन्ध भूतबलीकी ही रचना है, अतः उनका वहाँ पाया जाना सम्भव है। गाथा नं० १२, १३, १४ तिलोयपण्णत्तिके[3] आठवें अधिकारमें पाई जाती हैं। गाथा नं० १२-१३, मूलाचारके[4] बारहवें अधिकारमें पाई जाती हैं। श्वेताम्बर परम्पराके नन्दिसूत्रमें भी ज्ञानकी चर्चा है। उसमें अवधिज्ञानके प्रकरणमें गाथाएँ (गा० नं० ५०, ५१, ५२, ५३, ५४) ऐसी हैं जो इस अनुयोगद्वारकी गा० ४-८ से मिलती हैं। कुछ पाठभेदके सिवाय और भेद नहीं है।

षट्खण्डागमके वेदना और वर्गणा खण्डमें जो सूत्ररूपमें गाथाएँ आई हैं, हमारा विश्वास है कि वे गाथाएँ प्राचीन होनी चाहिये। इसीसे भूतबलिने उन्हें ज्यों-का-त्यों अपने ग्रन्थमें सूत्ररूपमें रख लिया है। सम्भवतया इसीसे उनमेंसे कुछ गाथाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मकी दो प्रकृतियाँ—ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानावरण और विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानावरण बतलाई हैं। उनके प्रसंगसे दोनो ज्ञानोंके स्वरूप, विषय आदिका कथन सूत्रकारने विस्तारसे किया है।

मनःपर्ययज्ञानका विषय बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'मनके द्वारा मानस-को जानकर मनःपर्ययज्ञान दूसरोंकी संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेटविनाश, कर्वटविनाश मडंबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थोंको जानता है ॥६३॥

केवलज्ञानका वर्णन करते हुए लिखा है—'स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, च्यवन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ

---

१ गो०जी०का०गा०, ४०३ ४०६, ४०७, ४२५, ४२६, ४२९, ४३१।

२ म०ब०, भा० १, पृ० २१ २४।

३ ति० प०, गा० ९८५, ९८६, ९८७।

४ मूलाचा० अधि० १२, गा० नं० १०७-११०।

जीवादि द्रव्योका सम्मिलन), अनुभाग, तक, कला, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदिकम (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायरूपसे सब द्रव्योकी आदि), अरह कर्म (सब द्रव्योंकी अनादिता), सब लोक, सब जीव, और सब भावोको सम्यक प्रकारसे एक साथ जानते-देखते हुए बिहार करते हैं ॥८२॥

इस प्रकार प्रकृतिअनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोंके सम्बन्धसे ज्ञानके भेदोकी मौलिक चर्चा है। यही चर्चा सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके प्रथम अध्यायमे आगत ज्ञानविषयक कथनका आधार है। इसका कथन इन ग्रन्थोके प्रकरणमें किया जायगा। इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि कर्मोंकी प्रकृतियोका कथन प्रकृतिअनुयोगद्वारमे किया गया है। अन्तमे कहा है कि इन प्रकृतियोमेंसे यहाँ कर्मप्रकृतिका प्रकरण है।

बन्धनअनुयोगद्वार[1]

बन्धनअनुयोगद्वारको आरम्भ करते हुए सूत्रकारने बन्धनके चार भेद किये हैं—१ बन्ध, २ बन्धक, ३ बन्धनीय और ४ बन्धविधान ॥१॥

बन्धके चार भेद हैं—नामबन्ध स्थापनाबन्ध द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ॥२॥ नैगम, सग्रह और व्यवहारनय सब बन्धोको स्वीकार करते है ॥४॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनाबन्धको स्वीकार नही करता ॥५॥ शब्दनय नामबन्ध और भावबन्धको स्वीकार करता है ॥६॥

जिस जीव या अजीवका 'बन्ध' यह नाम रखा जाता है वह नामबन्ध है। काष्ठकम, चित्रकम आदिमे 'यह बन्ध है ऐसी स्थापना करना स्थापनाबन्ध है। भावबन्धके दो भद हं—आगम भावबन्ध और नोआगम भावबन्ध। यह सब वणन पूर्ववत् है।

नोआगम भावबन्धके दो भेद हैं—जीवभावबन्ध और अजीवभावबन्ध।

जीवभावबन्धके तीन भेद हैं—विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक ॥१४॥

कर्मोंके उदय और उदीरणाको विपाक कहते हैं। विपाक जिस भावका कारण होता है वह विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है। और कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अथवा कर्मोंके उपशम वा, क्षयको अविपाक कहते हं। अविपाक जिस भावका कारण है वह अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है। और विपाक तथा अविपाकसे जो भाव उत्पन्न होता है वह तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है।

'देवभाव, मनुष्यभाव तिर्यञ्चभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक-

---

१ षट्खं०, धवला०, पु० १४।

वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, दोष, मोह, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ललेश्या असंयतभाव, अविरतभाव, अज्ञानभाव, मिथ्यादृष्टिभाव ये सब विपाकप्रत्ययिक अथवा औदयिक भाव है ॥१५॥

अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्धके दो प्रकार हैं—औपशमिक और क्षायिक ॥१६॥

उपशान्तक्रोध उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्तराग, उपशान्तदोष उपशान्तमोह, उपशान्तकषाय, वीतरागछद्मस्थ, औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र आदि जितने औपशमिक भाव हैं वे सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१७॥

क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ क्षीणराग, क्षीणदोष, क्षीणमोह, क्षीणकषाय, वीतरागछद्मस्थ, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचरित्र, क्षायिकदानलब्धि, क्षायिकलाभलब्धि, क्षायिकभोगलब्धि, क्षायिकपरिभोगलब्धि, क्षायिकवीर्यलब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत्ति, सर्वदु खअन्तकृत, इसी प्रकार अन्य भी जो क्षायिक भाव है वे सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है ॥१८॥

एकेन्द्रिय लब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रिय लब्धि, चतुरिन्द्रिय लब्धि, पञ्चेन्द्रिय लब्धि मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यक्-मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, सयमासयमलब्धि, सयमलब्धि, दानलब्धि, लाभ-लब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूत्रकृद्धर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर, चतुर्दशपूर्वधर ये तथा इसी प्रकारके अन्य जो क्षायोपशमिक भाव है वे सब तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१९॥

इसी प्रकार अजीवभावबन्धके भी तीन भेद करके विपाकप्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभावबन्धोंका कथन किया है।

द्रव्यबन्धके दो भेद है—आगमद्रव्यबन्ध और नोआगमद्रव्यबन्ध।

नोआगमद्रव्यबन्धके दो भेद हैं—प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध।

विस्रसाबन्धके दो भेद हैं—सादि और अनादि। धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय-देश और धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिक, अधर्मास्तिकदेश, और अधर्मास्तिकप्रदेश, आकाशास्तिक, आकाशास्तिदेश, आकाशास्तिप्रदेश, इन तीनों ही अस्तिकायोंका जो परस्पर प्रदेशबन्ध है वह अनादिविस्रसाबन्ध है ॥२१॥

सादिवैस्रसिकबन्ध कहते हैं—विसदृश स्निग्धता और विसदृश रूक्षतामें बन्ध होता है। और समस्निग्धता और समरूक्षतामें भेद होता है॥ अत

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण।

णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥३६॥

स्निग्ध पुद्गलका दो अधिक स्निग्ध पुद्गलके साथ और रूक्ष पुद्गलका दो अधिक रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है तथा स्निग्धगुण पुद्गलका रूक्षगुण पुद्गलके साथ सम या विषम गुण होने पर बन्ध होता है, जघन्यगुणवालेका बंध नहीं होता।

उक्त गाथा श्वेताम्बर परम्परामें भी पाई जाती है। किन्तु द्वितीय पंक्तिके अर्थमें दोनोंमें मतभेद है। इसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

उक्त गाथासे पहले इस बन्धनअनुयोगद्वारमें दो सूत्र हैं—

'वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो॥ ३२॥ समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो॥ ३३॥

श्वेता० प्रज्ञापनामें भी ठीक इसी आशयको शब्दशः लिये हुए एक गाथा और तदनन्तर उक्त गाथा इस प्रकार आती है—

समणिद्धयाए बंधो न होति समलुक्खयाए वि ण होति।

वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाण॥ १॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण।

निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा॥२॥

—प्रज्ञापना० परि० पद १३, सू० १८५

पुद्गलोंके बन्धका स्वरूप बतलाकर आगे लिखा है—

'इस प्रकार वे पुद्गल बन्धनपरिणामको प्राप्त होकर अभ्ररूपसे, मेघरूपसे सन्ध्यारूपसे, बिजलीरूपसे उल्कारूपसे, कनक (वज्र) रूपसे, दिशादाहरूपसे, धूमकेतुरूपसे, इन्द्रधनुषरूपसे, क्षेत्रके अनुसार, कालके अनुसार, ऋतुके अनुसार, अयनके अनुसार पुद्गलके अनुसार बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं।'

ये सब तथा इनसे अन्य जो अमंगलप्रभृति बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं वह सब सादिवस्रसिक बन्ध हैं॥३७॥

प्रयोगबन्धके दो भेद हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। नोकर्मबन्धके पाँच भेद हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध संश्लेषबन्ध शरीरबन्ध और शरीरिबन्ध॥४०॥

शकटोंका, यानोंका युगोंका,[1] गड्डियोंका[2], गिल्लियोंका, रथोंका, स्यन्दनों[3]-

---

१ जो घोड़े और खच्चरोंसे खींची जाती है।

२ हल्का भार ढोने वाली गाड़ी।

३ युद्धोपयोगी साधनोंसे सम्पन्न रथ।

का, शिविकाओंका, गृहोंका, प्रासादोंका, गोपुरोंका और तोरणोंका काष्ठसे, लोहसे, रस्सीसे, चमड़ेकी रस्सीसे, और दर्भसे जो बन्ध होता है वह आलापनबन्ध है ॥४१॥ कटकोंका (चटाईका), कुड्योंका, गोवरपिण्डोंका, प्राकारोंका और शाटिकाओंका, तथा इस प्रकारके अन्य द्रव्योंका जो बन्ध होता है वह अल्लीवणबन्ध है ॥४२॥ लकड़ी और लाखके बन्धको संश्लेषबन्ध कहते हैं ॥४३॥ औदारिक आदि शरीरोंके बन्धको शरीरबन्ध कहते हैं।

जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका जो परस्परमें प्रदेशबन्ध है वह अनादि शरीरबन्ध है।

कर्मबन्धको कर्मानुयोगद्वारकी तरह जानना चाहिये ॥६४॥

इस बन्धनअनुयोगद्वारमें ६४ सूत्र हैं।

२ बन्धकअनियोगद्वार

बन्धकअनुयोगको खुद्दाबन्ध नामक दूसरे खण्डकी तरह जान लेना चाहिये। खुद्दाबन्धमें इसका कथन हो चुका है।

३ बन्धनीयअनुयोगद्वार

जो बन्धके योग्य होता है उसे बन्धनीय कहते है। पुद्गल बन्धनीय है क्योंकि पुद्गलोके सिवाय अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नही है। वे बन्धनीय पुद्गल स्कन्धस्वरूप होते हैं। और वे स्कन्ध वर्गणारूप होते हैं। अत बन्धनीयका कथन करते हुए वर्गणाका कथन अवश्य करना चाहिये।

वर्गणाओके सम्बन्धमें आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य है—वर्गणा, वर्गणाद्रव्यसमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व ॥६९॥

वर्गणा—वर्गणाअनुयोगद्वारके विषयमें ये सोलह अनुयोगद्वार हैं—वर्गणानिक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओजयुग्मानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाअन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणाउपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणाअल्पबहुत्व ॥७०॥

वर्गणानिक्षेप छै प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा, और भाववर्गणा ॥७१॥ नैगम, संग्रह और व्यवहार सब वर्गणाओंको स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र स्थापनावर्गणाको स्वीकार नहीं करता। शब्दनय नामवर्गणा और भाववर्गणाको स्वीकार करता है। इस तरह सूत्रकारने वर्गणाके सोलह अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके दो ही अनुयोगद्वारोंका कथन किया है।

आगे वर्गणाका कथन करते हुए २३ वगणाएँ बतलाई हैं, जो इसप्रकार हैं—

एकप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवगणा १, द्विप्रदशी, त्रिप्रदेशी चतु प्रदेशी, पंच-प्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दसप्रदेशी, आदि सख्यात-प्रदेशी, परमाणु पुद्गल द्रव्यवगणा २, असख्यातप्रदेशी परमाणु पुदगलद्रव्यवर्गणा ३, अनन्तप्रदेशी, परमाणु पुदगलद्रव्यवर्गणा ४, आहार द्रव्यवगणा ५, अग्रहण द्रव्यवगणा ६ तजसशरीर द्रव्यवगणा ७ अग्रहण द्रव्यवगणा ८, भाषाद्रव्य वर्गणा ९, अग्रहणद्रव्यवगणा १० मनोद्रव्यवगणा ११, अग्रहण द्रव्यवगणा १२, कामणद्रव्यवगणा १३, ध्रुवस्कन्धद्रव्यवगणा १४, सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणा १५, ध्रुवशून्यवगणा १६, प्रत्यक शरीर द्रव्यवगणा १७ ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा १८, वादर निगोद द्रव्यवगणा १९, ध्रुवशून्य द्रव्यवगणा २०, सूक्ष्म निगोद-वगणा २१, ध्रुवशून्य द्रव्यवगणा २२ महास्कन्धवगणा २३ ।

इन तेईस वगणाओके नाम सूत्रकारने बाईस सूत्रोके द्वारा बतलाये हैं ।

इसका कारण यह है कि उन्होने प्रथम चार वगणाओके पश्चात प्रत्येक वगणा का निदश इस प्रकार किया ह—'अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवगणाके ऊपर आहार द्रव्यवगणा ह ॥७९॥ आहार द्रव्यवगणाके ऊपर अग्रहणद्रव्य-वगणा है ॥८०॥' 'अग्रहणद्रव्यवगणाके ऊपर तैजसद्रव्यवर्गणा है ॥८१॥' 'तजस द्रव्यवगणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवगणा है ॥८२॥' इत्यादि ।

इसका कारण यह ह कि पूवपूवकी उत्कृष्ट वगणामे एक अक मिलाने पर आगेकी जघन्य वगणाका प्रमाण होता है । यथा—सबसे प्रथम परमाणु पुदगल द्रव्यवर्गणा ता एकपरमाणुरूप ह । उसमें एक परमाणुके मिल जानेसे अर्थात दो परमाणुओके समागमसे द्विप्रदेशी परमाणुपुदगलद्रव्यवर्गणा होती ह । यह जघन्यसख्याताणुवर्गणा है क्योकि 'जघन्य सख्यातका प्रमाण दो है । उत्कृष्ट सख्यातप्रदेशी परमाणुपुदगलद्रव्यवगणामें एक अक मिलाने पर जघन्य असख्यात प्रदेशी द्रव्यवगणा होती है । उत्कृष्ट असख्यातासख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गल द्रव्यवगणामें एक अक मिलाने पर जघन्य अनन्तप्रदेशी परमाणुपुदगलद्रव्यवगणा होती है । अपने जघन्यसे अनन्तगुणी उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी पुदगलद्रव्यवगणा होती है । ये चारो ही वगणाएँ अग्राह्य है—जीवके द्वारा इनका ग्रहण नहीं होता ।

उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवगणामें एक अक मिलाने पर जघन्य आहारद्रव्य-वर्गणा होती है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको आहारद्रव्यवगणा कहते हैं । उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर प्रथम अग्रहणद्रव्यवगणा सम्बन्धी सवजघन्यवर्गणा होती है । जो

पुद्गलस्कन्ध पाँचो शरीर, भाषा और मनके अयोग्य होते हैं उनको अग्रहणवर्गणा कहते हैं। प्रथम उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य तैजस-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते हैं। इसलिए यह ग्रहणवर्गणा है।

उत्कृष्ट तैजसशरीरद्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर दूसरी अग्रहण द्रव्य-वर्गणा सम्बन्धी जघन्य अग्रहणद्रव्यवगणा होती है। यह पाँच शरीरोंके योग्य नही होती, इसलिये इसे अग्रहणद्रव्यवगणा कहा गया है।

दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवगणामे एक अक मिलाने पर जघन्य भाषाद्रव्य-वगणा होती ह। भाषाद्रव्यवगणाके परमाणु पुद्गलस्कन्धभाषाओंके तथा शब्दों-के योग्य होते है।

उत्कृष्ट भाषाद्रव्यवगणामें एक अक मिलाने पर तीसरी जघन्य, अग्रहणद्रव्य-वर्गणा होती ह। इसके भी पुद्गलस्कन्ध ग्रहणयोग्य नही होते। तीसरी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवगणामें एक अक मिलाने पर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा होती है। मनोद्रव्यवर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती है। उत्कृष्ट मनोद्रव्यवगणामें एक अंक मिलाने पर चौथी जघन्यअग्रहणद्रव्यवगणा होती है। यह भी ग्रहण योग्य नहीं होती। चौथी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्यकार्मण-शरीरद्रव्यवगणा होती है। कार्मणद्रव्यवगणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोके योग्य होते है।

इस प्रकार पूर्वपूवकी उत्कृष्ट वर्गणामे एक एक प्रदेशकी वृद्धि होने पर आगेकी जघन्य वगणा होती है। प्रथम परमाणुपुद्गलद्रव्यवगणाको छोड़कर प्रत्येक वर्गणाके अपने जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपय न्त बहुतसे भेद होते हैं। धवला-टीकामें उनका कथन किया है। विस्तार भयसे यहाँ हमने कथन नहीं किया।

इन तेईस वर्गणाओमेंसे आहारवगणा, तैजसवगणा, भाषावर्गणा, मनोद्रव्य-वगणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ही ग्राह्यवर्गणाएँ हैं क्योंकि जीवके द्वारा इनका ग्रहण होता है। अत बन्धनीयमें इन पाँचकी ही उपयोगिता है, शेष-वर्गणाएँ बन्धनीय नहीं हैं। किन्तु शेषवर्गणाओंका कथन किये बिना इन पाँच बन्धनीयवगणाओका कथन नही किया जा सकता। इसलिये बन्धनीयके सम्बन्ध-में २३ पुद्गलवगणाओका कथन किया गया है। और उसीके कारण इस पचम खण्डका नाम वर्गणा खण्ड है।

धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा और बादरनिगोद द्रव्यवर्गणाका विवेचन बहुत विस्तारसे किया है।

इसके पश्चात् सूत्रकारने यह बतलाया है कि इन तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन वर्गणा

भेदसे उत्पन्न होती है, कौन वर्गणा संघातसे उत्पन्न होती है और कौन वर्गणा भेद और संघात दोनोसे उत्पन्न होती है।

स्कन्धोका विभाग होनेको भेद कहते है। और परमाणुपुद्गलोके सम्मिलन-का नाम संघात है। तथा भेदपूर्वक होनेवाले संघातको भेदसंघात कहते हैं।

परमाणुद्रव्यवर्गणा तो द्विप्रदेशी आदि ऊपरकी वर्गणाओके भेदसे ही उत्पन्न होती है। शेष वर्गणाएं भेदसे, संघातसे और भेदसंघातसे उत्पन्न होती हैं। अर्थात् अपनेसे नीचेकी वर्गणाओके संघातसे और ऊपरकी वर्गणाओके भेदसे तथा स्वस्थान की अपेक्षा भेद संघातसे उत्पन्न होती है।

उक्त वर्गणाओका कथन करनेके पश्चात् सूत्रकार भूतबलिने कहा है—

अब इस बाह्यवर्गणाकी अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये ॥११७॥ इसके विषय मे ये चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है—शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा शरीर विस्रसापचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा ॥११८॥'

धवलाटीकामे बतलाया है कि पाँचो शरीरोकी बाह्यवर्गणा संज्ञा है। अत सूत्रकारने उक्त चार अनुयोगोके द्वारा उनका विशेष कथन किया है। सबसे प्रथम शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन करते हुए कहा कि जीव प्रत्येकशरीरवाले और साधारणशरीरवाले होते हैं ॥११९॥ साधारणशरीरवाले जीव नियमसे वनस्पति-कायिक होते है। और शेष जीव प्रत्येकशरीरी होते है ॥१२०॥ आगे सात गाथाओसे साधारणशरीरवाले जीवोका कथन किया है। उनके प्रारम्भका सूत्र इस प्रकार है—'तत्थ इमं साहारणलक्खणं भणिदं ॥१२१॥' 'वहाँ साधारणका यह लक्षण कहा है।' इससे स्पष्ट है कि साधारणका कथन करनेवाली गाथा या गाथाएँ प्राचीन है। और अपने स्थलसे संभवतया' महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके बन्धनअनु-योगद्वारसे ही उठाकर यहाँ रखी गई है। यहाँ हम उन सातो गाथाओंको अर्थके साथ देते है—

'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं ॥१२२॥''

साधारण आहार, साधारण उच्छ्वास निश्वासका ग्रहण, यह साधारणकायवाले जीवोका साधारणलक्षण कहा है।

'एयस्स[1] अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥१२३॥'

एक जीवका जो अनुग्रहण (पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण

---

१ 'इक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव। जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि इक्कस्स ॥९६॥—प्रज्ञा० १ पद।

अथवा निष्पन्न शरीरके योग्य परमाणु-पुद्गलोंका ग्रहण) है वह बहुतसे साधारण जीवोंका तथा उस एक ग्रहण करनेवाले जीवका भी है। तथा बहुत जीवोंका जो अनुग्रहण है वह पिण्डरूपसे उस एक विवक्षित निगोदिया जीवका भी है।

'समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती ।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥'

"एक साथ उत्पन्न होनेवाले उन जीवोंके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है। एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास-निःश्वास होता है।"

'जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१२५॥'

"जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्त जीवोंका मरण होता है और जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है ॥१२५॥"

बादर-सुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण ।
ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि ॥१२६॥'

"बादरनिगोदजीव और सूक्ष्मनिगोदजीव ये परस्परमें बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। वे जीव अनन्त होते हैं और मूलक, थूहर, आर्द्रक आदि कारणों-से होते हैं।'

'अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंकअपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१२७॥'

"ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसभावको प्राप्त नहीं किया, क्योंकि वे भाव-कलंक अर्थात् संक्लेशपरिणामोंकी अधिकतासे युक्त होते हैं, इसलिये निगोदवासको नहीं छोडते।"

'एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥१२८॥'

"एक निगोदिया जीवके शरीरमें द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा समस्त अतीत कालमें सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्तगुणे जीव देखे गये हैं।"

इनमेंसे गाथा नं० १२२, १२३ और १२४ ये० प्रज्ञापनासूत्रके प्रथम पदमें भी पाई जाती हैं। वहाँ इनका क्रम विपरीत है अर्थात् १२४ (९५), १२३ (९६) और १२२ (९७) के क्रमसे हैं। गाथा १२३ में पाठभेद भी है। अस्तु,

उक्त गाथाओंके पश्चात् सूत्रकारने लिखा है—

'एदेण अट्ठपदेण तत्थ इमाणि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति—संतपरू-

वणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पबहुगाणुगमो चेदि ।। १२९ ।।

इस अथपदके अनुसार यहाँ ये अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है—सत्प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पशनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ।

ये आठो अनुयोगद्वार वही हैं, जिनका जीवट्ठाणके सतपरूवणा अनुयोगद्वारके आदिमें पुष्पदन्ताचाय ने निर्देश किया था । भूतबलिने शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन इन्ही आठ अनुयोगोके द्वारा किया है ।

ओघसे कथन करते हुए कहा है कि—'ओघसे दो शरीरवाले, तीन शरीर वाले, चार शरीरवाले और शरीररहित जीव होते हैं ।। १३१ ।।

विग्रह गतिमें वतमान चारों गतियोके जीव दो शरीरवाले होते है क्योकि उनके वहाँ तैजस और कामण ये दो ही शरीर होते है । औदारिक तैजस और कार्मण शरीरवाले मनुष्य और तिय ञ्च अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरीरवाले देव और नारकी तीन शरीरवाले होते हैं । औदारिक वक्रियिक, तैजस और कामण अथवा औदारिक, आहारक, तजस और कार्मण शरीरवाले जीव चार शरीरवाले होते है । और मुक्त जीव शरीररहित होते हैं ।

आगे सूत्रकारने आदेशसे १४ मागणाओमें उक्त शरीरवाले जीवोकी सत्ताका कथन किया है । सतपरूवणाके पश्चात छ अनुयोगद्वारोका कथन सूत्रकारने नही किया । टीकाकार वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामे उनका कथन किया है । सूत्र कारने अन्तिम अल्पबहुत्वानुगमका कथन किया है । उसके साथ ही शरीरिशरीर-प्ररूपणाका कथन समाप्त हो जाता है । उसके पश्चात शरीरप्ररूपणाका कथन प्रारम्भ होता है ।

शरीरप्ररूपणा

शरीरप्ररूपणा छै अनुयोगोके द्वारा की गई ह । वे छै अनुयोगद्वार है—नाम निरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमासा और अल्प बहुत्व ।। २३६ ।। नामनिरुक्तिमें सूत्रकारने प्रत्येक शरीरके नामकी निरुक्ति की है—'उरालमिदि ओरालिय ।।२३७।।' उदार—स्थूल होनेसे औदारिक कहा जाता है ।

'विविहगुणइड्ढिजुत्तमिदि वेउव्विय ।। २३८ ।।' विविध गुणों और ऋद्धियोंसे युक्त होनेसे वैक्रियिक कहा जाता है ।

'णिवुणाण वा णिण्णाण वा सुहुमाणं वा आहारदव्वाणं सुहुमदरमिदि आहारय

॥ २३९ ॥ अर्थात् आहारद्रव्योंमेंसे निपुणतर, स्निग्धतर और सूक्ष्मतर स्कन्धको आहार ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहा जाता है।

'तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइय ॥ २४० ॥

तेज और प्रभा गुणसे युक्त है, इसलिये तैजस कहते हैं।

'सव्वकम्माण परूहणुप्पादय सुहदुक्खाण बीजमिदि कम्मइयं ॥२४१॥

सब कर्मोंका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःखका बीज है, इसलिये इसे कार्मण कहते है। इस प्रकार नामनिरुक्तिमें पाँचो शरीरोंके नामोकी निरुक्ति की गई है।

प्रदेशप्रमाणानुगममे बतलाया है कि प्रत्येक शरीरके प्रदेश अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवें भाग हैं। निषेकप्ररूपणाका कथन छै अनुयोगोके द्वारा किया है। वे छै अनुयोग हैं—समुत्कीर्तना, प्रदेशप्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा प्रदेशविरच और अल्पबहुत्व।

इन छै अनुयोगद्वारोका कथन करनेके पश्चात् पदमीमांसानामक अनुयोगद्वारका कथन है। उसमें बतलाया है कि औदारिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी तीन पल्यकी आयुवाला उत्तरकुरु और देवकुरुका मनुष्य होता है ॥४१८॥

आगे अनेक सूत्रोके द्वारा उसकी अन्य विशेषताएँ भी बतलाई है, जिनके होनेसे ही वह उत्कृष्टप्रदेशसचयका स्वामी होता है।

वैक्रियिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी बाईस सागरकी स्थितिवाला आरण-अच्युतकल्पका वासी देव होता है ॥४३१॥ उसकी भी अनेक विशेषताएँ बतलाई है। आहारकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी उत्तरशरीरकी विक्रिया करने वाला प्रमत्तसयत मुनि होता है ॥४४६॥ तैजसशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह है जो पूर्वकोटिकी आयुवाला जीव सातवी पृथिवीके नारकियोंकी आयुका बन्ध करके सातवी पृथिवीमे उत्पन्न हुआ, वहाँसे निकल कर पुन पूर्वकोटिकी आयुवालोमें उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार मरण करके पुन सातवी पृथिवीके नारकियोमें उत्पन्न हुआ। वहाँ तेतीस सागरकी आयुको पालता हुआ रहा। चरम समयवर्ती वह जीव तैजस शरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी होता है।

कार्मणशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह जीव होता है जो बादरपृथिवीकायिक जीवोमें दो हजार सागर कम कर्मस्थितिप्रमाणकाल तक रहता है। इत्यादि।

इसी तरह प्रत्येकशरीरके जघन्य प्रदेशाग्रके स्वामीका भी कथन किया है। अल्पबहुत्वमें बतलाया है कि औदारिकशरीरका प्रदेशाग्र सबसे थोड़ा है। उससे वैक्रियिकशरीरका प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है ॥४९८॥ उससे आहारकशरीरका

प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है ॥४९९॥ उससे तैजसशरीरका प्रदेशाग्रका अनन्त-गुणा है ॥५००॥ उससे कार्मणशरीरका प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है ॥५०१॥

शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणाका कथन अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर शरीर और अल्पबहुत्व इन छै अनुयोगोंके द्वारा किया गया है। इनके कथनमें बतलाया है कि एक एक औदारिकशरीरमें सब जीवोंसे अनन्तगुणे अवि भागी प्रतिच्छेद होते ह। अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है। इस प्रकार अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण वगणाएँ होती हैं और अभव्योसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवें भाग वर्गणाओका एक स्पधक होता है। इस प्रकार अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धाके अनन्तवें भाग प्रमाण अनन्त स्पधक होते हैं ॥५०९॥ तथा शरीरके बन्धनके कारणभूत गुणोका बुद्धिके द्वारा छेद करने पर अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं ॥५१२॥ औदारिक शरीरके अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम हैं। उससे आगेके शेष चार शरीरोके अविभागी प्रतिच्छेद उत्तरोत्तर अनन्तगुणे होते है।

इसी तरह विस्रसोपचयका कथन करते हुए बतलाया है कि एक-एक जीव प्रदेशपर अनन्त विस्रसोपचय उपचित होते हैं, जा कि सब जीवोसे अनन्त गुणे है और वे सब लोकमेसे आकर बद्ध हुए हैं। इत्यादि रूपसे विस्रसोपचयका कथन पूण होनेके साथ बाह्यवगणाका कथन समाप्त होता है।

'इससे आगेके ग्रन्थका नाम चूलिका है ॥' ८१॥ ऐसा स्वय सूत्रकारने निर्देश किया है।

चूलिका

जैसा कि चूलिकाका लक्षण कहा है, इसमें पहले सूचित किये गये अर्थोका विशेष रूपसे कथन किया गया है। पहले जो 'जत्थेय मरदि जीवो' आदि गाथा कही थी उसके उत्तराधमें कहा गया था कि 'जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीव उत्पन्न होते है। उसीका विशेष कथन प्रारम्भमें किया गया है। तत्पश्चात उक्त गाथाके पूर्वाधका, जिसमें कहा है कि 'जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्तानन्त जीवोंका मरण होता है', विशेष कथन किया है।

पहले तेईस वगणाओका कथन किया है। उसमें बतलाया है कि ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य हैं और ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उसीका कथन करनेके लिए—बन्धनीयके चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य बतलाये हैं—वर्गणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व ॥७०६॥

वर्गणाप्ररूपणामें पुरानी बात ही दोहराई है—'आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। अग्रहण द्रव्यवर्गणाके ऊपर तैजसद्रव्यवर्गणा होती है, इत्यादि। यहाँ केवल पाँच ग्रहणवर्गणापर्यन्त ही उक्त कथनको दोहराया है क्योंकि यहाँ पाँच शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्यका ही कथन किया है। अतः इस वर्गणाप्ररूपणाके ७०८ से ७१८ तकके सूत्र बन्धनअनुयोगद्वारकी वर्गणा-प्ररूपणाके ७६ से ८७ तकके सूत्रोंके साथ प्रायः अक्षरशः मिलते हैं। इसीसे सूत्र नं० ७१८ की धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने लिखा है कि इन सब सूत्रोंके द्वारा पूर्वोक्त वर्गणाओंकी ही सम्हाल की गई है।

दूसरे वर्गणानिरूपणाअनुयोगद्वारमें पाँचो शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहण-योग्य वर्गणाओंका थोड़ा प्रकारान्तरसे कथन किया है। इस कथनमें आहार-वर्गणा आदि पाँचो ग्रहणवर्गणाओंका और उनके मध्यकी अग्रहणवर्गणाओंका स्वरूप भी बतलाया है। यथा—'औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके जिन द्रव्योंको ग्रहण कर जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूपसे परिणमाते है उन द्रव्योंकी आहारवर्गणा संज्ञा है ॥७३॥' 'जिन द्रव्योंको ग्रहण कर जीव तैजसशरीररूपसे परिणमाता है उन द्रव्योंकी तैजसवर्गणा संज्ञा है ॥' इसी तरह जो वर्गणा चार प्रकारकी भाषारूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह भाषावर्गणा है और जो वर्गणा चार प्रकारके मनरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह मनोवर्गणा है। जो वर्गणा आठ प्रकारके कर्मरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह कार्मणवर्गणा है।

प्रदेशार्थता अनुयोगद्वारमें बतलाया है कि औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणामें तो पाँचो वर्ण, पाँचों रस, दोनों गंध और और आठो स्पर्श गुण होते हैं। किन्तु तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा, भाषा-द्रव्यवर्गणा मनोद्रव्यवर्गणा और कार्मणद्रव्यवर्गणामें पाँचों वर्ण, पाँचों रस, दोनों गन्ध होते हैं किन्तु स्पर्श चार ही होते हैं—स्निग्ध या रूक्ष, शीत या उष्ण, कठोर या कोमल, और गुरु अथवा लघु।

अल्पबहुत्वमें प्रदेशोंकी अपेक्षा उक्त वर्गणाओंके अल्पबहुत्वका कथन किया है। अल्पबहुत्वकी समाप्तिके साथ ही बन्धनीय अनुयोगद्वार समाप्त हो जाता है।

बन्ध, बन्धक, बन्धनीयका कथन कर चुकनेके पश्चात् केवल एक बन्ध-विधान शेष बचता है। वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रमें उसका निर्देश करते हुए केवल इतना कहा है—'जो बन्धविधान है वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥७९७॥

इस सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेनस्वामीने लिखा है—'इन चारो बन्धो-का विधान भूतबलीभट्टारकने महाबन्धमें विस्तारके साथ लिखा है। इसलिये यहाँ हमने नही लिखा। अत सकल महाबन्धका यहाँ कथन करनेपर बन्धविधान समाप्त होता है।

इस तरह पाँचवें वर्गणाखण्डकी समाप्तिके साथ भूतबली विरचित षट्खण्डा-गमके पाँच खण्ड समाप्त हो जाते है। किंतु चूँकि महाबन्धको इससे अलग स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें गिना जाता है, अत वर्गणाखण्डके साथ ही षट्खण्डागम नामक ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इसकी सूत्रसख्या इस प्रकार है—

१ जीवट्ठाण	प्र० पुस्तक १	सत्प्ररूपणा	१७७	सूत्र सख्या
	पुस्तक ३	द्रव्यप्रमाण	१९२	,,
	पुस्तक ४	क्षेत्रानुगम	९२	,
		स्पर्शनानुगम	१८५	,,
	,	कालानुगम	३४२	,,
	पुस्तक ५	अन्तर	३९७	,,
	,	भाव	९३	,,
	,	अल्पबहुत्व	३८२	,,
	पु० ६ चूलिका—	प्रकृतिसमुत्कीतन	४६	,
		स्थानसमुत्कीतन	११७	,
	,	प्रथम महादण्डक	२	,
	,	द्वितीय महादण्डक	२	
	,	ततीय महादण्डक	२	,,
	,	उत्कृष्टस्थितिचू०	४४	,
	,	जघन्यस्थितिचू०	४३	,
	,	सम्यक्त्वोत्पत्तिचू०	१६	,,
	,,	गत्यागतिचूलिका	२४३	,,
२ खुद्दाबन्ध	पुस्तक ७	सत्वप्ररूपणा	४३	,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा स्थायित्व	९१	,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा काल	२१६	,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा अन्तर	१५१	,,
	,,	नानाजीवोकी अपेक्षा भगविचय	२३	,,
	,,	द्रव्य प्रमाणानुगम	१७१	,,

२ खुद्दाबंध	७ पुस्तक	क्षेत्रानुगम	१२४ सूत्र सं०
,,	,,	स्पर्शनानुगम	२७९ ,,
,,	,,	नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम	५५ ,,
,,	,,	,, ,, अन्तरानुगम	६८ ,,
,,	,,	भागाभागानुगम	८८ ,,
,,	,,	अल्पबहुत्वानुगम	२०५ ,,
,,	,,	महादण्डक	७९ ,,
३ बन्धस्वामित्वविचार	८ पुस्तक	बन्धस्वामित्व	३२४ ,,
४ वेदना	९ पु०	कृतिअनुयोगद्वार	७६ ,
,,	१० पु०	वेदनानिक्षेप	३ ,,
,,	,,	नयविभाषणता	४ ,,
,,	,,	नामविधान	४ ,,
,	,,	द्रव्यविधान	२१३ ,,
,,	११ पुस्तक	क्षेत्रविधान	९९ ,,
,	,	कालविधान	२७९ ,,
,,	१२ पुस्तक	भावविधान	३१४ ,, गा०स०८
,,	,,	प्रत्ययविधान	१६ ,,
	,,	स्वामित्वविधान	१५ ,,
,,	,,	वेदनाविधान	५८ ,,
,,	,,	गतिविधान	१२ ,,
,	,	अनन्तरविधान	११ ,,
,,	,,	सन्निकर्षविधान	३२० ,,
,,	,,	परिमाणविधान	५३ ,,
,,	,,	भागाभागविधान	२१ ,,
,,	,,	अल्पबहुत्व	२६ ,,
५ वर्गणाखण्ड	१३ पुस्तक	स्पर्शअनियोगद्वार	३३ ,, गा० २
,,	,,	कर्मानुयोगद्वार	३१ ,,
,,	,	प्रकृतिअनुयोगद्वार	१४२ ,, गा० १७
,,	१४ पुस्तक	बन्धनअनुयोगद्वार	७९७ ,,

कुल सूत्रसंख्या ६८१९, गा०सं० २७

कसायपाहुड और छक्खंडागमका तुलनात्मक विवेचन

कसायपाहुड और छक्खंडागमके विश्लेषण और विवेचनके अनन्तर हम

दोनों सिद्धान्त-ग्रन्थोके तुलनात्मक अध्ययनपर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। शैली और भाषाकी दृष्टिसे दोनोकी भिन्नता पहले ही लिखी जा चुकी है। अतएव इस सन्दर्भमें विषय-वस्तुके प्रतिपादनकी दृष्टिसे दोनोका तुलनात्मक निरूपण आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि छक्खडागमके वेदना और वगणा खडमें पच्चीस गाथा-सूत्र आये है जो प्राचीन प्रतीत होते है। इसी प्रकार कसायपाहुडकी भी कुछ गाथाएँ गुणधर-विरचित न भी हो, पर व जिस कसायपाहुडको उपसहृत किया गया है उसीसे ज्यो की-त्यो ले ली गयी हों। यत प्राचीन परिपाटी ऐसी रही है।

एक विचारणीय बात यह है कि कसायपाहुड और छक्खडागमकी कुछ गाथाएँ अन्य ग्रन्थोमें मिलती है। परन्तु कसायपाहुडकी कोई भी गाथा न तो छक्खडागममें मिलती है और न छक्खडागमकी कोई गाथा कसायपाहुडमे ही उपलब्ध होता है। अन्य भी कोई ऐसा तथ्य नही मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एककी छाया दूसरेपर है अथवा एकके रचयिताने दूसरे-की कृतिको देखा है। किन्तु थोडा-सा सादश्य जहाँ प्रतीत होता है उसका उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा।

कसायपाहुडके सम्यक्त्वअधिकारके प्रारम्भम चार गाथाओके द्वारा पृच्छा की गया है। गाथाए इस प्रकार है—

दसणमोहउवसामगस्स परिणामो केरिसो हवे।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥
काणि वा पुव्व बद्धाणि के वा असे णिबधदि।
कदि आवलिय पविसति कदिण्ह वा पवेसगो ॥९२॥
के असे झीयदे पुव्व बधेण उदएण वा।
अंतर वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥९३॥
किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टेदूण सेसाणि क ठाणं पडिवज्जदि ॥९४॥

अर्थ—दर्शनमोहका उपशम करने वाले जीवका परिणाम कैसा होता है? किस योग कषाय और उपयोगमें वर्तमान होता है, उसके कौन-सी लेश्या और कौन-सा वेद होता है? ॥९१॥ उसके पूर्वबद्ध कर्म कौनसे है और अब कौनसे नवीन कर्मांशोको बाधता है? किन किन प्रकृतियोंका उसके उदय होता है और किन किन-की वह उदीरणा करता है? ॥९२॥ दर्शनमोहके उपशमकालसे पूर्व बन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा कौन-कौनसे कर्मांश क्षीण होते हैं? कहाँ अन्तर करता है और कहाँपर किन-किन कर्मोंका उपशामक होता है? ॥९३॥ किस-किस स्थिति और

अनुभाग वाले किन-किन कर्मोंका अपवर्तन करके किस स्थानको प्राप्त करता है और अवशिष्ट कर्म किस-किस स्थिति और अनुभागको प्राप्त होते हैं ?

उधर जीवस्थानकी[1] चूलिकाके आरम्भमें ये पृच्छाएँ की गई हैं—

'कदिकाओ पयडीओ बंधदि, केवडि कालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा ण लब्भदि वा, केवचिरेण कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्तं, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंतस्स चारित्तं वा संपुण्णं पडिवज्जंतस्स ॥१॥'

अर्थ—सम्यक्त्वको उत्पन्न करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कितनी और किन प्रकृतियोंको बाँधता है ? कितनी कालस्थिति वाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नही प्राप्त करता है ? कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वकर्मको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोह-नीयकर्मको क्षपण करने वाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होने वाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ? ॥१॥

दोनो ग्रन्थोका प्रकरण एक ही है और पृच्छापूर्वक कथन करनेकी जैन आगमिक शैली है। किन्तु कसायपाहुडमे उक्त चार गाथाओके द्वारा केवल पृच्छा ही की गई है। इन पृच्छाओका उत्तर तो चूर्णिसूत्रकारने दिया है। किन्तु जीव-स्थानचूलिकामें प्रारम्भमें सामूहिक रूपसे सब पृच्छाओंको देकर फिर एक-एक प्रकरणमे एक-एक पृच्छाका उत्तर दिया है। दोनो ग्रन्थोकी उक्त पृच्छाओंमें केवल दो पृच्छा ऐसी हैं जो आपसमें मेल खाती हैं। किन्तु इतने मात्रसे निष्कर्ष निकालना तो दूर, कोई सभावना भी नहीं की जा सकती।

इसी तरह कसायपाहुडके इसी प्रकरणमें आगे १५ गाथाएँ आती हैं। उनमेंसे दो गाथाएँ उल्लेखनीय है। उनमें एक गाथा इस प्रकार है—

दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होई पज्जत्तो ॥९५॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करने वाला जीव चारो ही गतियोमे जानना चाहिये। वह जीव नियमसे पञ्चेन्द्रिय, सज्ञी और पर्याप्तक होता है।

जीवस्थानकी सम्यक्त्वोपत्तिचूलिकामें इसीको विस्तारसे कहा है। यथा—

'उवसामेंतो[2] कम्हि उवसामेदि चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदियविगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसा-मेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु

---

१ षट्खं०, पु० ६, पृ० १।

२. षट्खं०, पु० ६, पृ० २३८

उवसामेवि णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेस वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि ॥९॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता हुआ जीव कहाँ उपशमाता है? चारों ही गतियोंमें उपशमाता है। चारों ही गतियोंमें उपशमाता हुआ पञ्चेन्द्रियोंमें उपशमाता है एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उपशमाता है। पञ्चेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ सञ्ज्ञियोंमें उपशमाता है, असंज्ञियोंमें नही। सञ्ज्ञियोंमें उपशमाता हुआ गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मूर्छनजन्मवालोंमें नही। गर्भजोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तकोंमें उपशमाता है अपर्याप्तकोंमें नही। पर्याप्तकोंमें उपशमाता हुआ संख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमे भी उपशमाता है और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है ॥९॥

दोनोकी तुलना करनेसे ऐसा आभास होता है कि ऊपरकी गाथाकी ही विभाषा नीचेके सूत्र द्वारा की गई है। किन्तु इतनेसे यह नही कहा जा सकता कि षट्खण्डागमकारके सन्मुख कसायपाहुड था। अतः इस तरहके उल्लेखोके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नही निकाला जा सकता।

कसायपाहुडके[1] प्रदेशविभक्तिनामक अधिकारमें चूर्णिकारने मिथ्यात्वकर्म जघन्यप्रदेशसत्कर्मके स्वामीका कथन किया है और षट्खण्डागमके वेदनाखण्डके वेदनाद्रव्यविधान नामक अनुयोगद्वारमे द्रव्यसे ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य वेदनाके स्वामीका कथन किया है। दोनोका यह कथन कुछ अर्थदृष्टिसे और कुछ शब्द दृष्टिसे भी परस्परमे मेल खाता है। यद्यपि दोनो ग्रन्थकारोंमे उक्त विषयमें कुछ मौलिक मतभेद भी है जो दोनो उद्धरणोसे स्पष्ट है और जिसकी चर्चा आगे करेंगे तथापि दोनोका यह साम्य भी उल्लेखनीय है। इस साम्यका कारण यह भी हो सकता है, कि दोनो ग्रन्थकारोको अपनी अपनी परम्परासे वह इसी रूपमें प्राप्त

---

१ सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ। तत्थ सव्वबहुआणि अपज्जत्तभवग्गहणाणि। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ। जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्ग उक्कस्सएसु जोगट्ठाणेसु बंधदि। हेट्ठिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स उक्कस्स पदेसं तप्पाओग्ग उक्कस्सविसोहिमभिक्खं गदो'—क० पा० सु०, पृ० १८८।

'जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेसु पलिदोवमस्स असंखिज्जदिभागेण ऊणियं कम्मट्ठिदि मच्छिदो। तत्थ य संसरमाणस्स बहुआ अपज्जत्तभवा, थोवा पज्जत्तभवा। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ। जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्गुक्कस्सएण जोगेण बंधदि। उवरिल्लीणं ट्ठिदीण णिसेयस्स जहण्णपदे हेट्ठिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स उक्कस्सपदे बहुसो बहुसो जहण्णाणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि। बहुसो बहुसो मंदसंकिलेसपरिणामो भवदि।—षट्ख०, पु० १०, पृ० २६८–२७६।

हुआ हो, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो एक ही है, किन्तु उनमें जो मौलिक मतभेद है उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल यह अंश चूर्णिसूत्रकारने वेदनाखण्डसे लिया होगा।

पहले हम लिख आये हैं कि कसायपाहुड (चूर्णिसूत्रसहित) और षट्खण्डागम ये दोनों दो भिन्न आचार्यपरम्पराओंके उत्तराधिकारी हैं क्योंकि दोनोंमें अनेक सैद्धान्तिक मतभेद हैं। अत उन दोनोका उद्गम यदि स्वतत्र भावसे हुआ हो तो असभव नही है। फिर यह हम पहले लिख आये हैं कि यतिवृषभके गुरु नागहस्ती भी कमप्रकृतिप्रधान थे और यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। अत यह सभव है कि यतिवृषभ भी महाकमप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता हो, जिसके आधारपर षट्खण्डागमके सूत्र रचे गये हैं। अत दोनोमें क्वचित् शब्दगत या अर्थगत साम्य हो सकता है।

छक्खडागम और पण्णवणा

षटखण्डागममे चर्चित विषयोका कोई-कोई अश विभिन्न श्वे० आगमिक साहित्यमें मिलता है। यथा, षटखण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तगत बन्धनअनुयोग द्वारके आदिमें विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्धके भेदो-प्रभेदोंका कथन है। भगवती सूत्रके ८वें शतकके नौवें उद्देशमें भी वही कथन किञ्चित अन्तरके साथ पाया जाता है। बन्धनअनुयोगद्वारमें[1] प्रयोगबन्धके दो भेद किये हैं—कर्मबन्ध और नोकमबन्ध। तथा नोकमबन्धके पाँच भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध, सश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरीबन्ध। भगवतीसूत्रमें प्रयोगबन्धके तीन भेद किये है—अनादिअपयवसित, सादिअपयवसित और सादिसपर्यवसित। तथा सादिसपर्यवसितके चार भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लियावणबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरप्रयोगबन्ध। दोनो ग्रन्थोंमें अपने अपने ढगसे इन बन्धोके जो लक्षण दिये हैं उनमें शब्दभेद होते हुए भी अभिप्रायभेद नही है।

षटखण्डागमकी जीवस्थानचूलिकामें जो कर्मोंकी जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति तथा आबाधा आदिका कथन है, प्रज्ञापनाके २३वें आदि पदोमें भी उसीसे मिलताजुलता हुआ कथन है। जैसे, जीवस्थानचूलिकाके आरम्भमें 'कदिकाओ पयडीओ बधदि' इत्यादि प्रथमसूत्रके द्वारा पाँच प्रश्नोंका सूत्रपात करके फिर क्रमसे एक-एक चूलिकाके द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। प्रज्ञापनाके[2] २३ वें पदके

---

१ षट्खं० पु० १४, पृ० ३६ आदि।

२ 'कति पयडी कहिं, बंधइ कतिहि व ठाणेहिं बंधई जीवो। कइ वेदेइ य पगडी अणुभावो कतिविहो कस्स ॥१॥'—प्रज्ञा०

प्रारम्भमें भी एक गाथाके द्वारा कर्मविषयक पाँच प्रश्नोंको उठाया गया है—१ कितनी प्रकृतियाँ हैं ? २ किस प्रकारसे उनका बन्ध होता है, ३ कितने स्थानोंके द्वारा बन्ध होता है ४ कितनी प्रकृतियोका जीव वेदन करता है, और ५ किस कर्मका अनुभाग कितने प्रकारका होता है ? और फिर क्रमसे इन पाँचो प्रश्नोका समाधान किया गया है।

मूलकर्मोका नाम बतलानेके पश्चात उत्तरप्रकृतियोकी गणना जैसे चूलिकामे की है प्रज्ञापनामें भी की है। चूलिकामें प्रत्येक उत्तरप्रकृतिका नाम गिनाया है। प्रज्ञापनामे कही पूरा नाम गिनाया है तो कही सक्षिप्त। जिस प्रकार छठी चूलिका[1] में कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति उनकी आबाधा और निषेक बतलाये है प्रज्ञापनामे भी अपने ढगसे उनका उसी प्रकार कथन किया है। चूलिकामे जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका कथन पथक पथक किया है प्रज्ञापनामें[2] एक साथ है। विषयकी दृष्टिसे दोनो ग्रथोके अन्य भी कोई-कोई कथन मिलते हुए है। किन्तु प्रज्ञापनामे सकलित कर्मविषयक कथन साधारण कोटिका है। भगवती और प्रज्ञापना दोनो ही सग्रह ग्रन्थ है जिनमे विविध विषय सगृहीत है। उनके देखनेसे प्रकट होता है कि उनकी सकलनाके समय श्रुतका कितना विच्छेद हो चुका था और अवशिष्ट अशोका सुरक्षित रखनेका किस प्रकार प्रयत्न किया गया था।

ग्यारहवाँ अग विपाकसूत्र कर्मसिद्धान्तसे ही सम्बद्ध था, किन्तु उपलब्ध विपाकसूत्रमे वह बात नही है यह उसका परिचय कराते हुए बतला चुके है। कसायपाहुड, चूर्णिसूत्र, षटखण्डागम तथा प्रज्ञापना आदि आगमिक साहित्यके पर्यवेक्षणसे एक बात स्पष्ट है कि प्रश्नपूर्वक कथन करनेकी ही प्राचीन आगमिक शैली थी।

छक्खडागम और कर्मप्रकृति

एक कर्मप्रकृति नामक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामे मान्य है। उसकी उपान्त्य गाथामे कहा गया[3] है कि मुझ अल्पबुद्धिने जो जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृति

---

१ 'पंचण्हं णाणावरणीयाणं णवण्हं दसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पचण्हमतराइयाणं उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥४॥ तिण्णि वाससहस्साणि आबाधा ॥५॥ आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ ॥६॥ –षट्खं०, पु० ६, पृ० १४९–१५० ॥

२ 'नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिता कम्मठिई कम्मणिसेगो।'–प्रज्ञा०, २३ प०।

३ 'इय कम्मप्पगडीओ जहासुयं नीयमप्पमइणा वि। सोहियणाभोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नु ॥५६॥ कर्मप्र०, सत्ता०।

से इस ग्रन्थका उद्धार किया। जो मुझसे स्खलित कथन हुआ हो, दृष्टिवादके ज्ञाता उसे शुद्ध करके कहें।' इस परसे इस कर्मप्रकृतिको भी उसी कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत कहा जाता है, जिसके आधारपर षट्खण्डागमसूत्रोंकी रचना हुई थी। किन्तु दोनोंकी तुलना करनेसे यह प्रकट नहीं होता कि भूतबलि आचार्य जिस प्रकार महाकमप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे, उस प्रकार कर्मप्रकृतिकार भी उसके ज्ञाता थे। हाँ, उसके कुछ अशोंके वे ज्ञाता अवश्य थे जिन्हें उन्होंने दष्टिवादके बचे अवशिष्टाशके रूपमें गुरुमुखसे श्रवण किया होगा और इसलिए कर्मप्रकृति-की प्रथम गाथाकी उत्थानिकाकी चूर्णिमें चूर्णिकारने जो कुछ कहा है वही समुचित प्रतीत होता है। चूर्णिकारने कहा है कि–'दुषमाकालके कारण जिनकी बुद्धि, आयुष्य वगैरह घटता जाता है ऐसे आजकलके साधुजनोंका उपकार करनेकी कामनासे आचार्यने विच्छिन्न हुए कर्मप्रकृति नामक महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए उसी साथक नामवाले कमप्रकृतिसग्रहणी नामक प्रकरणको आरम्भ किया है।' अत कमप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेपर ही उक्त कमप्रकृतिसग्रहणी नामक ग्रन्थ रचा गया है। उसका नाम कमप्रकृतिसग्रहणी है, यही उसके लिए उचित भी है। उसीको लघु करके कर्मप्रकृति नामसे उसकी ख्याति हुई है।

तृतीय परिच्छेद

महाबंध
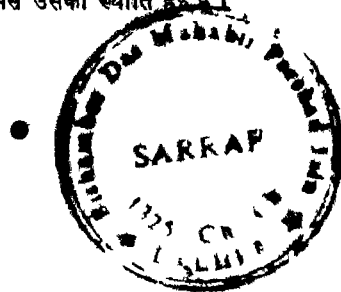
कसायपाहुड और छक्खडागम इन दो मूल आगम-ग्रन्थोंके रचयिता, रचनाकाल विषयवस्तु एव उनके महत्वके विवेचनके पश्चात् ततीय आगम-ग्रन्थ महाबधका विमश उपस्थित किया जा रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस महाबध सिद्धान्तग्रन्थके रचयिता भी आचाय भूतबलि हैं।

यह सिद्धान्त ग्रन्थ छक्खण्डागमका अन्तिम खण्ड है। अपनी विशालता और विषयकी गम्भीरताके कारण इसे स्वतत्र सिद्धान्त-ग्रन्थकी सज्ञा प्राप्त है।

आचाय वीरसेनने छक्खडागमपर अपनी धवलाटीका लिखी है पर उनकी यह टीका पूर्वके पाँच खण्डोपर ही है। इस छठे खण्डपर इनकी टीका नही है और न अन्य किसी आचायकी टीका प्राप्त है। इसका प्रधान कारण यही है कि आचाय भूतबलिने इसे स्वय विवरणात्मक शैलीमें रचा है। जो ग्रन्थ इस शैलीमे लिखा जाता ह, उसपर भाष्य या वत्तियाँ बडी कठिनाईसे लिखी जाती ह। यत सुगम पर विवृत्ति या भाष्य लिखनेमें सौकय रहता है और उसकी व्याख्या सुबोध होनेके कारण छोड दी जाती है।

इस ग्रन्थकी शली भी पूवके खण्डोकी सूत्रात्मक शैलीसे भिन्न ह और इसका प्रमाण भी शेष पाँच खण्डोसे पाँच गुना ह। अत यह छठा खण्ड अपने पाँचो बडे भाईयोसे अलग पड गया ह और महाबन्ध नामसे एक स्वतत्र ग्रन्थके रूपमें ही प्रकाशित[1] हुआ है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[2] महाबन्धको तीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है और ब्रह्म हेमचन्द्रने[3] चालीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है। इसके रचयिता भी आचाय भूतबलि हैं। उन्होने चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमें ४४ सूत्रोके द्वारा

---

१ महाबन्धका प्रकाशन ७ भागोंमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी ओरसे हुआ है।

२ 'सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं तत षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥ त्रिशत्सहस्र सूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रुताव०

३ 'सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सटिठसहस्स बोधव्वो। महबंधो चालीसं सिद्ध तत्तयं अह बंदे ॥८८॥'

जो मंगल किया है उसे टीकाकार[1] वीरसेनने शेष तीनों खण्डोंका अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबन्धका मंगल बतलाया है, क्योंकि वर्गणा और महाबन्धखण्डके आदिमें मंगल नहीं किया है। अतः यह स्पष्ट है कि महाबन्धके प्रारम्भमें ग्रन्थकार भूतबलिने मंगल नहीं किया।

महाबन्धका प्रकाशन हो जानेपर भी यह बात हमें इसलिये लिखनी पड़ी है कि इस ग्रन्थराजकी केवल एक ही प्रति मूडबिद्रीके सिद्धान्तवसतिभण्डारमें सुरक्षित मिली, किन्तु उसके भी १४ ताडपत्र नष्ट हो गये थे। उनमें पहला पत्र भी था। इसलिये भूतबलिने इस खण्डग्रन्थका आरम्भ किस रूपमें किया था, उसके जाननेका कोई उपाय नहीं है।

वर्गणाखण्डके बन्धनअनुयोगद्वारके अन्तमें अथवा यह कहना चाहिये कि महाबन्धके आरम्भसे पूर्वमें बन्धनके चार भेदोंमेंसे बन्ध, बन्धक और बन्धनीयका कथन करनेके पश्चात् बन्धविधानके[2] चार भेद कहे हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन्हीं चार बन्धोंका वर्णन महाबन्धमें है। बन्धोंका विस्तारसे कथन होनेके कारण ही इसका नाम महाबन्ध रखा गया है। पहले प्रकृतिबन्धका कथन है।

चूँकि प्रथम ताड़पात्र नष्ट हो गया है, अतः अवधिज्ञानका निरूपण करने वाली गाथाओंसे उपलब्ध महाबन्धका प्रारम्भ होता है। ये गाथाएँ वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें भी आई हैं। एक तरहसे प्रकृतिअनुयोगद्वारसे ही महाबन्धका आरम्भ होता है। यहाँ उसका नाम प्रकृतिसमुत्कीर्तन है। महाबन्धका प्रकृतिसमुत्कीर्तन वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृतिअनुयोगका ही संक्षिप्त रूप है। वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें पृच्छासूत्र भी हैं—'मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ'—अर्थात् मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकारके पृच्छासूत्र महाबन्धमें नहीं हैं, केवल विषयप्रतिपादन है और वह प्राकृतगद्यरूपमें है। दोनोंका अन्तर दिखानेके लिए यहाँ दोनों ग्रन्थोंसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

'मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं चेव विउलमदिमणपज्जवणाणावरणीयं चेव ॥६१॥ जं तं उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं णाम कम्मं तं तिविहं—उजुगं मणोगदं जाणदि

1 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो।'—षट्खं० पु० ९, पृ० १०५।

2 'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं—पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि ॥७९७॥'

उजुगं वचिगदं जाणदि उजुगं कायगदं जाणदि ॥६२॥ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदिं मदिं चिंता, जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णयरविणासं देसविणासं जणवयविणासं खेडविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टण-विणासं दोणामुहविणासं अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमभयरोगकालस[पं]जुत्ते अत्थे वि जाणदि ॥६३॥ किं चि भूओ — अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि णो अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि ॥६४॥ कालदो जहण्णेण दो-तिण्णि भवग्गहणाणि ॥६५॥ उक्कस्सेण सत्तट्ठ भवग्गहणाणि ॥६६॥ जीवाणं गदिमागदिं पदुप्पादेदि ॥६७॥ खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतरदो णो बहिद्धा ॥६८॥ (छक्ख डागम, पु० १३, प० ३२८ ३३८)।

उक्त सूत्रोको महाबन्धमे इस प्रकार निबद्ध किया गया है—

'जं तं मणपज्जवणाणावरणीयं कम्मं बधंतो तं एयविधं। तस्स दुविहपरू-वणा उज्जुमदिणाणं चेव विपुलमदिणाणं चेव। जं तं उजुमदिणाणं तं तिविधं उज्जुगं मणोगदं जाणदि। उज्जुगं वचिगदं जाणदि। उज्जुगं कायगदं जाणदि। मणण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदिं मदिं चितादि विजाणदि, जीविद मरणं लाभालाभं सुहदुक्खं णगरविणासं देह(देस)विणासं जणपदविणासं अदिबुट्ठि अणाबुट्ठि सुबुट्ठि दुबुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमभयरोग उब्भय इब्भय सभम वत्तमाणाणं जीवाणं णो अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि। जहण्णेण गाउदपुधत्तं। उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतगादो णो बहिद्धा। जहण्णेण दो तिण्णि भवग्गहणाणि, उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि गदिरागदिं पदुप्पादेदि।'' (म०ब०, भा० १ पृ० २४ २५।)

महाबधमें ज्ञानावरणीयकी प्रकृतियोके निमित्तसे ज्ञानके भेदका विवेचन तो प्रकृतिअनुयोगद्वारके अनुसार किया ह। किन्तु बाकीके सात कर्मोकी प्रकृतियोकी केवल सख्या बतला दी है। यथा दशनावरणीयकमकी नौ प्रकृतियाँ ह, वेदनीयकी दो प्रकृतियाँ ह आदि। चूँकि वगणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें कर्मोंकी प्रकृतियो-का वणन किया जा चुका था, इसीसे महाबन्धम उन सबका वणन नही किया गया।

आगे बन्धस्वामित्वविचय-बन्धके स्वामीपनेके विचारका प्रतिपादन किया गया है। यह कथन बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डका सक्षिप्त रूप है।

महाबन्धमे भी तीथकरप्रकृतिके बन्धके सोलह कारण बतलाये ह किन्तु सोलह कारणोंके क्रममें थोडा अन्तर है। यहाँ आठवें नम्बरपर 'साधुसमाधि-सधारणता'के स्थानमे 'साधुप्रासुकपरित्यागता पाठ है और नौवें नम्बरपर 'वैयावृत्ययोगयुक्तता'के स्थानमे 'समाधिसधारणता पाठ है। तथा न० १०में 'साधु-

प्रासुकपरित्यागता' के स्थानमें 'वैयावृत्त्ययोगयुक्तता' पाठ है। शेष पाठ समान हैं।

आगेका ताडपत्र त्रुटित होनेसे बन्धस्वामित्वका आदेशकथन अधूरा रह गया है। आगे कालप्ररूपणा है। इसका भी आरम्भिक भाग नहीं है। इसमें गति आदि मार्गणाओंकी अपेक्षा प्रत्येक कर्मप्रकृतिका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल बतलाया है। यथा—नरकगतिमें एक जीवकी अपेक्षा तीर्थंकरप्रकृतिका जघन्यबन्धकाल ८४ हजार वर्ष और उत्कृष्ट साधिक तीन-तीन सागर है। आदि।

आगे एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगमका कथन करते हुए प्रत्येक कर्मके बन्धका अन्तरकाल बतलाया है। यह कथन जीवस्थानके अन्तरानुगम अनुयोगद्वारपर आधत है, उसीके आधारपर कर्मोंके बन्धके अन्तरकालका कथन किया गया है।

तत्पश्चात सन्निकषका कथन है। उसके दो भेद किये हैं—स्वस्थानसन्निकष और परस्थानसन्निकर्ष। स्वस्थानसन्निकषमें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयकमकी जो एक भी प्रकृतिका बन्ध करता है वह उस कर्मकी शेष प्रकृतियोंका भी बन्धक होता है। इस प्रकार स्वस्थानसन्निकर्षमें एकजातीय प्रकृतियोंके बन्धके सन्निकषका कथन है और परस्थानसन्निकषमें सजातीय तथा विजातीय प्रकृतियोके बन्धके सन्निकषका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणीय कमका बन्धक शेष चार श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय प्रकृतियोका और दर्शनावरणकी चार तथा अन्तरायकमकी पाँच प्रकृतियोका बन्धक है। कथन बहुत विस्तारसे किया गया है।

भगविचयअनुयोगद्वारमें भगोंका विचार किया गया है। यथा सातावेदनीयके अनेक बन्धक और अनेक अबन्धक होते हैं। चारो आयुकर्मोंके अनेक बन्धक है, अनेक अबन्धक है। इस तरह प्रत्येक प्रकृतिके भगोका विचार बन्धक और अबन्धककी अपेक्षा किया गया है।

भागाभागानुगममें बतलाया है कि अमुक प्रकृतिके बन्धक अथवा अबन्धक सब जीवोके कितने भागप्रमाण हैं? यथा—सातावेदनीयके बन्धक सब जीवोंके कितने भाग हैं? सख्यातवें भाग हैं। अबन्धक सब जीवोंके सख्यात बहुभाग हैं। असाताके बधक सबजीवोंके कितने भाग हैं? सख्यात बहुभाग हैं। अबंधक सर्वजीवोंके कितने भाग हैं? संख्यातवें भाग हैं। आदि।

परिमाणानुगम अनुयोगद्वारमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धकों और अबन्धकोंका परिमाण बतलाया है। यथा—सातावेदनीयके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। असाताके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। दोनों वेदनीयकर्मोंके बन्धक और अबन्धक अनन्त हैं, इत्यादि।

क्षेत्रानुगममें बतलाया है कि कर्मप्रकृतियोके बन्धक और अबन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं। यथा—साता और असाताके बन्धक और अबन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? सर्वलोकमें। दोनो वेदनीयकर्मोंके बन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? सर्वलोकमें। अबन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असख्यातवें भागमें।

स्पर्शनानुगममे स्पर्शनका कथन है। यथा—साताके बन्धकों और अबन्धकों-ने कितने क्षेत्रका स्पशन किया है ? सर्वलोकका। असाताके बन्धकों और अब न्धकोने कितने क्षेत्रका स्पशन किया है ? सर्वलोकका। दोनो प्रकृतियोके बन्धकोने सर्वलोकका स्पशन किया है। और अबन्धकोने लोकके असख्यातवें भागका स्पर्शन किया है।

कालानुगममे नाना जीवोकी अपेक्षा प्रकृतियोंके बन्धकोका काल बतलाया ह। यथा—साता और असाताके बन्धक और अबन्धक कितने काल तक होते हैं ? सवकाल होते हैं। दोनोके बन्धक और अबन्धक कितने काल तक होते ह ? सवकाल होते हैं। नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरानुगममें कर्मप्रकृतियोके बन्धको और अबन्धकोंका अन्तरकाल नाना जीवोकी अपेक्षा बतलाया है। नर-कायु, मनुष्यायु और देवायुके बन्धकोंका जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे २४ मुहूर्त अन्तर ह। अर्थात अधिक से-अधिक २४ मुहूतका समय ऐसा आ सकता है जिनमें कोई जीव इन तीनो आयुकर्मोंका बन्धक न हो। अबन्धकोका अन्तर नही है। तियञ्चायुके बन्धको और अबन्धकोका अन्तर नही है। इत्यादि।

भावानुगममे बतलाया है कि कमप्रकृतियोके बन्धको और अबन्धकोका कौन भाव है ? यथा—मिथ्यात्वके बन्धकोका कौन भाव है ? औदयिक भाव ह। अबन्धकोमें कौन-सा भाव है ? औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या पारिणामिक।

अल्पबहुत्वके दो भेद किये हैं—एकजीवअल्पबहुत्व और दूसरा कालअल्प बहुत्व। इन दोनोके भी स्वस्थान और परस्थानकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। यथा—साता और असाता दोनो प्रकृतियोके अबन्धक जीव सबसे कम हैं। साता के बन्धक जीव अनन्तगुणे हैं। असाताके बन्धक जीव उनसे सख्यातगुणे हैं। दोनोंके बन्धक जीव इनसे विशेष अधिक हैं। यह स्वस्थानजीवअल्पबहुत्वके कथन-का उदाहरण है।

ओघकी अपेक्षा आहारकशरीरके बन्धक जीव सबसे कम हैं। तीर्थंकर-प्रकृतिके बन्धक जीव उनसे असख्यातगुणे हैं। मनुष्यायुके बन्धक जीव उनसे असख्यातगुणे हैं, इत्यादि। यह परस्थानजीवअल्पबहुत्वका उदाहरण है।

चौदह जीवसमासोमें साता-असाता इन दोनों प्रकृतियोंके बन्धकोंका जघन्य-काल समान रूपसे स्तोक है। सूक्ष्मअपर्याप्तकोमें साताके बन्धकका उत्कृष्टकाल

संख्यातगुणा है। असाताके बन्धकका उत्कृष्टकाल संख्यातगुणा है। इत्यादि। यह स्वस्थानकालअल्पबहुत्वका उदाहरण है।

परस्थानकालअल्पबहुत्वमें परिवर्तमान प्रकृतियोंका परस्थानमें अल्पबहुत्वका कथन किया है। ऐसी परिवर्तमान प्रकृतियाँ यहाँ २१ ली हैं—४ गति, २ गोत्र, २ वेदनीय, ४ आयु, हास्य-रतिका युगल और यश कीर्ति-अयश कीर्तिका युगल। इन्हींके अल्पबहुत्वका विवेचन है।

इस प्रकार उक्त अनुयोगोंके द्वारा प्रकृतिबन्धका कथन ओघसे और आदेशसे किया गया है।

बन्धस्वामित्वविचयमें तो गुणस्थानों और मार्गणाओंमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धके केवल स्वामियोका ही कथन था। यहाँ उनके बन्धकों और अबन्धकोंके काल क्षेत्र, अन्तर आदि अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है।

२ स्थितिबन्धाधिकार

स्थितिबन्धके मुख्य अधिकार दो हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्धके मुख्य अधिकार चार हैं—स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

प्रत्येक कर्मके जघन्यस्थितिबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थान तक के समस्त विकल्पोको स्थितिबन्धस्थान कहते हैं। समस्त ससारी जीव चौदह जीवसमासोमे विभक्त है। इनमेंसे एक एक जीवसमासमें अलग-अलग कितने स्थितिविकल्प होते हैं, स्थितिबन्धके कारणभूत सक्लेशस्थान और विशुद्धिस्थान कितने हैं, और सबसे जघन्य स्थितिबन्धसे लेकर उत्तरोत्तर किसके कितना स्थितिबन्ध होता है, अल्पबहुत्वकी प्रक्रिया द्वारा इन तीन बातोका कथन स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणामें किया गया है।

एक समयमें बँधे हुए कर्मोंके निषेकोंका उस समय प्राप्त स्थितिमें जिस क्रमसे निक्षेप होता है उसे निषेकरचना कहते हैं। इसका कथन करनेवाली प्ररूपणाको निषेकप्ररूपणा कहते हैं। निषेकप्ररूपणाका कथन दो अनुयोगोके द्वारा किया गया है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधाके द्वारा बतलाया है कि आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका जितना स्थितिबन्ध होता है उसमेंसे आबाधाकालको कम करके जो स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समयमें सबसे अधिक कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते हैं, और उसके आगे द्वितीयादि समयोंमें क्रमसे उत्तरोत्तर एक-एक चयहीन कर्मपरमाणुओंका निक्षेप होता है। इस प्रकार प्रति समयमें जिस कर्मके जितने परमाणुओंका बन्ध होता है उनका उक्त प्रकारसे

स्थितिके समयोमें विभाग हो जाता है। किन्तु आयुकर्मकी आबाधा उसके स्थिति-बन्धमें सम्मिलित नही है। इसलिये आयुकमके कमपरमाणुओंका विभाग उक्त क्रमसे स्थितिबन्धके सब समयोमें होता है।

किस कमकी कितनी आबाधा होती है, इस बातका भी यहाँ सकेत किया है। जीवस्थानके चूलिकाअनुयोगद्वारकी छठवीं और सातवी चूलिकामें क्रमसे उत्कृष्ट-स्थितिब-ध और जघन्यस्थितिबन्धका कथन करते हुए आबाधाका भी कथन किया गया है। अत उसको फिर यहाँ लिखना जरूरी नही है।

परम्परोपनिधामें बतलाया है कि प्रथम निषेकसे आगे पल्यके असख्यातवें भागप्रमाणस्थान जानेपर प्रथम निपेकमें जितने कमपरमाणु निक्षिप्त होते हैं उनसे व आधे रह जाते है। इसी प्रकार जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर पल्यके असख्यातवे भागप्रमाण जानेपर वे आधे-आधे रह जाते है। सब कर्मोंकी निषेक रचनाका यही क्रम ह।

बधको प्राप्त कम जितने काल तक फल देनेमें समथ नही होते उतने कालको आबाधाकाल कहते ह। और जितने स्थितिविकल्पोका एक सा आबाधाकाल होता ह उतन स्थितिविकल्पोकी एक आबाधा होनेसे आबाधाकाण्डक सज्ञा ह। इसका विचार जिसमें किया जाता ह उसे आबाधाकाण्डकप्ररूपणा कहते हं।

आबाधाकाण्डकप्ररूपणामें बतलाया ह कि उत्कृष्टस्थितिसे पल्यके असख्यातवें भागप्रमाणस्थान जाने तक इन सब स्थितिविकल्पोका एक आबाधाकाण्डक होता है अर्थात इतने स्थितिविकल्पोकी उत्कृष्ट आबाधा हाती है।

उसके बाद इतने ही स्थितिविकल्पोकी एक समय कम आबाधा होती है। इस प्रकार जघन्यस्थितिपर्यन्त ले जाना चाहिये। यहाँ जितने स्थितिविकल्पोकी एक आबाधा होती ह उसकी आबाधाकाण्डकसज्ञा है। आबाधारहित उत्कृष्ट स्थितिमें उत्कृष्टआबाधाकालका भाग देनेपर एक आबाधाकाण्डकका प्रमाण आता है। किन्तु आयुकममें यह नियम लागू नही होता क्योकि आयुकमकी आबाधा उसके स्थितिबन्धके अनुपातसे नही होती।

चौथ अल्पबहुत्वप्रकरणमे जीवसमासोमे जघन्यआबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, उत्कृष्टआबाधा नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणहानि-स्थानान्तर, जघन्यस्थितिबन्ध, स्थितिबन्धस्थान और उत्कृष्टस्थितिबन्ध इन सबके अल्पबहुत्वका कथन किया ह।

आगे उक्त विवेचनको अथपद मानकर चौबीस अधिकारोके द्वारा मूलप्रकृति-स्थितिबन्धका कथन किया गया है। वे अधिकार हं—अद्धाछेद, सर्वबन्ध, नो-

सर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादि-बन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध स्वामित्व, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नाना-जीवोंकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। इसके बाद भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसान-समुदाहार और जीवसमुदाहार। इन प्रकरणों द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध-का विचार किया गया है। इनमेंसे भुजगारबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं, पदनिक्षेप-के तीन अनुयोगद्वार हैं वृद्धिबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं और अध्यवसानसमुदा-हारके तीन अनुयोगद्वार हैं। जीवसमुदाहारका कोई अवान्तरअनुयोगद्वार नही है।

आगे उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धका भी विचार इसी प्रकारसे किया गया है। अन्तर इतना है कि मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमें केवल आठ मूलकर्मोंके आश्रयसे विचार किया गया है और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धमे १२० उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे विचार किया गया है क्योकि यद्यपि आठो कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं तथापि दर्शन-मोहनीयकी तीन प्रकृतियोमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यकमिथ्यात्वप्रकृति ये दो अबन्धप्रकृतियाँ है और पाँच बन्धनो तथा पाँच सघातोका पाँच शरीरोमें अन्तर्भाव हो जाता है तथा स्पर्शनामकर्मके ८, रसनामकर्मके ५, गन्धनामकर्मके २ और वर्णनामकर्मके ५ इन बीस भेदोमेंसे स्पर्श, रस गन्ध और वर्ण इन चारका ही ग्रहण किया जाता है। इस तरह २ + १० + १६ = २८ प्रकृतियोके कम हो जानेसे १२० बन्धप्रकृतियाँ अभेदविवक्षामें ली गई हैं।

३ अनुभागबन्धाधिकार

आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होने वाले कर्मोंमें राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे जो फलदानशक्ति पडती है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। मूलप्रकृति और उत्तर-प्रकृतिकी अपेक्षा उसके भी दो भेद हैं—एक मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और दूसरा उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध। इस प्रकरणमें इन्ही दोनों बन्धोंका विस्तारसे कथन किया गया है।

सबसे प्रथम मूलप्रकृतिअनुभागबन्धका कथन किया गया है। उसमें दो मुख्य अनुयोगद्वार है—निषेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा। निषेकरचना दो प्रकारकी है, एक स्थितिकी अपेक्षा और एक अनुभागकी अपेक्षा। आबाधाकालको छोडकर स्थितिके प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त कर्मपुंजका जो निक्षेप होता है वह स्थिति-की अपेक्षा निषेकरचना है। स्थितिबन्धाधिकारमें उसका कथन किया गया है। अनुभागके आधारसे निषेकरचनाका कथन वेदनाखण्डका परिचय कराते हुए किया गया है। अनुभागकी मुख्यतासे निषेक दो प्रकारके होते हैं—सर्वघाति और देश-घाति। यद्यपि सर्वघाती और देशघाती भेद घातिकर्मोंमें ही सम्भव है तथापि

यहाँ अघातिकर्मोंमें भी ये दो भेद किये गये हैं क्योंकि अघातिकर्म भी जीवके प्रतिजीवीगुणोंको घातनेके कारण घातिप्रतिबद्ध ही हैं। अत निषेकप्ररूपणामें सब कर्मोंके सर्वघाति और देशघाति निषेकोंका कथन किया गया है।

अनन्तानन्तअविभागीप्रतिच्छेदोंके समुदायको एक वर्ग कहते हैं। अनन्तानन्त वर्गोंकी एक वर्गणा होती है और अनन्तानन्त वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते है। वेदनाखण्डमें स्पर्धकप्ररूपणाका परिचय कराया गया है। स्पर्धकप्ररूपणामें स्पर्धकोंका कथन है।

ये दोनो अनुयोगद्वार आगेकी प्ररूपणाके मूलाधार हैं। उनको आधार बनाकर संज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि चौबीस अनुयोगोके द्वारा अनुभागबन्धका कथन किया गया है। यहाँ संक्षेपमें इनका परिचय कराया जाता है।

संज्ञा—संज्ञाके दो भेद हैं घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा। आठ कर्मोंमेसे चार कर्म घाती ह और चार अघाती हैं। घातिकर्मके भी दो भेद ह, सर्वघाती और देशघाती। जो जीवके ज्ञानादि गुणोको पूरी तरहसे घातते हैं उन्हे सर्वघाती कर्म कहते हैं और जो एकदेशघात कहते हैं उन्हे देशघाती कहते हैं। चार घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती और देशघाती होता ह। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती होता है तथा अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाती और सर्वघाती होता है। शेष चार कर्मोंका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध घातीसे सम्बद्ध अघाती होता हं। घातिसंज्ञामे यह कथन किया गया है।

घातिकर्मोंमें लता दारु, अस्थि और शैलकी उपमाको लिये हुए चार प्रकारका अनुभाग माना गया ह। जिसमें यह चारो प्रकारका अनुभाग होता है, उसे चतु स्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें शैलके बिना शेष तीन प्रकारका अनुभाग होता है उसे त्रिस्थानिक अनुभाग कहते है। जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता ह उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते हैं। और जिसमे केवल लता रूप अनुभाग होता है उसे एकस्थानिक अनुभाग कहते हैं। चारो घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतु स्थानिक होता ह। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्यअनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है, और अजघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक होता है।

अघातिकर्म दो प्रकारके होते हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त कर्मोंके अनुभागकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी जाती है। और अप्रशस्त

कर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, काञ्जीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। अघातिकर्मोंमें भी पाये जानेवाले चारों प्रकारके अनुभागको चतुःस्थानिक अन्तके भेदको छोड़कर पाये जानेवाले शेष तीन प्रकारके अनुभागको त्रिस्थानिक और अन्तके दो भेदोंको छोड़कर पाये जाने वाले शेष दो प्रकारके अनुभागको द्विस्थानिक कहते हैं। चार अघातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुस्थानिक, त्रिस्थानिक, और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। तथा अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक होता है। यह सब कथन [illegible] किया गया है।

सर्व-नोसर्वबन्ध—सब अनुभागोंके बन्धको सर्वबन्ध और उससे कम अनुभाग बन्धको नो सर्वबन्ध कहते हैं। इसका विचार इस अनुयोगमें किया है। आठों कर्मोंका अनुभागबन्ध सर्वबन्धरूप भी होता है और नो सर्वबन्ध रूप भी होता है।

उत्कृष्ट अनुत्कृष्टबन्ध—सबसे उत्कृष्ट अनुभागबन्धको उत्कृष्ट अनुभागबन्ध और उससे कम अनुभागबन्धको अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध कहते हैं।

सभी कर्मोंमें दोनो प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

जघन्य-अजघन्य अनुभागबन्ध—सबसे कम अनुभागबन्धको जघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। और उससे अधिक अनुभागबन्धको अजघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। सभी कर्मोंमें दोनों प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

सादि-अनादि ध्रुवाध्रुवबन्ध—किसी कर्मका बन्ध न होकर पुन बन्ध होने तो उसे सादि बन्ध कहते हैं। जो जीव अनादि कालसे पहले ही गुणस्थानमें वतमान है उसका बन्ध अनादिबन्ध है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका कर्मबन्ध अध्रुव है। ऊपर जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकारका बन्ध कहा है वह सादि है अथवा अनादि, इसका कथन इन अनुयोगद्वारोंमें किया गया है।

स्वामित्व—इसका कथन तीन अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षा किया गया है वे तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा। प्रत्यय कहते हैं। कारणको कर्मबन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग। इन चारोंमेंसे किसके निमित्तसे किस कर्मका बन्ध होता है इसका विस्तार प्रत्ययानुगममें किया गया है। यथा-छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होते हैं। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय कषाय प्रत्यय और योगप्रत्यय होता है।

कर्मोंके अनुभागका विपाक जीवमें, पुद्गलमें, क्षेत्रमें या भवमें होता है।

तदनुसार कर्मोंके चार भेद किये गये हैं—जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी। चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्र ये जीवविपाकी हैं। आयुकर्म भवविपाकी है क्योंकि नारक आदि भवोंमें उसका विपाक देखा जाता है नामकर्मकी कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं, कुछ पुद्गलविपाकी और कुछ क्षेत्रविपाकी। यह सब कथन विपाकदेशमें किया गया है।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणामें कहा है कि चार घातिकर्म अप्रशस्त हैं और अघातिकर्म प्रशस्त भी हैं अप्रशस्त भी। इन तीन अनुयोगद्वारोका कथन करनेके बाद उसके आधारसे स्वामित्वका कथन विस्तारसे किया गया है।

भुजगारबन्ध—भुजगारसे यहाँ भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध लिये गये हैं। वर्तमान समयमें पिछले समयसे अधिक भागबन्ध होना भुजगार बन्ध है। और कम अनुभागबन्ध होना अल्प- अनुतरबन्ध है। तथा पिछले समयमें जितना अनुभागबन्ध हुआ हो, वर्तमानमें भी उतना ही अनुभागबन्ध होना अवस्थितबन्ध है। तथा पिछले समयमें बन्ध न होकर वर्तमानमें बन्ध होनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। इन चारो प्रकारके बन्धोकी अपेक्षा अनुभागबन्धका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया हैं। इसमें तेरह अवान्तर अधिकार है—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल अन्तर नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व।

पदनिक्षेप—इस अनुयोगद्वारमें अनुभागबन्ध सम्बन्धी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि, उत्कृष्ट अवस्थान, जघन्यवृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन अवान्तर अधिकारोके द्वारा कथन किया गया है।

वृद्धि—वृद्धिबन्धमें छह वृद्धि, छह हानि, अवस्थित और अवक्तव्य पदोका समुत्कीर्तना, स्वामित्व काल, अन्तर, नानाजीवोकी अपेक्षा भग विचयानुगम भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व इन तेरह अनुयोगोंके द्वारा कथन किया गया है।

अध्यवसान समुदाहार—इसमें ये बारह अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर काण्डक, ओजयुग्म, षटस्थान, अधस्तन स्थान, समय वृद्धि, यवमध्य पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। चतुर्थ वेदना खण्डके अन्तर्गत वेदनाभाव विधान नामक अनुयोगद्वारकी द्वितीय चूलिकाका परिचय कराते हुए इन सबका परिचय करा आये हैं।

जीवसमुदाहार—इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं—एक स्थान जीव स्थान प्रमाणा-

गुगम, निरन्तर स्थान-जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव काल प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व । उक्त वेदना भाव विधानके परिचयसे इनका परिचय भी ज्ञात किया जा सकता है ।

इसप्रकार मूलप्रकृति अनुभागबन्धका कथन करके पश्चात् उत्तर प्रकृति अनुभागबन्धका कथन उक्त अनुयोगोंके द्वारा किया गया है ।

प्रदेशबन्धाधिकार

महाबन्धके इस अन्तिम अधिकारमें मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति-प्रदेशबन्धका कथन किया गया है । दोनोंके कथनका प्रकार एक ही है । सबसे प्रथम भागाभाग समुदाहारका कथन है—

भागाभाग समुदाहार—आठ मूलकर्मोंका बन्ध होते समय किस कर्मको समय-प्रबद्धका कितना भाग मिलता है यह इसमें बतलाया गया है । सबसे कम भाग आयुको मिलता है क्योंकि उसका स्थितिबन्ध सब कर्मोंसे अल्प है । उससे नामकर्म और गोत्रकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है—क्योंकि दोनोका स्थितिबन्ध तुल्य होते हुए भी आयुकर्मसे अधिक है । इन दोनोसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि इन तीनोंका स्थितिबन्ध नाम गोत्रसे अधिक है किन्तु परस्परमें समान है । उनसे मोहनीय-कर्मको अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसका स्थितिबन्ध सबसे अधिक है । किन्तु वेदनीयकर्मको मोहनीयसे भी विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि सुख दुःखके निमित्तसे वेदनीयकी निर्जरा बहुत होती रहती है । आठो कर्मोंको जो भाग मिलता है वह उनकी बन्धको प्राप्त अवान्तर कर्म प्रकृतियोंमें बँट जाता है । घातिकर्मोंको प्राप्त द्रव्य दो भागोंमें हो जाता है सर्वघाती और देशघाती । सर्वघाती द्रव्य सब प्रकृतियोंमें बट जाता है किन्तु देशघाती द्रव्य केवल देशघाती प्रकृतियोंमें ही बटता है । वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बधती है अतः इन्हें जो द्रव्य मिलता है वह सब उस एक ही कर्मप्रकृतिको मिल जाता है । अतः इनमें अवान्तर विभाग नहीं होता । शेष पाँच कर्मोंमें ही अवान्तर विभाग होता है । उनकी जिस समय जितनी अवान्तर प्रकृतियाँ बंधती हैं । उतनेमें ही बटवारा होता है ।

यद्यपि महाबन्धकी रचना गद्य सूत्रात्मक है । तथापि उत्तर प्रकृति प्रदेश बन्धाधिकारके प्रारम्भमें दो गाथाएँ आती हैं । उनके द्वारा घातिकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें बटवारेके क्रमका निर्देश किया गया है । गाथाएँ इस प्रकार हैं—

'ज सव्वघादिपत्तं सगकम्म पदेसाणतिमो भागो ।
आवरणाण चदुधा तिधा च तत्थ पचधाविग्घे ।।
मोहे दुधा चदुद्धा पंचधा वा पि बज्झमाणीणं ।
वेदणीयाउगगोदे य बज्झमाणीण भागो से ।।
(म० ब०, भा० ६, पृ० ८९)

इनमें बतलाया है कि प्रदेशबन्धके होने पर घातिकर्मोंको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसका अनन्तवाँ भाग सवघाती द्रव्य है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य है। ज्ञानावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी चारों देशघाती प्रकृतियोंमें विभक्त हो जाता है। दर्शनावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी तीनो देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है। अन्तरायकर्म देशघाती ही है। अत उसको प्राप्त द्रव्य उसकी पाँचो देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है। मोहनीयकमके देशघाती द्रव्यके मुख्य दो भाग होते हैं एक भाग कषायवेदनीयको मिलता ह और एक भाग नोकषाय वेदनीयको। कषायवेदनीयका द्रव्य बन्धानुसार चार भागोमे और अकषायवेदनीयका द्रव्य पाँच भागोमें विभक्त हो जाता है। वेदनीय, आयु और गोत्रकमकी उत्तर प्रकृतियोमेंसे एक कालमें एकका ही बन्ध होता है। इसलिये इन कर्मोंको प्राप्त द्रव्य बंधने वाली उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

भागाभाग समुदाहारके पश्चात चौबीस अनुयोगद्वारोका निर्देश है। जो इस प्रकार हैं—स्थानप्ररूपणा, सर्वबन्ध, नोसवबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध अध्रुवबन्ध, स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षाकाल, अन्तर, सन्निकष, नानाजीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण क्षत्र, स्पशन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। उनके पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान समुदाहार और जीव समुदाहारका कथन किया गया है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्थान प्ररूपणा—इसके अवान्तर अधिकार दो हैं—योग स्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा। योग स्थान प्ररूपणामें चौदह जीव समासोंके आश्रयसे पहले जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंके अल्प बहुत्वका कथन किया है। फिर दस अनुयोगोंके द्वारा उनका विशेष कथन किया है। वे दस अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंको लानेमें कारण है

उसे योग कहते हैं । जीवके सब प्रदेशोंमें योग शक्ति असमानरूपसे रहती है । उसीसे योग स्थान बनते हैं । पहली अविभागी प्रतिच्छेद प्ररूपणामें बतलाया है कि प्रत्येक आत्म प्रदेशमें योगशक्तिके कितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं । उन्हींके समूहको वर्गणा और वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं । वर्गणा और स्पर्धक प्ररूपणामें उनकी वर्गणाओं और स्पर्धकोंका कथन है ।

अन्तर प्ररूपणामें बतलाया है कि एक स्पर्धककी अन्तिमवर्गणासे दूसरे स्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा कितना अन्तर होता है । स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि कितने स्पर्धक मिलकर एक योगस्थान बनता है । अनन्तरोपनिधामें बतलाया है कि जघन्य योगस्थानसे लेकर उत्कृष्ट योगस्थान तक प्रत्येक योगस्थानमें कितने स्पर्धक बढ़ते जाते हैं । परम्परोपनिधामें बतलाया है कि कितने योगस्थान जानेपर वे स्पर्धक दूने हो जाते हैं । समय प्ररूपणामें बतलाया है कि चार समय वाले, पाँच समय वाले, छह समय वाले, सात समय वाले, आठ समय वाले तथा पुन सात समय वाले, छह समय वाले, पाँच समय वाले, चार समय वाले, और इनसे ऊपरके तीन समय वाले तथा दो समय वाले योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणिके असख्यातवें भाग प्रमाण हैं । वृद्धि प्ररूपणामें योगस्थानमें होने वाली असख्यात भाग वृद्धि, असख्यातभाग हानि, संख्यातभागवृद्धि-सख्यातभागहानि सख्यातगुणवृद्धि सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि-असंख्यात गुणहानि, इन चार हानि-वृद्धियोंका कथन किया गया है । अल्पबहुत्व प्ररूपणमें आठ समयवाले सात समय वाले आदि योगस्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन है । योगस्थान प्रकरणका दूसरा अधिकार प्रदेशबन्ध स्थान प्ररूपणा है । इसमें बतलाया है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान हैं किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं ।

सर्व-नो सर्वबन्ध—समस्त प्रदेशबन्धको सर्वबन्ध और उससे कमको नो सर्वबन्ध कहते हैं । ओघसे सभी कर्मोंका सर्वबन्ध भी होता है और नो सर्वबन्ध भी होता है । आदेशसे नरक गतिमें मोहनीय और आयु कर्मके सिवाय शेष कर्मोंका नो सर्वबन्ध होता है ।

उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धप्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सभी कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है । आदेशसे नरक गतिमें मोह और आयुकर्मके सिवाय शेष छै कर्मोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है ।

जघन्य-अजघन्य प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सब कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है ।

सादि-अनादि ध्रुव-अध्रुव प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे छह कर्मोंका उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध है अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सादि आदि चारो प्रकारका होता है। मोहनीय और आयुकर्मका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध होता है। इत्यादि कथन है।

स्वामित्वप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोमें उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोका कथन किया है। सामान्यरूपसे जो उत्कृष्ट योगसे युक्त होता है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके साथ कमसे कम प्रकृतियोका बन्ध करता है वह उत्कृष्ट प्रदेश बन्धका स्वामी होता है। तथा जो जघन्य योगसे युक्त होता है और जघन्य प्रदेशबन्धके साथ अधिकसे अधिक प्रकृतियोंका बन्ध करता है, वह जघन्य प्रदेशबन्धका स्वामी होता है।

कालप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोमें जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशबन्धके कालका कथन किया गया है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल दो समय है, इत्यादि।

अन्तरप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोके अन्तरकालका कथन है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य अन्तरकाल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तप्रमाण है इत्यादि।

सन्निकर्षप्ररूपणामें—उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्यप्रदेशबन्धके आश्रयसे स्वस्थान सन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्षका कथन किया गया है। पहले उत्कृष्ट-स्वस्थान और उत्कृष्टपरस्थान सन्निकर्षका कथन है, पश्चात जघन्यस्वस्थान और जघन्यपरस्थान सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणकर्मका उत्कृष्टप्रदेश बन्ध करनेवाला जीव श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका नियमसे उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है। यह उत्कृष्टस्वस्थान सन्निकर्षका उदाहरण है। इसी प्रकार ओघ और आदेशसे सब सन्निकर्ष घटित किये है। यह प्रकरण काफी बडा है। उत्कृष्ट सन्निकर्षके अन्तमें यहाँ भी 'पवाइज्जमाण' और अपवाइज्जमाण उपदेशोका निर्देश मिलता है। जैसा कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें मिलता है।

भंगविचयप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशबन्धके भगोका नानाजीवोंकी अपेक्षा कथन किया गया है। उसमेंसे मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन नष्ट हो गया है।

भागाभागप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें भागाभागप्ररूपणाका कथन भी नष्ट हो

गया है। उत्तरप्रकृतियोंमें भावाभावका कथन वर्तमान है। उदाहरणके लिये—तीन आयु, वैक्रियिकषट्क और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीव इसका बन्ध करनेवाले जीवोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असख्यात बहुभागप्रमाण होते हैं, इत्यादि कथन किया गया है। परिमाणप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग नष्ट हो गया है। उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग अवशिष्ट है। उसमें बतलाया है—तीन आयु, और वैक्रियिकषट्कका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असख्यात है। आहारकद्विकका उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं। इत्यादि रूपसे बन्ध करनेवालोंका परिमाण बतलाया गया है।

क्षेत्रप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें क्षेत्रप्ररूपणाका कथन तो त्रुटित है। उत्तर-प्रकृति विषयक कथन अवशिष्ट है। उसमें बतलाया है कि तीन आयु वैक्रियिक-षटक, आहारकद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोका क्षेत्र लोकके असख्यातवें भाग है और शेष प्रकृतियोका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोका क्षेत्र लोकके सख्यातवें भागप्रमाण है। इत्यादि कथन है।

स्पर्शन प्ररूपणा—मूलप्रकृतियोमें कथन करनेवाला भाग तो नष्ट हो गया है। उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध करने-वालोंके स्पर्शनका कथन अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अपेक्षाकाल—मूलप्रतियोकी अपेक्षा उत्कृष्टकाल प्ररूपणा नष्ट हो गई जघन्यकालप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृति विषयककाल प्ररूपणा अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अपेक्षा अन्तर—इसमें ओघतथा आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोका अन्तरकाल नानाजीवोंकी अपेक्षा बतलाया गया है। यथा—आठों कर्मोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धका जघन्य अन्तर एक समय है। अनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्धका अन्तरकाल नही है। उत्तरप्रकृतियोकी अपेक्षा भी यही काल है, इत्यादि कथन है।

भावप्ररूपणा—चूंकि सब प्रकृतियोंका बन्ध औदयिकभावसे होता है इसलिये यहाँ सब मूल और उत्तरप्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंके औदयिक भाव बतलाया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—अल्पबहुत्वके दो भेद हैं स्वस्थान अल्पबहुत्व और परस्थान अल्पबहुत्व। मूलप्रकृतियोंमें स्वस्थान अल्पबहुत्व संभव नही है। उत्तर-प्रकृतियोंका दोनो प्रकारका अल्पबहुत्व सभव है। यहां दोनो प्रकारका अल्प-बहुत्व उत्कृष्ट तथा जघन्यप्रदेशबन्धकी अपेक्षा ओघ तथा आदेशसे बतलाया है।

भुजगार बन्ध

इस प्रकरणमें भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंका कथन है । पिछले समयकी अपेक्षा वर्तमानमें अधिक प्रदेशोंका बन्ध करना भुजगार बन्ध है, कम प्रदेशोंका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है, पिछले समयमें जितना प्रदेश बन्ध किया था वर्तमान समयमें भी उतना ही प्रदेशबन्ध होना अवस्थितबन्ध है, और बन्ध न करके बन्ध करना अवक्तव्यबन्ध है । इन बन्धोंका कथन तेरह अनुयोगों के द्वारा किया गया है—समुत्कीर्तना स्वामित्व काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व । ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे इस प्रकरणका कुछ भाग लुप्त हो गया है ।

यहाँ भी मूल प्रकृतियोमें ओघसे अवस्थित पदके कालका कथन करते हुए पवाइज्जंत तथा अपवाइज्जंत उपदेशका निर्देश किया ह ।

पदनिक्षेप

उक्त भुजगार अल्पतर आदि पद उत्कृष्ट भी होते है और जघन्य भी होते हैं । अत इस प्रकरणमे भुजगारके उत्कृष्ट वृद्धि और जघन्य वृद्धि ये दो भेद करके अल्पतरके उत्कृष्ट हानि और जघन्य हानि ये दो भेद करके तथा अवस्थित पद-के उत्कृष्ट अवस्थान और जघन्य अवस्थान ये दो भद करके कथन किया गया है । अत पदनिक्षेपके समुत्कीतना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोमेंसे प्रत्येकके उत्कृष्ट और जघन्य ये दो भेद करके कथन किया है । तदनुसार उत्कृष्ट समुत्कीतना, उत्कृष्ट स्वामित्व और उत्कृष्ट अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोकी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थान-का कथम ह । तथा जघन्य समुत्कीतना, जघन्य स्वामित्व और जघन्य अल्पबहुत्व-में ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोकी जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका कथन है ।

इस प्रकरणका भी ताडपत्र नष्ट हो जानेसे कितना ही अंश लुप्त हो गया है ।

वृद्धि

वृद्धि पदसे यहाँ वृद्धि, हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन चारोंका ग्रहण होता है । इन चारोंके अवान्तर भेद बारह हैं—अनन्त भाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागहानि, सख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागहानि सख्यातगुणवृद्धि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणहानि, अवस्थित और अवक्तव्य । यहाँ इन पदोंकी अपेक्षा समुत्कीर्तना आदि तेरह अनुयोगोंका ओघ

और आदेससे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें कथन किया है। यहाँ भी मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा वृद्धि अनुयोगद्वारका कथन करने वाला प्रकरण ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे नष्ट हो गया है। केवल उत्तर प्रकृतियोंका प्रकरण अवशिष्ट है।

अध्यवसानसमुदाहार

अध्यवसान समुदाहारके अन्तर्गत दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगममें योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय कर्मके असंख्यात प्रदेशबन्धस्थान हैं जो योगस्थानोंसे संख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। इसका कारण भी बतलाया है। मूलप्रकृतियोंकी तरह ही उत्तर प्रकृतियोंमें प्रत्येक प्रकृतिकी अपेक्षा योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका अलग-अलग कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें इन योगस्थानो और प्रदेशबन्धस्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा किया है।

जीवसमुदाहार

जीवसमुदाहारके अन्तगत भी दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्प बहुत्व। प्रमाणानुगममें चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंको कथन करनेके बाद, उन्हीं चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध स्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें उसके जघन्य उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट भेद करके ओघ व आदेशसे सब मूल व उत्तर प्रकृतियोंके प्रदेशोंके बन्धक जीवोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है।

इस प्रकार महाबन्धके अन्तर्गत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धाधिकारोके विषयका यह सामान्य परिचय है। चारो अधिकारोकी शैली तथा अनुयोगद्वार आदि सब समान हैं। केवल आधार भूत प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध आदि बन्धोको लेकर ही विषय भेद पाया जाता है।

महाबन्धके उपर्युक्त वस्तु-विश्लेषणसे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त-ग्रन्थमें अनुयोगद्वार पूर्वकबन्धके भेदोका विवेचन किया गया है। इस विवेचन-सन्दर्भमें जिन भुजाकार आदि बन्ध-विकल्पोंका कथन आया है उनका उत्तरकालीन साहित्यपर पूरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। वास्तवमें बन्धका ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

द्वितीय अध्याय

चूर्णिसूत्र साहित्य

दिगम्बर परम्परामें मूल सिद्धान्त ग्रन्थोके कुछ ही समय पश्चात् चूर्णिसूत्र साहित्य लिखा गया है। इस साहित्य विधाका उद्गम कब और कैसे हुआ यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता पर 'कसायपाहुड' पर यतिवृषभके जो चूर्णि सूत्र उपलब्ध है, उनके अध्ययनसे यह अनुमान होता है कि इतने प्रौढ सूत्र एकाएक नही लिखे जा सकते है। अवश्य कोई पूववर्ती परम्परा रही होगी, जो अनवच्छिन्न कालके प्रवाहमें आज उपलब्ध नही है।

मूल सिद्धान्त ग्रन्थो और चूर्णि सूत्रोके तुलनात्मक अध्ययनसे इतना अवश्य प्रकट होता है कि चूर्णिसूत्र सिद्धान्त ग्रन्थोके पश्चात और अन्य भाष्य एव विवृत्तियोके पूवमें रचे गये होगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्पराका 'चूर्णिसूत्र साहित्य' श्वेताम्बर परम्पराके 'चूर्णि साहित्य' से स्थापत्य और वण्य-विषय दोनो ही दृष्टियोसे भिन्न है। श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियाँ गद्यात्मक और पद्यात्मक मिश्रित शैलीमें लिखी गयी हैं। इनकी भाषा भी सस्कृत मिश्रित प्राकृत है तथा कतिपय चूर्णियाँ प्राकृतमे भी उपलब्ध हैं। इन चूर्णियोकी शैली-की एक प्रमुख विशेषता आख्यानात्मक उदाहरणो द्वारा विषयके स्पष्टीकरणकी है। चूर्णिकार अपनी ओरसे कोई सिद्धान्तात्मक नये तथ्य अकित नहीं करता, अपितु नियुक्तियो और भाष्यों द्वारा विवृत तथ्योकी ही पुष्टि करता है।

पर दिगम्बर परम्पराके चूर्णि सूत्रोमें आगम सम्बन्धी नये तथ्योंकी प्रचुरता है। बीज पदरूप गाथा सूत्रो पर ये 'चूर्णिसूत्र' वृत्तिका काय करते हुए भी अनेक नये तथ्योको सूत्र रूपमें प्रस्तुत करते है। यही कारण है कि जयधवलाकारने चूर्णि सूत्रोंके भी व्याख्यान लिखे है। बताया जाता है कि 'कसायपाहुड' की गाथाओंका सम्यक अथ अवधारण कर उन पर वृत्ति सूत्र लिखे गये हैं। ये वृत्ति सूत्र ही चूर्णिसूत्र कहे जाते है। 'जयधवला' में वृत्ति सूत्रका लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए सगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।'[1]

---

१ जयधवला अ० प० ५२।

अर्थात् जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत विविध अर्थोंका संग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रोंके विवरणको वृत्ति सूत्र कहते हैं।

चूर्णि सूत्रोंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके साहित्यमें वृत्ति रूप संक्षिप्त सूत्र लिखे जाने पर भी अर्थ बहुल पदोंका समावेश किया गया जिससे चूर्णि सूत्रोंमें पर्याप्त प्रमेयका समावेश हुआ है। यदि इन चूर्णि सूत्रोंको चूर्णि पदों का समानार्थक मान लिया जाय, तो चूर्णिपदकी व्याख्यामें समाहित सभी लक्षण इन सूत्रोंमें घटित होते हैं। हम यहाँ चूर्णिपदका लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

अत्थबहुल महत्थं हेउ-निवाओवसग्गगम्भीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गम-णयसुद्धं तु चुण्णपयं ॥[1]

अर्थात् अर्थबहुल, महान अथका धारक या प्रतिपादक, हेतु निपात और उपसर्गसे युक्त गम्भीर, अनेक पद समन्वित और अव्यवच्छिन्न चूर्णिपद कहलाते हैं। आशय यह है कि जिनमें वस्तुका स्वरूप धारा प्रवाहसे कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकारके जाननेके उपाय और नयोंसे शुद्ध हों, उन्हें चौण अथवा चूर्णि सम्बन्धीपद कहते हैं।

चूर्णिपदका यह लक्षण चूर्णि सूत्रोंमें घटित होता है। अत यह अनुमान सहज है कि 'वृत्ति' और 'चूर्णि एकार्थक हैं। आचार्य यतिवृषभने 'कसायपाहुड' के गाथा-सूत्रोपर वृत्यात्मक ऐसे सूत्र लिखें, जो बीजपदोंके विश्लेषणके साथ प्रसगगत नये तथ्योके भी सूचक हैं। अतएव चूर्णि सूत्र सूत्रात्मक शैलीमें रचित बीजपद विवृत्यात्मक ऐसा साहित्य है, जिसमें शब्द अल्प और अर्थबहुल पाया जाता है। यथाथत चूर्णिसूत्रकार गाथा-सूत्रोके बीजपदोंका विश्लेषण कई सूत्रों-में भी करते हैं। बीजपदोंमें अन्तर्निहित अर्थका विश्लेषण जब तक प्रकट नहीं हो जाता, तब तक वे सक्षिप्त रूपमें सूत्रोका प्रणयन करते हैं। अपने इस कथन-की पुष्टिके हेतु "पेज्जदोसविहत्तिअत्थाहियारा" की दूसरी गाथा बाईसवीं सम्यक ली जा सकती है। चूर्णि सूत्रकारने इस गाथाके प्रत्येक पदको बीज मान-कर प्रकृति विभक्तिका १२९ सूत्रोमें, स्थिति विभक्तिका ४०७ सूत्रोंमें, अनुभाग विभक्तिका १८९ सूत्रोमें, प्रदेश विभक्तिका २९२ सूत्रोमें, क्षीणाक्षीणका १४२ सूत्रोंमें और स्थित्यन्तिकका १०६ सूत्रोंमें वणन किया है। इस वर्णनसे यह ध्वनित होता है कि चूर्णिसूत्र साहित्य बीजपदोंका व्याख्यात्मक तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे भी अनेक पद प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या या वर्णन जाननेके लिये सकेत किया गया है। अणुचिंतिऊण णेदव्व (सूत्र १९२, गाथा ६२), णेच्छियव्वं (सूत्र १५५, गाथा १२३), वत्तव्वं (सूत्र ३३५, गाथा १२३), साहेयव्व (सूत्र ८५

1 अभिधान राजेन्द्र "चुण्णपद"।

गाथा ५८९,) आदि पदोंसे यह प्रकट है कि चूर्णिसूत्रोंमें निहित अर्थ उच्चारणाचार्य या व्याख्यानाचार्यों द्वारा अवगन्तव्य अथवा मननीय है।

चूर्णि सूत्रोंके विश्लेषणके सम्बन्धमें 'जयधवलाटीका' में भी कतिपय तथ्य उपलब्ध हैं। हम यहाँ इस विमर्शको प्रस्तुतकर 'चूर्णि सूत्र' साहित्य विधाके स्वरूप निर्धारणका प्रयास करेंगे। वास्तवमें यह साहित्य विधा वृत्यात्मक ऐसी मौलिक विधा है, जिसमें बीज पदोंकी वृत्तिके साथ विषय सम्बन्धी नये तथ्य भी संकेतित हैं। चूर्णि सूत्रोंमें प्रस्तुत की गयी वृत्तियाँ सूत्रात्मक हैं, भाष्यात्मक नहीं। साहित्य विधाकी मनोवैज्ञानिक पीठिकामें बतलाया जाता है कि मूल आगम सम्बन्धी रचनाओंके तत्काल ही सूत्रात्मक वृत्तियाँ लिखी जाती हैं, जो उत्तरकालीन वार्तिकका पूर्व रूप रहती हैं, ऐसे सूत्रोंकी व्याख्याएँ भी उत्तरकालमें टीकाकारो द्वारा लिखी जाती हैं।

जयधवलाकी मंगल गाथाओंमें यतिवृषभको वित्तिसुत्तकत्ता[1]—वृत्तिसूत्र कर्ता लिखा है। और जयधवलाके अन्दर[2] तो चुण्णिसुत्त करके बहुतायतसे उनका उल्लेख पाया जाता है। इसी तरह षट्खण्डागमकी[3] टीका धवलामें भी चुण्णिसुत्त नामसे उनका निर्देश पाया जाता है। इन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें[4] वृत्तिसूत्र और चूर्णिसूत्र दोनो नामोंका प्रयोग बडे ढंगसे किया है। उन्होंने लिखा है कि उसके पश्चात् यतिवृषभने उन गाथाओं पर वृत्ति सूत्र रूपसे छै हजार प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभकी इस कृतिका नाम चूर्णिसूत्र है और कषायपाहुडकी वृत्तिरूप होनेसे उन्हें वृत्ति सूत्र कहते हैं।

धवलामें इन्हें पाहुड[5] चुण्णिसुत्त भी कहा है। कसायपाहुडका संक्षिप्त नाम पाहुड करके उसके चूर्णिसूत्र होनेसे पाहुडचुण्णिसुत्त कहना उचित ही है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी अन्तिम[6] गाथामें त्रिलोकप्रज्ञप्तिका परिमाण बतलाते हुए

---

१. 'सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ।' —क० पा०, भा० १ पृ० २।

२ क० पा० भा० १, पृ० ५, १२, २७, ८८, ९६।

३ 'पुणो सो अत्थो आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहरभडारयं संपत्तो। पुणो तत्तो आइरियपरंपराए आगंतूण अज्जमखु णागहत्थिभडारयाणं मूलं पत्तो। पुणो तेहि दो-हिवि कमेण जदिवसह भडारयस्स वक्खाणिदो, तेणवि अणुभागसंकमे सिस्साणुग्गहट्ठम चुण्णिसुत्ते लिहिदो। —षटखं, पु० १२, पृ० २३२।

४ 'तेन ततो यतिपतिना तद्गाथा वृत्तिसूत्ररूपेण। रचितानि षट्सहस्रग्रन्था यन्य चूर्णि सूत्राणि ॥ १५६ ॥ —तत्त्वानु ०, पृ० ८७।

५ 'एयस्स कत्थ सिद्ध ? पाहुड चुण्णिसुत्ते सुप्पसिद्ध।' —षटखं, पु० १२, पृ० ९४।

६ 'चुण्णिसरूव छक्करणसरूवपमाण होइ किं जं तं। अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्ति णामाए ॥७७॥ —ति० प० भा० २, प० ८८२।

'चूर्णिसुत्तम्' का निर्देश आया है जो यतिवृषभकृत 'चूर्णिसूत्रोंके' लिये ही आया है। इस गाथाके यतिवृषभकी कृति माने जानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभने स्वयं अपनी इस कृतिको 'चूर्णि' संज्ञा प्रदान की थी।

दि० जैनसाहित्यमें चूर्णिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध अन्य किसी रचनासे हम अवगत नहीं हैं। किन्तु धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने षट्खण्डागमके सूत्रोंको भी 'चुण्णिसुत्त' नामसे अभिहित किया है। परन्तु उन्हीं सूत्रोंको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप है। बात यह है कि वेदनाखण्डमें कुछ गाथाएँ भी आती हैं जो सूत्र उनके व्याख्यानरूप हैं उन्हींको धवलाकारने चूर्णिसूत्र[1] कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गाथाओंके व्याख्यानरूप सूत्र चूर्णिसूत्र कहे जाते थे।

जयधवलाकारने यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोंको वृत्तिसूत्र कहा है। जिस प्रसगसे जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका लक्षण दिया है, उस प्रसगको भी यहाँ दे देनेसे उसपर विशेषप्रकाश पड़ेगा।

प्रसग यह है कि चूर्णिसूत्रोंमें एक जगह केवल दोका अक रखा है। उसपर शकाकार पूछता है कि यह दोका अक यहाँ क्यों रखा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि अपने हृदयमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये यतिवृषभाचार्यने २ का अक रखा है। इसपर शकाकार पुन पूछता है कि उस अर्थको अक्षरोंके द्वारा क्यों नहीं कहा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि वृत्तिसूत्रका अर्थ कहनेपर चूर्णिसूत्रके उपयुक्त कोई नाम ही नहीं रहता क्योंकि जिसमें वृत्तिसूत्रका अर्थ भी कहा गया हो उसे वृत्तिसूत्र नहीं कहा जा सकता। 'जो सूत्रका ही व्याख्यान करता है तथा जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त है और जिसमें सूत्रके समस्त अर्थको संगृहीत कर दिया गया है उसे वृत्तिसूत्र'[2] कहते हैं।

वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें पूर्णतया घटित होता है क्योंकि उसकी शब्द रचना संक्षिप्त है फिर भी उनमें गाथासूत्रोंका समस्त अर्थ संगृहीत है। संभव है जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका यह लक्षण चूर्णिसूत्रोंको दृष्टि रखकर ही बनाया हो।

किन्तु इस प्रकारके वृत्तिसूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम देनेका हेतु क्या है यह पूर्वमें लिखा जा चुका है।

महत्त्व

चूर्णिसूत्रोंका महत्त्व कसायपाहुडकी गाथाओंसे किसी तरह कम नहीं प्रतीत

---

१. [illegible] विवरणभविय रचिद [illegible] चुण्णिसुत्ताणि।
—षट्खं०, पु० १२, पृ० [illegible]।

२. क० पा०, भा० २, पृ० [illegible]।

होता। चूंकि गाथासूत्रोंमें जिन अनेक विषयोकी पृच्छा मात्र और सूचना मात्र है उन सबका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोंमें किया गया है। अतः एक तरहसे कसायपाहुड और चूर्णिसूत्र दोनों मिलकर एक ग्रन्थरूप हो गये हैं और चूर्णिसूत्रकारका मत कसायपाहुणकारका मत माना जाता है। वीरसेनस्वामीने धवला टीकामें अनेक स्थानों पर चूर्णिसूत्रकारके मतको 'कसायपाहुड'[1]के नामसे उल्लिखित किया है। इतना ही नहीं किन्तु चूर्णिसूत्रको उद्धृत करके उसे पाहुडसुत्त[2] नामसे अभिहित किया है।

धवला[3]में अनेक स्थानो पर षटखण्डागमके मतके सामने चूर्णिसूत्रकारके मतको रखकर वीरसेनस्वामीने दोनोको परस्पर विरुद्ध बतलाया है। और इस तरह चूर्णिसूत्रकारके मतोंको षटखण्डागमके मतोसे समकक्षता प्रदान की है। इसका प्रभाव हम उत्तर कालीन ग्रन्थकारो पर भी पाते हैं। विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके जैनाचाय नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने धवलाके आधार पर लब्धिसार[4] नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उसमें उन्होने पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है तदनन्तर भूतबलिके मतका निर्देश किया है। यतिवषभका मत उनके चूर्णिसूत्रोंके आधार पर ही दर्शाया गया है यह कहने की आवश्यकता नही है। अत चूर्णिसूत्रोंका महत्त्व स्पष्ट है।

कसायपाहुड और चुण्णिसुत्त अधिकार विमर्श

यह लिख आये है कि दो गाथाओके द्वारा गुणधराचार्यने कषाय प्राभतके अधिकारोंका नाम निर्देश किया है। और वे दोनो गाथाए गुणधरकृत ही मानी गई हैं उसमें कोई मतभेद नही है।

यति वृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंके द्वारा १५ अर्थाधिकारोका निर्देश किया है किन्तु गुणधर निर्दिष्ट अधिकारोसे उसमें अन्तर है।

जयधवला टीकामे इस पर आपत्ति करते हुए यह आशङ्का की गयी है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये पन्द्रह अधिकारोके रहते हुए उन्ही पन्द्रह अधिकारोको अन्य प्रकारसे बतलानेके कारण यतिवषभ गुणधर भट्टारकके दोष दिखाने वाले क्यो नही होते ? इसका परिहार करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि

---

१ कसायपाहुडे सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्साणु भागो दसणमोहक्खवगं मोत्तूण सव्वत्थ होदित्ति परूविदत्तादो वा णव्वदे–षट्खं, पु० १२, प० ११६, पृ० १२९, पृ० १३८।

२ षट० पु० १२, पृ० २२१। 'एसो पाहुड चूण्णिसुत्ताभिप्पाओ।– षट्खं, पु० ६, पृ० ३३१

३ 'कसायपाहुडसुत्तेणेद सुत्तं विरुज्झदि त्ति। सुत्ते सच्च विरुज्झइ—षट्खं पु० ८, प० ५६। 'एसो संतकम्मपाहुडउवदेसो कसायपाहुड उवदेसो पुण पु० १, पृ० २१७।

४ जदि मरदि सासणो सो णिरय तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि। णियमा देवं गच्छदि जइवसह मुणिंद वयणेण॥३४९॥ उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि। भूतबलिणाह णिम्मल सुत्तस्स फुडोवदेसेण॥३५०॥ लब्धि०

यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोंका निषेध नहीं किया किन्तु उनके ही कथनका अभिप्रायान्तर व्यक्त किया है। गुणधराचार्यने तो पन्द्रह अधिकारोंकी दिशा मात्र दिखलाई है। उससे यह आशय नहीं लेना चाहिये कि जिन अधिकारोंका गुणधराचार्यने निर्देश किया है वे ही अधिकार होने चाहिये। इसी बातको दिखलानेके लिये यतिवृषभने अन्य प्रकारसे पन्द्रह अधिकार कहे हैं। संभवत अपने उक्त परिहारको उपपन्न करनेके लिये जयधवलाकारने एक तीसरे प्रकारसे पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश किया है और लिखा है कि इसी प्रकार चौथे पांचवें आदि प्रकारोंसे पन्द्रह अधिकारोका कथन कर लेना चाहिये। गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट पन्द्रह अधिकारोंका कथन करने वाली गाथाएं इस प्रकार हैं—

'पेज्जदोस विहत्ती टिठदि अणु भागे च बंधगे चेय।
वेदग उवजोगेवि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्त देस विरयी सजम उवसामणा च खवणा च।
दसण चरित्त मोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

१ पेज्जदोसविहत्ती (प्रेयोद्वेष विभक्ति,) २ ट्ठिदि (स्थिति विभक्ति), ३ अणु भाज (अनुभाग विभक्ति), ४-५ बंधग (अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक और कमबधकी अपेक्षा बन्धक अर्थात सक्रामक), ६ वेदग (वेदक), ७ उवजोग (उपयोग) ८ चउट्ठाण (चतु स्थान), ९ वियजण (व्यञ्जन), सम्मत्त (१० दर्शनमोहकी उपशामना और ११ दर्शनमोहकी क्षपणा। १२ देस विरयी (देश विरति), १३ सजम (सकल सयम), १४ उवसामणा च (चारित्र मोहकी उपशामना), १५ खवणा च (चारित्रमोहकी क्षपणा) ये पन्द्रह अधिकार गुणधराचायने कहे है। उक्त गाथाओं के ही आधार पर रचित चूर्णिसूत्रोमें यतिवृषभने नीचे लिखे अनुसार पन्द्रह अधिकार गिनाये हैं—

पेज्ज दोसे १ (प्रेयोद्वेष, विहत्ति ट्ठिदि अणु भागे च २ (प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीणा और स्थित्यन्तिकको लिये हुए दूसरा अधिकार), बंधगेत्ति बधो च ३ संकमो च ४ (बन्धकपदसे तीसरा बन्धक और चौथा संक्रम) अधिकार वेदएत्ति उदओ च ५ उदीरणा च ६ (वेदकपदसे पांचवा उदयाधिकार और छठा उदीरणाधिकार), उवजोगे च ७. (उपयोग), चउट्ठाणेच ८ (चतु स्थान), वजणे च ९ (व्यञ्जन), सम्मत्तेत्ति दसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दसणमोहणीयक्खवणा च ११ ('सम्यक्त्व' पदसे दर्शन मोहनीयकी उपशामना नामक दसवां दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नामक ग्यारहवाँ अधिकार), देसविरदी च १२ (देशविरति नामक बारहवां अधिकार), संजमे उवसामणा च खवणा च चारित्त मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४ (चारित मोहनीयकी उपशामना नामक तेरहवां और चारित्र मोहनीयकी

क्षपणा नामक चौदहवां अधिकार) अद्धा परिमाणणिद्देसो १५. (और पन्द्रहवां अद्धापरिमाण निर्देश नामक अधिकार।

गुणधराचार्यने 'पेज्जदोस विहत्ती' इत्यादि गाथाके पूर्वार्ध द्वारा पांच अधिकारोंको सूचित किया है। किन्तु उनके नामोंके सम्बन्धमें "पेज्ज दोस विहत्ती ट्ठिदि अणु भागे य बंधगेचेय। केवल इतना ही कहा है। इस गद्यांशसे पेज्जदोस विहत्ती, ट्ठिदि, अणुभाग और बंधक इन चार नामोंका संकेत मात्र मिलता है। उससे यह स्पष्ट नही होता कि प्रारम्भके पांच अधिकारोंमेंसे कौन अधिकार किस नाम वाला है। इसीसे आचार्य यतिवृषभ उक्त गाथार्थके शब्दोंका अनुसरण करते हुए भी उसके द्वारा केवल चार अधिकारोंका निर्देश करते हैं और वेदक अधिकारके उदय और उदीरणा दो भेद करके संख्याकी पूर्ति करते हैं।

तथा गुणधराचार्यने संयमासंयम लब्धि और लब्धिको तेरहवां और चौदहवां अधिकार माना है। किन्तु यतिवृषभने संयमासंयम लब्धिको तो स्वतंत्र अधिकार माना है परन्तु गाथामें आये हुए संजमे पदको उपशामना और क्षपणाके साथ जोड़ दिया है और इस तरह उन्होंने संयम लब्धि नामक अधिकारको नही माना। इस तरह जो एक संख्याकी कमी हुई उसकी पूर्ति उन्होने अद्धापरिमाण निर्देशको पन्द्रहवां अधिकार मानकर की है।

जिन दो गाथाओमें पन्द्रह अधिकारोका नाम निर्देश है, उनका अन्तिम पद 'अद्धापरिमाणणिद्देसो है। उससे कुछ आचार्योंके मतानुसार 'अद्धा परिमाण निर्देश' नामका पन्द्रहवां अधिकार है। परन्तु जिन एक सौ अस्सी गाथाओमे पन्द्रह अधिकारोका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमें अद्धापरिमाणका निर्देश करने वाली छह गाथाएँ नही आई हैं। तथा पन्द्रह अधिकारोंमें गाथाओंका विभाग करते हुए इस प्रकारकी कोई सूचना भी नही की गई है। इससे प्रतीत होता है कि गुणधराचार्यको अद्धापरिमाण निर्देश नामका पन्द्रहवां अधिकार इष्ट नही था। किन्तु यतिवृषभने उसे एक स्वतंत्र अधिकार माना है।

यह समीकरण हमने उक्त अधिकार निर्देशक चूर्णिसूत्रोंको सामने रख कर किया है। किन्तु यतिवृषभके समस्त चूर्णिसूत्रोंके अवलोकनसे पता चलता है कि उन्होंने उक्त पन्द्रह अधिकारोका निर्देश करके भी अपने चूर्णिसूत्रोंकी रचना गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट अधिकारोंके अनुसार ही की है।

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिए कि यतिवृषभने अधिकारके लिए अत्थाहियार शब्द अनुयोगद्वारका प्रयोग किया है। यथा—'विहत्तिट्ठिदिअणुभागेसु तिण्णिअणियोगद्दारे।'

इस दूसरे अधिकारके अन्तर्गत बाईसवीं गाथाका[1] पदच्छेद करते हुए यति-वृषभने इसमें प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिकका समावेश कर लिया है।

आगे[2] बंधकके दो भेद बंध और संक्रम करके तीसरे और चौथे अधिकारका ग्रहण किया है। आगे वेदक[3] अनियोगद्वारके उदय और उदीरणा भेद करके पाँचवें और छठे अधिकारका निर्देश किया है। गुणधराचार्यने वेदकके दो भेद नहीं किये हैं। आगे 'उवजोगेत्ति[4] अणियोगद्दारस्स सुत्तं' लिखकर सातवें उपयोग अधिकारका निर्देश किया है। आगे 'चउट्ठाणेत्ति अणियोगद्दारे[5]' लिखकर आठवें चतुस्थान नामक अधिकारका निर्देश किया है। फिर[6] 'वंजणेत्ति अणिओगद्दारस्स सुत्त' लिखकर नौवें व्यंजन नामक अधिकारका निर्देश किया है।

कसायपाहुडकी अधिकार-निर्देशक गाथा १४ में 'सम्मत्त' पद आया है उससे यतिवृषभने भी दो अधिकार लिये हैं—एक दर्शनमोहकी उपशामना और एक दर्शनमोहकी क्षपणा। किन्तु अधिकारोंका वर्णन करते समय एक सम्यक्त्व[7] नामक अनुयोगद्वारका ही निर्देश किया है। यद्यपि उसके अन्तर्गत दर्शनमोहकी उपशमना और क्षपणा दोनोंका कथन किया है किन्तु उनका निर्देश अनुयोगद्वार शब्दसे नहीं किया।

आगे देशविरति[8] नामक १२ वें अधिकारका निर्देश है।

यह पहले लिख आये हैं कि गुणधराचार्यने तेरहवाँ अधिकार संयमलब्धि नामक माना है और यतिवृषभने इसे नहीं माना। किन्तु अधिकारोंके वर्णनमें

---

1. 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह ट्ठिदीए अणुभागे। उक्कस्समणुक्कस्सं झीणमझीणं च ट्ठिदियं वा ॥२२॥ चूर्णिसू०—पदच्छेदो। तं जहा—पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति त्ति एसा पयडिविहत्ती। तह ट्ठिदी चेदि एसा ट्ठिदिविहत्ती। अणुभागे त्ति अणुभाग विहत्ती। उक्कस्समणुक्कस्स त्ति पदेसविहत्ती। झीणमझीण त्ति। ट्ठिदियं वा त्ति।' —क० पा० सु०, पृ० ४८-४९।
2. 'बंधगेत्ति एदस्स वे अणियोगद्दाराणि। तं जहा—बंधो च संकमो च।'—(क० पा० सु० पृ०–२४८)।
3. वेदगेत्ति अणियोगद्दारे दोण्णि अणिओगद्दाराणि। तं जहा—उदओ च उदीरणा च।' —क० पा० सु० पृ० ४६५।
4. क० पा० सु० पृ० ५५६।
5. क० पा० सु० पृ० ५९७।
6. वही पृ० ६१२।
7. 'कसायपाहुडे सम्मत्ते त्ति अणिओगद्दारे'—वही पृ० ६१४।
8. 'देसविरदेत्ति अणिओगद्दारे'—वही, पृ० ६५८।

'लद्धि' तहा चरित्तस्स' लिखकर यतिवृषभने चारित्रलब्धि नामक अनुयोगद्वारका निर्देश किया है और यह भी लिखा है कि सयमासयमलब्धि नामक अधिकारमें जो गाथा आई है वही गाथा इस अधिकारमें है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि जिन गाथाओंके द्वारा अधिकारोमें गाथाओका विभाजन किया गया है, और जिन पर चूर्णिसूत्र नही है, उन्ही गाथाओमेंसे ६ नम्बरकी[२] गाथामें 'लद्धि तहा चरित्तस्स' पद आया है। और उसीमें यह कहा है कि दोनो अधिकारोंमें एक गाथा ह। उसीका अनुसरण यतिवृषभने भी किया है।

तथा गुणधरने अद्धापरिमाणनिर्देशको अधिकार नही माना, और यतिवृषभने माना है किन्तु उनके चूर्णिसूत्रोंमें अद्धापरिमाणनिर्देश नामक किसी अधिकारका व्याख्यान नही है। अत गुणधराचार्यसे कुछ भिन्न अधिकारोको मानकर भी यतिवृषभने अधिकारोके वणनमें प्राय गुणधराचायका ही अनुसरण किया है।

चूर्णिसूत्रोकी रचना और व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्रोकी रचनाशैली सूत्ररूप है। जिस तरह कसायपाहुडके गाथासूत्रोंका रहस्य आयमक्षु और नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभ जान सके उसी तरह यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोके व्याख्याता चिरन्तनाचार्यों और उच्चारणाचार्योंके द्वारा ही जयधवलाकार जान सके थे क्योकि सूत्र तो सूचक होता है। २३३ गाथाओके द्वारा सूचित अथकी सूचना यतिवृषभने ६००० प्रमाण चूर्णिसूत्रोंके द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचायने १२००० प्रमाण उच्चारणा वृतिके द्वारा किया और उसका आश्रय लेकर ६०००० प्रमाण जयधवला टीका रची गई। अत छै हजारमें ६० हजार समाये हुए हैं। इसीसे चूर्णिसूत्रोमें 'अणुचिंतिऊण णेदव्व' (चिन्तन करके ले जाना चाहिये) 'अणुमाणिय णेदव्व' (अनुमान करके घटित कर लेना चाहिये, वत्तव्व' (कहना चाहिये), विहासियव्वाओ' (विशिष्ट वर्णन करना चाहिये) इस प्रकारके शब्दोका बाहुल्य है।

जिस प्रकार चूर्णिसूत्रोकी सहायताके बिना कसायपाहुडके सूत्रोका रहस्य समझना सम्भव नही ह वैसे ही जयधवलाष्टीकाके साहाय्य बिना चूर्णिसूत्रोके रहस्यको नही समझा जा सकता।

---

१ 'लद्धि तहा चरित्तस्सेत्ति अणिओगद्दारे पुव्व गमणिज्जं सुत्तं।' तं जहा। जा चेव सजमासंजमे भणिदा गाहा सा चेव एत्थ वि कायव्वा।' —वही, पृ० ६६९।

२ लद्धीय संजमासंजमस्स लद्धि तहा चरित्तस्स। दोसु वि एक्का गाहा अटठेवुवसामण द्धाम्मि ॥६॥

उदाहरणके लिये मूलपयडि[1] विभक्तिमें एक चूर्णिसूत्र केवल दो का अंक रूप है। इसके सम्बन्धमें पीछे लिखा है।

शिष्यने शंका की कि यह दो का अंक क्यों रखा है? जयधवलाकारने उत्तर दिया—अपने मनमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये चूर्णिसूत्रकारने यहाँ दो का अंक रखा है। इसपर शिष्यने पुन पूछा—उस अर्थका कथन अक्षरोंसे क्यों नहीं किया? तो जयधवलाकारने उत्तर दिया—इस प्रकार वृत्तिसूत्रोंका अर्थ कहनेसे चूर्णिसूत्र ग्रन्थ बेनाम हो जाता, इस भयसे चूर्णिसूत्रकारने यहाँ अंक द्वारा अपने हृदयस्थित अर्थका कथन किया।

जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोंको देशामर्षक[2] कहा है अत उन्होंने जगह-जगह लिखा है कि इससे सूचित अर्थका कथन उच्चारणावृत्तिके साहाय्यसे और एलाचार्यके प्रसादसे करता हूँ। इन बातोंसे चूर्णिसूत्रोकी सक्षिप्तता और अर्थबहुलता-पर प्रकाश पडता है, किन्तु सक्षिप्त और अर्थपूर्ण होनेपर भी चूर्णिसूत्रोकी रचना-शैली विशद और प्रसन्न है। भाषा और विषयका साधारण जानकार भी उनका पाठ सुगमतापूर्वक कर सकता है। चूर्णिसूत्रोंकी व्याख्यानशैलीसे अभिप्राय यह है कि चूर्णिसूत्रोके द्वारा गाथासूत्रोके व्याख्यानकी क्या शैली है? आगे उसपर प्रकाश डाला जाता है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडकी सभी गाथाओपर चूर्णिसूत्र नही रचे गये हैं, कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनपर चूर्णिसूत्र नही हैं। कसाय-पाहुडकी समस्त गाथासख्या २३३ है। इनमें १८० मूलगाथा हैं, शेष ५३ सम्बन्ध-गाथा आदि हैं। इन ५३ गाथाओंमेसे केवल तीनपर ही चूर्णिसूत्र है १२ सम्बन्ध ज्ञापक गाथाओपर ६ अद्धापरिमाणनिर्देश सम्बन्धी गाथाओंपर और सक्रमवृत्ति-सम्बन्धी ३५ गाथाओंमेंसे ३२ गाथाओ पर चूर्णिसूत्र नही हैं। और इस तरह २३३ गाथाओमेंसे ५० पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं हैं।

जिन ५० गाथाओपर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है उन्हें भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। संक्रमवृत्तिसम्बन्धी बत्तीस गाथाओंका उत्थानिकासूत्र और उपसहार सूत्र है। इन गाथाओकी क्रमसंख्या २७ से ५८ तक है। २७ वीं गाथाके प्रारम्भका चूर्णिसूत्र इस प्रकार है—[3]'एत्तो पयडिट्ठाण सकमो, तत्थ पुव्व गम-

---

१ 'जइवसहाइरियेण एसो दोण्हमंको किमट्ठमेत्थ ठविदो? सगहियट्ठियअत्थस्स जाणावणट्ठं। सो अत्थो अक्खरेहि किण्ण परूविदो? वित्तिसुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे णिण्णामो गथो होदित्ति भएण ण परूविदो—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्तं जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उच्चारणाबलेण एलाइरियपसाएण च देसकम्माण परूवणा कीरदे'—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ७५४५।

३. क० पा० सु०, पृ० २६०।

णिज्जा सुत्तसमुक्कित्तणा । तं जहा-' अर्थात् यहाँसे आगे प्रकृतिस्थानसंक्रमका प्रकरण है। उसमें प्रथम गाथासूत्रोंकी समुत्कीर्तना करनी चाहिये।' इसके पश्चात् ३२ गाथाएँ आती हैं। उनके अन्तमें चूर्णिसूत्र इस प्रकार है '[1]सुत्तसमुक्कित्तणाए समत्ताए इमे अणिओगद्दारा।' अर्थात संक्रम सम्बन्धी गाथाओंकी समुत्कीर्तनाके समाप्त होनेपर ये (आगे कहे गये) अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बत्तीस गाथाएँ चूर्णिसूत्रकारके सम्मुख थी। किन्तु उन्होंने इनका पदच्छेदरूपसे या विभाषारूपसे व्याख्यान करना आवश्यक नहीं समझा। इनमें आगत विषयका परिज्ञान अनुयोगद्वारोंमें आगत विवेचनसे हो जाता है। किन्तु शेष १८ गाथाओंका न तो कोई उत्थानिका सूत्र है और न कोई उपसंहारसूत्र। मानो ये गाथाएँ उनके सामने थी ही नहीं। यद्यपि चूर्णिसूत्रोंके अनुगमसे ऐसा प्रमाणित नहीं होता। फिर भी साधारण दृष्टिसे देखनेपर ऐसा ही प्रतीत होता है।

अब जिन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र हैं उनके विषयमें प्रकाश डालेंगे। गाथा[2] नम्बर एकपर जो चूर्णिसूत्र है उनकी उत्थानिकादि नहीं है तथा चूर्णिसूत्रकी रचना उपक्रमरूप होते हुए भी इस प्रकारसे की गई है कि उसमें गाथाका अभिप्राय आ जाता है। इस उपक्रमके रूपमें आगे अलगसे प्रकाश डालेंगे। गाथा नम्बर दो से बारह तक पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है। गाथा नम्बर[3] १३ और १४ में कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश है। इन गाथाओंकी भी कोई उत्थानिका नहीं है और चूर्णिसूत्रोंमें केवल पन्द्रह अधिकारोंके नाम इस तरहसे बतलाए हैं कि दोनो गाथाओंके प्राय पूरे शब्द

---

१ क० पा० सु०, पृ० २८७।

२ 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए। पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुड णाम ॥१॥ चू० सू०—'णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो।

३ पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय। वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियंजणे चेय ॥१३॥ सम्मत्त देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च। दंसण चरित्त मोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ चू० सू०—अत्थाहियारो पण्णारसविहो (अण्णेण पयारेण)। तं जहा—पेज्जदोसे १ विहत्तिट्ठिदि अणुभागे च २, बंधगे त्ति बंधो च ३, संकमो ४, वेदए त्ति उदओ च ५, उदीरणा च ६, उवजोगे च ७, चउट्ठाणे च ८ वंजणे च ९, सम्मत्ते त्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दंसणमोहणीय क्खवणा च ११, देसविरदी च १२, संजमे उवसामणा च खवणा च—चरित्त मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४, 'दंसणचरित्तमोहे' त्ति पदपरिवूरणं। अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५, एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो।

—क० पा०, भा० १, पृ० १८४ १९२।

चूर्णिसूत्रोंमें आ जाते हैं, कोई पद छूटा नहीं है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंसे यतिवृषभके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंमें भेद है। अस्तु, गाथा नम्बर १५ से २० तक पर भी कोई चूर्णिसूत्र नहीं है। गाथा २१ से कसायपाहुडमें चर्चित विषयका आरम्भ होता है और सबसे प्रथम इसी गाथाका उत्थानिकासूत्र पाया जाता है। 'एत्तो सुत्तसमोदारो' 'इसके अनन्तर गाथासूत्रका समवतार' होता है। 'समवतार' शब्द किसका आचार-सूचक है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। आगे किसी सूत्रकी उत्थानिकामें इस शब्दका व्यवहार मेरी दृष्टिसे नहीं गुजरा।

चूर्णिसूत्रकारने उपक्रमके पाँच भेद बतलाये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें[1] उपक्रमके छै भेद भी बतलाये हैं—उनमें उक्त पाँच भेदोंके सिवाय एक भेद समवतार भी है। चूर्णि-सूत्रकारने यद्यपि समवतारको उपक्रमके भेदोंमें नहीं गिना, फिर भी उन्होंने 'एत्तो सुत्तसमोदारो' के द्वारा शायद उसी छठे भेदका उल्लेख किया है। अस्तु, गाथाके समवतारके पश्चात् चूर्णिसूत्र[2] में कहा है कि इस गाथाके पूर्वार्धकी 'विहासा' (विभाषा) करना चाहिये। जयधवलाकारने सूत्रके द्वारा सूचित अर्थका विशेष कथन करनेको विभाषा[3] कहा है। आव० नि०[4] के कर्ताने अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिकको एकार्थक बतलाते हुए उनमें उत्तरोत्तर विशेष कथनकी अपेक्षा विशेष बतलाया है। विशे० भाष्यके[5] कर्ताने भी विविध प्रकारसे अथवा विशिष्ट प्रकारसे कथन करनेको विभाषा कहा है।

जयधवलाकारने[6] विभाषाके दो भेद किये हैं—एक प्ररूपणाविभाषा और एक

---

१ 'अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—आणुपुव्वी १, नामं २, पमाणं ३ वत्तव्वया ४ अत्थाहियारे ५, समोआरे ६।—अनु० द्वा०, सू० ७०।

२ 'पुरिमद्धस्स गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा—क० पा० भा० १, पृ० ३६५।

३ 'सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसिऊण भासा विभासाविवरणं त्ति वुत्त होदि।'

ज० ध० प्रे० का० पृ० ३११९।

४ अणुओगो य निओगो भास विभासाय वत्तियं चेव। एए अणुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पंच ॥१२८॥ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए पोंड देसिए चेव। भासग विभासए वा विति-करणे य आहरणा ॥१३२॥ आ० नि०

५ विविहा विसेसओ वा होइ विभासा दुगादि पज्जाया। जह सामइयं समओ सम्माओ वा समाओ वा ॥१४२१॥ विशे० भा०

६ 'विहासा दुविहा होदि—परूवणाविहासा सुत्तविहासा चेदि।' तत्थ परूवणाविहासा णाम सुत्तपदाणि अणुच्चारिय सुत्तसूचिदासेसत्थस्स वित्थरपरूवणा। सुत्तविहासा णाम गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसमुहेण सुत्तफासो—ज० ध० प्रे० का०।

सूत्रविभाषा। सूत्रके पदोंका उच्चारण न करके सूत्रके द्वारा सूचित समस्त अर्थका विस्तारसे कथन करनेको प्ररूपणाविभाषा कहते हैं। और गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श करते हुए सूत्रका स्पर्श करनेको सूत्रविभाषा कहते हैं। चूर्णिसूत्रकारने कही तो गाथासूत्रोकी सूत्रविभाषा की है और कही प्ररूपणा-विभाषा की है। इसीसे जयधवलाकारने उन्हे 'विभाषासूत्रकार' के नामसे भी अभिहित किया है।

इन दोनो विभाषाओमेंसे सूत्रविभाषा गाथाके पदच्छेदपूर्वक होती है क्योकि अवयवार्थका कथन पदच्छेद बिना नही हो सकता। किन्तु ऐसी गाथाए स्वल्प ही हैं जिनका चूर्णिसूत्रकारने पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान किया है। अत बहुत कम गाथाओकी सूत्रविभाषा पाई जाती है इसके विपरीत अधिकाश गाथाओकी प्ररूपणाविभाषा की गई है।

उदाहरणकेलिये गाथासख्या २२ का व्याख्यान पदच्छेदपूर्वक किया है और इसका कारण यह है कि यह एक ही गाथा प्रारम्भके कई अधिकारोकी आधार भूत है। इसीसे उसका पदच्छेद करके प्रत्येक पदकी विभाषा की गई है। इसी तरह सक्रम अधिकारके अन्तगत प्रकृतिसक्रमकी तीन गाथाओका भी पदच्छेद पूवक ही अथ किया है। यद्यपि ये गाथाए सरल हैं किन्तु उनमें उक्त अधिकार में आगत विषयोकी सूचना है। अत उनका पदच्छेद करके उनके द्वारा सूचित अथका विस्तारसे कथन किया है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवालने[२] लिखा है कि 'पाणिनिने दो अर्थोंमें वृत्ति शब्दका प्रयोग किया है—एक तो शिल्प या रोजगारके लिये दूसरे ग्रन्थकी टीकाको भी वृत्ति कहा जाता था। पाणिनिसूत्र वृत्तिसर्गतायनेषुक्रम' (१।३।३८) की काशिकामें एक उदाहरण दिया है—'ऋक्षु अस्य क्रमते बुद्धि'। ऋग्वेदकी व्याख्यामें इनकी बुद्धि बहुत चलती है। इस उदाहरणमें वेदमन्त्रोके व्याख्यानको वृत्ति कहा है। मन्त्रोंके प्रत्येक पदका विग्रह और उनका अथ यही इन आरम्भिक वृत्तियोका स्वरूप था। जैसा शतपथकी मन्त्रार्थशैलीसे ज्ञात होता है। पतञ्जलिने व्याकरणसूत्रोंके व्याख्यानके लिये भी उसी शैलीका उल्लेख किया है।'

यह हम लिख आये कि जयधवलाकारने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोको वृत्ति-सूत्र कहा है। किन्तु वेदमंत्रोके व्याख्यानरूप वृत्तिसे उनके इन वृत्तिसूत्रोंकी

१ 'एत्तो एदासिं गाहाण पदच्छेदो कायव्वो होदि, अवयवत्थवक्खाणे पयारन्तराभावादो।' —ज० ध० प्रे० का० पृ० १४७१।

२ पा० भा० पृ० ३३२।

प्रक्रियामें अन्तर है। इसीसे जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोंको विभाषारूप[1] अथवा विभाषासूत्र भी कहा है और चूर्णिसूत्रकारको विभाषासूत्रकार कहा है। उक्त वृत्तिसे[2] विभाषामें अन्तर है। जो दोनोंके लक्षणोंसे स्पष्ट है।

दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने[3] परिभाषाका भी निर्देश किया है और परिभाषाके पश्चात् सूत्रविभाषा करनेका निर्देश किया है। जयधवलाके[4] अनुसार गाथासूत्रमें निबद्ध अथवा अनिबद्ध किन्तु प्रकृतमें उपयोगी जितना अर्थसमूह है उस सबको लेकर विस्तारसे अर्थका कथन करनेको परिभाषा कहते हैं। परिभाषाका अनुगमन पहले करना चाहिये, पीछे सूत्रविभाषा करनी चाहिये, क्योंकि सूत्रपरिभाषा करनेसे सूत्रके अर्थके विषयमें निश्चय नहीं किया जा सकता।

विभाषा और परिभाषा शब्दोंका यह अर्थ अन्यत्र देखनेमें नहीं आता।

साराश यह है कि चूर्णिसूत्र विभाषारूप हैं—उनके द्वारा गाथासूत्रोंके द्वारा सूचित समस्त अर्थोंका विस्तारसे कथन किया है। कहीं यह कथन गाथाके अवयवार्थपूर्वक भी किया है। गाथासूत्रोका निर्देशकरके उनका विवरण करना यह उनकी सामान्यशैली है। प्रकृतचर्चापर और भी प्रकाश डालनेके लिये बन्धक नामक अधिकारकी व्याख्यानशैलीका चित्रण किया जाता है।

इस अधिकारके प्रारम्भमें ही यह चूर्णिसूत्र आता है—'बंधगेत्ति एदस्स बे अणिओगद्दाराणि। तं जहा, 'बधो च संकमो च'। इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकार बन्धक अधिकारके प्रारम्भ होनेकी तथा उसके अन्तगत अनुयोगद्वारोंकी सूचना करके 'एत्थ सुत्तगाहा' इस उत्थानिकाके द्वारा गाथाका अवतरण करके, उसके बाद गाथासे सूचित होनेवाले अर्थकी सूचना देकर पदच्छेदपूर्वक गाथाके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हैं। इस अधिकारका मुख्य विषय 'संक्रम' है। अत

---

१ 'संपहि एदस्सेवात्थस्स फुडीकरणट्ठमुवरिम विहासागथमाढवेइ' ज० ध० प्रे० का० पृ० ७१८ ७१२३ ७१ ५ ७१२७, ७१३४।

२ एतो अद्धीदासेमपबधेण विहासिज्जमाणं गाहासुत्ताणं सरूवणिद्देसं कुणमाणो विहासा सुत्तयारो इदमाह—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६१७९।

३ 'पच्छा सुत्तविहासा तत्थ ताव पुव्वं गमणिज्जा परिहास।—क० पा०सु० पृ० ६४२।

४ 'का सुत्तविहासा णाम? गाहासुत्ताणमुच्चारण कादूण तेसिं पदच्छेदादिमुहेण आ अत्थपरिक्खा सा सुत्तविहासा त्ति भण्णदे। सुत्त परिहासा पुण गाहासुत्तणिबद्ध मणिबद्ध च पयदोवजोगिजमत्थजादं त सव्वं घेत्तूण वित्थरदो अत्थपरूवणा। सा ताव पुव्वमेत्थाणुगतंव्वा पच्छा सुत्तविहासा कायव्वा। किं कारणम्? सुत्तपरिभास मकादूण सुत्तविहासाए कीरमाणाए सुत्तत्थविसयणिच्छयाणुववत्तीदो—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६०१७ १८।

चूर्णिसूत्रकार संक्रमका वर्णन प्रारम्भ करनेसे पहले उसके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये पाँच उपक्रमोंका कथन करते हैं और यह बतलाकर कि यहाँ प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन है। वे प्रकृतिसंक्रमकी तीन गाथाओंका कथन करते हैं। पुन: लिखते हैं—ये तीन गाथाएँ प्रकृतिसंक्रमअनुयोगद्वारमें हैं और इन गाथाओं-का पदच्छेद इस प्रकार है। गाथाओंका व्याख्यान समाप्त होने पर चूर्णिसूत्र आता है—'एस सुत्तफासो'। यह इस बातकी सूचना देता है कि सूत्रगाथाओंका अवयवार्थ समाप्त हुआ। इससे चूर्णिसूत्रकारकी व्याख्यानशैलीकी क्रमबद्धता और स्पष्टता प्रकट है।

गाथासंख्याकी दृष्टिसे चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकार सबसे बड़ा है। इसमें ११० गाथाएं हैं, जिनमें २४ मूलगाथाएं हैं और ८६ भाष्य-गाथाएं हैं। प्रत्येक मूलगाथा और उससे सम्बद्ध भाष्यगाथाओंकी समुत्कीर्तना और विभाषा ऐसे सुन्दर ढंगसे की गई है कि प्रत्येक गाथाका हार्द समझनेमें सरलता होती है और पाठक उकताता नहीं।

यहाँ आगत 'सुत्तफास' शब्द अपना कुछ वैशिष्टय रखता है। अत उसके सम्बन्धमें दो शब्द लिखना आवश्यक है।

गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें 'एत्थ सुत्तगाहा', 'तत्थ सुत्तगाहा', 'सुत्त समुक्कित्तणा' जैसे चूर्णिसूत्रोंकी तरह 'एत्तो[1] सुतप्फासो कायव्वो' चूर्णिसूत्र भी क्वचित पाये जाते हैं। इसका अर्थ होता है—आगे सूत्रस्पर्श करना चाहिये। यहाँ 'सूत्रस्पर्श' शब्द 'सूत्रसमुत्कीर्तन'के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु गाथासूत्रके उपसंहाररूपमें भी 'एस सुत्तप्फासो' चूर्णिसूत्र क्वचित् पाया जाता है। इसका अर्थ जयधवलाकारने[2] इस प्रकार किया है—'यह गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श (विचार) किया। स्पर्शका अर्थ परामर्श भी होता है।

अनु० द्वा० सू०में अनुगमके दो भेद किये है—सूत्रानुगम और निर्युक्ति-अनुगम। तथा नियुक्ति-अनुगमके तीन भेद किये हैं—निक्षेप-निर्युक्ति अनुगम उपोद्घात-नियुक्ति अनुगम और सूत्रस्पर्शक-नियुक्ति अनुगम। सूत्रके व्याख्यानको सूत्रानुगम कहते हैं। नियुक्त अर्थात् सूत्रके साथ सम्बद्ध अर्थोंको स्पष्ट करना,

---

१ 'एत्तो सुत्तफासो कायव्वो भवदि। पुव्वं परिभासिदत्थाणं गाहासुत्ताणमेण्हि समुक्कित्तणा जहाकमं कायव्वा त्ति भणिद होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६२७९।

२ 'एसो गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसो कओ त्ति भणिद होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६४९१।

संक्षेप व्याख्याको निर्युक्ति कहते हैं और सूत्रका स्पर्श करनेवाली निर्युक्तिको सूत्रस्पर्शकनिर्युक्ति कहते हैं। इसमें प्रथम अस्खलित और अमिलित आदि रूपसे शुद्ध और निर्दोष सूत्रका उच्चारण करना होता है। सम्भवतः यही प्रथम 'सुत्तफास' है जो उत्थानिकारूपमें आया है।

वि० भा०में लिखा है कि सूत्रका उच्चारण करनेपर, उसकी शुद्धताका निश्चय हो जानेपर फिर पदच्छेद करनेपर और सूत्रमें आगत शब्दोंका निर्णय हो जानेपर सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिका अवसर आता है। यह दूसरा सुत्तफास है जो अन्तमें आया है।

इस तरह चूर्णिसूत्रमें आगत 'सुत्तफास' शब्दका अर्थ जानना चाहिये।

चूर्णिसूत्रकारने[1] जैसे कसायपाहुडकी गाथाओंको सूचनासूत्र और पृच्छासूत्र कहा है वैसे ही किन्हीं गाथाओंको वागरण (व्याकरण) सूत्र भी कहा है। जयधवलाकारने व्याकरणसूत्रका अर्थ व्याख्यानसूत्र[2] किया है। और वह भी व्याकरणशब्दकी व्युत्पत्तिपूर्वक किया है। किन्तु व्याख्यानके अर्थमें व्याकरणशब्दका प्रयोग न तो वैयाकरणोंमें देखा गया और न श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें ही।

किन्तु बौद्ध परम्परामें 'वेय्याकरण' शब्द 'अत्थवणना' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध जातक पाँच भागोंमें विभक्त है—पच्चुप्पन्न वत्थु, अतीतवत्थु, गाथा, वेय्याकरण या अत्थवण्णना और समोधान। गाथाएँ जातकके प्राचीनतम अंश हैं। गाथाओंके बाद प्रत्येक जातकमें वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओंकी व्याख्या और उसका शब्दार्थ होता है। पालीके वेय्याकरण अर्थमें ही यतिवृषभने प्राकृत 'वागरण' शब्द का प्रयोग किया है।

आगमिक व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्र—किसी भी आगमिक विषयके प्रतिपादनकी जैन शैली अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है और उस वैशिष्ट्यके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। इसका एक कारण यह है कि जैन परम्परामें वस्तुदर्शनकी और दृष्टवस्तुके प्रतिपादनकी अपनी शैली पृथक् है। उस शैलीको समझे बिना जैन आगमिक साहित्यमें चर्चित विषयोंको समझना कठिन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वह प्रत्येक वस्तुको अनेकधर्मात्मक मानता है। उसके मतसे वस्तु अनेक धर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वस्तुके उन अनेक

---

१. क० पा० सु० पृ० ८८२।

२. वागरणसुत्त त्ति व्याख्यानसूत्रमिति, व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरणं प्रतिवचनमित्यर्थः।

धर्मोंको जान सकना किसी अल्पज्ञके लिये शक्य नहीं है। और अल्पज्ञ मनुष्य अपने अपने दृष्टिकोणसे वस्तुको जानते हैं और समझते हैं कि हमने पूर्ण वस्तुको जान लिया। फलत वे एक ही वस्तुके विषयमें विभिन्न दृष्टिकोण रखनेके कारण परस्परमें टकरा जाते हैं। अनेकान्तदृष्टि उनके इस पारस्परिक विरोधको मिटाकर समन्वयका माग दर्शाती है। वह बतलाती है कि एक ही वस्तुको लेकर परस्परमे टकरानेवाली दृष्टियाँ वस्तुके एक एक अशको ही ग्रहण करती है और एकांशको ही पूण वस्तु मान बैठनेके कारण उनमें विरोध प्रतिभासित होता है। इस अनेकान्तग्राही दृष्टिको जैनदशन 'प्रमाण' के नामसे पुकारता है। और जो दृष्टि वस्तुके एक धमको ग्रहण करके भी वस्तुमें वतमान इतर धर्मोंका प्रतिक्षेप नही करती उसे नय कहते हैं। सक्षेपमें सकलग्राही ज्ञानको प्रमाण और एकाशग्राही ज्ञानको नय कहते है। यह नय प्रमाणका ही भेद माना गया है। चूंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है अत द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको द्रव्यार्थिक नय और पर्यायदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यदष्टि अभेदप्रधान है और पर्यायदृष्टि भेदप्रधान है। द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद ह—नैगम, सग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत।

सकल्पमात्रमें ही वस्तुका व्यवहार करनेवाले ज्ञानको नैगमनय कहते हैं। जैसे रसोई करनेका सकल्प करके उसका सामान जुटानेमें लगा मनुष्य पूछने पर उत्तर देता है मैं रसोइ बना रहा हूँ। समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है। जैसे वन, सेना, नगर। ये सज्ञाए सग्रहनयमूलक हैं। और सग्रहनयके द्वारा सगृहीत पदार्थोंका क्रमश भेद प्रभेद करके ग्रहण करनेवाला नय व्यवहारनय है। जसे वनमें आम आदिके वृक्ष हैं। पदार्थकी वतमान एक क्षणवर्ती पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय ऋजुसूत्रनय ह। इस नयकी दृष्टिमें एक वतमान क्षणवर्ती पर्याय अतीत और अनागतसे भिन्न है तथा अतीतके नष्ट हो जाने और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे वतमान क्षण ही व्यवहारोपयोगी है।

काल, कारक, लिंग, संख्या आदिके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला नय शब्दनय है। आशय यह है कि इनके भेदसे यह नय एक ही वस्तुको भिन्नरूप ग्रहण करता है। शब्दभेदसे अथभेदका ग्राही समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर शब्द एक लिंगवाले होनेपर भी विभिन्न अर्थके वाचक हैं क्योंकि इन शब्दोंकी प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न है, इन्दन क्रिया इन्द्रशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त और पूर्दारण (नगरोंका उजाडना) किया पुरन्दरशब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त है।

शब्दनय इन तीनों शब्दोंमें अर्थभेद नहीं मानता, क्योंकि तीनोंमें लिंगादि भेद नहीं है, परन्तु समभिरूढ नय मानता है, यही दोनोंमें अन्तर है।

क्रियाके भेदसे अर्थभेद माननेवाला एवंभूतनय है। जिस शब्दका जिस क्रिया-रूप अर्थ हो उस क्रियाके कालमें ही उस शब्दका व्यवहार करना उचित मानता है। जब इन्द्र इन्दनक्रिया करता हो उसी समय उसे इन्द्र कहना उचित है। यह इस [1]नयका मन्तव्य है।

इन नयोंके सिवाय जैनदर्शनकी एक देन निक्षेप है। उसके चार भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके व्यवहारके लिये वस्तुकी यथेच्छ संज्ञा रखनेको नाम निक्षेप कहते हैं, जैसे कि साधारण मनुष्यके द्वारा अपने पुत्रका नाम 'राजा' रख लेना नाम निक्षेप है। किसी वस्तुमें किसी अन्यकी स्थापना कर लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे राजाके मर जाने पर उसके प्रतिनिधिके रूपमें उसकी मूर्तिको राजा मानकर स्थापित करना।

जो भविष्यमें राजा होनेवाला हो या राज्यपदसे उतर चुका हो उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमानमें राज्यासीनको राजा कहना भाव निक्षेप है। इस निक्षेपके चार प्रयोजन हैं—अप्र[2]कृतका निराकरण, प्रकृतका प्ररूपण, संशयका विनाश और तत्त्वार्थका व्यवहार।

अर्थात् जब प्रत्येक वस्तुका लोकमें चार रूपोंमें व्यवहार पाया जाता है तब श्रोताको यह जानना आवश्यक है कि कहाँ नामरूप वस्तुका व्यवहार अपेक्षित है और कहाँ स्थापना, द्रव्य या भाव रूप वस्तुका, जिससे वह विसंवादमें न पड़े। इसके लिये निक्षेप आवश्यक है।

नयों और निक्षेपोंमें वही सम्बन्ध है जो ज्ञान और ज्ञेयमें होता है। नय ज्ञानरूप है तो निक्षेप ज्ञेयरूप है। आगमिक शैलीमें प्रत्येक वस्तुका विवेचन पहले नय और निक्षेपके द्वारा होता है। कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें भी उसी शैलीको अपनाया गया है। यहाँ चूर्णिसूत्रोंके आधारपर उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहली गाथाके उत्तरार्ध 'पेज्ज त्ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम।' में इस ग्रन्थके दो नाम कहे हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। ये दोनों नाम किस अभिप्रायसे कहे हैं यह बतलाते हुए चूर्णिसूत्रकार लिखते हैं—

---

१ नयोंका स्वरूप जाननेके लिये देखें—कसायपाहुड भा० १, पृ० १९९-२५८

२ 'अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च'। ज० ध० प्र० का०, पृ० २४५।।

'उस[1] प्राभृतके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। इन दोनों नामोंमेंसे पेज्जदोसपाहुड नाम अभिव्याहरण निष्पन्न है।'

अभिमुख अर्थके व्याहरण अर्थात् कथनको अभिव्याहरण कहते हैं और जो उससे उत्पन्न हो उसे अभिव्याहरण निष्पन्न कहते हैं। अतः पेज्ज (प्रेय) और दोसका कथन करनेवाला प्राभृत पेज्जदोस प्राभृत कहलाता है।

'और कसायपाहुड नाम नय निष्पन्न है।'

आशय यह है कि 'पेज्ज और दोस' ये दोनो कषाय कहलाते हैं। और कषायका कथन करनेवाले प्राभृतको कषाय प्राभृत कहते है। अतः कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न है क्योंकि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा पेज्ज और दोसका एकीकरण करके उन्हें कषाय संज्ञा दी गई है। अस्तु

पेज्ज, दोस कसाय और पाहुड ये शब्द जिनसे दोनो नाम बने है, अनेक अर्थोंमें व्यवहृत होते हुए पाये जाते हैं। इसलिये अप्रकृत अर्थका निषेध करके प्रकृत अर्थका, जो यहाँ लिया गया है—ग्रहण करनेके लिये चूर्णिसूत्रकार उनमें निक्षेपोकी योजना करते है—उन[2] चारो शब्दोमेंसे पहले पेज्जका निक्षेप करना चाहिये—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, और भावपेज्ज।'

ऐसा कहा है कि—'पदका[3] उच्चारण करके और उसमें किये गये निक्षेपोको जानकर 'यहाँ इस पदका क्या अर्थ है' इस प्रकार ठीक रीतिसे अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान करा देते हैं इसलिये उन्हे नय कहते हैं।'

अतः निक्षेपकी योजना करके और उसके अर्थका स्थगित करके चूर्णिसूत्रकार यह बतलाते है कि कौन नय किस निक्षेपको चाहता है—

'नैगमनय[4], संग्रहनय और व्यवहारनय सभी निक्षेपोको स्वीकार करते है।'

ऋजुसूत्रनय[5] स्थापनाके सिवाय सभी निक्षेपोको स्वीकार करता है।'

---

१ तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। तं जहा पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि। तत्थ अभिवाहरणनिप्पण्णं पेज्जदोसपाहुडं। णयदो णिप्पण्णं कसायपाहुडं—क० पा० भा० १, पृ० १९७ १९९।

२ 'तत्थ पेज्जं णिक्खियव्वं—णामपेज्जं ट्ठवणपेज्जं दव्वपेज्जं भावपेज्जं चेदि।—क० पा० भा० १, पृ० २५८

३ 'उच्चारयम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥— क० पा० भा० १, पृ० २५९

४ 'णेगमसंगहववहारा सव्वे इच्छंति— क० पा० भा० १, पृ० २५९।

५ 'उजुसुदो ठवणवज्जे'। पृ० २६०।

'शब्द,[1] समभिरूढ़ और एवंभूतनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विषय करते हैं।' इसका विशेष खुलासेके लिये जयधवला टीका देखनी चाहिये। अब हम पुनः निक्षेपोंकी ओर आते हैं। 'पेज्ज' यह शब्द नाम पेज्ज है। किसी दूसरे पदार्थमें 'यह पेज्ज है' इसप्रकार पेज्जकी स्थापना करना स्थापना पेज्ज है। द्रव्य पेज्जके दो भेद हैं—आगम द्रव्य पेज्ज और नोआगम द्रव्यपेज्ज। जो जीव पेज्ज विषयक शास्त्रको जानता हुआ भी पेज्जविषयक शास्त्रके उपयोगसे रहित अर्थात् उसमें लगा हुआ नहीं है, उसे आगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं।

नोआगमद्रव्यपेज्जके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। पेज्जविषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, वर्तमान और भावि शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जो भविष्यमें पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाला होगा उसे भावि नोआगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्जके दो भेद हैं—कर्मपेज्ज और नोकर्मपेज्ज।

उक्त निक्षेपोंका अर्थ सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने इनका अर्थ नहीं कहा। आगेके निक्षेपका अर्थ करते हुए वह कहते हैं— नोकर्म[2]-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है—हितपेज्ज सुखपेज्ज और प्रियपेज्ज। इन तीनोंके सात भंग होते हैं।'

जो द्रव्य व्याधिके उपशमनका कारण होता है उसे हित कहते हैं, जो द्रव्य जीवके आनन्दका कारण होता है उसे सुख कहते हैं और जो वस्तु अपनेको रुचती है उसे प्रिय कहते हैं। तीन भंग तो ये हैं ही। द्राक्ष हितरूप भी है और सुखरूप भी है। नीम हितरूप भी है और प्रिय भी है, पित्त ज्वरके रोगीको कड़वी वस्तु प्रिय लगती है। दूध सुखकर भी है और प्रिय भी है। ये तीन द्विसंयोगी भंग हुए। गुड़ और दूध हितकर, सुखकर और प्रिय होते हैं। ये सब सात भंग होते हैं।

'यह[3] तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्जका सात भंगरूप कथन नैगमनयकी अपेक्षासे है।' संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा समस्त द्रव्यपेज्जरूप है।" भावपेज्जका[4] कथन स्थगित करते हैं।

---

१ '[सद्दणयस्स] णामं भावो च'। क० पा० भा० पृ० २६४।

२ 'णोआगमदव्वपेज्जं तिविहं—हिदं पेज्जं, सुहं पेज्जं, पियं पेज्जं। गच्छगा च सत्त भंगा, क० पा० भा० १, पृ० २७१।

३ 'एवं णेगमस्स। संगहववहाराणं उजुसुदस्स च सव्वं दव्वं पेज्जं।' क० पा० भा० १, पृ०

४. 'भावपेज्जं ठवणिज्जं'।—क० पा० भा० १, पृ० [illegible]

इसप्रकार पेज्जमें निक्षेपोंकी योजना करके चूर्णिसूत्रकार दोसमें निक्षेप योजना करते हैं।

'दोसका[1] निक्षेप करना चाहिये—नामदोस, स्थापनादोस, द्रव्यदोस और भावदोस। नैगम, सग्रह और व्यवहार सभी निक्षेपोको विषय करते हैं। ऋजु-सूत्रनय स्थापनाको छोड शेष तीन निक्षेपोको स्वीकार करते है। शब्दनय नाम निक्षेप और भाव निक्षपको विषय करते हैं।'

सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेदोका कथन नही किया। उसके तीसरे भेदका कथन करते हुए वह कहते हैं—

'जो द्रव्य[2] जिस उपघातके निमित्तमे उपभोगको नही प्राप्त होता वह उपघात उस द्रव्यका दोष है। यही तद्वयतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष है।'

'वह उपघात दोस कौनसा है? साडीका अग्निसे जल जाना या चूहोके द्वारा खाया जाना आदि उपघातदोस है। भावदोसका कथन स्थगित करते हैं।'

इस प्रकार दोसमें निक्षेप योजना करके चूर्णिसूत्रकार कषायमें निक्षेप योजना करते है—

'कषायका[3] निक्षेप करना चाहिये—नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय।' नैगमनय सभी कषायोको स्वीकार करता है। सग्रह और व्यवहारनय समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषायको स्वीकार नहीं करते। ऋजुसूत्रनय इन दोनोको और स्थापना कषायको स्वीकार नही करता।

शब्द, समभिरूढ और एवभूतनय नामकषाय और भावकषायको विषय करते हैं।'

नामकषाय, स्थापनाकषाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्य-कषाय और भाविनोआगमद्रव्यकषायका स्वरूप सुगम जानकर यतिवृषभने नही कहा। नो आगम तद्वयतिरिक्त द्रव्यकषायका स्वरूप वह कहते है—

---

१ 'दोसो णिक्खियव्वो णामदोसो ट्ठवणदोसो दव्वदोसो भावदोसो चेदि। वही पृ २७७।

२ 'णोआगमदव्वदोसो णाम जं दव्व जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम। त जहा सादियाए अग्गिदद्ध वा मूसयभक्खियं वा एवमादि।' वही पृ० २८१ २८२।

३ कसाओ ताव णिक्खियव्वो णामकसाओ ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तिकसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि। वही, पृ० २८३।

'सर्जकषाय'[1] सिरीषकषाय आदि नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकषाय है।
सालवृक्षके कसैले रसको सजकषाय और सिरसवृक्षके कसैले रसको सिरीष-कषाय कहते हैं।

क्रोध[2] वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है। इसलिये प्रत्यय-कषायकी अपेक्षा क्रोधवेदनीय कर्म क्रोध कहा जाता है। इसी तरह मानवेदनीय कर्मके उदयसे जीव मानरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा मानवेदनीय कर्मको मान कहा जाता है। मायावेदनीयकर्मके उदयसे जीव मायारूप होता है इसलियेमायावेदनीय कर्म प्रत्ययकषायकी अपेक्षा माया है। लोभवेदनीयकर्मके उदयसे जीव लोभी होता है इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा लोभकर्म लोभ कहलाता है। इस प्रकार जो क्रोधादिरूप कर्मको प्रत्ययकषाय कहा है वह नैगम, सग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा है। और ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें क्रोध कर्मके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोधकषायरूप होता है इसलिये क्रोधकर्मका उदय प्रत्ययकषाय[3] है। इसीप्रकार मान, माया आदिके विषयमें भी जानना चाहिये।

समुत्पत्तिकषायकी[4] अपेक्षा कही जीव क्रोधरूप है और कही अजीव क्रोध-रूप है। जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति-कषायकी अपेक्षा क्रोध ह और जिस लकडी, इट आदि टुकडेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा वह लकडी या ईंट आदिका टुकड़ा क्रोध है। इसप्रकार एक जीव या एक अजीव, अनेक जीव या अनेक अजीव या मिश्र, इनमेंसे जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा क्रोध कहा जाता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये।

आदेशकषायकी[5] अपेक्षा चित्रमें अंकित क्रोधी जीवकी आकृति—भृकुटि चढ़ी हुई मस्तकमें त्रिवली पडी हुई आदि—क्रोधरूप है। इसी तरह चित्रमें अंकित गर्विष्ठ पुरुष या स्त्री आदेशकषायकी अपेक्षा मान है। चित्रमें अकित दूसरेको ठगते हुए मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा माया है और चित्रमें अंकित लालची मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है। इसीप्रकार[6] लकडी-

---

१ 'नोआगम दव्वकसाओ जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि। वही, पृ० २८५।

२ वही, पृ० २८७।

३ वही, पृ० २९०।

४ क० पा० भा० १, पृ० २९३ आदि।

५ वही, पृ० ३०१।

६ एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम ॥ क० पा० भा० १, पृ० ३०३।

पर खोदे गये, वस्त्रपर छापे गये, भित्तिपर चित्रित किये गये और पत्थर पर खोदे गये क्रोधी, मानी, मायावी और लोभीकी आकृतियाँ आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध, मान, माया और लोभ कहे जाते हैं।

ये दोनों समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषाय नैगमनयके विषय हैं। अन्य नयोंके नहीं।

जिस[1] द्रव्य या जिन द्रव्योका रस कसैला है उस या उन द्रव्योंको रसकषाय कहते हैं। और कषायसे रहित द्रव्यको नोकषाय कहते हैं।

भावनिक्षेपके दो भेद हैं—आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप। नोआगमभावनिक्षेपकी अपेक्षा क्रोधका वेदन करनेवाला जीव क्रोधकषाय है। इसीप्रकार मान, माया और लोभको भी जानना चाहिये।

इस तरह आचार्य यतिवृषभने 'कसायप्राभृत' नामके कषायशब्दका निक्षेपोंके द्वारा कथन करके यह बतलाया कि कषायशब्दका व्यवहार कितने रूपोमें किस-किस प्रकारसे होता है। और उनमेंसे यहाँ केवल भावकषाय ही विवक्षित है, शेष कषाय नही।

आगे इस भावकषायका विशेष कथन करनेके लिये आचार्य यतिवृषभने छ अनुयोगद्वारोंका कथन किया है—

१ कषाय क्या है? २ कषाय किसके होती है? ३ कषाय किस साधनसे होती है? ४ कषाय किसमें होती है? ५ कषाय कितने काल तक होती है? और ६ कषायके कितने प्रकार हैं? इन छै अनुयोगोका नाम क्रमश[2] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान है। इनके द्वारा कथन करनेसे कषायके विषयकी पूरी जानकारी या कथनी हो जाती है, इसीसे जैन आगामिक[3] परम्परामें सभी पदार्थोंका विवेचन इन छै अनुयोगोंके द्वारा करनेका विधान है। अस्तु,

कषायका निक्षेपविधिसे कथन करनेके पश्चात यतिवृषभने 'पाहुड' का कथन किया है—

---

१ वही, पृ० ३०४।

२ "निर्देश स्वामित्व-साधन अधिकरण-स्थिति विधानत ।त० सू० १६।

३ "किं केण कस्स कत्थ वि केवचिर कदिविधो य भावो य। छहिं अणिओगद्दारें सव्वे भावाणुगतव्वा ॥" मूलाचा० ८-१५। दुविहा परूवणा छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो। कि कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविधे य भवे ।८९१। आव० नि०

'पाहुडका'[1] निक्षेप करना चाहिये। नामपाहुड, स्थापनापाहुड, द्रव्यपाहुड और भावपाहुड इसप्रकार पाहुडके विषयमें चार निक्षेप होते हैं।

इनमेंसे सबका स्वरूप न बतलाकर आचार्य यतिवृषभने नोआगमतद्व्यतिरिक्त-निक्षेपका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा पाहुडके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

यहाँ पाहुड (प्राभृत) का अर्थ भेंट है। भेंटमें दिये गये हाथी घोड़ा आदि सचित्त पाहुड हैं।

मणि, मुक्ता आदि अचित्त पाहुड हैं और रत्नालंकार भूषित स्त्री मिश्र पाहुड है।

'नोआगम[2]भावपाहुडके दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। दोगंधिय[3] पाहुड प्रशस्त नोआगम भावपाहुड है। और कलहपाहुड अप्रशस्त नोआगम भावपाहुड है।

इनकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि परमानन्द और आनन्द सामान्यकी संज्ञा 'दोगंधिय' है। जो वस्तु परमानन्द या आनन्दका कारण होती है उपचारसे उसे भी 'दोगंधिय' कहते हैं। केवल आनन्द तो किसीको उपहारमें नहीं दिया जा सकता, अत आनन्द या परमानन्दका निमित्त कोई द्रव्य भेंट देना दोगंधियपाहुड कहा जाता है। अत दोगंधियपाहुडके दो भेद हैं—परमानन्दपाहुड और आनन्दमात्रपाहुड। केवलज्ञान और केवल-दर्शनरूप लोचनोंसे समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले वीतराग जिनेन्द्रदेवने निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान्, आचार्योंकी परम्परासे भक्तजनोंके लिये भेजा गया जो बारह अंगरूप वाणी या उसका एक देश परमानन्द दोग्रन्थिक पाहुड है। इस ग्रन्थमें पाहुडसे परमानन्द दो ग्रंथिय पाहुड ही इष्ट है।

इसके पश्चात् यतिवृषभने 'पाहुड' शब्दकी निरुक्ति[4] की है—'पदेहि पुदं (फुडं) पाहुडं'। पदोंसे जो स्फुट अर्थात् व्यक्त हो उसे 'पाहुड' कहते हैं।

---

१ 'पाहुडं णिक्खिवियव्वं। णामपाहुडं ट्ठवणपाहुडं दव्वपाहुडं भावपाहुडं चेदि एवं चत्तारि णिक्खेवा एत्थ होंति।' वही, पृ० ३२२।

२ 'णोआगमदो भावपाहुडं दुविहं पसत्थमप्पसत्थं च' वही, पृ० ३२४।

३ पसत्थं जहा दोगंधियं पाहुडं। अपसत्थं जहा कलहपाहुडं।' वही, पृ० ३२४,३२५।

४ 'पाहुडेत्ति का णिरुत्ती ? जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं' वही, पृ० ३२६।

सारांश यह है कि यहाँ कषायविषयक श्रुतज्ञानको कषाय कहा है और उसके पाहुडको कषायपाहुड कहा है।

इसतरह 'कषायपाहुड' के अर्थ विवेचन पूर्वक निरुक्तिके साथ उपक्रम समाप्त होता है।

यह हम लिख आये कि निक्षेप और नयके द्वारा वस्तुका विवेचन करनेकी आगमिक पद्धति थी। उसी पद्धतिका दर्शन हम कसायपाहुडके गाथासूत्रोंमें भी पाते हैं—

उपक्रमके पश्चात जिस गाथासूत्रका[२] समवतार होता है उसमें कहा है—

किसनयकी अपेक्षा किस किस कषायमें पेज्ज (प्रेयस्त्व) होता है। अथवा किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें दोष होता है ? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है ?'

इस गाथाके द्वारा उठाये गये प्रश्नोका समाधान आचार्य यतिवृषभ अपने चूर्णिसूत्रोंके द्वारा करते है—

इस गाथाके पूर्वार्धकी विभाषा (विवरण) करना चाहिये। वह इसप्रकार है—

नैगमनय और संग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया प्रेय है और लोभ प्रेय है।'

आशय यह है कि इस ग्रन्थके दो नाम हैं—कषायपाहुड या पेज्जदोसपाहुड। यहाँ कषायके लिये उसके स्थानमें दो शब्दोका प्रयोग किया है पेज्ज (प्रेय) और दोस (द्वेष)। अतः यह बतलाना आवश्यक है कि कषायके भेदोमसे कौन प्रेय है और कौन द्वेषरूप है ? तभी तो कषायके लिए 'पेज्जदोस' नाम घटित हो सकता है ?

क्रोध द्वेष है क्योंकि सकल अनर्थकी जड है। मान भी इसीसे द्वेषरूप है, किन्तु माया पेज्ज है क्योंकि उसकी सफलतासे मनुष्यको सन्तोष होता है। यही बात लोभके विषयमें भी जानना चाहिये। आशय यह है कि जो कषाय उसके कर्ताके लिये सतापका कारण हो वह द्वेष है और जो आनन्दका कारण हो वह पेज्ज है।

'व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ पेज्ज है।'

मायाचार लोकनिन्द्य और अविश्वासका कारण होनेसे द्वेष है किन्तु लोभसे द्रव्य बचाकर मनुष्य सुखपूर्वक जीवन बिताता है इसलिये लोभ पेज्ज है।

---

२ 'पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायए को कहिं वा वि॥ २१। क० पा० अ० १ पृ० १६४।

'ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान न द्वेष है न पेज्ज है माया न द्वेष है न पेज्ज है, किन्तु लोभ पेज्ज है।' शब्दनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ द्वेष है। क्रोध मान माया पेज्ज नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित पेज्ज है।

इसप्रकार चूर्णिसूत्रकारने गाथासूत्रकारके द्वारा प्रश्नरूपसे निर्दिष्ट विषयका ही नयदृष्टिसे विवेचन किया है। अत जैन आगमिक परम्पराकी यह विषय-विवेचनपद्धति गाथासूत्रकारसे भी प्राचीन प्रतीत होती है। संभव है पूर्वोंका विवेचन इसी शैलीमें हो।

वर्तमान श्वेताम्बरमान्य मूलसूत्रोंमें हमें इस पद्धतिके दर्शन नहीं होते। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें निक्षेपयोजनाका क्रमबद्ध विधान विस्तारसे मिलता है और उसमें नयोका भी प्रयोग किया गया है।[1] असलमें अनुयोगद्वारसूत्र, जैसा कि उसके नामसे प्रकट है—अनुयोगसे ही सम्बन्ध रखता है। प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्रकी उत्थानिकामें उसके टीकाकार हेमचन्द्र मलधारीने लिखा है कि 'जिनवचनमें प्राय आचार आदि समस्त श्रुतका विचार उपक्रम निक्षेप, अनुगम और नयोंके द्वारा होता है और इस अनुयोगद्वारमें उन्ही उपक्रम आदि द्वारोंका कथन है।' अत जिनवचनके व्याख्यानकी परिपाटी, जिसका अनुसरण गाथासूत्रकार और चूर्णिसूत्रकारने किया है उसीका विवेचन अनुयोगद्वारमें मिलता है, जो उस परिपाटीका ही समर्थक है।[2] निर्युक्तियोंमें भी निक्षेप योजनाका विधान मिलता है। किन्तु प्रकृत विषय कषायमें निक्षेपयोजनाका विधान विशेषावश्यकभाष्यमें ही देखनेको मिलता है।

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रोंकी तुलना

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रकी तुलनाकी दृष्टिसे अन्य भी दो-एक बातें उल्लेखनीय हैं। जिस तरह छक्खंडागममें निक्षेप और नय-योजना की गई है, चूर्णिसूत्रोंमें भी की गई है।

किन्तु दोनोंमें अन्तर है। भूतबलिने वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके अनुयोगद्वारोंमें निक्षेपयोजना करते हुए प्रत्येक निक्षेपका स्वरूप स्पष्ट रूपसे बतलाया है और उसमें पुनरुक्तिका भी ख्याल नहीं किया है। इसके प्रमाण रूपमें कृति

---

१ 'जिणपवयणउप्पत्ती पवयण एगट्ठिया विभागो य। दारविही य नयविही वक्खाण विही य अणुओगो। १२५॥ नामं ठवणा दविए, खित्ते, काले वयण भावे वा। एसो अणुओगस्स निक्खेवो होई सत्तविहो॥१२०॥ जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं। जत्थऽवि य न जाणिज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ। आ० नि० ॥४॥

२ जिनवचने ह्याचारादि श्रुतं प्राय सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारैर्विचार्यते। प्रस्तुत शास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि द्वाराण्यभिधास्यन्ते।' अनु० टी०।

अनुयोगद्वार तथा वर्गणाखण्डके स्पर्श अनुयोगद्वार, कर्म अनुयोगद्वार, प्रकृति अनुयोगद्वार और बन्धन अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेपके लक्षणपरक सूत्रोको देख जाइये, कृति, स्पर्श आदि शब्दोके भेदके सिवाय उनमें कोई भेद नही है। किन्तु यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमे आवश्यकतानुसार निक्षेप-योजना की, यथा—'पेज्ज णिक्खियव्व—णामपेज्ज, ठवणपेज्ज, दव्वपेज्ज, भावपेज्ज चेदि।' (क० पा० सु० प० १६)। 'दोसो णिक्खिवियव्वो—णामदोसो, ठवणदोसो, दव्वदोसो, भावदोसो।' (पृ० १९), किन्तु सिवाय नोआगमद्रव्यनिक्षेपके किसी निक्षेपका स्वरूप या उदाहरण नही दिया। इससे कसायपाहुडकी तरह ही चूर्णिसूत्रोंकी भी सक्षिप्त शब्दरचना द्योतित होती है। साथ ही ऐसा भी प्रकट होता है कि भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्यको षटखण्डागमके सूत्रोकी रचना करते हुए इस बातका ध्यान था कि जहाँ तक शक्य हो, सूत्ररचना स्पष्ट हो, जिससे उसके अध्येताको उसे समझनेमें कठिनाई नही हो, इसीलिये उन्होने शब्दलाघवपर विशेष ध्यान नही दिया और न पुनरुक्तिको दोष माना और ऐसा शायद उन्होने इसलिये किया—क्योकि बचे-खुचे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके भी एकमात्र ज्ञाता धरसेनाचार्यका स्वर्गवास हो चुका था और अब आगे श्रुतज्ञानकी परम्पराके स्रोतका अन्त आ गया था।

किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें हम वह बात नही पाते। उनके द्वारा यद्यपि कसायपाहुडकी गाथाओंका रहस्य खुलता है किन्तु स्वय उनका रहस्य खोलनेके लिए व्याख्याकारोकी आवश्यकता है। इससे ऐसा लगता है कि या तो यतिवृषभके सामने श्रुतविच्छेदका वैसा भय उपस्थित नही हुआ था या उनकी शैली ही ऐसी थी।

एक बात और भी उल्लेखनीय है—'चूर्णिसूत्रमें केवल चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोतकर्मका उल्लेख मिलता है। किन्तु षट्खण्डागमके स्थापनानिक्षेप विषयक सूत्रमें काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्मके सिवाय लेप्यकर्म, लेण्णकर्म, सेलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्मका भी निर्देश है।

इसी तरह जयधवलामें ही एक दूसरे स्थानमें चूर्णिसूत्रके साथ जीवट्ठाणका विरोध बतलाते हुए कहा[2] है—'यदि कहा जाय कि आठ समय अधिक छह महीनाके नियमके बलसे एक-एक गुणस्थानमें जीवोके संचयका समानरूपसे कथन

१ 'आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो।' 'एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा।' —क० पा० सु० पृ० २४।

२ 'ण च जीवट्ठाणसुत्तेण अट्ठसमयाहियछम्मासणियमबलेण पवेगगुणट्ठाणम्मि जीव संचयं सरिसभावेण परूवेण सह विरोहो, पुप्फयंदआइरियाणं सुत्तविणिग्गयमेतेण दोण्हं थप्पभावमुवगयाणं विरोहाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भाग २, पृ० ३६१।

करनेवाले जीवस्थानके सूत्रके साथ इस कथनका विरोध हो जायगा, सो भी बात नहीं है क्योंकि ये दोनो उपदेश अलग-अलग आचार्योंके मुखसे निकले हैं अतः दोनो स्वतन्त्र रूपसे स्थित होनेके कारण उनमें विरोध नहीं हो सकता।'

यहाँ चूर्णिसूत्रके कथनको जीवस्थानके कथनसे स्वतन्त्र मानते हुए उन्हें दो पृथक्-पृथक् आचार्योंका उपदेश बतलाया है।

षट्खण्डागमका छठा खण्ड महाबंध है, जो स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें माना जाता है, वह भी आचार्य भूतबलिकी कृति है। जयधवलामें उसको भी तंत्रान्तर बतलाया है। महाबन्ध और कसायपाहुडके मतभेदकी चर्चा करते हुए उसमें लिखा[1] है—'महाबन्धमे विकलेन्द्रियोमे स्वस्थानमें ही सक्लेशक्षयसे सख्यातभागवृद्धिरूप बन्धके दो समय कहे हैं। उसके बलसे कसायपाहुडको समझना ठीक नही है क्योंकि भिन्न पुरुषके द्वारा रचित ग्रन्थान्तरसे ग्रन्थान्तरका ज्ञान नही हो सकता।'

जयधवलाकी तरह धवला-टीकामें भी षट्खण्डागम और कसायपाहुडके मतभेदोकी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है।

धवलामें[2] लिखा है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहले सोलह प्रकृतियोका क्षय होता है, पीछे आठ कषायोका क्षय होता है, यह 'सतकम्मपाहुड' का उपदेश ह। किन्तु कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोका क्षय होनेपर पीछे सोलह कर्मोंका क्षय करता है। ये दोनो ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता, क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है। तथा दोनो कथन प्रमाण है, यह वचन भी घटित नही होता, क्योंकि एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नही होना चाहिये ऐसा न्याय है।'

प्रकृत विषयकी चर्चा करते हुए इसी प्रसगसे धवलामे आगे जो शका-समाधान किया गया है वह भी दृष्टव्य है। लिखा है—

शका— उक्त दोनो वचनोमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नही होते। अत उनके वचनोंमें विरोध नही होना चाहिये।

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु उक्त वचन तीर्थङ्करके वचन नही हैं, आचार्योंके वचन हैं। आचार्योंके वचनोंमें विरोध होना सम्भव है।

---

१ 'महाबंधम्मि विगलिंदिएसु सत्थाणे चेव संकिलेसक्खएण संखेज्जभागवड्ढिबंधस्स बे समया परूविदा, तब्बलेण कसायपाहुडस्स ण पडिबोहण्णं कादुं जुत्तं, तंतंतरेण भिण्ण पुरिसकएण तंतंतरस्स पडिबोयणाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भा० ४, पृ० १६५।

२. 'एसो संतकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण ।'

—षट्खं०, पु० १, पृ० २१७।

शंका—तो फिर [1]आचायकथित सत्कमप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे सम्भव हो सकता है।

समाधान—तीर्थङ्करके द्वारा अर्थरूपसे कहे गये और गणधरके द्वारा ग्रन्थ-रूपसे निबद्ध द्वादशांग आचाय परम्परासे निरन्तर चले आ रहे थे। परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अगोको धारण कर सकनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। तब श्रेष्ठ बुद्धिवालोंका अभाव देखकर तीर्थविच्छेदके भयसे पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करनेवाले आचार्योंने उन्हें पोथियोमें लिपिबद्ध किया। अतएव उनमें असूत्रपना नही हो सकता।

शका—तब तो द्वादशागका अवयव होनेसे उक्त दोनो ही वचन सूत्र हो जायेंगे?

समाधान—दोनोमेसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोको सूत्रपना नही प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दानोमे परस्परमें विरोध है।

शका—दोनो वचनोमेंसे किसको सत्य माना जाये?

समाधान—यह तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते है दूसरा नही जान सकता। उक्त विस्तत चर्चासे मतभेदका कारण भिन्न आचायपरम्पराका होना ही प्रकट होता है।

२ जीवट्ठाणके [2]अन्तरानुगममे चारो कषायोका उत्कृष्ट अन्तर काल छै मास बतलाया है। उसकी धवला टीकामें लिखा है कि ऐसा मानने पर पाहुडसुत्त (कसायपाहुड) के साथ व्यभिचार नही आता है क्योकि उसका उपदेश भिन्न है।

३ जीवस्थान चूलिकाकी [3]धवलामें लिखा है—यह व्याख्यान अपूवकरण गुणस्थानके प्रथम समयम होनेवाले स्थितिबन्धका सागरोपम कोटिलक्ष पृथक्त्व-प्रमाण कथन करनेवाले पाहुडचूर्णिसूत्रसे विरोधको प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का नही करना चाहिये। वह तन्त्रान्तर है।

४ उक्त चूलिकाकी [4]धवलामे ही अन्यत्र लिखा है—'इस द्वितीयोपशम

---

१ आइरिय कहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाणं कधं सुत्तत्तणमिदि णेण्ण, तित्थयरकहियत्थाण गणहरदेवकयगंथरयणाणं बारहंगाणं आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं जुगसहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाण पुणो सुट्ठुबुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थवोच्छेदभएण वज्जभीरूहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो।' —षट्खं०, पु० १, पृ० २२१।

२ ण पाहुडसुत्तेण वियहिचारो, तस्स भिण्णोवदेसत्तादो।' —षट्खं० पु० ५, पृ० ११२।

३ षट्खं० पु० ६, पृ० १७७।

४ पु० ६, पृ० २११।

सम्यक्त्वकालके भीतर जीव असंयमको भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवली काल शेष रहनेपर सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता ह। यदि सासादनको प्राप्त करके मरता है तो नरकगति, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नही कर सकता, किन्तु नियमसे देवगतिमें जाता है। यह पाहुडचूर्णिसूत्रका अभिप्राय है। किन्तु भगवन्त भूतबलिके उपदेशानुसार उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त नही करता।'

५ उसीमें पुन अन्यत्र[1] लिखा है—'यह बात प्राभृतसूत्र (कसायपाहुडचूर्णिसूत्र) के अभिप्रायानुसार कही गई है। परन्तु जीवस्थानक अभिप्रायसे सख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्योमें सासादनगुणस्थान सहित निगमन नही बन सकता, क्योकि उपशमश्रेणिसे उतरे हुए मनुष्यका सासादनगुणस्थानमें गमन सम्भव नही है।'

खुद्दाबन्धकी धवला-टीकामें महाकम्मप्रकृतिप्राभृत और चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशोमें भेद बतलाते हुए लिखा[2] है—'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमे दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है, यह महाकम्मप्रकृतिप्राभृतका उपदेश है। चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशके अनुसार मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके अन्तमें पाँच प्रकृतियोका उदयविच्छेद होता है, शेष पाँचका उदयविच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे होता है।'

महाकम्मप्रकृतिप्राभृतके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना हुई है। अत षट्खण्डागमके मत अवश्य ही महाकम्मप्रकृतिप्राभृतके मत होने चाहिये। और इस तरहसे चूर्णिसूत्रकारके मत महाकम्मप्रकृतिप्राभृतके मतोंसे भी भिन्न थे, यह कहा जा सकता है। अत ये सैद्धान्तिक मतभेद बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं।

[3]खुद्दाबन्धकी ही धवला-टीकामें एक अन्य भी उल्लेखनीय चर्चा है, जो इस प्रकार है—

शका—कसायपाहुडसुत्तके साथ यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—सचमुचमें कषायप्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र (२४) विरुद्ध पड़ता है किन्तु यहाँ एकान्तग्रह नहीं करना चाहिये कि यही सत्य है या वही सत्य है, क्योकि श्रुतकेवलियो या प्रत्यक्ष ज्ञानियोके बिना इस प्रकारका निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसंग आवेगा।

---

१ पु० ६, पृ० ४४४।

२ 'एसो महाकम्मपयडिपाहुडउवएसो। चुण्णिसुत्तकत्ताराणमुवएसेण पंचण्णं पयडीण मुदयवोच्छेदो।' —पु० ८, पृ० ९।

३. पु० ८, पृ० ५६–५७।

शंका—सूत्रोंमें विरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—अल्पश्रुतके धारक आचार्योंके द्वारा रचे गये सूत्रों व उपसंहारोंमें विरोधका होना सम्भव प्रतीत होता है।

शंका—उपसंहारोंको सूत्रपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—घट, घटी, सकोरा आदिमें रखे हुए अमृतसागरके जलमें अमृतत्व पाया ही जाता है।

इस प्रकार षट्खण्डागम और कसायपाहुडचूर्णिसूत्र दो भिन्न आचार्य-परम्पराओंके उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। इसीसे उनके कतिपय सैद्धान्तिक मन्तव्योंमें मतभेद है।

अनुयोगद्वार और चूर्णिसूत्र

अनुयोगद्वारसूत्र स्वतंत्र ग्रन्थ है, व्याख्याग्रन्थ नहीं है, किन्तु चूर्णिसूत्र व्याख्यासूत्र है। अनुयोगद्वारमें जिस आगमिक शैलीका दर्शन मिलता है, चूर्णिसूत्रोंमें भी उसी आगमिक शैलीका दर्शन होता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन आगमिक व्याख्या-शैली वही थी जो इन दोनों सूत्र-ग्रन्थोंमें पाई जाती है।

अनुयोगद्वारसूत्रको परम्परासे आर्यरक्षितकी कृति माना जाता है। पट्टावलियोंके अनुसार आर्यरक्षित आर्यमंक्षु और नागहस्तीके मध्यमें हुए थे। अतः उनका समय[1] विक्रमकी प्रथम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। इस हिसाबसे अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णिसूत्रोंका पूर्वज सिद्ध होता है। किन्तु उसको देखनेसे उसकी प्राचीनतामें सन्देह होता है। नन्दिसूत्रमें अनुयोगद्वारका नाम आया है। और नन्दिसूत्र वलभी वाचनाके समय अर्थात् विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रारम्भमें रचा गया माना जाता है। नन्दिमें मिथ्याश्रुत और अनुयोगमें [2]लौकिकश्रुतके नामसे अनेक ग्रन्थोंके नाम दिये हैं। उनमें माठर और षष्ठितंत्रका भी नाम है। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकापर माठरकी कृति प्रसिद्ध है तथा [4]अनुयोगद्वारमें लौकिक भावावश्यकका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—पूर्वाह्णमें भारतका और अपराह्णमें रामायणका वाचन अथवा श्रवण करना है यह लौकिक भावावश्यक है।

---

१ 'श्रीमदार्यरक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपञ्चशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभागिति पट्टावल्यादौ दृश्यते।' —प० स०, पृ० ४८।

२ से किं तं लोइयं भावावस्सयं ? पुव्वण्हे भारहं अवरण्हे रामायणं, से तं लोइयं भावावस्सयं (सू० २५)।

३ क० पा० भा० १, पृ० ।

४ 'जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा (सू० १०) अ० ।

भारत और रामायणके इस प्रकार आवश्यक रूपसे वाचन अथवा अध्ययनका परिज्ञान अवश्य ही गुप्तकालमें होना चाहिये। अतः अनुयोगद्वारसूत्र गुप्तकालसे पूर्वका नहीं होना चाहिये।

चूर्णिसूत्रोंके साथ उसकी तुलना करनेपर भी उसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। प्रत्युत चूर्णिसूत्र ही उससे अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं। बादेय[1] कषायका स्वरूप बतलाते हुए चूर्णिसूत्रोंमें चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोत्तकर्मका ही उल्लेख है किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें लेप्यकर्मका भी निर्देश मिलता है। इसी तरह उसमें पूर्ववत् शेषवत आदि अनुमानके तीन भेद गिनाये हैं। जो न्यायसूत्रोंमें पाये जाते हैं।

चूर्णिसूत्र ऐतिहासिक महत्त्व—दो परम्पराएँ

यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं उपदेशकी दो परम्पराएँ, जिनमेंसे एकको वह पवाइज्जमाण (प्रवाह्यमान) और दूसरीको अपवाइज्जमाण कहते हैं। इन दोनों परम्पराओंका निर्देश कसायपाहुडके उपयोग नामक अधिकारमें पाया जाता है।

'पवाइज्जमाण'की व्याख्या बतलाते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'जो सब आचार्योंके द्वारा सम्मत हो और प्राचीनकालसे बिना किसी विच्छेदके सम्प्रदायक्रमसे आता हुआ शिष्य-परम्पराके द्वारा लाया हो उसे पवाइज्जत उपदेश कहते हैं। अथवा यहाँ पर भगवान आयमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण और नागहस्ती क्षपणके उपदेशको पवाइज्जमाण स्वीकार करना चाहिये।

उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने[2] लिखा है कि इस गाथाकी विभाषाके विषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं। एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अब पवाइज्जंत उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते हैं। इसी 'पवाइज्जत' की टीकामें जयधवलाकारने उक्त बात कही है।

इससे ऐसा प्रकट होता है कि कसायपाहुडके गाथासूत्रोंके व्याख्यानमें आर्यमंक्षु और नागहस्तीमें मतभेद था। आचार्य यतिवृषभने आयमंक्षुके मतको प्रथम

---

१ (सू० ४१),

२ 'एक्केण उवएसेण चउत्थीए विहासा समत्ता भवदि। पवाइज्जंतेण उवएसेण चउत्थीए गाहाए विभासा।' ज० ध०—को पुण पवाइज्जंतोवएसो णाम वुत्तमेदं? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमंखुभयवंताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जंतओ त्ति घेत्तव्वो।'

—ज० ध० प्रे० का०, पृ० [illegible]।

स्थान दिया, और यद्यपि दूसरे उपदेशको—जिसे जयधवलाकार नागहस्तीका बतलाते हैं—पवाइज्जंत बतलानेसे प्रथम उपदेशका अपवाइज्जत होना स्वयं सिद्ध है, किन्तु उन्होने अपनी लेखनीसे उसे अपवाइज्जत नही कहा। इसी तरह इसी अधिकारकी सातवी गाथाको विभाषामे भी दोनो उपदेशोका कथन करके एक[1] उपदेशको पवाइज्जत लिखा और अन्तमे लिख दिया कि इन दोनों उपदेशोंसे त्रसजीवोके कषायोदयस्थान जान लेना चाहिये। ऐसा करके यतिवृषभने जहाँ प्राचीन उपदेशकी सुरक्षा की वहाँ दूसरेकी अवहेलना नही की। यह उनके बड़प्पनको तो द्योतित करता ही है, साथ ही आयमक्षुके प्रति अनादरभावको भी प्रकट नही करता।

किन्तु जयधवलाकारन इसी अध्यायमे तथा आगे आयमक्षु और नागहस्ती दोनोके उपदेशको पवाइज्जत भी कहा ह।

उपयोगाधिकारकी प्रथम गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने लिखा है—'पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोका विशेष अन्तमुहूत है और उसी पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा चारो गतियोमें अल्पबहुत्वका कथन करते है।'

इस टीकामें [2]जयधवलाकारने दोनोके उपदेशको पवाइज्जत कहा ह। इसी तरह सम्यक्त्व अनुयोगद्वारमें[3] भी उन्होने दोनोंके उपदेशको पवाइज्जत कहा है। ऐसी स्थितिमे उपयोगाधिकारकी चतुथ गाथाके चूर्णिसूत्रोंकी व्याख्यामे जो उन्होने आयमक्षुके उपदेशोको पवाइज्जत और नागहस्तीके उपदेशोको अपवाइज्जत कहा ह, उसके साथ सगति नही बैठती और दोनो कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते ह। किन्तु जयधवलाके शब्दोपर ध्यान देनेसे यह विसगति दूर हो जाती है।

जयधवलाकारने वहाँ पहले 'पवाइज्जत उपदेश' की व्याख्या की है कि जो सर्वाचाय सम्मत आदि हो वह पवाइज्जत उपदेश है। फिर 'अथवा' कहकर आयमंक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा ह। किन्तु अपवाइज्जमाणके पहले आगत 'एत्थ शब्द खास ध्यान देने योग्य ह जो बतलाता ह कि यहाँपर अपवाइज्जमाणसे आयमक्षुका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अत आयमक्षुका प्रत्येक उपदेश अपवाइज्जमाण नही है। किन्तु नागहस्तिके साथ एत्थ पद नही है। अत नागहस्ती-

---

१ एसो उवएसो पवाइज्जइ। अण्णो उवदेसो । एदेहिं दोहि उवदेसेहिं कसाय उदयट्ठाणि णेदव्वाणि तसाणं। —क० पा० सु०, पृ० ५९२–५०६।

२ 'तेसि चेव भयवंताणमज्जमंखु णागहत्थीणं पवाइज्जंतेण उवएसेण।'

—ज० ध० सं० का०, पृ० ५८६४।

३ 'पवाइज्जतेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमंखु णागहत्थिमहावाचयमुह कमल विणिग्गयण।' —जै० ध० प्रे० क० ६२६१।

का कोई उपदेश अपवाइज्जंत नही थी—सब उपदेश पवाइज्जंत था। किन्तु आर्यमंक्षुका कोई-कोई उपदेश अपवाइज्जंत भी था।

इस तरह चूर्णिसूत्रोंमें विभिन्न उपदेशोंकी परम्पराके दर्शन होते हैं।

चूर्णिसूत्रके रचयिता

चूर्णिसूत्रके रचयिता आचाय यतिवृषभ हैं। ये गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्तिके उत्तराधिकारी हैं। पट्टावलि, शिलालेख तथा अन्य स्रोतोंसे आचाय यतिवृषभके जीवन-परिचय, समय आदिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हैं।

इनकी दो ही कृतियाँ मानी जाती हैं—एक कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्र और दूसरी त्रिलोकप्रज्ञप्ति। किन्तु उनमे अन्य बातोंका तो कहना ही क्या, ग्रन्थकर्ता तकका नाम नही पाया जाता। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमे एक गाथा आई है—

> "पणमह जिणवरवसह गणहरवसह तहेव गुणवसहं।
> दट्ठूण परिसवसह जदिवसह धम्मसुत्तपाढरवसह ॥

इस गाथामें 'जदिवसह (यतिवृषभ) नाम आया है। और उसके अन्तमें वषह (वृषभ) शब्द होनेसे उसका अनुप्रास मिलानेके लिये अन्य शब्दोके अन्तमें भी 'वसह' पद दिया है। जिनवरवृषभ और गणधरवृषभ पद तो स्पष्ट ही हैं, क्योकि जिनवर वृषभ प्रथम तीर्थङ्कर थे और उनके प्रथम गणधरका नाम भी वृषभ ही था। किन्तु 'गुणवसह' पद स्पष्ट नही है। यों तो उसे 'गणहरवसह' का विशेषण किया जा सकता है, 'जैसा कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति'[1] के हिन्दी अनुवादमें और श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति'[2] शीर्षक लेखमें किया है। किन्तु उससे कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नही होता। इसी तरह 'दट्ठूण परिसवसह' पद भी अस्पष्ट है।

जयधवलाके सम्यक्त्व-अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें मंगलाचरणरूपमें भी यह गाथा पाई जाती है। और उससे उक्त पदोकी समस्या सुलझ जाती है। गाथा इस प्रकार है—

> पणमह जिणवरवसहं गणहरवसह तहेव गुणहरवसह
> दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसह ॥

इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

'जिनवरवृषभको, गणधरवृषभको, गुणधरवृषभ (श्रेष्ठ) और दुस्सह परीषह-

---

१ जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।

२ जै॰ सा॰ इ॰, पृ॰ ७।

को सहनेवाले तथा धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ यतिवृषभको[1] प्रणाम करो। इसमें यतिवृषभके दो विशेषण है—एक दुस्सह परीषहको सहनेवाले और दूसरा धर्म-सूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ। पहले विशेषणके सम्बन्धमें श्रीप्रेमीजीने लिखा[2] है कि—'शिवार्यकी भगवतीआराधनाकी एक गाथा और उसकी टीकापर मेरी दृष्टि गई। गाथा और उसकी टीका इस प्रकार है—

अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिसमणलिंगेण।
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकारि गणी ॥२०७५॥

टीका—अहिमारएण अहिमारकनाम्ना बुद्धोपासकेन। णिवदिम्मि श्रावस्तिका-नगरीनाथे जयसेनाख्ये। गणी यतिवषभाचार्य।

यह प्रसंग समाधिमरणका है, जिसे आराधनामें पंडितमरण कहा है। हरि-षेणके बृहत्कथाकोशकी १५६वी और नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशकी ८१वी कथामें इसका विवरण मिलता ह, जो सक्षेपमें इस प्रकार है—

राजा जयसेन पहले बौद्ध भिक्षु शिवगुप्तका शिष्य था। एक बार यतिवृषभ अपने सघके साथ श्रावस्ती आये और उनका उपदेश सुनकर जयसेन जैनधमका श्रद्धालु हो गया। यह शिवगुप्तका अच्छा नही लगा। उसने पडोसी बौद्ध राजा सुमतिको भडकाया और उसने जयसेनके पास पत्र भेजा कि तुम पुन बौद्ध हो जाओ। पर जयसेन न माना, तब सुमतिने आकर श्रावस्तीको घेर लिया और अपने स्कन्धावारमें बैठकर कहा कि मेरी सेनामें कोई ऐसा है जो जयसेनको मार दे। तब अहिमारक नामक बुद्धोपासकने कहा कि हाँ, मैं यह काम करूँगा। उसने कपटसे यतिवृषभके पास जिनदीक्षा ले ली और उन्हींके साथ रहने लगा। दूसरे दिन राजा जयसेन जब जिनमन्दिरमें यतिवृषभ और इस नवीन मुनिकी वन्दनाके लिये आया और वह ज्यो ही सिर झुकाकर वन्दना करने लगा त्यों ही अहिमारकने खड्गसे उसका सिर उतार लिया। यतिवृषभ स्तम्भित रह गये। तत्काल ही उन्होंने सोचा कि यह उपप्लव बिना आत्मघातके शान्त न होगा। उन्होने राजाके रक्तसे दीवारपर लिख दिया कि एक मुनिवेषीने यह जो अपकम किया है उसके धोनेका इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है और उन्होने उसी समय तलवारसे अपना वध कर लिया।'

प्रेमीजीने उक्त कथासार शायद आराधनाकथाकोशके आधारपर दिया है,

---

१ यतिवृषभविषयक अन्य लेखोंके लिए देखो—जै० सा० इ० वि० प्र०, पृ० ५८६। ति० प० की प्रस्तावना, क० पा०, भा० १, प्रस्ता० पृ० ३९।
२ जै० सा इ०, पृ २०, २१।

क्योंकि हरिषेणके कथाकोशमें मरनेवालेका नाम अभिसारक आया है, अहिमारक नहीं। अस्तु,

जिस मूलाराधनानामक टीकामें गणिका अर्थ यतिवृषभाचार्य किया गया है वह पण्डित आशाधरकृत है। खेद है कि अपराजित सूरिने उदाहरण सम्बन्धी गाथाओंकी टीका नहीं की। हरिषेण आशाधरसे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुए हैं और उन्होंने अपने कथाकोशकी १५६वीं कथामें आचार्यका नाम यतिवृषभ[1] लिखा है। अत संभव है कि आशाधरने अपनी टीकामें गणीका अर्थ यतिवृषभाचार्य उसीके आधारसे किया हो।

इसमें तो सन्देह नही कि 'दुसहपरीसहविसह' विशेषणके साथ कथाकी संगति ठीक बैठती है।

किन्तु ऐसी स्थितिमें उक्त गाथा यतिवृषभकृत होना सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मघातके पश्चात् मरण होनेपर आचार्य स्वयं अपने विषयमें कुछ लिख नही सकते। यह तो उनका कोई वीरसेन स्वामी जैसा भक्त ही लिख सकता है क्योंकि उन्हीकी जयधवलाटीकाके सम्यक्त्व-अधिकारके प्रारम्भमे उक्त गाथा पाई जाती है। और गुणधर तथा यतिवृषभके प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी। इसके समर्थन में जयधवलासे दोनोके सम्बन्धमें एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

जयधवलाकी उत्थानिकामें वीरसेन स्वामीने लिखा है—

'ज्ञानप्रवाद' नामक पूर्वकी दसवी निर्दोष वस्तुके तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्रके जल-समूहसे धोये गए मतिज्ञानरूपी लोचनोंसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष-कर लिया है और जो तीनों लोकोंके परिपालक हैं, उन गुणधर भट्टारकके द्वारा तीर्थविच्छेदके भयसे कही गई गाथा।'

'पच्चक्खीकय-तिहुवणेण' (प्रत्यक्षीकृतत्रिभुवनेन) और तिहुवण-परिपालएण' (त्रिभुवनपरिपालकेन) ये दो विशेषण ऐसे हैं जो जिनेन्द्रदेवके लिए उपयुक्त हैं। उनका प्रयोग गुणधरके लिये करके वीरसेन स्वामीने उनके प्रति अपनी असीम भक्तिका ही परिचय दिया है।

यही श्रद्धा हम उनकी यतिवृषभके प्रति भी पाते हैं। जयधवलामें एक शंका-

---

१. 'अन्यदा विहरन् क्वापि वृषभो यतिपूर्वकः।
राजाचार्यं समायातः श्रावस्तीं संघसंगत. ॥६॥'

२ णाणप्पवादामलदसमवत्थुतदियकसायपाहुडउवहिजलणिवहप्पक्खालियमइणाणलोयणकलाव पच्चक्खीकयतिहुवणेण तिहुवणपरिपालएण गुणहरभडारएण'—क० पा० भा० १, पृ० ४।

का समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने[1] कहा है—'विपुलाचलके शिखरपर स्थित महावीररूपी सूर्यसे निकलकर गौतम, लोहाय, जम्बूस्वामी आदि आचार्य-परम्परासे आकर, गुणधराचार्यको प्राप्त होकर गाथारूपसे परिणत हो, पुन आर्यमंक्षु-नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभके मुखसे चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणोंसे हमने ऐसा जाना है।' यहाँ यतिवृषभके वचनोको भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके साथ एकरसता बतलानेसे यतिवृषभके प्रति वीरसेन स्वामीकी असीम श्रद्धा व्यक्त होती है। तभी तो वे जिनेन्द्रोंमें श्रेष्ठ प्रथम जिन और गणधरोंमें श्रेष्ठ उनके प्रथम गणधरके साथ गुणधर और यतिवृषभको नमस्कार करनेकी प्रेरणा करते है।

स्वय यतिवषभ अपने विषयमें ऐसा नही कह सकते, क्योकि उक्त गाथामे आगत 'जइवसह' शब्द श्लेषरूपसे प्रयुक्त नही जान पडता। स्वयं उसके साथ दो विशेषण पद लगे हुए हैं। यदि उसे श्लेषरूपमें प्रयुक्त माना जाता है तो गाथाके पूरे उत्तराधको किसी विशेष्यके साथ प्रयुक्त करना होगा। गाथाके पूर्वाद्धमें तीन विशेष्यपद हैं, जिणवरवसह, गणहरवसह और गुणहरवसह। अब इन तीनो विशेष्योंमेंसे किसके विशेषणरूपसे उक्त तीनो विशेषणोका प्रयोग किया जाये, यह समस्या उत्पन्न होती है। खीचातानी करके किसी एकके साथ या तीनोके साथ तीनो भेदोको सयुक्त कर देनेपर भी यतिवृषभ जैसे ग्रन्थकारकी कृतिके अनुरूप स्वाभाविकता उसमें नही रहती। अस्तु,

दूसरा विशेषण 'धम्मसुत्तपाढरवसह' बतलाता ह कि यतिवृषभ धर्मसूत्रके पाठकोमें श्रेष्ठ थे, किन्तु धमसूत्रसे किस सूत्र-ग्रन्थका अभिप्राय है यह स्पष्ट नही होता। इस तरहके शब्दका व्यवहार भी जैनपरम्परामे मेरे देखनेमें नही आया।

वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभ महावीर-निर्वाणके एक हजार वष पश्चात् अर्थात ई० ४७३ से पूव नही हो सकते, क्योकि उसमे महावीर-निर्वाणसे एक हजार वष तकके प्रमुख राजवंशोकी कालगणना दी हुई है और वह इस रूपमें है कि सहसा उसे प्रक्षिप्त भी नही कहा जा सकता। उनके चूर्णिसूत्रोसे भी कोई बात ऐसी प्रकट नही होती, जिससे उनकी अर्वाचीनता प्रमाणित हो सके। उन्होने अपने चूर्णिसूत्रोमें 'एसा कम्मपवादे' और 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका उल्लेख किया है।

---

१ "एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहज्ज-जंबुसामियादिआइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहिंतो जइवसहमुहणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।" —क० पा०, भा० ५, पृ ३८८।

कसायपाहुडके चारित्रमोहोपशामना नामक अधिकारमें यतिवृषभने उपशामनाके दो भेद किये हैं—एक करणोपशामना और दूसरा अकरणोपशामना। तथा करणोपशामनाके भी दो भेद किये हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। और लिखा है कि अकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रवादमें और देशकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रकृतिमें है। कर्मप्रवाद आठवें पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम है। अब प्रश्न यह होता है कि यतिवृषभने इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश स्वयं उन्हें देखकर किया है या अन्य किसी आधारपर किया है? दिगम्बर उल्लेखोंके अनुसार पूर्वोका ज्ञान तो वीर निर्वाणसे ३४५ वर्ष पर्यन्त ही प्रचलित रहा है। उसके पश्चात तो विकलित ज्ञान ही रह गया था। श्वेताम्बर उल्लेखोंके अनुसार वीरनिर्वाणसे लगभग छ सौ वर्ष पश्चात स्वर्गगत हुए आयरक्षितसूरि साढ़े नौ पूर्वोके ज्ञाता थे। उन्हींके वंशज नागहस्ती थे। वे आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता हो सकते हैं। नन्दिसूत्रमें उन्हें कर्मप्रकृतिमें प्रधान तो बतलाया ही है। इसलिए उनके द्वारा यतिवृषभको कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति दोनोंका अनुगम होना शक्य है। इन्ही दो का निर्देश चूर्णिसूत्रोमें पाया जाता है। अतएव चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमंगुके न सही तो कम-से कम नागहस्तीके तो लघु समकालीन होने ही चाहिये। विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें आर्यमंगुका नाम नही है। गुणधरने नागहस्तीको कसायपाहुडके सूत्रोका व्याख्यान किया। और गुणधर नागहस्तिके पास यतिवृषभने उनका अध्ययन किया। इसमें गुणधरके पास अध्ययन करने वाली बातका समर्थन अन्यत्रसे नही होता, अत उसे छोड देने पर भी नागहस्तीके समीप अध्ययन करनेकी ही बात पुष्ट होती है। एक अन्य बात यह भी है कि[1] त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपलब्ध प्रतिमे हम बहुत-सी ऐसी गाथाए पाते हैं जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमें पाई जाती हैं और उनसे ली गई प्रतीत होती हैं। यद्यपि इससे यतिवृषभकी प्राचीनताको विशेष क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी माना गया है तथापि यतिवृषभमें यदि इस प्रकारका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती तो उसका कुछ आभास उनके चूर्णिसूत्रोमें भी परिलक्षित होता। अत हमारा अनुमान है कि इन प्राचीन गाथाओंका कोई एक मूलस्रोत रहा है, जहाँसे कुन्दकुन्द और यतिवृषभ दोनोंने ही उन गाथाओंको ग्रहण किया होगा। दूसरे, धरसेनने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके विच्छेदके भयसे ही भूतबलि-पुष्पदन्तको उसका ज्ञान दिया था। उन्होंने उसके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना की और इस तरह महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान उनके साथ समाप्त हो गया। तब यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका

---

१ त्रि प भा २ की प्रस्तावना तथा अनेकान्त वर्ष २, पृ. ३।

ज्ञान किससे मिला ? अत यतिवृषभ ऐसे समयमें होने चाहिये जब कर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था।

तीसरे, यह आगे बतलायेंगे कि छक्खडागम और कसायपाहुडमें अनेक बातोंको लेकर मतभेद ह, अत उन दोनोको तन्त्रान्तर कहा गया है। जो मतभेद बतलाया जाता है उसका आधार कसायपाहुड पर रचित चूर्णिसूत्र हैं। वही उस मतभेदका प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्ही परसे धवला व जयधवलामें भूतबलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा देखनेमें आती है। उस चर्चापरसे यतिवृषभका व्यक्तित्व भूतबलिके समकक्ष प्रतीत होता है। दोनोके सूत्रोकी भी तुलनासे यही बात प्रमाणित होती है। अत यतिवृषभ भूतबलि पुष्पदन्तसे विशेष अर्वाचीन प्रतीत नही होते। और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे। चूंकि धरसेन और नागहस्ती लगभग समकालीन प्रमाणित होते हैं, क्योंकि दोनो-का समय वीर निर्वाणकी सातवी शताब्दीमें थोड़ा आगे-पीछे आता है। अत यतिवृषभ भी उसी समयके लगभग होने चाहिये।

यतिवृषभकी रचनाए

आचाय यतिवृषभकी कृतिरूपसे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है—एक प्रकृत चूर्णिसूत्र[1] और दूसरी तिलोयपण्णत्ती[2]। दोनो उपलब्ध हैं और हिन्दी अथके साथ छपकर प्रकाशित हो चुके ह। तिलोयपण्णत्तीका विषय लोकरचनासे सम्बद्ध है, अत उसका परिचय आदि इस ग्रन्थके लोकरचना विषयक प्रकरणमे दिया जायगा।

तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम[3] गाथामें तिलोयपण्णत्तीका प्रमाण आठ हजार बतलाते हुए लिखा ह कि चूर्णिस्वरूप और षटकरणस्वरूपका जितना प्रमाण है उतना ही तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि षटकरणस्वरूप नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभकृत होना चाहिये।

प० जुगलकिशोर मुख्तारका कहना है कि 'करणस्वरूप नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवषभके द्वारा रचा गया था जो अभी तक अनुपलब्ध है। बहुत सम्भव है कि वह ग्रन्थ उन करणसूत्रोका ही समूह हो, जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रन्थोमें पाया जाता है। चूर्णिसूत्रोकी संख्या चूकि छ हजार हैं अत करणस्वरूप ग्रन्थकी सख्या दो हजार श्लोक परिमाण समझनी चाहिये,

---

१ श्री वीरशासन संघ, कलकत्तासे प्रकाशित।

२ जीवराज ग्रन्थ माला, शोलापुरसे प्रकाशित।

३ चुण्णिसरूवछक्करणसरूवपमाण होइ किं जं तं। अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्ति णामाए ॥७७॥ ति, प, भा २, पृ ८८०।

तभी दोनोंकी संख्या मिलकर आठ हजार परिमाण इस ग्रन्थ (तिलोयपण्णत्ती)
का बैठता है (जै० सा० इ० वि० प्र०, पृ० ५८९) ।

किन्तु सिद्धान्तशास्त्री प० हीरालालने कसायपाहुडसुत्तकी प्रस्तावनामें उक्त अन्तिम गाथाके उक्त अंशका भिन्न अर्थ किया है । उन्होंने गाथा उद्धृत करके लिखा है—'इसमें बतलाया गया है कि आठ करणोंके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाली कम्मपयडीका और उसकी चूर्णिका जितना प्रमाण है उतने ही आठ हजार प्रमाण इस तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है ।'

गाथाके प्रथम चरण 'चुण्णिसरूव-छक्करणसरूव' में 'छ' के स्थान पर 'त्थ' पाठभेद भी मिलता है । पण्डितजीने 'त्थ' के स्थानमें 'ट्ठ' मानकर 'अट्ठकरण' शब्द निष्पन्न किया है । चूंकि कर्मप्रकृतिमें आठ करणोंके स्वरूपका कथन है अत 'अट्ठकरण' नाम कमप्रकृतिके लिए ही प्रयुक्त किया है, ऐसा पं० जीका विचार है । और यत आप कर्मप्रकृतिकी चूर्णिका रचयिता आचार्य यतिवृषभको मानते हैं इसलिये आपने उक्त प्रकारका अथ किया है ।

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिके कर्ताका विचार करते समय इस बात पर प्रकाश डाला जायेगा कि यतिवषभ उसके कर्ता नही हो सकते । यहाँ तो हम इतना ही लिखना उचित समझते हैं कि पण्डितजीने ति० प० की उक्त अन्तिम गाथा-का जो अथ किया है वह अपनी उक्त कल्पनाके आधार पर उतावलीमें कर डाला है । यह ठीक है कि कमप्रकृतिमें आठ करणोके भी स्वरूपका कथन है । किन्तु आठ करणोके सिवाय उदय और सत्ताका भी कथन है और पहली गाथामें ही आठ करणोंके साथ उदय और सत्वके भी कथनकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है । अत ऐसे ग्रन्थका नाम 'अट्ठकरणसरूव' नही हो सकता ।

दूसरे, प्रकृत कम्मपयडी या कमप्रकृतिका 'अट्ठकरणसरूव' नाम भी था, इसका एक भी समर्थक प्रमाण मेरे देखनेमें नही आया । जिस चूर्णिको पण्डितजी यतिवृषभकृत मानते हैं उसमें भी प्रथम गाथाकी उत्थानिकारूपसे 'कम्मपयडी-संगहणी' नामका निर्देश करते हुए उसे साथक बतलाया है ।

तीसरे, 'चुण्णिसरूवट्ठकरणसरूव'का अथ 'कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि' करना भी कष्टसाध्य ही है । उसका सीधा-सा अर्थ होता है चूर्णि और अट्ठकरण (कमप्रकृति) । अट्ठकरणकी चूर्णि यह अर्थ तो नही होता । फिर कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका परिमाण बतलानेके लिए अपनी कृतियोंके सिवाय अन्य कृतिका निर्देश क्यों करेगा । अत पं० जीने तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथाके स्वकल्पित अर्थके आधारपर जो कर्मप्रकृतिचूर्णिको यतिवृषभकी कृति बतलाया है वह ठीक नहीं है । इसी तरह सतरीचूर्णि तथा शतकचूर्णि भी यतिवृषभकृत नहीं हैं । इस पर विशेष प्रकाश चूर्णियोंके कर्तृत्वके विवेचनके समय डाला जायेगा ।

चूर्णिसूत्रोंकी विषयवस्तु

आचार्य गुणधररचित गाथासूत्रोंपर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है। अतः चूर्णिसूत्रोका भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय वही है, जो कसायपाहुडका है। किन्तु आचार्य गुणधरने अपने पृच्छात्मक गाथासूत्रोंमें जो जिज्ञासाएं मात्र व्यक्त की थी या जिन विषयोकी सूचनामात्र की थी उन सबको चूर्णिसूत्रकारने भी सक्षेपमें ही कहनेका प्रयत्न किया ह। उदाहरणके लिए आचार्य गुणधरने एकमात्र गाथा (२२) के द्वारा आदिके चार अधिकारोका निर्देशमात्र किया है। किन्तु यतिवृषभने उस एक गाथाका अवलम्बन लेकर चारो अधिकारोका कथन किया ह। सबसे प्रथम उन्होंने गाथाका पदच्छेद किया है—'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति' इस पदसे प्रकृतिविभक्ति नामक पहला अर्थाधिकार है। 'तह ट्ठिदी' से स्थितिविभक्ति दूसरा अर्थाधिकार है। 'अणुभागे' से अनुभागविभक्ति तीसरा अर्थाधिकार है। 'उक्कस्समणुक्कस्स' से प्रदेशविभक्ति चतुर्थ अर्थाधिकार है। 'झीणाझीण' पाचवां अर्थाधिकार है और स्थित्यन्तक' छठा है। प्रकृति-विभक्तिके दो भेद है—मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्तिके आठ अनुयोगद्वार है—स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय काल, अन्तर, भागाभाग अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोका कथन करनेपर मूलप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती ह। इसके पश्चात उत्तरप्रकृतिविभक्ति दो प्रकारकी है—एकैकउत्तरप्रकृति-विभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। उनमेंसे एककउत्तर प्रकृतिविभक्तिके ये अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचयानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम अन्तरानुगम, सन्निकर्ष और अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोके कहने पर एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है।

इस तरह चूर्णिसूत्रकारने गुणधराचार्यके द्वारा सूचित आद्य अधिकारोका विवेचन किया है। उक्त अनुयोगद्वार आगमिक परम्पराकी देन ह। उनके द्वारा किसी भी वर्ण्य वस्तुका विवेचन करनेसे उसके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिसूत्रकारने पांच उपक्रमोका निर्देश किया है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। नामके छह भेद, प्रमाणके सात भेद, वक्तव्यताके तीन भेद और अर्थाधिकार केपन्द्रह भेद है।

तिलोयपण्णत्तिके आरम्भमें कहा है—

जो ण पमाण-णएहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥

अर्थात् जो नय, प्रमाण, निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है।

इस आचार्यपरम्परासे आगत न्यायको दृष्टिमें रखकर चूर्णिसूत्रोंमें भी तदनुसार कथन किया है। प्रथम गाथामें आगत 'कसायपाहुड' शब्दपर चूर्णिसूत्र द्वारा कहा गया है—उस पाहुडके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। पेज्जदोसपाहुडनाम अभिव्याहरण निष्पन्न है और कसायपाहुडनाम नयनिष्पन्न है। पेज्जका निक्षेप करते हैं—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, भावपेज्ज। नैगम, सग्रह, व्यवहारनय सब निक्षेपोको स्वीकार करते है। ऋजसूत्रनय स्थापना-को छोड़कर शेष तीनको स्वीकार करता है। शब्दनय नामनिक्षेप और भावनि-क्षेपको स्वीकार करता है।

इसी तरह दोस कसाय और पाहुडमें भी निक्षपोंकी योजना करके उनमें नयकी योजना की है।

पाहुडशब्दकी निरुक्ति 'पदेहि पुद' की है अर्थात पदोंसे स्फुट होनेसे प्राभृत कहते हैं।

प्रकृतिविभक्तिका कथन करते हुए विभक्तिका निक्षेप किया है—नामविभक्ति, स्थापनाविभक्ति, द्रव्यविभक्ति, क्षेत्रविभक्ति, कालविभक्ति, गणनाविभक्ति सस्थानविभक्ति और भावविभक्ति। विभक्तिका अथ करते हुए कहा है—तुल्य-प्रदेशी द्रव्य तुल्यप्रदेशी द्रव्यका अविभक्ति है और वही द्रव्य असमानप्रदेशी द्रव्यका विभक्ति है अर्थात विभक्तिका अथ असमानता है।

प्रकृतिविभक्तिके अन्तगत प्रकृतिस्थानविभक्तिका कथन करते हुए मोहनीय कमके पन्द्रह प्रकृतिसत्वस्थान कहे हैं—२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २ १। चूर्णिसूत्रकारने इनका कथन एकसे किया है। किन्तु यहाँ हम मोहनीयकमके इन सत्वस्थानोंको इसी क्रमसे लिख रहे जिस क्रमसे ऊपर कहे है। उससे पाठक यह जान सकेंगे कि मोहनीयकर्मका क्षय किस क्रमसे होता है।

मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अठाईस हैं। जिसके सब प्रकृतियोंकी सत्ता है वह अट्ठाईस प्रकृतिस्थान विभक्तिवाला है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि या मिथ्यादृष्टि होता है। उनमेंसे सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। उसके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। उनमेंसे सम्यक्मिथ्यात्वकी उद्वेलना करने वाला सादिमिथ्यादृष्टिजीव या

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। अठाईस प्रकृतियोंमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया, लोभका विसंयोजन करने वाला सम्यग्दृष्टि चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृति तथा सम्यमिथ्यात्वप्रकृतिके शेष रहने पर मनुष्य सम्यग्दृष्टि तेईस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्प्रकृतिके शेष रहने पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य बाईस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। दर्शनमोहनीयका क्षय करने वाला जीव इक्कीस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। नौवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभका क्षपण करने वाला संयमी मनुष्य तेरह प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। फिर उसी गुणस्थानमें नपुसकवेदका क्षय करनेपर बारह प्रकृतियोकी, स्त्रीवेदका क्षय करने पर ग्यारह प्रकृतियोंकी, छह नोकषायोका क्षय करनेपर पाँच प्रकृतियोकी, पुरुषवेदका क्षय करनेपर चार प्रकृतियोंकी तथा क्रमसे सज्वलन क्रोध मान और मायाका क्षय करनेपर तीन, दो और एक विभक्ति वाला होता है। एक विभक्ति वालेके केवल एक सज्वलनलोभकषाय शेष रहती है। इसका विनाश कृष्टिकरणके द्वारा किया जाता है।

चूर्णिसूत्रकारने इन्ही प्रकृतियोके स्थितिसत्व अनुभागसत्व, प्रदेशसत्व आदि का कथन अनुयोगद्वारोसे किया है। किन्तु उन्होने सभी अनुयोगद्वारोका कथन नही किया। जहाँ जिनका कथन आवश्यक समझा वहाँ उनका कथन किया है। समस्त कथन इतना अधिक परिभाषाबहुल है कि कर्मसिद्धान्तके अभ्यासी पाठकके लिये भी दुरूह है। उस सबका परिचय कराना भी कष्टसाध्य है। फिर भी कुछ कम दुरूह विषयोंका परिचय कराते हैं—

बन्धक अधिकारमें आगत सक्रम-अधिकारमें मोहनीयके उक्त २८ आदि प्रकृतिस्थानोके सक्रम पर भी विचार किया गया है। प्रत्येक प्रकृतिसत्वस्थानकी प्रकृतियां बतलानेके साथ किस स्थानका सक्रम होता है और किसका नही होता इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस सक्रम-अधिकारको आचार्य गुणधरने भी विस्तारसे लिखा है और चूर्णिसूत्रकारने भी उसे यथानुरूप स्पष्ट किया है। इसके स्पष्टीकरणके लिये उन्होने स्थानसमुत्कीर्तन, सर्वसक्रम, नोसर्वसंक्रम, उत्कृष्टसंक्रम, अनुत्कृष्टसक्रम, जघन्यसक्रम, अजघन्यसंक्रम, सादिसंक्रम, अनादिसंक्रम, ध्रुवसक्रम, अध्रुवसक्रम, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, भुजकार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वार सूचित किये हैं। किन्तु विवेचन केवल स्थानसमुत्कीर्तन, काल अन्तर और अल्पबहुत्व-

का ही किया है। प्रकृतिसंक्रमकी तरह ही स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम, और प्रदेशसंक्रमका कथन किया है।

संक्रमके पश्चात् वेदक अधिकार है। इसमें आचार्य गुणधरने जो आशंकासूत्र उपस्थित किये हैं उन सबका विवेचन चूर्णिसूत्र द्वारा किया गया है। वेदकके दो अनुयोगद्वार हैं—उदय और उदीरणा। पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदयसे सम्बद्ध है। आगेकी गाथाएँ उदीरणासे सम्बद्ध होनेसे चूर्णिसूत्रकारने उदीरणाका ही कथन विस्तारसे किया है। अनुयोगद्वारोंका क्रम आवश्यकतानुसार परिवर्तनसे सर्वत्र चलता है।

आगे उपयोगाधिकारमें आशङ्कासूत्रोंको स्पष्ट करते हुए प्रत्येक कषायका उपयोगकाल अन्तमुहूर्त कहा है अर्थात क्रोध आदिकी ओर उपयोग अन्तमुहूर्त काल तक रहता है। गाथामें पूछा गया है कि किस कषायका उपयोग काल किस कषायके उपयोगकालसे अधिक है? इसके समाधानमें चूर्णिसूत्रकारने कहा है कि क्रोध कषायका काल मानकषायसे अधिक है। मायाकषायका काल क्रोध-कषायसे अधिक है। लोभकषायका काल मायाकषायसे अधिक है। यह कथन गतिको लेकर भी किया है। जैसे नरक गतिमें लोभकषायका काल सबसे कम है। देवगतिमें क्रोधका काल नरकगतिके लोभके कालसे अधिक है आदि। कषायोंके अध्ययनके लिये यह अधिकार बहुत उपयोगी है।

सम्यक्त्व-अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने अध करण अपूर्वकरण, और अनिवृत्ति-करणका कथन किया है। इनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नही होती। दर्शनमोह-क्षपणामें उसके प्रस्थापकका स्वरूप विस्तारसे कहा है। उसमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थितिकी सत्ताके सम्बन्धमें दो मतोंका भी निर्देश चूर्णिकारने किया है। कहा है कितने ही आचार्य कहते है कि उस समय (अर्थात सम्यकमिथ्यात्वके एक आवली प्रमाण स्थितिसत्व शेष रहने पर) सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थिति सख्यात हजार वर्ष शेष रहती है। किन्तु प्रवाह्यमान उपदेशसे आठ वर्ष प्रमाण शेष रहती है। अन्तिम दो अधिकारोमें चारित्रमोहकी उपशमना और क्षपणाके सम्बन्धमें विपुल सामग्री भरी हुई है। लिखा है—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन किये बिना शेष कषायोंका उपशम करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करने पर अन्तमुहूर्त काल तक अधःप्रवृत्त रहता है। फिर दर्शनमोहनीयका उपशम करके कषायोंका उपशम करनेके लिये अध प्रवृत्तकरण करता है। चूर्णिसूत्रमें प्रश्न किया गया है कि उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ अवस्थित परिणामवाला होने पर भी क्यों गिरता है। उत्तर दिया है कि उपशमकालका क्षय हो जानेसे गिरता है। आगे उसका विस्तारसे कथन किया है।

इसी तरह चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकारमें सर्वप्रथम उस प्रस्थापकका कथन किया है। फिर उसकी विशेष क्रियाका कथन किया है। अन्त कृष्टिवेदकक्रियाका कथन है। पुन कृष्टिक्षपणक्रियाका कथन है।

चूर्णिसूत्रोंके अन्तमें उक्त पन्द्रह अर्थाधिकारोसे अतिरिक्त एक पश्चि स्कन्धअधिकार विशेष है। इसमें कहा है कि सयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त आयु शे रहने पर पहले आवर्जित करण करते हैं, उसके बाद केवली समुद्घात करते हैं इस तरह इसमें केवलीसमुद्घातका कथन है। केवलीसमुद्घातके अनन्तर सयोग केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। फिर अयोगकेवली होक समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याकर एक समयमें मुक्ति स्थान पहुंच जाते हैं।

नीचे हम चूर्णिसूत्रोकी संख्या अधिकारानुसार देते हैं—

अधिकारके क्रमसे चूर्णिसूत्रोकी सख्या

१	पेज्जदोसविहत्ती	११२
२	प्रकृतिविभक्ति	१३०
३	स्थितिविभक्ति	४०७
४	अनुभागविभक्ति	१८९
५	प्रदेशविभक्ति	२९२
	क्षीणाक्षीण	१४२
	स्थित्यन्तिक	१०६
६	बन्धक	११
	सक्रम	७४०
७	वेदक	६६८
८	उपयोग	३२१
९	चतुस्थान	२५
१०	व्यञ्जन	०
११	सम्यक्त्व	१४०
	दर्शनमोहक्षपणा	१२८
१२	सयमासयमलब्धि	९०
१३	सयमलब्धि	६६
१४	चारित्रमोहोपशमना	७०६
१५	चारित्रमोहक्षपणा	१५७२
	पश्चिमस्कन्ध	५२

तृतीय अध्याय

मूलागम-टीकासाहित्य

प्रथम परिच्छेद

धवला-टीका

कसायपाहुड और छक्खंडागम पर विशाल टीकाएँ लिखी गयी हैं। यह टीका-साहित्य अपने गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियोंसे इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे ग्रन्थोंकी संज्ञाएँ प्राप्त हैं। किसी भी विषयका टीका-साहित्य तब लिखा जाता है जब मूल ग्रन्थोका ज्ञान लुप्त होने लगता है और आगमकी वशवर्तिता अनिवार्य हो जाती है। दिगम्बर परम्परामें उक्त दोनो मूलागमोंपर आचार्य कुन्दकुन्दसे ही टीकाएँ लिखी जाने लगी थीं। शामकुण्ड, तुम्बूलराचार्य, बप्पदेव वीरसेन आदि अनेक आचार्योंने टीकाएँ लिखी।

इन्द्रनन्दिने[1] अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि बप्पदेवके पश्चात् कुछ काल बीत जानेपर सिद्धान्तोंके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूटके निवासी थे। इनसे आचार्य वीरसेनने सकल सिद्धान्तका अध्ययन किया। तत्पश्चात् गुरुकी अनुज्ञासे वाटकग्रामके आनतेन्द्र जिनालयमें षट्खण्डसे पहले व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त कर आगेके बन्धन आदि अठारह अधिकारोंके द्वारा 'सत्कर्म' नामक छठे खण्डकी रचना की। और इसको पहलेके पाँच खण्डोंमें मिलाकर छह खण्ड किये।

धवला-टीका नामकरण

वीरसेनने पूर्वोक्त छह खण्डो पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण संस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें 'धवला' नामक टीका लिखी। इस टीकाके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि अमोघवर्षकी उपाधि 'धवल' होनेके कारण इस टीकाका नाम उनकी स्मृतिमें रखा गया है। दूसरी बात यह है कि यह टीका अत्यन्त विशद और स्पष्ट है, इसी कारण इसे 'धवला' कहा गया ज्ञात होता है। तीसरी बात यह है कि यह टीका कार्त्तिक मासके धवल—शुक्ल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी, अतएव सम्भव है कि इसी निमित्तसे उक्त नामकरण हुआ है।

---

१ श्रुतावतार, पद्य १७७—१८४।

महत्त्व

जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेनके शिष्य जिनसेनने लिखा[1] है—'टीका तो वीरसेनकृत ह बाकी तो या तो पद्धति कहे जानेके योग्य हैं या पंजिका कहे जानेके योग्य हैं' जिनसेनाचायका उक्त कथन कोरा श्रद्धा-भक्ति मूलक नही है किन्तु उसमें यथाथता है। और उसका अनुभव सिद्धान्तके पारगामी ही नही साधारण ज्ञाता भी धवला और जयधवला टीकाके अवलोकनसे सरलता पूर्वक कर सकते हैं। इतनी बृहत्काय और शुद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंसे परिपूण अन्य टीका जैन परम्परामें तो दूसरी है नही, भारतीय साहित्यमे भी नही है। फिर ये टीकाए तो प्राकृत-गद्यमे निबद्ध हैं, जिनके बीचमें कही-कही संस्कृत[2] की भी पुट है और वह ऐसी शोभित होती है जैसे मणियोंके मध्यमें मूंगे-के दाने।

जिनसनके अनुसार सम्पूण श्रुतकी व्याख्याको अथवा श्रुतकी सम्पूर्ण व्याख्याको टीका[3] कहते ह। यह लक्षण वीरसेनकृत टीकाओमें पूरी तरहसे घटित होता ह। सम्भवतया वीरसेनकी टीकाको देखकर ही जिनसेनने टीकाका उक्त लक्षण बनाया जान पडता ह। सचमुचमें धवला और जयधवला जैन सिद्धान्त-की चर्चाओका आकर हैं। महाकमप्रकृतिप्राभत और कषायप्राभत सम्बन्धी जो ज्ञान वारसेनको गुरुपरम्परासे तथा उपलब्ध साहित्यसे प्राप्त हो सका वह सब उन्होने अपनी दोनो टीकाओमें निबद्ध कर दिया है और इस तरह-से उनकी ये दोनो टीकाए एक प्रकारसे दृष्टिवादके अगभूत उक्त दोनों प्राभृतोका ही प्रतिनिधित्व करतीं हैं। वे मूल षटखण्डागम तथा चूर्णिसूत्र सहित कसायपाहुडका ऐसा अग बन गइ और उन्होंने उन्हे ऐसा आत्मसात कर लिया कि उन्होने अपना २ स्त्रीलिंगत्व छोडकर सिद्धान्तका पुल्लिंगत्व स्वीकार कर लिया और षटखण्डागम सिद्धान्त धवलसिद्धान्तके नामसे तथा कसायपाहुड सिद्धान्त जयधवलसिद्धान्त के नामसे ख्यात हो गया। और इन्ही नामोंसे उनका [4]उल्लेख किया जाने लगा। इतना ही नही, किन्तु जो धवलटीकाके साथ षट्खण्डागम सिद्धान्तका पारगामी होता था उसे सिद्धान्तचक्रवर्तीके पदसे भी भूषित किया जाने लगा। ऐसी महत्त्वपूर्ण ये दोनो वीरसेनीया टीकाएं हैं।

---

१ 'टीका श्रीवीरसेनीया शेषा पद्धति पंजिका' ॥३९॥'—ज० ध० प्रश०

२ 'प्राय प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया। मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थ-विस्तर ॥३७॥' ज० ध० प्र०

३ 'कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापञ्जिके स्मृते ॥४०॥ ज० ध० प्रश०।

४ 'णउ बुज्झिउ आयमसद्दथामु। सिद्धन्तु धवलु जयधवलु णाम ॥'—म० पु० आ०।

प्रामाणिकता

इन टीकाग्रन्थोंको इतना महत्त्व मिलनेका कारण वीरसेनका बहुश्रुत होना तो है ही, जिसका परिचय धवला तथा जयधवलाकी प्रत्येक पंक्तिसे मिलता है, साथ ही वीरसेनकी प्रामाणिकता भी उसका एक कारण है। वीरसेन स्वामीको जो कुछ प्राप्त हुआ उसे उन्होने अपनी शैलीमें ज्यों-का-त्यों निबद्ध कर देना ही उचित समझा। जिन विषयो पर उन्हें दो प्रकारके मत मिले, उनपर उन्होंने दोनो परस्पर विरोधी मतोंको ज्यों-का-त्यों दे दिया और किसी एक पक्षमें अपना मत अथवा झुकाव व्यक्त नही किया। इस तरहके उदाहरण दोनों टीकाओंमे बहुतायतसे मिलते हैं। यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—उससे ग्रन्थकारकी निश्छलताके साथ-ही साथ जनपरम्पराको प्रामाणिक बनाये रखनेकी प्रकृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव संतकम्मपाहुडके अनुसार पहले सोलह कर्मप्रकृतियोका क्षय करके तब आठ कषायोंका क्षय करता है और कसायपाहुडके अनुसार पहले आठ कषायोको क्षय करके पश्चात् सोलहका क्षय करता है। इसके सम्बन्धमें वीरसेन स्वामीने जो लिखा है, सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाको छोड़कर उसका संक्षिप्त आशय यहा दिया जाता है—

"[1]शङ्का—दोनो वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है क्योंकि जिन अन्यथावादी नही होते। अत उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये?

समाधान—आपका कहना ठीक है किन्तु ये दोनो जिनेन्द्रके वचन न होकर उनके पश्चात् हुए आचार्योंके वचन हैं। इसलिये उनमें विरोध होना संभव है।

शंका—तो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये संतकम्मपाहुड और कसायपाहुड सूत्र कैसे हुए?

समाधान—तीर्थङ्करोंके द्वारा अर्थरूपसे प्रतिपादित और गणधरोंके द्वारा ग्रन्थरूपमें रचित बारह अंग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आते थे। परन्तु कालके प्रभावसे बुद्धिके उत्तरोत्तर क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करने वाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। इसलिये आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषोंका अभाव देखकर, अत्यन्त पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करने वाले आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे अवशिष्ट बचे श्रुतको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना होनेका विरोध है।

---

1 षट्खं० पु० १, पृ० २२१–२२२।

शका—यदि ऐसा है तो उक्त दोनो ही कथनोका द्वादशागका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त होता है ?

समाधान—उन दोनोंमेंसे कोई एकको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोंको सूत्रपना नही प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दोनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

शका—तब सूत्रविरुद्ध लिखनेवाले आचायको पापभीरु कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नही है, क्योकि उक्त दोनो कथनोमेंसे किसी एक ही कथनका संग्रह करनेपर पापभीरूता नही रहती। किन्तु उक्त दोनों कथनोका सग्रह करने वाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नही होती।

शका—उक्त दोनो वचनोमेसे कौन वचन सत्य हैं ?

समाधान—इस बातको तो केवली अथवा श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नही जान सकता। अत उसका निणय न होनेसे वतमान कालके पाप भीरू आचार्योको दोनो ही वचनोका सग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा।

इस प्रकारके पापभीरू आचायके कथनमें अप्रामाणिकताकी अशका नही की जा सकती।

व्याख्यान शैली

षट्खण्डागमके सूत्र अल्पाक्षर होने पर भी असन्दिग्ध हैं—पढ़ते ही शब्दाथका बोध हो जाता है। किन्तु उनमें जो सार भरा हुआ है उसका तो आभास भी साधारण पाठकको नही हो पाता। अत वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकाके द्वारा सूत्रोके शब्दाथको न कहकर उनमें भरे हुए सारको ही प्रकट किया है। किन्तु वह सार उद्घाटन भी ऐसा है कि उससे सूत्रगत प्रत्येक शब्दकी स्थिति स्वत स्पष्ट हो जाती है और यदि क्वचित् कदाचित् किसी सूत्रमें कोई शब्द भूलसे छूट गया हो तो विचारशील पाठकको यह प्रतिभास हुए बिना नही रहता कि अमुक शब्द यहाँ छूट गया है। इसका एक उदाहरण दे देना उचित होगा।

धवलासहित षटखण्डागमकी जो प्रतिलिपि मूडबिद्रीसे बाहर गई उसमें जीवट्ठाणके संतप्ररूपणा अनुयोगद्वारके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' शब्द लिखनेसे छूट गया। किन्तु वीरसेन स्वामीकी टीकाके अनुशीलनसे वह बराबर प्रकट होता है कि सूत्रमें 'सजद' शब्द छूटा हुआ है। बादको जब मूडबिद्री

की ताडपत्रीय प्रतिसे मिलान करनेकी सुविधा प्राप्त हुई तो उसमें 'संजद' शब्द पाया गया।

धवलाकी व्याख्यानशैलीपर प्रकाश डालनेकी दृष्टिसे यहाँ उस[1] तिरानवे सूत्रकी टीकाका अर्थ दिया जाता है। वह टीका संस्कृतमें है। यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि यद्यपि धवलाटीका संस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें निबद्ध है तथापि सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका व्याख्यानसंस्कृतभाषा प्रधान है। अस्तु,

'सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुण-स्थानोंमें मानुषी नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥९३॥ यह सूत्रार्थ है। इसकी टीकाका अर्थ इस प्रकार है—

शंका—हुण्डावसर्पिणी कालमें सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रियोंमें क्या नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना ?

समाधान—इसी आर्षसे जाना।

शंका—इसी आर्षसे तो द्रव्यस्त्रियोंका मोक्ष जाना भी सिद्ध हो जायेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम उत्पन्न नहीं होता।

शंका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है, यदि उनके भावसंयम होता तो भावअसंयमके अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण करना संभव नहीं था।

शंका—स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान कैसे हो सकते हैं ?

१—'सम्मामिच्छाइट्ठी-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥
हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्, नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद् विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ॥ षट्खं, खं० पु० १ पृ० ३३२-३३३।

समाधान—भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सत्त्व माननेमें कोई विरोध नहीं है।

शंका—नौवें गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता, अतः स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं है ?

समाधान—यहाँ वेदकी प्रधानता नहीं है। गतिकी प्रधानता है और वह पहले नष्ट नहीं होती।

शंका—फिर भी वेदविशिष्ट गतिमें तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए ?

समाधान—वेदविशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे स्त्री पुरुष आदि संज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

उक्त चर्चा जैन सिद्धान्तकी मान्यताओंसे सम्बद्ध होनेके साथ ही साथ दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्वके मूलकारण वस्त्र और स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवादसे सम्बद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको मोक्ष मानता है, दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता है। किन्तु उक्त सूत्रमें मानुषीके चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। इसीपरसे उसकी टीकामें उक्त विवादको स्थान दिया गया है। चौदह गुणस्थान होनेका मतलब ही मोक्षलाभ है क्योंकि चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त करनेके पश्चात् ही मुक्तिलाभ होता है।

इसीसे टीकामें शंका की गई है कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रियोंको भी मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि मानुषीके चौदह गुणस्थान ९३ वें सूत्रमें बतलाये हैं। किन्तु गुणस्थानोंकी तरह मार्गणाएं भी भावप्रधान हैं उनमें भी भावकी मुख्यता है। अतः मानुषीसे आशय उस मनुष्यसे है जिसके शरीरसे पुरुष होते हुए भी अन्तरंगमें स्त्रीवेदका उदय है। उसे ही भावस्त्री कहते हैं और स्त्री-शरीरधारीको द्रव्यस्त्री कहते हैं। भावस्त्रीके ही चौदह गुणस्थान होते हैं, द्रव्यस्त्रीके नहीं।

श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके अनुसार भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीपर्यायमें जन्म नहीं लेता। जैन कर्मसिद्धान्तका यह एक सर्वसम्मत नियम है। किन्तु बाइसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथको श्वेताम्बर परम्परामें स्त्री माना है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है तथा तीर्थङ्कर होने वाला जीव सम्यक्त्वके साथ ही जन्म लेता है। अतः इस सिद्धान्तके अनुसार कोई तीर्थङ्कर स्त्री नहीं हो सकता। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें ऐसा मान लिया गया और उसे हुण्डावसर्पिणी कालका दोष[1] माना है। उसीको लक्ष्में रखकर वीरसेन स्वामीने

१ 'दसअच्छेरा पण्णत्ता—उवसग्ग गब्भहरणं इत्थी तित्थं' । स्था० १० ठा०।

प्रारम्भमें ही यह शंका उठाई है कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं होता ।

श्वेताम्बरीय[1] टीकाकारोंने भी कर्मसिद्धान्तके उक्त कथनकी संगति अपनी उक्त मान्यताके साथ बैठानेके लिए उसमें अपवाद जोड दिया है कि सम्यग्दृष्टि स्त्रीनपुंसकोंमें उत्पन्न नहीं होता, यह बहुतायतकी अपेक्षा है, कदाचित् हो भी जाता है । किन्तु पञ्चसंग्रहकारने इस तथोक्त अपवादकी चर्चा नहीं की । यह उल्लेखनीय है । अस्तु

इस तरह श्री वीरसेन स्वामीने अपनी धवलाटीकामें प्रत्येक सूत्रका व्याख्यान करते हुए उससे सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंका उपपादन करके खूब विश्लेषण किया है और गूढ से-गूढ विषयको सरलरूपसे स्पष्ट किया है ।

विषय-परिचय

यो तो षटखण्डागमके विषय परिचयसे धवलाका विषय-परिचय हो ही जाता है क्योकि वह उसकी टीका है तथापि सात हजार सूत्रोकी बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण टीकामें ऐसी भी बहुत-सी प्रासगिक चर्चाए है जिनका मूल ग्रन्थके विषय-परिचयमें आभास नहीं हो सकता । साथ ही जिस शैलीसे धवला-का प्रारम्भ किया गया है उसका परिचय कराना भी उचित है ।

जिन, श्रुतदेवता गणधरदेव, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलीको नमस्कार करनेके पश्चात प्रथम सूत्रकी उत्थानिकाके रूपमें वीरसेनने एक गाथा दी है—

मगल णिमित्त-हेऊ परिमाण णाम तह य कत्तार ।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥१॥

इसमें कहा है कि मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छै बातोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिये । इसे वीरसेनस्वामीने आचार्य परम्परासे आगत न्याय कहा है और इसलिए सबसे प्रथम उक्त छै बातोका कथन अपनी धवला टीकाके प्रारम्भमें किया है । वीरसेन स्वामीसे पहले तिलोयपण्णत्ति[2] में ही उक्त गाथासे मिलती

---

१ 'मणुस्सेसु सम्मदिट्ठी इत्थीनपुसगेसु न उववज्जइ त्ति प्राचुर्यवचनम्, कादाचित्काद् भवति -सि चू, पृ ४३ ।

'तिर्यग् मनुष्येषु स्त्रीवेद–नपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्, एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्, तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचार.' । —सप्त टी. पृ, २१७ ।

२ 'मंगल-कारण-हेदू सत्थस्स पमाण-णाम कत्तारा । पढमं चिय कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥७॥ ति प, १ अ ।

जुलती गाथा पायी जाती है जिसमें उक्त छै बातोंका प्रथम कथन करनेको 'आचाय-परिभाषा' कहा है। इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें इस आचायपरम्परा-गत न्यायके दशन नही होते।

तिलोयपण्णत्तिके[1] ही प्रारम्भमें एक गाथा द्वारा बतलाया है कि 'जो नय' प्रमाण तथा निक्षेपके द्वारा अथका निरीक्षण नही करता, उसको अयुक्त पदाथ युक्त और युक्त पदाथ अयुक्त प्रतीत होता है।' इसी बातको लक्ष्यमें रखकर वीरसेन स्वामीने प्रत्येक प्रकरणमें यथास्थान नय-निक्षेपके द्वारा प्रकृत अथका विवेचन किया है। उनके नयविषयक विवेचनका विशेष आधार सिद्धसेनका सन्मति सूत्र रहा है और उन्होंने उसके नयकाण्डका उपयोग बहुतायतसे किया है।

नय निक्षेप योजनाके द्वारा 'मगल' का विश्लेषण और निरूपण करनेके पश्चात वीरसेन स्वामाने षटखण्डागमके मगलसूत्र णमोकारमत्रके अथका विवेचन सुन्दर रीतिसे किया है। मगलके पश्चात निमित्त, हेतु आदिका कथन करके ग्रन्थकर्ताका कथन किया है और उसमें बतलाया है कि कर्ता दो तरहके होते हैं—अथकर्ता और ग्रन्थकर्ता। अर्थकर्ता तो भगवान महावीर हैं। उन्होने पचशैलपुर (राजगृही) में विपुल नामक पवत पर श्रावण शुक्ला प्रतिपदके दिन सूर्योदय होनेपर अपनी प्रथम धमदेशना दी थी।

ग्रन्थकर्ताका वणन करते हुए भगवान् महावीरके प्रधान शिष्य गौतम गणधरसे द्वादशांगकी परम्परा जिस क्रमसे प्रवाहित तथा क्रमश विलुप्त होती हुई धरसेनाचायको और उनसे पुष्पदन्त और भूतबलिको प्राप्त हुई उसका कथन किया है। और अन्तमें लिखा है—कि इस ग्रन्थके मूलतत्रकर्ता वद्धमान भट्टरक हैं, अनुतन्त्रकर्ता गौतम स्वामी हैं और उपतन्त्रकर्ता भूतबलि, पुष्पदन्त आदि मुनिवर हैं। तिलोयपण्णत्ति (१-८०) में गौतम गणधरको उपतन्त्रकर्ता और शेष आचार्योको अनुतन्त्रकर्ता कहा है।

प्रथम खण्ड जीवस्थानका अवतार करते हुए अवतारके चार भेद कहे हैं—उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुयोग। तथा उपक्रमके पाँच भेद यतिवृषभके[2] चूर्णि-सूत्रोके अनुसार कहे है—आनुपूर्वी नाम प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। इन सबके कथनके पश्चात मूलग्रन्थका व्याख्यान आरम्भ होता है।

---

१ जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं। तस्साजु त्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥ ति प १अ।

२ ' पंचविहो उवक्कमो। तं जहा—आणुपुवी णाम पमाणं वक्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि'—क पा, भा १ पृ १३। 'सो वि उवक्कमो पंचविहो आणुपुव्वी, णामं, पमाणं वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि।'—षट्खं पु १ पृ ७२।

दूसरे सूत्रका व्याख्यान करते हुए बारह अंगों और चौदह पूर्वोके विषयका और पदोंका कथन किया है। फिर बतलाया है कि जीवस्थानका कौन अनुयोगद्वार द्वितीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिके किस प्राभृतके किस-किस अधिकारसे लिया गया है। इसके पश्चात् मूलग्रन्थगत निरूपण चौदह मार्गणाओंका, फिर चौदह गुणस्थानोंका और तत्पश्चात् मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका वीरसेन स्वामीने अपनी टीकामें यथास्थान शंका-समाधानपूर्वक बड़ी सुगम रीतिसे किया है।

इसके पश्चात उन्होने उक्त कथनके आश्रयसे विशेष कथन किया है। यह कथन षट्खण्डागम पुस्तक दो के रूपमें प्रकाशित हुआ है। इसमें मूलसूत्र नहीं है केवल धवला है। उसका प्रारम्भ करते हुए उन्होंने लिखा है—'अब सत्-प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर उनकी प्ररूपणा कहेंगे। प्ररूपणा किसे कहते हैं? ओघ (सामान्य) और आदेश (विशेष) की अपेक्षा गुणस्थानोमे जीवसमासोमें, पर्याप्तियोमें, प्राणोमें, संज्ञाओंमें, गतियोमें, इन्द्रियोंमें, कायोमें, वेदोमें कषायोमे संयमोमें, दर्शनोंमें, लेश्याओंमें भव्योमे अभव्योमें सम्यक्त्वोमें, संज्ञी-असंज्ञियोमें, आहारी अनाहारियोमें और उपयोगोंमें पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोसे विशेषित करके जो जीवकी परीक्षा की जाती है उसे प्ररूपणा कहते हैं। कहा भी है—[1]'गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदहमार्गणाए और उपयोग ये क्रमसे बीस प्ररूपणाए हैं।'

सत्प्ररूपणाके सूत्रोमें इन बीस प्ररूपणाओंमेंसे शेष प्ररूपणाओंका अर्थ तो बतलाया है किन्तु प्राण, संज्ञा और उपयोग प्ररूपणाका अर्थ नही बतलाया—पञ्चसंग्रहमें इनका कथन है और वीरसेनस्वामीने उसका अनुकरण करते हुए बीस प्ररूपणाओका कथन किया है। इसीसे जो यह शंका[2] उठाई है कि ये बीस प्ररूपणाए सूत्रोक्त हैं या नही? यदि सूत्रोक्त नही हैं तो ये प्ररूपणा नही हो सकती, क्योंकि सत्प्ररूपणाके सूत्रोमें जो बात नही कही गई, उसे वे कहती हैं। और यदि ये सूत्रानुसार कही गई है कि तो जीवसमास, प्राण, पर्याप्ति, उपयोग और संज्ञा प्ररूपणाका मार्गणाओंमें जिस प्रकार अन्तर्भाव होता है उस प्रकार कहना चाहिये।'

इस शंकासे तथा बीस प्ररूपणाओका निर्देश करनेवाली गाथाके उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि उक्त बीस प्ररूपणाओंका आधार भले ही सत्प्ररूपणाके सूत्र रहो, किन्तु यह वस्तु वीरसेन स्वामीकी मूलभूत उपज नहीं है और न सत्प्ररूपणाके

---

१ 'गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसंतु परूवणा भणिया॥—षट्खं पु २, पृ. ४११।

२ 'अथ स्यादियं विंशतिविधा प्ररूपणा किमु सूत्रेणोक्ता उत नोक्तेति' ।—षट्खं, पु २, पृ. ४११-४१४।

सूत्रोंमें ही इस प्रकारका कथन है। उन्होने जो गाथा उद्धृत की है वह दि० प्राकृत पञ्चसंग्रहके जीवसमासनामक प्रथम प्रकरणकी दूसरी गाथा है। और जीवसमासप्रकरणमें बीसों प्ररूपणाओंका कथन है। सम्भवतया उसीके अवलम्बनसे वीरसेन स्वामीने बीस प्ररूपणाओंका विस्तारसे निरूपण किया है। यह विस्तार अवश्य ही उनकी प्रतिभाका चमत्कार हो सकता है।

जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणनामक अनुयोगद्वारके व्याख्यानको आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने जो मगलाचरण किया है उसमें 'दव्वणिओगं गणियसारं' लिखकर द्रव्यानुयोगको गणितसार कहा है। चू कि इस अनुयोगद्वारमें जीवोकी संख्याका वणन है अत इसमें गणितकी प्रधानता ह। स्व० डा० अवधेश नारायण-सिंहका एक अग्रेजी निबन्ध षट्खण्डागमकी चतुथ पुस्तकके आदिमें प्रकाशित हुआ है और पाँचवी पुस्तककी आदिमें उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें गणितके उक्त अधिकारी विद्वान्ने लिखा है—

'वीरसेन तत्त्वज्ञानी और धार्मिक दिव्य पुरुष थे। वे वस्तुत गणितज्ञ नही थे। अत जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवलाके अन्तगत है वह उनसे पूर्ववर्ती लेखकोकी कृति कही जा सकती है और मुख्यतया पूवगत टीकाकारोकी। जिनमेंसे पाँचका इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें उल्लेख किया ह। ये टीकाकार कुन्द-कुन्द, शामकुन्ड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव थे, जिनमेंसे प्रथम लगभग सन् २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुये। अत धवलाकी अधिकाश गणितशास्त्रीय सम्बन्धी सामग्री सन् २०० से ६०० तकके बीचके समयकी मानी जा सकती है। इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्रके इतिहासकारोके लिए धवला प्रथमश्रेणीका महत्त्वपूण ग्रन्थ हो जाता है क्योंकि उसमें हमें भारतीय गणितशास्त्रके इतिहासके सबसे अधिक अन्धकारपूण समय, अर्थात् पाचवीं शताब्दीसे पूवकी बातें मिलती हैं। विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि धवलाकी गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूवकी है। उदाहरणाथ, धवलामें वर्णित अनेक प्रक्रियाए किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थमें नही पायी जाती तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलताका आभास भी है जिसकी झलक पश्चात्के भारतीय गणितशास्त्रसे परिचित विद्वानोको सरलतासे मिल सकती है। धवलाके गणितभागमें वह परिपूर्णता और परिष्कार नही है जो आर्यभटीय और उसके पश्चात्के ग्रन्थोमें है।'

विद्वान् लेखकने धवलान्तर्गत गणितशास्त्रके सम्बन्धमें अपने लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। अत यहां उसकी विशेष चर्चा नहीं की है।

क्षेत्रप्रमाणका कथन करते हुए कहा है कि जगतश्रेणीके घनको लोक

कहते हैं और सात राजु प्रमाण आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिको जगश्रेणी कहते हैं। तथा तिर्यग्लोकके मध्यम विस्तारको राजु कहते हैं। इस पर यह शंका की गई है कि तिर्यग्लोकका अन्त स्वयंभूरमण समुद्रकी वेदिकासे उस और कितना स्थान जाकर होता है ? तो उत्तर दिया गया है कि असंख्यात द्वीपों और समुद्रोंके व्याससे जितने योजन रुके हुए हैं उनसे संख्यातगुणा जाकर तिर्यग्लोकका अन्त आता है और उसका समर्थन तिलोयपण्णत्तिसे किया गया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार अर्थ करनेसे परिकर्मसे भी विरोध नहीं आता है। तब पुन शंका की गई है कि अन्य व्याख्यानोंसे तो विरोध आता है ? तो कह दिया कि वे सब व्याख्यानाभास हैं। उन्हें व्याख्यानाभास सिद्ध करके तथा अन्य एक-दो आपत्तियोका निरसन करके अपने अर्थका समर्थन करनेके पश्चात् वीरसेनने लिखा[1] है—'यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्योंके सम्प्रदायके विरुद्ध है तथापि आगमके आधार पर और युक्तिके बलसे हमने उसका प्ररूपण किया है। इसलिये इस विषयमें यह इसी प्रकार है ऐसा आग्रह न करते हुए अन्य अभिप्रायका असग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा कल्पित युक्तियोको निर्णायक नहीं माना जा सकता।

इसी तरह क्षेत्रानुगमद्वारमें लोकके आकारको लेकर वीरसेन स्वामीने अपने एक नये अभिप्रायका सयुक्ति स्थापन किया है। लोकका आकार अधोभागमें वेत्रासन, मध्यमें झल्लरी और ऊर्ध्व भागमें मृदंगके समान माना गया है। किन्तु धवलाकारने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि लोकको सात राजुका घन प्रमाण कहा है और ऐसा आकार माननेसे वह प्रमाण नहीं आता। इस बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होंने अपने गणितज्ञानकी विविध और अभूतपूर्व प्रक्रियाओंके द्वारा उक्त आकारवाले लोकका क्षेत्रफल निकाला है जो जगत-श्रेणीके घन ३४३ राजूसे बहुत कम बैठता है। अत. उन्होंने लोकका आकार पूर्व पश्चिम दिशामें तो उक्त प्रकारसे घटता-बढ़ता हुआ माना है किन्तु उत्तर दक्षिण दिशामें सर्वत्र सात राजू ही माना है। इस तरह माननेसे उसका क्षेत्रफल ३४३ राजू बैठ जाता है तथा दो दिशाओंसे उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके आकार भी दिखाई देता है।

उक्त लम्बी चर्चाका उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है कि लोकका बाहुल्य सात राजू मानना करणानुयोगसूत्रके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसकी न तो

---

[1] 'एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसंपदायविरुद्धो तो वि तंत जुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो। तदो इदमित्थं चेवेत्ति ण एयंतग्गहो कायव्वो, अइंदियत्थविसए छदुमत्थवियप्पियजुत्तीणं णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो।' —षट्खं० पु० ४, पृ० १८।

विधि है और न निषेध ही है। अतः लोकका ऐसा ही आकार मानना चाहिये।[1]
स्पर्शनानुगमद्वारमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शक्षेत्र बतलाते हुए प्रसंग-वश असख्यात-द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैले हुए ज्योतिष्क देवोंका (चन्द्र और उसके परिवाररूप गृह, नक्षत्र आदिका) प्रमाण भी गणितशास्त्रके अनेक करणसूत्रोंके द्वारा निकाला गया है। कहावत प्रसिद्ध है कि तारोको कौन गिन सकता है ? उन्हीं तारोंकी गणना गणितके अनुसार की गइ है। (पृ १५०-१६०)

इसी प्रकरणमे द्वीपो और समुद्रोंका क्षेत्रफल अनेक गणितसूत्रोके द्वारा पृथक-पृथक और सम्मिलित रूपसे निकालनेकी प्रक्रियाएँ दी गई हैं और यह भी सिद्ध किया है कि इस मध्यलोकमें कितना भाग समुद्रोसे अवरुद्ध है। (भा० ४, पृ० १९४-२०३) इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम और स्पर्शानुगम अधिकार गणितशास्त्रकी दृष्टिसेभी महत्त्वके हैं।

इसी तरह कालानुगममें कालविषयक अनेको शकाओंका अपूव समाधान किया गया है। जीवस्थानके शेष अनुयोगद्वारोमें भी जैन सिद्धान्त विषयक अनेको चर्चाए चर्चित हैं। उन सबका संकेत करना भी यहाँ शक्य नही है। चूलिकाके सम्यक्त्वोपत्ति चूलिका नामक अधिकारके सूत्र ११ में कहा है कि अढाई द्वीप समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कमभूमियोमें जहाँ जिस कालमें जिन केवली और तीथङ्कर होते हैं वहाँ जीव दशनमोहनीय कमका क्षपण करता है। इस सूत्रकी व्याख्यामें वीरसेन स्वामीने कहा है यहाँ पर जिन' शब्दको दुबारा ग्रहण करके, जिन दशनमोहनीयकमका क्षपण करते हैं ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा तीसरी पृथिवीसे निकले हुए कृष्ण आदिके तीथकरत्व नहीं बन सकता है, ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है। इस व्याख्यानके अनुसार दुषमा, अति दुषमा सुषमा और सुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोके दशन मोहनीयकी क्षपणा नही होती, शेष दोनो कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोके दशनमोहकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वद्धनकुमार आदिके दशनमोहकी क्षपणा देखी जाती है। यहाँ यह व्याख्यान प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह मतलब हुआ कि जो उसी भवमें जिन या तीर्थङ्कर होनेवाले होते हैं वे तीथङ्करादिकी अनुपस्थितिमें तथा तीसरे कालमें भी दर्शनमोहका क्षपण करते हैं। यह अपवाद केवल धवलाके सिवाय अन्यत्र नहीं देखा जाता।

चूलिका का यह अधिकार व्याख्यानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूण है।

---

१ षट्खं० पु० ४, पृ० १२ २२।

२ षट्खं पु० ६, पृ० २४६ २४७।

इसके १६ वें सूत्रके व्याख्यानमें धवलाकारने कसायपाहुडचूर्णिसूत्रोंके अनुसार सकलचारित्रकी प्राप्तिका कथन करते हुए औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानमें-अनन्तानुबन्धी विसयोजना और दर्शनमोहनीयके उपशमका कथन, कषायोपशमनाका कथन, उपशान्तकषायके पतनका क्रम, फिर क्षायिक चारित्रकी प्राप्तिका विधान आदि कथन बहुत ही विशद रीतिसे किया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता।

कृति-अनुयोगद्वारके आदिमें मगलके निमित्तसे निमित्त, हेतु, परिमाण, कर्ता आदिका पुन विवेचन धवलाकारने किया है, जिसमें कर्ताके निमित्तसे भगवान् महावीर, उनके समवसरण आदिका वर्णन उल्लेखनीय है। उनमें भगवान् महावीरकी सर्वज्ञताको भी सिद्ध किया है।

भगवान महावीरकी आयु मोटे रूपसे बहत्तर वर्ष मानी जाती है तथा मोटे रूपसे ही नौ मास गर्भस्थकाल, तीस वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष छद्मस्थकाल (तपस्या काल), और ३० वर्ष केवलिकाल कहा जाता है। किन्तु धवलाकारने 'अण्णे के वि आइरिया' करके अन्य आचार्योंके मतसे उक्त कालका प्रतिपादन किया है। वह अन्य आचार्योंका मत गर्भमें आनेके दिनसे लेकर निर्वाण प्राप्त करनेके दिन तककी गणनाके आधार पर स्थापित है। उसे हम ठीक-ठीक कालगणना कह सकते हैं। उसके अनुसार भगवान्[1] महावीरकी आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन थी। उसका हिसाब इस प्रकार है—आसाढ़ शुक्ल षष्ठीके दिन भगवान् महावीर त्रिशलाके गर्भमें आये। और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन उन्होने जन्म लिया। चैत्र मासके दो दिन, वैसाखको आदि लेकर २८ वर्ष, पुन वैसाखसे लेकर कार्तिक पर्यन्त सात मास कुमाररूपसे विताकर मगसिर कृष्णा दसमीके दिन उन्होंने प्रव्रज्या धारण की। अत २८ वर्ष ७ मास, १२ दिन पर्यन्त वह घरमें रहे। अब छद्मस्थकाल लीजिये—मगसिर कृष्णपक्षकी एकादशीसे लेकर मगसिरकी पूर्णिमा तक २० दिन, फिर पौष माससे लेकर बारह वर्ष, फिर उसी माससे लेकर चार मास, चू कि उन्हें वैसाख शुक्ला दशमीके दिन केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, अत वैसाखके पच्चीस दिन, इस तरह बारह वर्ष पाँच मास, पन्द्रह दिन तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। अब केवली काल लीजिए—वैसाख शुक्ल पक्षकी एकादशीसे लेकर पूर्णिमा तक पाँच दिन, फिर ज्येष्ठसे लेकर २९ वर्ष, फिर ज्येष्ठसे ही लेकर आसौज पर्यन्त पाँच मास, फिर कार्तिक मासके कृष्ण पक्षके चौदह दिन बिताकर मुक्त हो गये। अमावस्याके दिन सब देवेन्द्रोंने मिलकर निर्वाणपूजा की, इसलिये उस दिनको भी सम्मिलित

---

१ षट्खं०, पु० ९, पृ० १२१-१२६।

कर लेनेपर १५ दिन होते हैं। अत २९ वर्ष ५ मास, २० दिन तक भगवान् महावीर केवली रहे।

९ मास ८ दिन + २८ व० ७ मा० १२ दि० + १२ व०, ५ मा०, १५ दि० + २९ व० ५ मा०, २० दि० इस सब कालका जोड़ ७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन होता है। इतनी ही महावीर भगवान्की आयु बैठती है। किन्तु जब चौथे कालमें ७५ वष ८ माह १५ दिन शेष थे तब भगवान् महावीर गभमें आये थे और उनके निर्वाणके पश्चात् तीन वष, ८ माह, १५ दिन बीतनेपर श्रावण कृष्णा पडवाके दिन पाचवें दुषमा कालका प्रवेश हुआ। इस हिसाबसे भगवान् महावीरकी आयु बहत्तर वष ठहरती है। इस तरहसे दोनोमें ८ माह ५ दिन का अन्तर पडता है।

इन दोनो उपदेशोमेंसे कौन ठीक ह? इस प्रश्नके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इस विषयमें एलाचायका वत्स्य (वीरसेन) अपनी जवान निकालना नही चाहता, क्योंकि न तो इस विषयमें कोई उपदेश प्राप्त है और न उक्त दोनों कथनोंमें ही कोई बाधा है किन्तु दोनोंमेंसे सत्य एक ही होना चाहिए।' (पु० ९, पृ० १२६)।

तिलोयपण्णत्ति (अ० ४) में भगवान महावीरकी आयु ७२ वष बतलाई है और गभ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाणकी तिथिया उक्त प्रकारसे ही दी है। इसी तरह श्वेताम्बरी[1] आगमिक साहित्यमें भी आयु ७२ वष और तिथिया उक्त ही हैं। केवल मोक्ष दिवसमें एक दिनका अन्तर है। कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिमें मुक्ति बतलाई ह। तथा महावीरके गभमें आनेका काल भी वही दिया है जो ऊपर धवलामें दिया ह अर्थात् चतुथ कालमे ७५ वष ८॥ माह शेष रहने पर महावीर भगवान् गर्भमें आय। अत मोटी कालगणनामें और दिन मासकी काल गणनामें ८ मास ५ दिनका अन्तर रह जाता है।

वीरसेन स्वामीने अपनी जयधवला[2] टीकाके आरम्भमें भी उक्त मतभेदकी चर्चा बिल्कुल इसी रूपमें की है।

अर्थकर्ताके पश्चात् ग्रन्थकर्ताका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—भगवान् महावीरकी वाणी तो बीजपदरूप होती है। जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त हो, और जो अनन्त अर्थोका ज्ञान करानेमें हेतुभूत अनेक चिन्होंसे सयुक्त हो उसे बीजपद कहते हैं। इन बीजपदोमें जो अथ निहित रहता है उसका प्ररूपण

---

१ 'पंचहत्तरिए वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहि सेसेहि 'त्ति, पञ्चसप्ततिवर्षेसु सार्धाष्टमासाधिकेषु शेषेषु श्रीवीरावतार। द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्यायु। श्रीवीर निर्वाणाच्च त्रिभिर्वर्षै सार्द्धाष्टमासैश्चतुर्थारकसमाप्ति।'—कल्पसूत्र सुबो०।

२ क० पा०, भा० १, पृ० ७६–८२।

ग्रन्थन करते हैं। अतः बीजपदोंके व्याख्याता होनेके कारण गणधर ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं।

गणधरका कथन करते हुए लिखा[1] है—'वे अक्षर-अनक्षररूप सब भाषाओंमें कुशल होते हैं। समवसरणमें स्थित सब जनोंको 'यह हमारी भाषामें हमको समझाते हैं', इस प्रकार सबको विश्वासकारक होते हैं। और अपने मुखसे निकली हुई अनेक भाषाओंमेंसे जो श्रोता जिस भाषाका भाषी होता है उसके कान उसी भाषाका प्रवेश कराते तथा अन्य भाषाओंका निवारण करते हैं।'

किन्तु धवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने भगवान् महावीरके अतिशयोंका वर्णन करते हुए उनकी भाषाकी यह विशेषता बतलाई है कि एक योजनके गर्भमें बैठे हुए और अठारह महाभाषाओं तथा सात सौ लघुभाषाओंके भाषी प्राणियों-की भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली उनकी भाषा होती है। तिलोयपण्णत्ति[3] आदिमें भी ऐसा ही कहा है। किन्तु उक्त कथनमें इससे अन्तर प्रतीत होता है। उसमें कहा है कि भगवान्के द्वारा कहे गये बीजपदोंको, जो अवश्य ही अनेक भाषा गर्भित होती हैं, गणधरदेव उपस्थित प्राणियोंको समझाते हैं और वे प्राणी उन्हें अपनी-अपनी भाषामें समझते हैं। अर्थात् गणधरकी भाषा भी भगवान्की भाषाकी तरह सर्वभाषात्मक होती है तथा गणधर जो जिस भाषाका भाषी है उसके कानमें वही भाषा जाने देते हैं। शेषको रोक देते हैं। गणधरकी इस विशेषताका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता। श्वे० साहित्यके समवायांगमें[3] तीर्थङ्करके चौतीस अतिशयोंमें एक अतिशय यह है कि भगवान् अर्द्धमागधी भाषाके द्वारा

---

१ सखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम। तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारससत्तसयकुभाससरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम। बीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवालसंगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथकत्तारो, अब्भुवगमादो। षट्खं पु० ९, पृ० १२७। 'परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खर-सरूवासेसभासाकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कहदित्ति सव्वेसिं पच्चउप्पाअओ, समवसरणजणसोदिंदएसु सगमुहविणिग्गयाणेय-भासाण संकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो।'—पृ० १२८।
२ षट्खं, पु० १, पृ० ६१।

२. अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासासयाइं सत्त तहा। अक्खर-अणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥९०१॥ एदासुं भासासुं तालुवदंतोट्ठकंठवावारे। परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥९०२॥—ति० प० ४, । 'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः। अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥७०॥'
—म० पु० २३ पर्व।

३ 'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागही भासा भासि-ज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ।' समवा०, ३४।

धमका उपदेश देते हैं और वह अर्धमागधी भाषा समस्त आर्य-अनार्योंके दुपाये-चौपाये, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंके अपनी अपनी भाषारूपसे परिणमन करती है। अर्थात ये तीर्थङ्करका ही अतिशय है।

किन्तु[1] तीर्थङ्कर गणधरकी अपेक्षा थोडा ही कथन करते हैं उसका द्वादशागरूपमें विस्तार तो गणधर ही करते हैं। इसीसे गणधरके अभावमें भगवान् महावीरकी वाणी केवल ज्ञान होनेके पश्चात ६६ दिन बाद खिरी। इसका कथन जयधवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने किया है।

ग्रन्थकर्ता गणधर तथा उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता आचार्योंका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने प्रकृत षटखण्डागमकी उत्पत्तिका पुन सक्षिप्त कथन किया है। फिर आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारके भेदसे पाँच उपक्रमोका कथन करके निक्षेप, नय आदिका कथन किया है, जैसा कि ग्रन्थके आदिमे कथन करनेकी आगमिक परम्परा रही है। इस सबके पश्चात कृति-अनुयोगद्वारका व्याख्यान आरम्भ होता है।

वेदना खण्डके[3] वेदनाकालविधानमें आयुकमकी उत्कृष्ट वेदना सूत्रकारने देवायु और नरकायुका उत्कृष्ट बंध करनेवाले स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुसकवेदी कमभूमिया पचेन्द्रिय सज्ञी जीवके बतलाई है। उसका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा ह कि यहाँ भाववेद लेना चाहिये। ऐसा न लेनसे द्रव्यस्त्रीवेदके साथ भी नरकायुके उत्कृष्ट बन्धका प्रसग आयेगा, किन्तु स्त्रिया छठे नरक तकका ही आयुबन्ध कर सकती है।'

श्वताम्बर परम्पराक अनुसार भी स्त्री यद्यपि मोक्ष जा सकती है किन्तु मरकर सातवें नरकमें उत्पन्न नही हो सकती।

वगणाखण्डके कम अनुयोगद्वारमें ईर्यापथकम[4] और तप कर्मका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने दोनोके सम्बन्धमें बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। तथा प्रयोगकम समवदानकम, अध कम, ईर्यापथकम, तप कम और क्रियाकम, इन छह कर्मोका सत संख्या, क्ष त्र, स्पशन, काल अन्तर भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोके द्वारा आघ और आदेशोसे कथन[5] किया ह। उसमें बतलाया है कि देवो और नारकियोमें प्रयागकम, समवदानकम तथा क्रियाकम हाते है।

---

१ 'जिणभणिइ च्चिय सुत्त गणहरकरणम्मि को विसेमोत्थ ?। सो तदविक्खं भासइ न उ वित्थरओ सुय किंतु ॥१११८॥ 'स तीर्थङ्करस्तदपेक्ष गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्प भाषते, न तु सर्वजनसाधारणं विस्तरत समस्तमपि द्वादशाङ्गश्रुतम्, विशे० भा०

२ क पा, भा १, पृ ७५।

३, षट्खं, पु ११, पृ ११४।

४, वही, पु १३, पृ ४८ ८८।

५ वही, पु १३, पृ ९१ १०६।

तिर्यञ्चोंमें ईर्यापथकर्म और तप कर्म नहीं होता, शेष चार कर्म होते हैं। मनुष्योंमें छहों कर्म होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवोंके होता है क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति तेरहवें गुण-स्थान पर्यन्त सब जीवोंके पाई जाती है। समवदानकर्म दसवें गुणस्थान तकके सब जीवोंके होता है क्योकि यहाँ तकके सब जीवोंके किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छ कर्मोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। अध कर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्बनसे होता है इसलिये उसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। ईर्यापथकर्म उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके होता है अत वह भी मनुष्योंके ही सभव है। क्रियाकर्म चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है इसलिए वह चारों गतियोंमें सम्भव है। तप कर्म छठे प्रमत्तसयत गुणस्थानसे होता है अत यह भी मनुष्योंके ही संभव है। इस प्रकार काफी प्रकाश डाला है।

इसी खण्डके प्रकृति[1] अनुयोगद्वारमें प्रसंगवश शब्दकी गतिका वर्णन करते हुए दो-एक ऐसी बातें कही हैं जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नही आईं। धवलाकारने लिखा है— शब्दपुद्गल अपने उत्पत्तिप्रदेशसे उछलकर दसो दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्टरूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते हैं। यह बात सूत्रके अविरुद्ध व्याख्याता आचार्यवचनोंसे जानी जाती है। तथा सभी शब्द लोकपर्यत नहीं जा पाते, थोडे जा पाते है। धीरे धीरे वे घटते जाते हैं। तथा सभी शब्द एक समयमें ही लोक पर्यन्त नहीं जाते हैं। कुछ शब्दपुद्गल दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालमें लोक पर्यन्त जाते हैं। शब्दोंके इस प्रकार [2]गमनके तथा उनके [3]सुनाई देनेके समर्थनमें धवलाकारने दो प्राचीन गाथाए भी उद्धृत की हैं। दोनों ही गाथाए शब्दके सम्बन्धमें वर्तमान आविष्कारोंकी दृष्टिसे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी उतनी ही प्रकृतियाँ बतलाई हैं जितने मूल अक्षर और उनके संयोगसे निष्पन्न अक्षरोंका प्रमाण होता है। संयोगी अक्षरोंका प्रमाण साधनेके लिये सूत्रकारने जो गणित-गाथा दी है उसका[4] व्याख्यान करते हुए धवलाकारने सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यजन और चार योगवाह

---

१ षट्खं पु १३, पृ २२२–२२४।

२ 'पभवच्चुदस्स भागा बट्ठाणं णियमसा अणंता दु। पढमागासपदेसे बिदियम्मि अणंतगुणहीणा ॥२॥'—वही, पृ० २२३।

३. 'भासागदसमसेढिं सद्दं जदि सुणदि मिस्सयं सुणदि। उस्सेढिं पुण सद्दं सुणेदि णियमा पराघादे ॥३॥'—पृ० २२४।

४. षट्. पु. १३, पृ. २४७ २६०।

इन चौंसठ मूलवर्णोंके संयोगी अक्षरोको निष्पन्न करके बतलाया है।[1] तथा उनकी संख्या निकालनेके सम्बन्धमें कई गणित-गाथाएं उद्धृत की हैं।

श्रुतज्ञानावरणके भेदोंके सम्बन्धसे श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका निरूपण भी महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका कथन भी अपना महत्त्व रखता है।

वर्गणाप्ररूपणा अनुयोगद्वारमें २३ वर्गणाओं[2]का कथन भी महत्त्वपूर्ण है। वर्गणाओंके सम्बन्धमें इतना ठोस कथन अन्यत्र नहीं पाया जाता। उनमें भी प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, और सूक्ष्मनिगोदद्रव्यवर्गणा विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्गणाद्रव्यसमुदाहारके चौदह अनुयोगद्वारोंमेंसे सूत्रकारने केवल दो ही अनुयोगद्वारोका कथन किया है। शेष बारहका कथन धवलाकारने किया है।

इन तेईस वर्गणाओंमें एक आहारवर्गणा भी है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्कन्धोंकी आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। इसी खण्डके [3]चूलिका नामक अधिकारमें सूत्रकारने आहारद्रव्यवर्गणाका उक्त लक्षण कहा है। उसका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने लिखा है—आहारशरीरवर्गणा-के भीतर कुछ वर्गणाएं औदारिक शरीरके योग्य हैं कुछ वर्गणाएं वैक्रियिक-शरीरके योग्य हैं और कुछ वर्गणाएं आहारक शरीरके योग्य हैं। इस प्रकार आहारशरीरवर्गणा तीन प्रकार की है। इस पर यह शंका की गई कि यदि इन तीनो शरीरोंकी वर्गणाएं अवगाहनाभेदसे और संख्याभेदसे अलग-अलग हैं तो आहारद्रव्यवर्गणा एक ही क्यों कही? इसका उत्तर धवलाकारने यह दिया है कि उन तीनोंके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर नहीं है। अर्थात् जैसे आहार वर्गणा और तेजोद्रव्यवर्गणा, तेजोद्रव्यवर्गणा और भाषावर्गणा आदिके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर है वैसा अन्तर औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणाके बीचमें नहीं है इसलिए आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है। कर्मप्रकृति और कर्मचूर्णिमें भी उक्त तीनों शरीरोंके प्रायोग्य वर्गणाओंके बीचमें अग्राह्यवर्गणा नहीं बतलाई है। किन्तु विशेषावश्यकमें बतलाई है। उसके पश्चात्से श्वेताम्बर परम्पराके पंचसंग्रह आदिमें तथा टीका-ग्रन्थों और चूर्णियोंमें विशेषावश्यकभाष्यकी परम्परा[4] प्रवर्तित देखी जाती है।

---

१ षट्० पु० १३ पृ० २६१–२७९
२ षट्खं० पु०, १४, पृ० ५४१३४।
३ षट्ख०, पु० १४, पृ० ५४७।
४ 'इह चूर्णिकृदादय औदारिकवैक्रियाहारकशरीरप्रायोग्याणां वर्गणानामपन्तरालेऽग्रहण वर्गणा नेच्छन्ति पर जिनभद्रगणिक्षमश्रमणादिभिरिष्यन्त इति तन्मतेनोक्ता।

—कर्मप्र० टी०, बन्ध०, पृ० ४५।

प्रत्येकशरीरवर्गणा और बादरनिगोदवर्गणाके सम्बन्धमें कुछ मोटी बातें इस प्रकार हैं—

एक जीवके एक शरीरमें जो कर्म-नोकर्म स्कन्ध संचित होता है उसकी प्रत्येकशरीरवर्गणा संज्ञा है। यह प्रत्येकशरीर, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी आहारकशरीरवाले प्रमत्तसंयत और केवलीजिनके होता है। इनको छोड़कर बाकी जितने संसारी जीव हैं उनका शरीर या तो निगोदजीवोंसे प्रतिष्ठित होनेके कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप होता है या स्वयं निगोद रूप होता है। हाँ, जो प्रत्येकवनस्पति, निगोद रहित होती है वह इसका अपवाद है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित माना है तो आहारकशरीरी, सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थामें मनुष्यका शरीर निगोदिया जीवोंसे रहित कैसे हो जाता है?

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रमत्तसंयत मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसका जो औदारिक शरीर है वह तो निगोदिया जीवोंसे युक्त ही होता है किन्तु उसके जो आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसमें निगोदिया जीव नहीं रहते। इसी प्रकार जब वह मनुष्य बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है तो उसके शरीरमें जो निगोदिया जीव रहते हैं उनका क्रमसे अभाव होता जाता है क्योंकि ध्यानसे निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हट जाते हैं। इसपर यहाँ शंका की गई है कि जो व्यक्ति ध्यानके द्वारा अपने शरीरमें बसनेवाले निगोदिया जीवोंका संहार कर डालता है वह मोक्ष कैसे प्राप्त करता है? इस प्रसगसे संक्षेपमें जैनी अहिंसाका स्वरूप धवलाकारने[1] बतलाया है। और प्रमाण रूपसे कुछ उद्धरण भी दिये हैं।

बादरनिगोदवर्गणाका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने एक सेचीयवक्खाणाइरिय[2] प्ररूपित कथनका उल्लेख किया है। सेचीयव्याख्याचार्य कौन थे, यह जाना नहीं जा सका। शायद 'सेचीय' शब्द अशुद्ध हो।

इस तरह वर्गणाखण्डके अन्त भागमें वर्गणाओंका व्याख्यान अनेक दृष्टियोंसे मौलिक है। और जो यहाँ है वह अन्यत्र नहीं।

सत्कर्मान्तर्गत शेष अट्ठारह अनुयोगोंका परिचय—

यह हम पहले लिख आये हैं कि भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागमका छठा खण्ड महाबन्ध है। धवलाकारने उसपर कोई टीका नहीं लिखी। केवल आदिके पाँच खण्डों पर ही धवला-टीका लिखी है। मगर षट्खण्डागम नामको सार्थक रखनेके

---

१. षट्० पु० १४, पृ० ८९-९०।

२. "दुआणपक्खाणं सेचीयवक्खाणाइरियपरूविदं [illegible]—पृ० २०२।

किये उन्होंने महाबन्धके स्थानमें एक सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचकर शेष पाँच खण्डोमें शामिल कर दिया। षटखण्डागमके परिचयमें यह बतलाया है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोंको लेकर षट्खण्डागमकी रचना की गई है। अत शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका साधारण परिचय वीरसेनस्वामीने अपने इस सत्कम नामक खण्डमें किया है और उसका आधार वप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठा खण्ड था। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[1] ऐसा ही लिखा है।

सत्कमका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि 'भूतबलि भट्टारकने यह सूत्र देशामशक रूपसे लिखा ह, अत इस सूत्रसे सूचित शेष अठारह अनियोगद्वारोका कुछ सक्षेपसे प्ररूपण करता हूँ। शेष अठारह अनुयोगद्वारोंके नाम इस प्रकार हैं—निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, सक्रम, लेश्या, लेश्याकम, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीघह्रस्व, भवधारणीय पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कमस्थिति, पश्चिम स्कन्ध और अल्पबहुत्व।

७ निबन्धन—इस अनुयोगद्वारकी आवश्यकता बतलाते हुए लिखा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा कर्मोंका कथन किया जा चुका है और उनके कारणभूत मिथ्यात्व, असयम कषाय और योगका भी कथन किया जा चुका है। अब उन कर्मोंका व्यापार बतलानेके लिये निबन्धन अनुयोगद्वार आया है।

इसमें बतलाया है कि ज्ञानावरणकम सब द्रव्योमें निबद्ध है क्योंकि उसका एक भेद केवलज्ञानावरण कवलज्ञानका विरोधी है और केवलज्ञान त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायासे पूण छ द्रव्योका जानता ह। किन्तु ज्ञानावरण सब पर्यायोमें निबद्ध नही है क्योकि ज्ञानावरणके भेद मतिज्ञानावरणादि सब द्रव्योको नही जानते और न सब पर्यायोको जानते ह।

दशनावरणकम आत्मामें ही निबद्ध है। यदि ऐसा नही माना जायगा तो दशन और ज्ञान एक हो जायेगे। वेदनीयकम सुख व दु खमें निबद्ध है। मोहनीयकम आत्मामें निबद्ध ह क्योकि जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुणको घातना उसका स्वभाव ह। आयुकम भवसे निबद्ध ह क्याकि भवधारण करना उसका लक्षण है। नामकर्मका विणाक पुद्गलनिबद्ध भी है, जीवनिबद्ध भी है और क्षत्रनिबद्ध भी है। इसलिय वह तनसे निबद्ध है। गोत्रकम आत्मासे निबद्ध है और अन्तराय

१ श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरु ॥१७३॥ अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु। व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च तत संक्षिप्य ॥१७४॥ षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां । व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै ।१८०॥ सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डाना ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥ —श्रुताव०।

कर्म शानादिसे निबद्ध है। इसी प्रकार उत्तरप्रकृतियोंमें भी निबद्धताका विचार किया है।

अन्तमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इस अनियोगद्वारमें इतनी ही प्ररूपणा की गई है क्योंकि शेष अनन्त पदार्थ विषयक निबन्धनके उपदेशका अभाव है।'[1]

८ प्रक्रम—यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि प्रत्येक अनुयोगद्वारके आरम्भमें प्रथम निक्षेप-योजना की गई है। जैसे प्रक्रमके छै भेद किये हैं—नाम प्रक्रम, स्थापना प्रक्रम, द्रव्य प्रक्रम, क्षेत्र प्रक्रम, काल प्रक्रम और भाव प्रक्रम। फिर प्रत्येकका स्वरूप बतलाकर यह स्थिर किया है कि यहाँ कर्म प्रक्रमका प्रकरण है अत वही लेना चाहिये। अत यहाँ कार्मणपुद्गलप्रचयको प्रक्रम कहा है।

शंकाकारने शंका की है कि कर्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है अकर्मसे कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती? धवलाकारने इसका विरोध करते हुए सांख्यके सत्कारणवादका खण्डन किया है। और अन्तमें सप्तभंगकी योजना की है। पश्चात् वस्तुको विनाशस्वभाव मानने वाले बौद्धका खण्डन करके वस्तुको उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है। फिर मूर्त कर्मोंका अमूर्त जीवके साथ सम्बन्ध कैसे होता है, इसका समाधान करते हुए प्रक्रमके तीन भेद किये हैं—प्रकृति प्रक्रम स्थिति प्रक्रम और अनुभाग प्रक्रम। फिर उनका वर्णन किया है। अन्तमें अल्प-बहुत्वका कथन करके लिखा है, यह निक्षेपाचार्यका[2] उपदेश है।

९ उपक्रम—प्रक्रम और[3] उपक्रममें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूपसे बन्धको प्राप्त होनेवाले प्रदेशाग्रोंका कथन करता है। परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर सत्व रूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारका कथन करता है।

उपक्रमके चार भेद किये हैं—प्रकृतिबन्धनउपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धनउपक्रम और प्रदेशबन्धनउपक्रम। और लिखा[4] है कि 'संतकम्मपयडिपाहुड' में जैसा कथन किया है वैसा कर लेना चाहिए। इसपर

---

१ 'एवमेत्थ अणिओगद्दारे एत्तियं चेव परूविदं, सेसअणंतत्थविसयउवदेसाभावादो।'
—षट्खं पु १५, पृ. २४।

२. एसो णिक्खेवाइरियउवएसो—पु १५, पृ ४०।

३. 'पक्कम उवक्कमाणं को भेदो? पयडि टिठदि अणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवणं पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बंध-विदिय-समयप्पहुडिसंतसरूवेण ट्ठिदकम्मपोग्गलाणं वावारं परूवेदि।'—पु. १५, पृ. ४२।

४. 'एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो'—पु. १५, पृ. ४२।

यह शंका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन यहाँ क्यों नहीं करना चाहिए ? उसके समाधानमें कहा गया है कि महाबन्ध तो प्रथम समयमें होनेवाले बन्धमानका कथन करता है। उसका कथन करना यहाँ योग्य नहीं है। चूंकि उपक्रम बन्धनके प्रथम समयके पश्चात् सत्वरूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंमें होनेवाले व्यापारका कथन करता है। अत यहाँ उदीरणा और उपशमका कथन किया है। उदयावलीको छोडकर आगेकी स्थितियोंमें अवस्थित कर्मप्रदेशोंको उदयावलीमें निक्षिप्त करनेको उदीरणा कहते हैं। इसका बहुत विस्तारसे कथन किया है।

इसमें एक[1] बात उल्लेखनीय यह है कि क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा-प्रचला-का उदय न माननेवालोंके मतका निर्देश किया है। कमप्रकृतिकार[2] इसी मतको माननेवाले है।

उदीरणाके पश्चात उपशामनाका कथन है जो यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोकी अनुकृति है। लिखा[3] है—कर्म-उपशामनाके दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। कमप्रवादमें उसका विस्तारसे कथन किया है। करणो पशामनाके भी दो भेद हं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। सव-करणोपशामनाके दो नाम और भी हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना। इस सवकरणोपशामनाकी प्ररूपणा 'कसायपाहुड' में करेंगे। देशकरणोपशामनाके अन्य भी दो नाम हैं—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। उसीका यहा प्रकरण है। अप्रशोस्तोपशामनाके द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है उसमें उत्कषण भी हो सकता है, अपकषण भी हो सकता है तथा अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण भी हो सकता है किन्तु उसका उदय नही हो सकता। इस अप्रशस्त उपशामनाका कथन स्वामित्व, काल आदि अनुयोगोके द्वारा किया गया है।

१० उदय—इस अनुयोगद्वारमे कर्मोंके उदयका कथन है। उदयके चार भेद किये हैं—प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय। फिर प्रत्येकके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिकी अपेक्षा दो-दो भेद करके उनका कथन अनुयोगोके द्वारा किया है।

११ मोक्ष—कमद्रव्यमोक्षके चार भेद किये हैं—प्रकृति मोक्ष, स्थिति

१ 'खीणकसायम्मि णिद्दापयलाणमुदीरणा णत्थि त्ति भणंताणमहिप्पाएण' पु. १५, पृ ११०।

२ 'इंदियपज्जत्तीए दुसमयपज्जत्तगाए [उ] पाउग्गा। णिद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज ॥१८॥—क प्र, अ ४।

३ पु १५, पृ २७५—२७६।

मोक्ष, अनुभाग मोक्ष और प्रदेश मोक्ष। प्रकृति मोक्षके दो भेद हैं—मूलप्रकृति मोक्ष और उत्तरप्रकृति मोक्ष। उनमें भी प्रत्येकके दो भेद हैं—देशमोक्ष और सर्वमोक्ष। किसी कर्मप्रकृतिका निर्जराको प्राप्त होना अथवा अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रान्त होना प्रकृति मोक्ष है। इसका अन्तर्भाव प्रकृति उदय और प्रकृति संक्रममें होता है। अपकर्षणको प्राप्त हुई, उत्कर्षणको प्राप्त हुई, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त हुई और अध:स्थितिके गलनेसे निर्जराको प्राप्त हुई स्थितिका नाम स्थितिमोक्ष है। इसी तरह अपकर्षणको प्राप्त हुए, उत्कर्षणको प्राप्त हुए, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त हुए अध:स्थिति गलनासे निर्जराको प्राप्त हुए अनुभागको अनुभाग मोक्ष कहते हैं। अध स्थिति गलनके द्वारा प्रदेशोंकी निर्जरा होनेको और प्रदेशोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होनेको प्रदेश मोक्ष कहते हैं। जीव और कर्मका पृथक् हो जाना मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके कारण हैं। समस्त कर्मोंसे रहित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, चारित्र, सुख, सम्यक्त्व आदि गुणोंसे पूर्ण, निरामय, नित्य, निरंजन और कृत कृत्य जीवको मुक्त कहते हैं। इनका कथन निक्षेप, नय, निरुक्ति और अनुयोगद्वारोंसे करना चाहिये।

१२ संक्रम—इस अनुयोगद्वारमें कर्म संक्रमका कथन है। उसके चार भेद हैं—प्रकृति संक्रम, स्थिति संक्रम, अनुभाग संक्रम और प्रदेश संक्रम। एक प्रकृतिका अन्य प्रकृतिरूपमें संक्रमण होनेको प्रकृतिसंक्रमण कहते हैं। यह संक्रम मूल-प्रकृतियोंमें नहीं होता। तथा बन्धके होने पर संक्रम होता है। बन्धके अभावमें संक्रम नहीं होता। इत्यादि रूपसे संक्रमका कथन विस्तारसे किया है क्योंकि कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रोंमें संक्रमका विस्तृत वर्णन मिलता है।

१३. लेश्या—इस अनियोगद्वारमें लेश्याका कथन है। लेश्याके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। चक्षुके द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल-स्कन्धोंके रूपको द्रव्यलेश्या कहते हैं। उसके छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। भ्रमर आदिके कृष्ण लेश्या है, नीम, केला, आदिके पत्तोंके नीललेश्या है। कबूतर आदिके कापोत लेश्या है। जपाकुसुम आदिकी पीतलेश्या है। कमल आदिके पद्म लेश्या है और हंस वगैरहके शुक्ल लेश्या है क्योंकि इनका रंग इसी प्रकारका होता है।

मिथ्यात्व, असंयम, और कषायसे अनुरक्त मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। इसी लेश्याके कारण जीव कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होता है। उसके भी द्रव्यलेश्याकी तरह ही छै भेद हैं। इन्हींका संक्षिप्त कथन है।

१४. लेश्या कर्म—इस अनियोगद्वारमें प्रत्येक लेश्यावाले जीवका कर्म-[illegible]

बतलाई है। यथा—कृष्णलेश्या वाला प्राणी निर्दय, झगड़ालु, चोर, व्यभिचारी आदि होता है। नीललेश्या वाला विवेकरहित, बुद्धिहीन घमंडी, मायाचारी आदि होता है। कापोतलेश्यावाला दूसरोका निन्दक, अपना प्रशंसक तथा कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होता है। तेजोलेश्यावाला अहिंसक, सत्यभाषी, और स्वदारसन्तोषी होता है। पद्मलेश्यावाला तेजोलेश्यावालेसे और शुक्ललेश्यावाला पद्मलेश्यावालेसे भी अधिक सच्चा, अहिंसक और सयमी जीवन वाला होता है। यह भावलेश्याकी अपेक्षा जानना चाहिए।

१५ लेश्यापरिणाम—कौन लेश्या कितनी वृद्धि अथवा हानिके द्वारा किस लेश्यारूप परिणमन करती है इसका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। जैसे कृष्णलेश्यावाला जीव यदि और भी संक्लेशरूप परिणामोंको करता है तो वह अन्यलेश्यारूप परिणमन न करके कृष्णलेश्यामें ही रहता है। इसी तरह शुक्ल लेश्या वाला जीव यदि और भी अधिक विशुद्ध परिणामोको करता है तो वह शुक्ल लेश्यामें ही रहता है, अन्यरूप परिणमन नही करता। किन्तु मध्यकी चार लेश्या वाले जीव हानि या वृद्धिके होनेपर अन्य लेश्यारूप भी परिणमन कर सकते है। इन्ही बातोका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। यह सब कथन भाव-लेश्याकी अपेक्षासे है।

१६ सातासात—सात और असातका कथन समुत्कीतना, अथपद, पद-मीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोसे किया गया ह। सात और असातके दो भेद किये हैं—एकान्तसात, अनेकान्त सात, एकान्त असात अने-कान्त असात। सातारूपसे बाधा गया जो कर्म सक्षेप और प्रतिक्षेपसे रहित होकर साता रूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त सात कहते है। इससे विपरीत अनेकान्त सात है। इसी तरह जो कम असाता स्वरूपसे बाधा जाकर संक्षेप व प्रतिक्षेपसे रहित होकर असातरूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त असात कहते हैं। इससे विपरीत अनेकान्त असात है। आगे इन्हीके स्वामित्व आदिका कथन किया है।

१७ दीघह्रस्व – इस अनुयोगद्वारमें दीघ और ह्रस्वका कथन करते हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा प्रत्येकके चार भेद किये हैं। यथा-प्रकृति दीघ, स्थिति दीघ, अनुभाग दीघ, प्रदेश दीघ। आठो प्रकृतियोका बन्ध होनेपर प्रकृतिदीघ और उससे कमका बन्ध होनेपर नोप्रकृतिदीघ होता है। सत्त्वकी अपेक्षा, आठ प्रकृतियोका सत्त्व होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका सत्त्व होनेपर नोप्रकृतिदीघ होता है। उदयकी अपेक्षा आठ प्रकृतियोंकी उदीर्णा होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमकी उदीर्णा होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। इसी तरह जिस-जिस कमकी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसका बन्ध होनेपर स्थितिदीघ और उससे कम स्थितिका बन्ध होनेपर नोस्थितिदीर्घ है। इसी

तरह अनुभाग और प्रदेशमें भी जानना चाहिये। ह्रस्वमें उससे विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् एक-एक प्रकृतिका बन्ध करनेवालेके प्रकृतिह्रस्व है और उससे अधिकका बन्ध करनेवालेके नोप्रकृतिह्रस्व है। इस प्रकार दीर्घ और ह्रस्वका कथन किया है।

१८. भवधारणीय—भवके तीन भेद बतलाये हैं—ओघ भव, आदेस भव और भवग्रहण भव। उनमेंसे इस अनुयोगद्वारमें भवग्रहण भवका कथन कुछ पंक्तियोंमें किया है। भुज्यमान आयुको निर्जीण करके जिसके नवीन आयु कर्मका उदय हुआ है उस जीवके प्रथम समयमें होनेवाले परिणामको अथवा पुराने शरीर-को त्यागकर नया शरीर धारण करनेको भवग्रहण भव कहते हैं। भवका धारण केवल आयुकर्मके द्वारा होता है। अन्य कर्मोंका यह काम नहीं है।

१९ पोग्गल अत्त–(पुद्गलात्त)—'आत्त' का अर्थ है 'गृहीत'। अतः गृहीत पुद्गलोंको 'पुद्गलात्त' कहा है। वे पुद्गल छै प्रकारसे गृहीत किये जाते हैं—ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे आहारसे, ममत्वसे और परिग्रहसे। हाथ अथवा पैरसे जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहणसे आत्त पुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामोसे गृहीत पुद्गल परिणामसे आत्त पुद्गल हैं। उपभोग रूपसे अपनाये गये सुगंध, ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगसे आत्त पुद्गल हैं। खान-पान-के द्वारा अपनाये गये पुद्गल आहारसे आत्त पुद्गल हैं। अनुरागसे गृहीत पुद्गल ममत्वसे आत्त पुद्गल हैं। और आत्माधीन जो पुद्गल है वे परिग्रहसे आत्त पुद्गल हैं। यही इसमें कथन ह।

२० निधत्त-अनिधत्त—जो प्रदेशाग्र उदय, संक्रमके अयोग्य है किन्तु उत्कर्षण और अपकर्षणके योग्य होता है उसको निधत्त कहते हैं। शेषको अनिधत्त कहते हैं। कहाँ किस कर्मसे प्रदेशाग्र निधत्त और अनिधत्त हैं, इसका कथन कुछ पंक्तियोंके द्वारा किया है।

२१ निकाचित-अनिकाचित—जो प्रदेशाग्र उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रम और उदयके अयोग्य होता है उसे अनिकाचित और शेषको निकाचित कहते हैं। इसीका कथन इस अनुयोगद्वारमें कुछ पंक्तियोंके द्वारा किया है।

२२ कर्मस्थिति—इस अनुयोग द्वारमें कर्मस्थितिके लक्षणमें नागहस्ती और आर्यमक्षुका[1] मतभेद बतलाया है। नागहस्ती क्षमाश्रमणके मतसे जघन्य

---

१ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारम्हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति—जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति। अज्जमंखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। एवं कम्मट्ठिदि त्ति समत्त-मणिओगद्दारं।'—षट्खं०, पु० १६, पृ० ५१८।

और उत्कृष्ट स्थितियोंके प्रमाणकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं।' और आर्यमंक्षु क्षमाश्रमणका कहना है कि कर्मस्थिति संचित सत्कर्मकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। वीरसेनस्वामीने दोनों ही मतोंसे कर्मस्थितिप्ररूपणा करनेकी सम्मति देकर ही अनुयोगद्वार समाप्त कर दिया है।

२३ पश्चिम भवस्कन्ध—इसके सम्बन्धमें वीरसेनस्वामीने इतना ही लिखा है कि जीवका जो अन्तिम भव है, उस अन्तिम भवमें उस जीवके सब कर्मोंकी बन्ध मार्गणा, उदय मार्गणा, उदीरणा मार्गणा, संक्रम मार्गणा और सत्कर्म मार्गणा ये पांच मार्गणाएँ पश्चिम स्कन्ध अनुयोगद्वारमें की जाती हैं। इन पांच मार्गणाओंकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् उस जीवके अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये।' अतः उन्होंने केवलिसमुद्घातका वर्णन करके पश्चात् मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त क्रियाओंका साधारण-सा कथन किया है।

मोक्ष-अनुयोगके पश्चात एक संक्रमका ही वर्णन विस्तारसे किया गया है। शेष अनुयोगद्वारोंका तो बहुत ही साधारण-सा कथन किया है। सम्भवतया उनके सम्बन्धमें उस समय अधिक जानकारी प्राप्त नहीं थी।

२४ अल्पबहुत्व—इस अन्तिम अनुयोगद्वारका कथन कुछ विस्तारसे किया है, क्योंकि उसके सम्बन्धमें नागहस्ती और आर्यमक्षु दोनोंके उपदेश प्राप्त थे। अनुयोगद्वारका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'नागहस्ती भट्टारक अल्पबहुत्व अनियोगद्वारमें सत्कर्मकी मार्गणा करते है। यह उपदेश 'पवाइज्ज' परम्परासे प्राप्त है।

उक्त सब अनुयोगद्वारोंमें अल्पबहुत्वका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने निकाचित-अनिकाचितमें महावाचक[1] क्षमाश्रमणके उपदेशका निर्देश किया है। यह महावाचक क्षमाश्रमण शायद आर्यमंक्षु हो। कर्मस्थिति अनियोगद्वारमें महावाचक[2] आर्यनन्दिके द्वारा सत्कर्मका कथन करनेका निर्देश है, इनके सम्बन्धमें नागहस्तीपर प्रकाश डालते हुए विचार कर आये हैं।

पश्चिम स्कन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्वका कथन करते हुए लोकपूरण समुद्घातके पश्चात् केवली समुद्घातसे होनेवाले कार्यके सम्बन्धमें दो मत[3] दिये हैं। महावाचक

---

१ 'महावाचयाणं खमासमणाणं उवदेसेण।'—पु १६, पृ ५७७।

२ 'कम्मट्ठिदित्ति अणियोगद्दारे एत्थ महावाचया अज्जणंदिणो संतकम्मं करेंति। महावाचया ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति।'—पु १६, पृ. ५७७।

३ 'महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउअसमं करेदि। महावाचयाणमज्जणंदीणं उवदेसेण अंतोमुहुत्तं ठवेदि संखेज्जगुणमाउआदो।'

—पु० १६, पृ० ५७८।

आर्यमंक्षु क्षमाश्रमणके उपदेशके अनुसार लोकपूरण समुद्घात होनेपर शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मके समान करता है और महावाचक आर्यनन्दीके उपदेशसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है जो आयुकर्मकी स्थितिसे संख्यातगुणी होती है। सर्वत्र आर्यमंक्षुके मतके विरोधके रूपमें नागहस्तीका मत पाया जाता है। किन्तु यहाँ वीरसेन स्वामीने आर्यनन्दीका मत दिया है जो उल्लेखनीय है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके साथ ही छठा सत्कर्म खण्ड तथा धवला टीका समाप्त हो जाती है।

वीरसेन स्वामी परिचय

धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेन स्वामीने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

> 'अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चंदसेणस्स।
> तह णत्तुवेण पचत्थुहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥४॥
> सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
> भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

अर्थात् आर्य आर्यनन्दिके शिष्य और चन्द्रसेनके प्रशिष्य, पञ्चस्तूपान्वयभानु, सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण मुनि वीरसेन भट्टारकने यह टीका लिखी।

इससे स्पष्ट है कि उनके गुरुका नाम आर्यनन्दी था और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन था। सम्भवतया ये उनके दीक्षागुरु थे और वे पंचस्तूप नामके अन्वयमें हुए थे।

वीरसेन अपने समयके महान् आचार्य थे। उन्होंने जो अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण लिखा है, उसका समर्थन धवला-जयधवला टीकाओंके अवलोकनसे भी होता है। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें उनके शिष्य जिनसेनने अपने गुरुका स्मरण करते हुए कहा है—'भट्टारक[1] श्री वीरसेन विद्याओंके पारगामी थे और वे साक्षात् केवलीके तुल्य

---

१ श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः।
पारदृश्वाधिविद्यानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥

थे। जैसे भारती—भरत चक्रवर्तीकी-आज्ञा भरत क्षेत्रके षट्खण्डोंमें कभी स्खलित नहीं हुई वैसे ही वीरसेनकी भारती षटखण्डरूप आगममें कभी स्खलित नहीं हुई। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर मनीषीजन सर्वज्ञके अस्तित्वमें सन्देह रहित हो गये। उन्हे पण्डितजन श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ कहते थे। प्रसिद्ध सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे प्रक्षालित होनेके कारण उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी और इसलिये वह बुद्धि ऋद्धिसे सम्पन्न प्रत्येकबुद्धोंसे स्पर्धा करते थे। वह प्राचीन पुस्तकोंके तो मानो गुरु थे। उन्होने प्राचीन पुस्तकोंका अध्ययन करके अपनेसे पहलेके सभी पुस्तकशिष्यकोंको अतिक्रमण किया था।'

केवली, श्रुतकेवली प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्ध ये पद जैन परम्परामें ज्ञानकी दृष्टिसे अति उच्च माने गये है। वीरसेनको उनके समकक्ष बतलाना उनके महनीय व्यक्तित्व और सर्वोच्च ज्ञानगरिमाको प्रकट करता है।

इन्ही जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें उन्हें वादिमुख्य, लोकवित् कवि और वाग्मी बतलाया है। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने उन्हें समस्त वादियोको त्रस्त करनेवाला कहा है तथा पुन्नाटसघीय जिनसेनने कवियोका चक्रवर्ती कहा है। इन सब विशेषणोसे तथा स्वय वीरसेनकी टीकाओंके अवगाहनसे वीरसेनकी विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभाका यथोचित आभास मिल जाता है।

वीरसेनके गुरु एलाचार्य

धवलाकी प्रशस्तिकी पहली गाथामे वीरसेनस्वामीने एलाचार्यका स्मरण करते हुए लिखा[1] है—'जिसके आदेशसे मैंने यह सिद्धान्त लिखा वे एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हो। इसके सिवाय धवला और जयधवलामें वीरसेनने अपनेको एलाचार्यका[2] वत्स (बच्चा) भी लिखा है। जयधवलामें[3] एक स्थान

प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधी।
सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभि ॥२३॥
पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशायिता पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यका ॥२४॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ठ मुनिनेन पञ्चस्तूपा बयाम्बरे ॥२५॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य य शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम्।
कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥ —ज० ध० प्र०

१ 'जस्साएसेण मए सिद्धन्तमिदं हि अहिलहुदं। मह्नु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥

२ 'दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ।' —षट्खं, पु ९ पृ १२६। कसा पा, भा १, पृ ८१।

३. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविदं तेण चउण्हं गईणं उच्चारणाबलेन एलाइरिय पसाएण य सेसकम्माणं परूवणा कीरदे। —क पा, भा०४, पृ १६९।

पर चूर्णिसूत्रका व्याख्यान करते हुए यह भी लिखा है कि चूंकि यह सूत्र देशामर्षक है अतः उच्चारणाके बलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारों गतियोंमें शेष कर्मोंकी प्ररूपणा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वीरसेनने सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्ययन एलाचार्यसे किया था और उन्हीके आदेशसे टीका-ग्रन्थोंकी रचना की थी।

अतः एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोंके अपने समयके अधिकारी विद्वान थे, यह बात उनके शिष्य वीरसेनके द्वारा रचित दोनो टीकाओके देखनेसे ही स्पष्ट हो जाती है।

कसायपाहुडका परिचय कराते हुए हम यह लिख आये हैं कि कसायपाहुड के अधिकारोंको लेकर मतभेद था। गाथासख्या ५ की जयधवला-टीकामें 'के वि आइरिया' कहकर एक मतभेदकी चर्चा है। उन किन्हीं आचार्योंके मत-का निराकरण करके स्वकृत व्याख्यानका समर्थन करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] है—'अतः भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त व्याख्यान ही यहां प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये। उपदिष्ट व्याख्यानसे आशय उस व्याख्यानसे है, जिसका उपदेश एलाचायने वीरसेनको दिया था। अतः यह स्पष्ट है कि एलाचार्य सिद्धान्तग्रथोके अधिकारी व्याख्याता थे। चूंकि वीरसेनस्वामीने धवलाकी समाप्ति शक स० ७३८ (८१६ ई०) में की थी, अतः यह निश्चित है कि एलाचार्य ईसाकी ८ वी शतीके उत्तराधमें विद्यमान थे। परन्तु उनकी गुरु-परम्पराके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नही होता।

वीरसेन स्वामीकी बहुज्ञता

जयधवलाकी प्रशस्तिमें जो वीरसेन स्वामीको प्राचीन पुस्तकोंके अध्ययनका अनुपम प्रेमी होनेके कारण चिरन्तन पुस्तकशिष्यकोका गुरु और उनकी प्रज्ञाको सर्वार्थगामिनी कहा है वह उचित ही है। अपनी धवला और जयधवला टीकामें उन्होंने जो अनेकों ग्रन्थोके नाम तथा उद्धरण दिये हैं उससे ही उक्त दोनो बातोकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरणोका बहुभाग ऐसा है, खोजने पर भी जिसके मूल स्थानोका पता नही लग सका। उनमेंसे कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जो हरिभद्रसूरि[2] के अनेकान्तवादप्रवेशमें, बौद्धग्रन्थ तत्त्वोपप्लवमें[3] सिंहगणि[4] क्षमाश्रमणकृत नयचक्रवृत्तिमें तथा भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें भी उद्धृत हैं। धवला-जयधवलामें निर्दिष्ट ग्रन्थों तथा जिन उद्धरणोके स्थलोका पता लग सका है उनके अनुसार वीरसेनस्वामीने नीचे लिखे ग्रन्थोंका उपयोग अपनी टीकाओंमें किया है?

---

१ तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पहाणभावेण एत्थ घेतव्वं॥ —क पा, भा १ पृ १६२।

२ क. पा भा. १, पृ २५५।

३ क. पा. भा २ पृ. २५६।

४ क पा. भा १ पृ २२७।

१ संतकम्मपाहुड
२ योनिप्राभृत—धरसेनाचार्य विरचित।
३ गुणधराचार्य विरचित—कसायपाहुड
४ भूतबली विरचित—जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध।
५ कुन्दकुन्दरचित—परिकर्म, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड।
६ यतिवृषभरचित—चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ति।
७ उच्चारणाचार्यविरचित—उच्चारणावृत्ति।
८ वट्टकेराचार्यरचित—मूलाचार।
९ शिवार्यरचित—भगवती आराधना।
१० व्याख्याप्रज्ञप्ति
१ गृद्धपिच्छाचार्यरचित—तत्त्वार्थसूत्र
२ पिंडिया (?)
३ समन्तभद्ररचित—आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयम्भू०, युक्त्यनुशासन,
४ सिद्धसेनरचित—सन्मतिसूत्र
५ पूज्यपादरचित—सारसंग्रह।
६ प्राकृत-पंचसंग्रह
७ अकलंकदेवरचित—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय
१७ प्रभाचन्द्ररचित—कोई ग्रन्थ।
१८ धनंजयकविकृत नाममाला कोश।
१९ वाप्पभट्टरचित—उच्चारणा।
२० जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अंगपण्णत्ति आदि

उक्त ग्रन्थोंमेंसे पिंडिया तथा पूज्यपादकृत सारसंग्रहका कोई पता नहीं चल सका है। कुछ उद्धृत गाथाएं नीचे लिखे श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यमें पाई गई हैं। अतः संभवतया इन ग्रन्थोंका भी उपयोग वीरसेन स्वामीने अपनी टीकाओंमें किया था। आवश्यकनिर्युक्ति, आचारांगनिर्युक्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, दशवैकालिक, स्थानांगसूत्र, नन्दिसूत्र, और ओघनिर्युक्ति।

एक छेदसूत्रका भी उल्लेख है। लिखा है—द्रव्यस्त्री और नपुंसक वस्त्र त्याग नहीं कर सकते, छेदसूत्रसे विरोध आता है।

१ 'ण च दव्वत्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वत्थिणवुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि छेदसुत्तेण सह विरोहादो'—षट्खं, पु ११, ११४-११५।

अन्य दर्शनोंके ग्रन्थोंमेंसे बौद्धकवि अश्वघोषके सौन्दरानन्दकाव्य, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका और कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोक-वार्तिकसे भी एक दो उद्धरण दिये गये हैं।

जयधवलामें [1] पाहुडशब्दकी व्युत्पत्तिके प्रसंगसे कई प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं जो प्राकृतव्याकरणके नियमोंसे सम्बद्ध हैं। उसपरसे ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतया प्राकृतभाषाका कोई गाथाबद्ध व्याकरण भी था। धवला और जयधवलाके प्रथम भागमें भगवान महावीरके जीवनसे सम्बद्ध अनेक प्राकृत गाथाएं उद्धृत की हैं जिनपरसे अनुमान होता है कि प्राकृतगाथाओंमें भगवान् महावीरका कोई सुन्दर चरित-ग्रन्थ अवश्य था।

समय-विमर्श

वीरसेनस्वामीने अपनी धवला-टीकाके अन्तमें उसकी समाप्तिका काल दिया है। किन्तु गाथाओंके अशुद्ध होनेसे उनमें दिये हुए कालके सम्बन्धमें विवाद है। अत उसे छोडकर जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिये गये कालको लेना उचित होगा। उसमें बतलाया है [2] कि कसायपाहुडकी टीका जयधवला श्रीमान् गुर्जरार्यके द्वारा पालित वाटकग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्नमें, जबकि नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जा रहा था, शक-राजाके सात सौ उनसठ वर्ष (७५९) बीतने पर समाप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि शकसंवत् ७५९, विक्रम संवत् ८९४ और ईस्वी सन् ८३७ के फाल्गुन मासकी सुदी दशमीको जयधवला समाप्त हुई थी।

वीरसेन स्वामीने जयधवलाका केवल पूर्वार्ध ही रचा था, यह बात जय-धवलाकी प्रशस्तिसे [3] प्रकट होती है। उसमें जिनसेनने लिखा है कि गुरुके द्वारा निर्मित पूर्वभागको देखकर मैंने उत्तर भागको रचा। यदि वीरसेन जीवित होते तो ऐसा प्रसंग उपस्थित न होता। इसके सिवाय प्रशस्तिमें वीरसेनके लिए

---

१ क पा., भा १, पृ. ३२६–३२७

२ इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥
एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ ११ ॥

३ गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥३९॥

'आसीत्' भूतकालीन क्रियाका प्रयोग किया गया है। अत यह स्पष्ट है कि वे उस समय जीवित नही थे।

पुन्नाटसघी जिनसेनने शक सवत् ७०५ मे अपना हरिवशपुराण समाप्त किया था। उसके प्रारम्भमें उन्होंने वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन दोनोंको स्मरण किया ह। उस समय जिनसेन अपने पार्श्वाभ्युदयकी रचना कर चुके थे। उसीके कर्ताके रूपमें हरिवशपुराणमे उनका स्मरण किया है। उक्त उल्लेख-से प्रकट है कि शक सवत ७०५ मे गुरु-शिष्य दोनो वतमान थे। और वीरसेनका अवसान शक सवत ७०५ के पश्चात और जयधवलाके समाप्तिकाल शक सवत ७५९ से पहले हुआ है। इसी तरह वीरसेनके शिष्य जिनसेनका अवसान शक सवत ७५९ के पश्चात और उत्तरपुराणकी रचनाके पहले हुआ है।

अब हम धवलाकी प्रशस्तिकी ओर आते ह। प्रशस्तिका उपलब्ध पाठ इस रूपमें मुद्रित ह—

अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु सगरमो।
पासे सुतेरसीए भावविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुगदेवरज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्त सिघ सुक्कम्मि मेंढिचदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुजते।
सिद्धतगधमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

उक्त प्रशस्तिकी पहली पक्ति, जिसमें धवलाकी समाप्तिका समय दिया हुआ है बिल्कुल गडबड है। आगेकी पक्तियोमें जो समाप्तिकालका सूचक ग्रहयोग दिया गया है वह भी अशुद्ध ह। फिर भी प्रो० हीरालालजीने[1] काल-गणनाके आधारपर उसकी शुद्धि करके नीचे लिखे अनुसार शुद्ध पाठ स्थापित किया था—

अठत्तीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुगदेवरज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि तरणिपुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

---

१ षटखं०, भा० १, प्रस्ता० पृ ३९–४५

और तदनुसार धवलाकी समाप्तिका काल शक सम्वत् ७३८ निर्धारित किया था। इस पर डा० ज्योतिप्रसाद जैनने आपत्ति की। वास्तवमें 'पासे'का 'मासे', 'भाव'का भाणु, 'वरणिवुसे'का तरणिवुत्ते और 'सेंहिचदम्मि'का 'मीणे चदम्मि' सुधार तो सम्भव प्रतीत होता है किन्तु 'सासिय'का 'सससए' और 'विक्कमरायम्हि एसु संगरमो'का 'विक्कमरायकिए सुसयणामे' सुधार कष्टसाध्य ही प्रतीत होता है। गाथा छंके मूल पाठसे इतना तो स्पष्ट है कि संवत् विक्रम-राजाके नामसे सम्बद्ध है और उसके अंकोमें एक अक ३८ है। विक्रमराजाके नामसे सम्बद्ध सम्वत तो विक्रम सम्वत् है ही। किन्तु जैनपरम्परामें शक सम्वत्का उल्लेख भी विक्रमाक शकके नामसे मिलता है। जैसे त्रिलोकसारकी टीकामें टीका-कार माधवचद त्रैविद्यने लिखा है—'श्रीवीरनाथनिवृ ते सकाशात् पचोत्तर-षट्शतवर्षाणि (६०५)पचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाकशकराजो जायते'। अर्थात वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात विक्रमाक शक राजा हुआ।

यहाँ पर विक्रमाकशकसे तात्पय स्पष्ट रूपसे शक सम्वत्के सस्थापकसे है, क्योकि त्रिलोकसारकी जिस [1]गाथा ८५० की यह टीका है उसमें शकका ही निर्देश है। तथा वीरसेन[2] स्वामीने भी अपनी धवला टीकामें वीर निर्वाण और शक राजाके मध्यमें ६०५ वष पाच मासका अन्तर बतलाया है। यद्यपि उन्होने इस विषयमें अन्य आचार्योंके मत भी दिये हैं किन्तु उनका अपना मत यही था।

अकलकचरित्र[3]में अकलकके बौद्धोके साथ शास्त्रार्थका समय विक्रमाक शक सम्वत ७०० दिया है। यहा ग्रन्थकारने विक्रमाक शक नामसे विक्रम सम्वत्का उल्लेख किया है, या शक सम्वत्का, यह निश्चयपूवक नही कहा जा सकता। तथापि इतना निश्चित प्रतीत होता है कि यह शक सम्वत् ७०० नही हो सकता, क्योंकि शक सम्वत् ७०५ में रचे गये हरिवशपुराणमें वीरसेन और जिनसेनको स्मरण किया गया है और वीरसेनने अपनी धवलाके आरम्भमें ही अकलकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकसे बहुतसे उद्धरण दिये हैं। तथा अकलंकका उल्लेख करनेवाले धनजय कविके कोश[4]से भी धवला[5]में उद्धरण दिया गया है। अस्तु,

---

१ "पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो सगराजो

२ "एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो। कुदो? (६०५/५) एदम्हि काले सगणरिंदकालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकाला गमणादो।'—षट्खंड० पु० ९, पृ० १३२।

३ 'विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत॥' अक० च०।

४ 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं।' ध० ना० मा० श्लो० २०१।

५ षट्खं०, पु० ९, पृ० ३२७।

ऐसी स्थितिमें यह विचारणीय हो जाता है कि वीरसेन स्वामीने धवलाकी उक्त प्रशस्तिमें यदि विक्रमार्क शकका ही उल्लेख किया है तो विक्रम सम्वत्के अर्थमें किया है या शक सम्वतके अर्थमें ? और ३८ के अंकसे पहले कौन-सा अंक होना संभव है ?

प्रथम विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रो० हीरालालजीका कहना[1] है कि 'वीरसेनस्वामीने जहाँ-जहाँ वीरनिर्वाणकी कालगणना दी है वहा शककालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्राय समस्त जैन लेखकोंने शक-कालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामे आश्चर्य नही जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शककालसे हो'।

प्रोफेसर साहबका कथन उचित है। किन्तु वीरसेनने जहा कही शकका निर्देश किया है, उसके साथ विक्रमार्क विशेषणका कही भी प्रयोग नहीं किया। यदि वह या उनके शिष्य जिनसेन शकके साथ एकाध जगह भी विक्रमांक विशेषणका प्रयोग करते तो प्रोफेसर साहबकी उक्त युक्तियां बलवती होती। ऐसी स्थितिमें प्रशस्तिके छठे श्लोकमें आगत विक्कमराय शब्द विचारणीय हो जाता है।

दूसरे विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रोफेसर साहबका कथन है कि—'गाथा[2] में 'शत' सूचक शब्द गडबडीमें है। किन्तु जान पडता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सम्वतके कहनेका है। किन्तु विक्रम संवतके अनुसार जगतुंग का राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अत उसके अनुसार ३८ के अंक की कुछ सार्थकता नही बैठती। × × × यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सात सौ और मिला दें और ७३८ शक सम्वत्को लें तो यह काल जगतुंगके शासकाल अर्थात् शक सम्वत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है ।

इस तरह जहाँ डा० हीरालालजी धवलामें प्रयुक्त सम्वत्को शक सम्वत् मानकर ३८ से पहले सात अंक रखना उचित समझते है, वहा डा० ज्योति-प्रसादजी उसे विक्रम सम्वत मानकर ३८ से पहले ८ का अंक रखना उचित समझते हैं। अर्थात् उनके मतसे धवलाकी समाप्ति वि० स० ८३८ में (शक सं ७०३) में हुई।

ऐसी स्थितिमें इन दोनो कालों पर अब दूसरे प्रकारसे विचार करना उचित होगा। धवलाकी प्रशस्तिकी गाथासंख्या ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' पद है। अर्थात जगतुंगदेवके राज्यमें जयधवला समाप्त हुई। और गाथासंख्या ९ में कहा है, कि उस समय नरेन्द्रचूडामणि बोद्दणरायनरेन्द्र राज्यका उपभोग करते थे।

---

१ षट्खं०, भा० १ प्रस्ता०, पृ० ४५।

२ षट्खं०, भा० १, प्रस्ता०, पृ० ४०।

प्रथम तो एक ही प्रशस्तिमें दो राजाओंका निर्देश कुछ विचित्र-सा ही प्रतीत होता है। दूसरे, राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगत्तुंगदेव नामक एक ही राजा नहीं हुआ तथा बोद्दणराय नामक राजा कौन था, इसमें भी विवाद है।

इस उलझनके विषयमें प्रो० हीरालालजीने लिखा[1] है—'शक स० ७३८में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगत्तुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किन्तु शक सम्वत् ७८८के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२वें वर्षका उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७से प्रारम्भ हो गया था। तब फिर शक ७३८में जगत्तुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गा० नं ७में 'जगत्तुंगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्द पर जाती है, जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्त'। सम्भवत उसीसे कुछ पूर्व जगत्तुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं० ९में जो बोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्दणराय सम्भवत अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या यह 'वद्दिग'का ही रूप हो और वद्दिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या बद्दिग मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक सम्वत ७३८में समाप्त की जब जगत्तुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय राजगद्दी पर बैठ चुके थे।'

जिस तरह ३८में ७के अंककी कल्पना करके प्रोफेसर साहब ने ७३८ शक सम्वत् निर्धारित किया उसी तरह उक्त कल्पनाके आधार पर ही उन्होने जगत्तुंग और बोद्दणरायकी समस्या को सुलझानेकी चेष्टा की है।

अमोघवर्ष प्रथम छै वर्षकी अवस्थामें शक स ७३६में राज्यगद्दी पर बैठा था। अत ८ वर्षके बालकको 'नरेन्द्रचूडामणि' जैसे विशेषणसे अभिहित किया जाना खटकता है। हमारा विचार है, कि धवला प्रशस्तिकी अन्तिम गाथा सभवत पीछेसे किसीने उसमें जोड़ दी है। उसमें आगत शब्द 'विगत्ता' भी अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'कृत' धातुसे प्राकृत रूप 'विगत्ता' बनता है, जिसका अर्थ होता है, छेदी गई या काटी गई। इस अर्थका यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। अत 'वियत्ता' पाठ उचित प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है व्यक्त की गई। अर्थात् 'जब नरेन्द्रचूडामणि बोद्दणराय नरेन्द्र पृथ्वीका उपभोग करते थे उस समय सिद्धान्तग्रन्थका मथन करने वाले गुरुके प्रसादसे उस धवलाको व्यक्त किया गया

1 वही, पृ. ४१।

उसकी कोई टीका टिप्पणी लिखी गई। समाप्तिसूचक 'समाणिया' पाठ तो उससे पूर्वकी गाथा ८में ही आ चुका है। अतः यह समस्या उलझी हुई है।

रचनाएं

वीरसेन स्वामीने संपूर्ण धवला और जयधवलाका पूर्वभाग रचा था। ये दोनो ग्रन्थ उपलब्ध है। षटखण्डागम सूत्रोके साथ हिन्दी अनुवाद सहित धवला[1]-टीका १६ भागोमें छपकर प्रकाशित हो गई है तथा कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके साथ हिन्दी अनुवाद सहित जयधवलाका[2] प्रकाशन कार्य चालू है। जयधवलामें एक जगह श्रीवीरसेन स्वामीने स्वलिखित[3] उच्चारणावृत्तिका भी निर्देश किया है। यदि वहाँ लिखितसे उनका आशय रचितसे है तो कहना होगा कि उन्होंने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर उच्चारणावृत्ति भी रची थी।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने उनकी एक अन्य रचनाका निर्देश किया है उसका नाम[4] प्रेमीजीने सिद्धभूपद्धति टीका दिया है और लिखा है कि नामपरसे ऐसा अनुमान होता है कि यह क्षेत्रगणित सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। किन्तु गुणभद्रके उत्तरपुराणका जो संस्करण ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है उसमें 'सिद्धिभूपद्धति' पाठ है और श्लोकके भावको देखते हुए यही पाठ ठीक प्रतीत होता है। श्लोक इसप्रकार है—

> सिद्धिभूपद्धतिं यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।
> टीक्यते हेलयाऽन्येषा विषमादि पदे पदे ॥६॥-उ पु प्र

अर्थ—दूसरोकेलिए पद-पदपर विषम भी सिद्धिभूपद्धति, जिसकी टीकाको देखकर भिक्षुओके द्वारा सरलतासे प्रवेश योग्य हो गई।

उक्त कथन श्लेषात्मक है। जो सिद्धिभू मोक्षभूमिकी पद्धति-मार्ग दूसरोके लिए पद-पदपर विषम है वह भिक्षुओंके लिए सुगम है। इसपरसे ज्ञात होता है कि सिद्धिभूपद्धति नामक ग्रन्थ बडा कठिन था, जो वीरसेनकी टीकासे सरल हो गया तथा उसमें मोक्षमार्गका विवेचन था।

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें उक्त उल्लेखके सिवाय अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ तथा उसकी टीका दोनो ही बहुत महत्त्वपूर्ण थे।

इस तरह वीरसेनस्वामीने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थोकी रचना प्राकृत-

---

१ प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र भेलसा (म प्र)।

२ भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरासे प्रकाशित।

३ 'अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण ।—क पा, भा १, पृ १९८।

४ जै. सा इ, २ रा सं पृ, १३१।

संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषामें की थी। और वे सिद्धान्तग्रन्थोंके अनुपम व्याख्याता थे। उन्होंने अपनी टीकाओंमें प्रकृत विषयोंका स्पष्टीकरण और सम्बद्ध प्रासंगिक विषयोंका विवेचन इस रीतिसे किया है कि बादके टीकाकारोंके लिखनेके लिए कुछ शेष नही रहा और सम्भवतया इस कारण भी धवला और जयधवलाके पश्चात सिद्धान्तग्रन्थोंपर कोई टीका नहीं लिखी गई। इतना ही नही, किन्तु इन टीकाओंके सुविस्तृत परिमाणमें और उनमें चर्चित विषयोंकी प्राञ्जलतामें उनकी मूलाधार कृति ऐसी समा गई कि षट्खण्डागमसूत्र धवल-सिद्धान्तके नामसे और कषायपाहुड जयधवलसिद्धान्त नामसे ही प्रख्यात हो गये।

ईसाकी १०वी शताब्दीके ग्रन्थकार अपभ्रंशकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें[१] उनका उल्लेख इसी नामसे किया है। वास्तवमें दोनों टीकाग्रन्थ जैन सिद्धान्त-विषयक चर्चाओंके भण्डार है।

वीरसेनस्वामीकी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका कोई संकेत नही मिलता।

●

---

१ 'भउ बुज्झिउ आयमसद्दधामु, सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम।'—म. पु.।

तृतीय अध्याय

द्वितीय परिच्छेद

जयधवला-टीका

नामकरण

धवला टीकाके पश्चात् दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'जयधवला' है। यह टीका 'कषायपाहुड' पर लिखी गयी है। टीकाकारने इस टीकाकी प्रथम मङ्गल-गाथाके आदिमें ही 'जयइ धवलंगतेए' पद देकर इसके नामकी सूचना दी है। अन्तमें तो इसके नामका स्पष्ट उल्लेख किया है—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवलासण्णिया टीका ॥१॥

'तीनो लोकोको धवलित करनेवाली और प्रसिद्ध माहात्म्यवाली कषाय-पाहुडसूत्रोकी यह 'जयधवला' नामकी टीका यहाँ समाप्त होती है।'

उपयुक्त पद्यसे यह तो स्पष्ट है कि इस टीकाका नाम 'जयधवला' है। पर इस नामकरणका क्या कारण है, यह ज्ञात नही होता। टीकाकारने टीकाके आरम्भमें चन्द्रप्रभस्वामीकी जयकामना करते हुए उनके धवल वर्ण शरीरका उल्लेख किया है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रप्रभ स्वामीके धवलवर्णके आधारपर इस टीकाका नामकरण जयकामनाको मिश्रित कर 'जय-धवला' किया गया हो।

इसके पूर्व छक्खंडागमपर धवला टीका रची जा चुकी थी। इसीके आधारपर कषायपाहुडकी इस टीकाका नाम 'जयधवला' रखा गया होगा। और दोनोमें भेद करनेके लिए 'जय' विशेषण नियोजित किया होगा।

'जयधवला' टीका भी 'धवला' टीकाके समान ही विशद, स्पष्ट और गम्भीर है। सम्भव है कि इस कारणसे भी इसे 'जयधवला' नाम दिया गया हो। एक अन्य हेतु यह भी सम्भव है कि इन टीकाओकी उज्ज्वल ख्यातिने तीनों लोकोको धवलित कर दिया है। अतएव इनका सार्थक नाम धवला और जयधवला है।

जयधवला टीका शैली और महत्त्व

इस टीकाकी शैली व्याख्यानात्मक होने पर भी नये तथ्योंसे सम्बद्ध है। टीकाकार जिस किसी आचार्यका मत देते हैं, उसे युक्तिके साथ अधिकारपूर्वक

लिखते हैं। उनके किसी भी व्याख्यानसे विषय सम्बन्धी कमजोरी प्रकट नहीं होती। वर्णनकी प्राजलता और युक्तिवादिताको देखकर पाठक आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहता। टीकाकार प्रत्येक तथ्यकी पुष्टिके लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके प्रत्येक कथनमें 'कुदो' लगा रहता है। वे इस 'कुदो' द्वारा प्रश्न करते हैं और तत्काल ही हेतुपरक उत्तर उपस्थित कर देते हैं। इस टीकामें टीकाकारने आगमिक परम्पराकी पूरी रक्षा की है और एक ही विषयमें प्राप्त विभिन्न आचार्योंके विभिन्न उपदेशोंका उल्लेख किया है।

इस टीकाग्रन्थकी रचनाशैलीके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रशस्तिपद्यसे प्रकाश प्राप्त होता है—

> प्राय प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
> मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तर ॥ —ज० प्र० प० ३७

इससे स्पष्ट है कि इस विस्तृत टीकाग्रन्थकी रचना प्राय प्राकृत-भाषामें की गयी है। बीचमें इसमें कहीं-कहीं संस्कृतका भी मिश्रण है। इसी कारण यह टीका भी 'धवला' के समान 'मणिप्रवाल' कहलाती है।

निस्सन्देह 'धवला' की अपेक्षा जयधवला प्राकृतबहुल है। इसमें दार्शनिक चर्चाएँ और व्युत्पत्तियाँ तो संस्कृत-भाषामें निबद्ध हैं, पर सैद्धान्तिक चर्चाओंके लिए प्राकृतका प्रयोग उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें एक साथ दोनों भाषाओंका उपयोग किया गया है। टीकाकी भाषा प्रसादगुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। अध्ययन करते समय पाठककी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

टीकाकारका भाषाके साथ विषय पर भी असाधारण प्रभुत्व है। जिस विषयका प्रतिपादन करते हैं। उसका शंका-समाधान पूर्वक अत्यन्त स्पष्टीकरण कर देते हैं। चर्चित विषयको अधिक-से-अधिक स्पष्ट करनेकी कला इस टीका-ग्रन्थमें विद्यमान है। जयधवलाके अन्तके निम्न पद्यसे शैलीगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश पड़ता है—

> होइ सुगमं पि दुग्गममणिउणवक्खाणकारदोसेण।
> जयधवलाकुसलाणं सुगम चि य दुग्गमा वि अत्थगई ॥ —ज०अ०प० ७

अनिपुण व्याख्याताके दोषसे सुगम बात भी दुर्गम हो जाती है, किन्तु जय-धवलामें जो कुशल हैं, उनको दुर्गम अर्थका भी ज्ञान सुगम हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकी व्याख्यान शैली अत्यन्त सुगम है और इस टीकामें दुर्गम विषयको भी सुगम बनाया है।

जयधवला टीकाका महत्त्व विषयकी गम्भीरता और प्रतिपादनशैली-की सुगमताकी दृष्टिसे जितना है, उससे कहीं अधिक प्रमेयोंके अधिक समा-विष्ट करनेकी दृष्टिसे भी है। यह टीका अपनी विशालता और प्रमेयाधिक्य-के कारण ही स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जयधवल सिद्धान्त' कही जाती है। इसमें केवल चूर्णिसूत्रोंमें आये हुए अनुयोगद्वारोंके अनुसार ही विषयका व्याख्यान नहीं किया है, अपितु 'उच्चारणावत्ति'में आये हुए अनुयोगद्वारोंके आधार पर विषय-का निरूपण किया है। इस प्रकार मूलग्रन्थ 'कसायपाहुड' और चूर्णिसूत्रोंमें निहित विषयका विवेचन 'उच्चारणावृत्ति' के अनुयोगद्वारोके अनुसार विस्तार-पूवक किया है। अतएव इस ग्रन्थमें विषयका कथन दृढता, बहुज्ञता और आत्मविश्वास पूवक किया गया है।

चूर्णिसूत्रोके व्याख्यान प्रसगमें किसी भी अंशको दृष्टिसे ओझल नही होने दिया है। पदोकी तो बात ही क्या, आचायने अकोंकी भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणाथ अर्थाधिकार प्रकरणमें प्रत्येक अर्थाधिकारसूत्रके आगे पडे अकोकी साथकताको लिया जा सकता है।

इस टीकाका एक अन्य महत्त्व विभिन्न विषयक अनेक दाशनिक और सद्धान्तिक मतोंकी जानकारी भी है। टीकाकारने उपदेशोका कथन आचार्योंके नामोके उल्लेख पूवक करके अपनी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

जयधवलाका एक दूसरा महत्त्व ज्ञान जीव, कम और कम सम्बन्धको विस्तृत रूपसे प्रस्तुत करना भी है।

रचना स्थान और काल

पहले धवलाका रचना काल निबद्ध किया जा चुका है। अत इस सम्बन्ध-में विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नही। सक्षेपमें जयधवला टीका शक-संवत् ७५९ (वि० स० ८९४) में पूण हुई।

यह जयधवला टीका वाटकग्रामपुरमें रची गयी है। इसके शासक गुर्जराय बताये गये हैं। आचाय जिनसेनने प्रशस्ति-पद्य १२–१५ में गुर्जरार्य नरेन्द्रकी बडी प्रशंसा की है और चन्द्र-तारा पर्यन्त उसकी कीर्तिके स्थिर रहनेकी भावना व्यक्त की है।

यह वाटकग्रामपुर कहाँ अवस्थित था और इसका आधुनिक नाम क्या सम्भव है यह विचारणीय है। बडौदाका पुराना नाम वटपद्र, वटपद्रक या वट-पल्ली है। कोषोंमें पद्रका अर्थ ग्राम मिलता है। अत वाटकग्राम बडौदा ही होना चाहिए। वहाँके कुछ राष्ट्रकूट राजाओके कुछ ताम्रपत्र भी मिले हैं।

राष्ट्रकूट नरेश कर्कके शक संवत् ७३४ के ताम्रपत्रके अनुसार भानुभट्ट नामक ब्राह्मणको अंकोटक चौरासी ग्राम विषयक वटपद्रक गांव दानमें दिया गया था। कर्क सुवर्णवर्षके दानपत्रमें भी कर्क और गोविन्द दोनों भाईयोंके द्वारा वटपद्रक गांव दानमें देनेका उल्लेख है। इसमें भी वटपद्रकको अंकोटक चौरासी गांवके अन्तर्गत लिखा है।

अकोटक आज भी बडौदासे ५-६ मीलपर दक्षिणकी ओर वर्तमान है। कुछ समय पहले वहासे खुदाईमें कांसेकी प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली हैं।

उक्त वटपद्र या वाटग्रामको गुर्जरार्य अथवा गुजरनरेन्द्र द्वारा अनुपालित बतलाया है। यह गुजरनरेन्द्र राष्ट्रकूट अमोघवर्ष ही है। अमोघवर्ष जिनसेनका परम भक्त शिष्य था। गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा अमोघवष स्वामी जिनसेनके चरणोंमें नमस्कार करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था।

राष्टकूटोकी राजधानी मान्यखेट थी। अमोघवषके पिता गोविन्दराज तृतीयके समयके श० स० ७३५ के एक ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि उसने लाटदेश-गुजरातके मध्य और दक्षिणी भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराज-को वहांका राज्य दे दिया था। इसी इन्द्रराजने गुजरातमें राष्ट्रकूटोकी दूसरी शाखा स्थापित की थी। शक स० ७५७ का एक ताम्रपत्र बडौदासे मिला है। यह गुजरातके राजा महा सामन्ताधिपति राष्ट्रकूट ध्रुवराजका है। इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षके चाचाका नाम इन्द्रराज था और उसके पुत्र ककराजने बगावत करने वाले राष्ट्रकूटोसे युद्ध करके अमोघवर्षको राज्य दिलवाया था। कुछ विद्वानोका मत है कि लाटके राजा ध्रुवराज प्रथमने अमोघवषके विरुद्ध बगावत की थी। अत अमोघवषको उसपर चढाई करनी पडी और गुजरात उसके राज्यमें आ गया। यह घटना जयधवलाकी समाप्तिसे कुछ ही समय पहले-की होनी चाहिये, क्योंकि ध्रुवराज प्रथमका ताम्रपत्र श० स० ७५७ का है और जयधवलाकी समाप्ति श० स० ७५९ में हुई थी। अत वाटग्रामके गुजरातमें होने तथा गुजरातका प्रदेश उसी समयके लगभग अमोघवर्षके राज्यमें होनेके कारण अमोघवषका गुणगान किया है। अत जयधवलाकी रचना वाटग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यमें शक स० ७५९ में पूण हुई थी।

जयधवलागत विषय वस्तु

जयधवला कसायपाहुड और उसपर रचित चूर्णिसूत्रोंकी विवरणात्मक विस्तृत व्याख्या है। अत. उसका प्रतिपाद्य मूल विषय वही है जो उसके मूलभूत ग्रन्थोंका है। किन्तु उसमें व्याख्याका रूप कैसा है और क्या विशेष कथन किया गया है, यही बतलाना यहाँ अभीष्ट है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडके अधिकारोंकी संख्या यद्यपि पन्द्रह है तथापि नामोंमें मतभेद है और उसका निर्देश करके वीरसेन स्वामीने जयधवलाके अधिकारोंका निर्देश स्वयं अपनी दृष्टिसे किया है।

सबसे प्रथम जयधवलाकारने मंगलकी चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडके और यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया ? समाधानमें कहा है कि प्रारम्भ किये गये कार्यमें विघ्न विनाशके लिये मंगल किया जाता है। किन्तु परमागममें उपयोग लगानेसे ही वे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, इसीसे उक्त दोनों ग्रन्थकारोंने मंगल नहीं किया।

चूर्णिसूत्रकारने प्रथम गाथाकी वृत्तिमें पाँच उपक्रमोंका निर्देश किया है। किन्तु जयधवलाकारने दोनोंकी संगति बतलाते हुए कहा है कि गाथामें केवल एक नामोपक्रमका ही निर्देश है शेषकी सूचना 'दु' शब्द से की है। इसीसे यतिवृषभ ने पाँच उपक्रमोंका निर्देश किया है।

यत इसका निकास ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वसे हुआ है अत टीकाकारने मंगलके पश्चात मति आदि पाँच ज्ञानोका कथन करते हुए पाँच उपक्रमोका विस्तारसे कथन किया है। तथा केवलज्ञानका अस्तित्व तक और युक्तिके आधारसे सिद्ध किया है। इसी प्रसंगसे कर्मबन्धनकी भी चर्चा है। तत्पश्चात् केवलज्ञानी भगवान महावीरके जीवनकालकी चर्चा करते हुए विपुलाचलपर उनकी प्रथम धर्मदेशनाका समय बतलाया है तथा किस प्रकार आचार्यपरम्परासे आता हुआ उपदेश गुणधराचार्य तथा आर्यमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ, यह बतलाया है। द्वादशांगरूप श्रुत और अंगबाह्यश्रुतके विषयका परिचय करानेके बाद पन्द्रह अधिकारोकी चर्चा विस्तारसे की है और उस विषयक मतभेदको भी स्पष्ट किया है।

चूर्णिसूत्रकारने कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न कहा है। इस प्रसंगसे नयोंके स्वरूपकी चर्चा बहुत विस्तारसे करते हुए नयोंमें निक्षेपोंकी योजना की है। जो नयोंके अध्ययनके लिये उपयोगी है।

चूर्णिसूत्रोके विषय-परिचयमें कहा है कि आचार्य यतिवृषभने विवेचनके लिये अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है तथा उनमेंसे कुछ अनुयोगद्वारोंका सामान्य कथन भी किया है। जयधवलामें सभी अनुयोगद्वारोका विवेचन चौदह मार्गणाओंमें किया है। तथा यह विवेचन चूर्णिसूत्रों पर निर्मित उच्चारणावृत्तिका आलम्बन लेकर किया गया है। जयधवलाकारने इस बातका निर्देश, कि हम यह कथन उच्चारणाका आश्रय लेकर कर रहे हैं, स्थान-स्थानपर किया है।

यहाँ प्रथम अधिकारमें आगत सतरह अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है क्योंकि सब अधिकारोंमें प्राय इनका कथन आता है।

असत्तावाले जीवोंका काल बतलाया है। दोनों ही प्रकारके जीव सदा रहते हैं इसलिए उनका काल सर्वदा कहा है।

अन्तर—यह अन्तर भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है अतः मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव सदा पाये जाते हैं अतः उनमें सामान्यसे अन्तर नहीं है।

भाव—इसमें बतलाया है मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंके पाँच भावोंमें से कौन भाव होते हैं। सत्तावालेके पारिणामिकके सिवा शेष चार भाव होते हैं और असत्तावालेके केवल क्षायिकभाव होता है।

अल्पबहुत्व—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता वाले और असत्तावाले जीवोंमें कौन अधिक हैं और कौन अल्प हैं।

इन अनुयोग द्वारोंके साथ मूल प्रकृति विभक्तिका कथन समाप्त होता है।

आगे हम जयधवला टीकामें आगत कुछ विशेष विवेचनोंकी ही चर्चा करेंगे—

१ प्रकृति-विभक्ति—इसमें कहा है कि उच्चारणाचार्यने मूल प्रकृति विभक्तिके सतरह अनुयोगद्वार कहे हैं और आचार्य यतिवृषभने आठ अनुयोगद्वार कहे हैं। किन्तु इसमें कोई विरोध की बात नहीं है क्योंकि एकने पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन लिया है तो दूसरेने द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन लिया है। वीरसेन स्वामीने उच्चारणाचार्यके द्वारा कथित विवरणका आश्रय लेकर सतरह अनुयोगद्वारोंका विवेचन किया है।

इसी तरह एकैक उत्तर-प्रकृति विभक्तिके ग्यारह अनुयोगद्वार यतिवृषभने कहे हैं और उच्चारणायने चौबीस कहे हैं। जयधवलाकारने उच्चारणाचार्यके अनुसार चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही कथन किया है। इस तरह जयधवला केवल चूर्णिसूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ नहीं है किन्तु उसमें विषयगत प्रतिपादन भी विशेष है।

आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रमें कहा है कि मोहनीय कर्मकी बाइस प्रकृतियों-की सत्ताका स्वामी मनुष्य ही होता है। इसकी टीकामें वीरसेनने कहा है कि आचार्य यतिवृषभके इस विषयमें दो उपदेश हैं। उनमेसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नहीं करता, इस उपदेशको लेकर उक्त कथन किया है। उच्चारणाचार्यके अनुसार कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी जीव नहीं मरता ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उच्चारणाचार्यने चारो ही गतियोंमें बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्त्व स्वीकार किया है।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सम्यग्दृष्टी जीव ही करता है। अनन्तानुबन्धीके स्कन्धोंको अन्य प्रकृति रूपसे परिणमानेको विसंयोजना कहते हैं।

विसंयोजनासे क्षपणामें यह भेद है कि जिन कर्मोंकी क्षपणा होती है उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करने के बाद सम्यग्दृष्टी यदि मिथ्यात्वको प्राप्त होता है तो प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्म-स्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं। इसीसे मिथ्यात्वमें मोहनीयकी २४ प्रकृतियोंकी सत्ता न पायी जाकर अट्ठाईसकी सत्ता पायी जाती है। उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाके होनेमें भी मतभेद है। उच्चारणाके अनुसार तो निषेध है।

इसपरसे यह शङ्का की गयी कि जिन आचार्योंके कथनके अनुसार उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होती है उनसे उक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आता। इसके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने कहा है कि यदि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाका कथन करनेवाला वचन सूत्र वचन होता तो यह कथन सत्य होता क्योंकि सूत्रके द्वारा व्याख्यान बाधित होता है परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती, यह वचन अप्रमाण नहीं है। फिर भी यहाँ दोनों उपदेशोंका कथन करना चाहिये। क्योंकि दोनोंमें अमुक कथन सूत्रानुसारी है इसके ज्ञान कराने का कोई साधन नहीं है।

उपशमसम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाका काल अधिक है अथवा वहाँ अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाके कारणभूत परिणाम नहीं होते। इससे प्रतीत होता है कि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानु-बन्धी चतुष्ककी विसंयोजना नहीं होती। फिर भी यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना होती है यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिये क्योंकि परम्परासे यह उपदेश चला आता है।

(क० पा० भाग २, पृ० ४१७-१८)

इससे वीरसेन स्वामीकी या जयधवलाकी प्रामाणिकतापर प्रकाश पड़ता है।

२ स्थितिविभक्ति—

चूर्णिसूत्रमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण सत्तर कोडाकोडी सागर कही है। इसकी व्याख्यामें जयधवलामें कहा है कि यह कथन एक समय-प्रबद्धकी अपेक्षा है, नाना समयप्रबद्धकी अपेक्षा नहीं है यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है इसका प्रमाण यह है कि जो कार्मण वर्गणास्कन्ध अकर्म-रूपसे स्थित हैं वे मिथ्यात्व आदि कारणोंसे मिथ्यात्व कर्मरूपसे एक साथ परिणत होकर जब सम्पूर्ण जीव प्रदेशोंसे सम्बद्ध हो जाते हैं तब उनकी एक समय अधिक

सात हजार वर्षसे लेकर क्रमसे सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति देखी जाती है इससे जाना जाता है कि यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है ।

क्योंकि महाबन्धमें कहा है कि मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट आबाधा सात हजार वर्ष है और आबाधासे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्म निषेक हैं ।

(क पा, भाग ३, पृ १९४-१९५)

इस तरह जयधवलामें चूर्णिसूत्रगत कथनका आशय सप्रमाण उद्घाटित किया है ।

जयधवलाका पूर्वार्ध ही वीरसेन स्वामीके द्वारा रचित है । उत्तरभाग जिसमें करीब दस अधिकार आते हैं वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन स्वामीने रचा है । अत पूर्वभागमें जितना प्रमेय चर्चित है उत्तरभाग विषय बहुल होते हुए भी सैद्धान्तिक गुत्थियोंके रहस्य के उद्घाटन से प्राय वैसा परिपूर्ण नहीं है । स्वामी जिनसेनने सम्बद्ध विषयका जो कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें चर्चित है, बराबर खुलासा किया है, किन्तु गुरु जैसी बात नहीं है । अत आगेके विषय-परिचयकी जानकारी कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके विषय परिचयसे कर लेना चाहिये उसीका व्याख्यान और उपादान उसमें है ।

रचयिता वीरसेन और जिनसेन

धवलाके पश्चात जयधवलाकी रचना हुई है, यह बात जयधवलाकी प्रशस्तिसे तो प्रमाणित होती है, साथ ही जयधवलासे भी प्रमाणित है । जयधवलाके प्रारम्भमें ही मतिज्ञान और अवधिज्ञानका कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इनके लक्षण जिस प्रकार वर्गणा[1] खण्डमें या उनके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहे हैं, वैसा ही कथन कर लेना चाहिये । वर्गणाखण्ड पाँचवाँ खण्ड है । पाँच ही खण्डोंपर वीरसेनने जयधवलाकी रचना की थी । अत उक्त उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धवलाकी रचना कर चुकनेके पश्चात् ही वीरसेनने जयधवलाकी रचनामें हाथ लगाया था, किन्तु उसे वह अधूरी ही छोड कर स्वर्ग-वासी हो गये । उसकी पूर्ति उनके अन्यतम सुयोग्य शिष्य जिनसेनने की । जयधवलाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमें श्रद्धावनत हृदयसे लिखते हुए जिनसेनने भूतकालकी क्रिया 'आसीत'का प्रयोग किया है, जो इस बातका

---

१ 'खिप्पोग्गहादीणमत्थी जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ वि परूवेदव्वो' [illegible]

—क. पा., [illegible]

२ 'एदेसिं तिण्हं णाणाणं लक्खणाणि जहा पयडि अणुओगद्दारे परूविदाणि [illegible] [illegible] १७ ।

सूचक है कि उनके गुरुका स्वर्गवास हो चुका था। अपने को उनका शिष्य घोषित करते हुए जिनसेनने अपने सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला[1] है, जिससे ज्ञात होता है कि जिनसेन अविद्धकर्ण थे अर्थात् कानछेदन का संस्कार होनेसे पहले ही उन्होंने गृहवास छोड़ दिया था और गुरुके पास रहकर विद्याध्ययनमें लग गये थे अतः उनके कान ज्ञान शलाकासे बींधे गये थे। वह बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्होंने बाल्यावस्था से ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था। वे न तो अति सुन्दर थे और न अति चतुर ही फिर भी सरस्वतीने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय ग्रहण किया। बुद्धि, शम और विनय ये तीन उनके नैसर्गिक गुण थे। वे शरीरसे अवश्य कृश थे, किन्तु तपसे कृश (कमजोर) नहीं थे। शारीरिक कृशता कृशता नहीं है। जो गुणों से कृश है वही वास्तवमें कृश है।'

जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणकी[2] प्रशस्तिमें लिखा है कि जैसे हिमालयसे गंगाका, सर्वज्ञसे दिव्यध्वनिका और उदयाचलसे भास्करका उदय होता है, वैसे ही वीरसेनसे जिनसेन का उदय हुआ।

इन्हीं जिनसेनने वीरसेनके द्वारा प्रारब्ध जयधवलाको पूर्ण किया।

जयधवला टीकाके अन्तःपरीक्षण से भी यह निर्णय नहीं किया जा सका, कि गुरु और शिष्यमेंसे किसने कितना भाग रचा था। इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचना चातुर्यका अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने ज० ध०की प्रशस्तिमें लिखा[3] है कि 'गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके लिखे जानेपर, उसको

---

१ 'तस्यशिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेन समिद्धधीः।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका।
स्वयंवरीतिकामेव श्रौति मालामयूयुजत् ॥२८॥
येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखण्डितम्।
स्वयंवर विधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥
यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनि।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥
धी शमोविनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः।
सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥३१॥
य कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणे।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृश. कृश ॥३२॥'

२ 'अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात् सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनि नु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥'
—उ० पु० प्र० १

३ 'गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥[illegible]॥'

देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको उसने [जिनसेनने] पूरा किया।'

इससे केवल इतना ही व्यक्त होता है कि पूर्वार्धकी रचना गुरुने की और उत्तरार्धकी रचना शिष्यने। किन्तु ग्रन्थका पूर्वभाग कहाँ तक माना जाये, यह निर्णीत नही होता। जिनसेनने अपनी प्रशस्तिमें जयधवला टीकाको ६० हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है तथा उसे तीन स्कन्धोमें विभाजित किया[1] है—प्रदेश-विभक्तिपर्यन्त प्रथम स्कन्ध है, सक्रम, उदय और उपयोग दूसरे स्कन्धमें सम्मिलित हैं। और शेष भाग तीसरा स्कन्ध है।

मोटे तौरपर ६० हजार श्लोक प्रमाणको तीन भागोंमें विभाजित किया जाये, तो एक-एक स्कन्ध बीस-बीस हजार प्रमाण होता है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार[2] में लिखा है कि प्रारम्भकी चार विभक्तियोंकी बीस हजार श्लोक प्रमाण रचना करनेके पश्चात वीरसेन स्वामीका स्वर्गवास हो गया। अत शेष भागकी ४० हजार श्लोक प्रमाण टीकाकी रचना जयसेन (जिनसेन)ने की। अत इन्द्रनन्दिके कथनानुसार सक्रमसे पहलेका विभक्ति पर्यन्त भाग वीरसेन स्वामीने रचा था। यद्यपि गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साढ़े छब्बीस हजार श्लोक प्रमाण बैठता है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दिने जयधवलाकी प्रशस्तिके उक्त कथनके आधारपर ही मोटे तौरपर स्कन्धोंके प्रमाणकी परिगणना की है।

संक्रमसे पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग बहुवाक्य भी है अत जिनसेन स्वामीके कथनानुसार उसे पूर्वार्ध भाग माना जा सकता है। उक्त दोनों आचार्योंके उल्लेखोंका समन्वय करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है।

अन्य व्याख्यानाचार्योंका उल्लेख एव उपसहार

जयधवलामें कुछ अन्य व्याख्यानाचार्योंके भी व्याख्यान उल्लिखित हैं। एक स्थानपर लिखा है— यह उच्चारणाचार्य' अभिप्राय है, परन्तु अन्य व्याख्याना

---

१ 'षष्ठिरेवसहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणत ।
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वश ॥१९॥
विभक्ति प्रथमस्कन्धो द्वितीय संक्रमोदयौ ।
उपयोगश्च शेषस्तु तृतीय स्क ध इष्यते ॥१०॥'

—ज० ध० प्र०।

२ 'जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणा विभक्तीनाम्। १८२।
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनाया संयुतांविरच्य दिवम्।
यातस्तत पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रै समापितवान्।
जयधवलैव षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥१८४॥—श्रु तावo।

चार्य इस प्रकार कहते हैं[1]।

इन व्याख्यानाचार्योंका मत किन्हीं विषयोंमें यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य-से भिन्न था। लिखा है—'यह सच है कि पूर्वोक्त व्याख्यान इस सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें तथा जघन्यस्थिति और जघन्य अद्धाच्छेदमें भेद कथन करनेके लिए व्याख्यानाचार्योंने यह व्याख्यान किया है।[2]

आगे लिखा है कि यह उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये अल्पबहुत्वकी संदृष्टि है। अब चिरन्तन व्याख्यानाचार्यके अल्पबहुत्वको कहते हैं[3]।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट होता है कि जयधवलाकारके समक्ष अनेक उच्चा-चार्योंके व्याख्यान उपस्थित थे। इनमें कई उच्चारणाचार्योंकी व्याख्याएँ अति-प्राचीन भी थी। सम्भवतया उनका नाम ज्ञात न होनेसे इनमेंसे कुछको चिरन्तन व्याख्यानाचार्यकी संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार जयधवला-टीकामें अनेक प्राचीन व्याख्याओंके समाविष्ट होनेसे मूल्य विषयसे भी अधिक विषय अंकित करनेका प्रयास किया गया है।

तृतीय परिच्छेद

छक्खंडागमकी अन्य टीकाएँ

वीरसेन स्वामीकी प्रसिद्ध धवलाटीकाके अतिरिक्त 'छक्खंडागम' पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें इन समस्त टीकाओंका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दने परिकर्मटीका, शामकुण्डने पद्धतिटीका, तुम्बलूराचार्यने चूडामणिटीका, वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति और सुप्रसिद्ध तार्किक [4]समन्तभद्रने संस्कृतटीका लिखी हैं। इन्द्रनन्दिने बताया है—

इस प्रकार व्याख्यान क्रमको प्राप्त होता हुआ छक्खंडागम रूप सिद्धान्त

---

१ 'एसो उच्चारणाइरियाणमहिप्पाओ। अण्णे पुणवक्खाणाइरिया एवं भणंति।'—क० पा०, भा० ३, पृ० २२३।

२ भा० ३, पृ० २९१।

३ 'एसा उच्चारणप्पाबहुअस्स संदिट्ठी। संपहि चिरन्तणवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअं वत्तइस्सामो।'—भा० ३, पृ० ४३२।

१ कालान्तरे तत- [illegible] (?) तार्किकार्कोऽभूत ॥१६७॥
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्थ सोऽप्यधीत्य त द्विविधम्।
सिद्धान्तमत षट्खण्डागमगतखण्ड[illegible] पुन ॥१६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।
विरचितवानति सुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम ॥१६९॥—श्रुतावतार

गुरुपरम्परासे आता हुआ अति तीक्ष्णबुद्धिशाली शुभनन्दि और रविनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ। भीमरथि और कृष्णमेखला नामकी नदियोंके मध्यदेशमें, सुन्दर, उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली नामक विख्यात ग्राममें बप्पदेव-गुरुने उन दोनों मुनियोंके समीप उस समस्त सिद्धान्तका विशेष रूपसे श्रवण किया। अनन्तर बप्पदेव गुरुने छ खण्डोंमें-से महाबन्धको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंपर व्याख्या-नामक टीका लिखी।

'छक्खंडागम' की व्याख्या पूर्ण होनेके पश्चात 'कसायपाहुड' पर साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका प्राकृतभाषामें लिखी।

इस प्रकार उक्त दोनों मूलागम ग्रन्थों पर विभिन्न टीकाओंका उल्लेख केवल श्रुतावतारों में प्राप्त होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य और उनकी टीकाका निर्देश नहीं किया है। तथा इन्द्रनन्दिने महाबन्ध पर रचित जिस सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिकाको तुम्बुलूराचार्यकी कृति कहा है, उसे उन्होंने शामकुण्डाचार्यकी ही कृति बतलाया है।

अब इन टीकाओंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत किया जाता है—

कुन्दकुन्दकृत 'परिकम' नामक ग्रन्थ

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको जान कर कुण्डकुन्दपुरमें श्रीपद्मनन्दि मुनिने छ खण्डोमें-से आदिके तीन खण्डोपर बारह हजार प्रमाण परिकम नामक ग्रन्थ रचा। कुण्डकुन्दपुरके यह [1]श्रीपद्मनन्दि मुनि प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ही ज्ञात होते हैं कुन्दकुन्दपुर ग्रामके निवासी होनेसे वह इसी नामसे विख्यात हुए। इनके द्वारा रचित समयपाहुड, पवयणसार, पञ्चात्थिकाय, णियमसार, अट्ठपाहुड आदि अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु छक्खंडागम पर उनके किसी व्याख्या ग्रन्थका अन्यत्र संकेत प्राप्त नहीं है।

वीरसेन स्वामीकी धवला टीकामें अनेक स्थानो पर परिकम नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है और उससे अनेक उद्धरण भी दिये गये हैं। किन्तु यह परिकर्म नामक ग्रन्थ किसके द्वारा रचा गया था इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है और न उसे आगम ग्रन्थकी टीकारूप ही बतलाया गया है। धवलाटीका-में उसके उल्लेखोकी बहुलता देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि शायद वह परिकम इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट टीका ग्रन्थ ही तो नहीं है अत हम धवला

---

१ श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द.।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजातसुचारणर्द्धि' ॥'

—शिलालेख नं० ४२, ४३, ४७, ५०

टीकाओंके [illegible] उद्धरणोंको देखकर [illegible] अनुमान [illegible] हैं जिनसे परिकर्म [illegible] विषयका आभास मिलता है।

परिकर्मका सबसे अधिक उल्लेख वीरसेनके द्रव्यप्रमाणानुयोग अनुयोगद्वार की धवलाटीकामें मिलता है। इस अनुयोगमें जीवोंकी संख्याका कथन है।

> 'जम्हि जम्हि अणंताणंतयं मग्गिज्जदि तम्हि तम्हि
> अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणंतयस्सेव गहणं'
> इदि परियम्म वयणादो जाणिज्जदि अजहण्णमणुक्कस्स
> अणंताणंतस्सेव गहणं होदित्ति। [षट्खं०, पु० ३ पृ० १९]

'जहाँ जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तका ही ग्रहण होता है', परिकर्मके इस वचनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें अजघन्यानुत्कृष्ट अनन्तानन्तका ही ग्रहण है।'

> 'जहण्ण अणंताणंतं वग्गिज्जमाणे जहण्ण अणंताणंतस्स हेट्ठिमवग्गणट्ठाणेहिंतो
> उवरि अणंतगुणवग्गट्ठाणाणि गंतूण सव्वजीवरासिवग्गसलाया उप्पज्जदि'
> त्ति परियम्मे वुत्तं।' [पु० ३, पृ० २४]

' जघन्य अनन्तानन्तका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर जघन्यअनन्तानन्तके नीचेके वर्गस्थानोंसे ऊपर अनन्तगुणे वर्गस्थान जाकर समस्त जीवराशिकी वर्गशलाका उत्पन्न होती है', ऐसा परिकर्ममें कहा है।

अणंताणंतविसये अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणंतेणेव गुणगारेणभागहारेणविहो-दव्व' इति परियम्म वयणादो। (पु०३ पृ० २५)

अनन्तानन्तके विषयमें गुणकार और भागहार अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तरूप ही होना चाहिये, इस प्रकार परिकर्मका वचन है।

ण च एदं वक्खाणं 'जत्ति याणि दीवसायररूवाणि जम्बूदीव छेदणाणि च रूवाहियाणि' त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झदित्ति।—पु० ३, पृ० ३६।

और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने 'छेद हैं उतने रज्जुके अर्धच्छेद हैं, परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता।'

'जं तं [illegible] ओहाण [illegible] परियम्मे ज़ुत्त।'—पु० ३, पृ० १२४।

'जो [illegible] है उसका कथन परिकर्ममें है।'

'जम्हि जम्हि असंखेज्जासंखेज्जयं मग्गिज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्णमणु-क्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जस्सेव गहणं [illegible] इदि परियम्मवयणादो।—पु० ३, पृ० १२७

'जहाँ जहाँ असंख्यातासंख्यात देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात

संख्यात अर्थात् मध्यम असख्यातासख्यातका ही ग्रहण होता है ऐसा परिकर्मका वचन है।

'अट्ठरूव वग्गिज्जमाणे वग्गिज्जमाणे असंखेज्जाणि वग्गट्ठाणाणि गंतूण सोहम्मीसाण विक्खभ सुई उप्पज्जदि। सा सइ वग्गिदा णेरइय विक्खभसुई हवदि। सा सइ वग्गिदा भवणवासिय विक्खभसूई हवदि। सा सइ वग्गिदा घण गुलो हवदि' त्ति परियम्मवयणादो पदरंगुलाण वग्गमूलस्स गहण ण हवदि किंतु सूचि अगुलवग्गमूलस्सेव गहण होदि त्ति अण्णहा घणगुलविदिय वग्गमूलस्स अणुप्पत्तीदो' ।—पृ० १३४ 'आठका उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए असख्यात वर्गस्थान जाकर सौधर्म और ऐशान सम्बन्धी विष्कम्भ सूची उत्पन्न होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर नारकसम्बन्धी विष्कम्भ सूची होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर भवनवासी देवो सम्बन्धी विष्कम्भ सूची प्राप्त होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर घनांगुल होता है' परिकर्मके इस कथनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें घनागुल और प्रतरागुलके वर्गमूलका ग्रहण नही किया है किन्तु सूच्यगुलके वर्गमूलका ही ग्रहण किया है।'

'रज्जू सत्त गुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदर, सेढीए गुणिदजगपदर घणलोगो होदि' त्ति परियम्म सुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसंगादो च।—पु० ४, प० १८४। 'राजूको सातसे गुणा करने पर जगश्रेणी होती है, जग श्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगप्रतर होता है और जगप्रतरको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर घनलोक होता है' इस सब आचार्योंसे सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका भी प्रसग प्राप्त होता है।

'सव्वोहि उक्कस्सखेत्तुप्पायणट्ठ परमोहि उक्कस्सखेत्त तिस्से चेव चरिमअण-वट्टिद गुणगारेण आवलियाए असखेज्जदि भाग पदुप्पणेण गुणिज्जदित्ति के वि भणति। तण्ण घडदे, परियम्मे वुत्त ओहिणिबद्ध खेत्ताणुप्पत्तीदो।'—पु० ९, पृ० ४८।

सर्वावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न उसके ही अन्तिम अनवस्थित गुणकारसे गुण किया जाता है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योकि ऐसा मानने पर परिकर्म में कहे हुए अवधिसे निबद्ध क्षेत्र नहीं बनते।'

'जदि सुवण्णाणिस्स विसओ अणतसंखा होदि तो जमुक्कस्स संखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्से त्ति परियम्मे वुत्तं तं कधं घडदे ?—पु० ९, पृ० ५६।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त संख्या है तो चौदह पूर्वोका विषय उत्कृष्ट संख्यात है। ऐसा जो परिकर्ममें कहा है, वह कैसे घटित होगा।

'एदे जोगाविभागपडिच्छेदा च परियम्मे वग्गसमुट्ठिदा त्ति वण्णिदा'—पु० १०, पृ० ४८३।

परिकर्ममें इन योगोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्गसमुत्थित बतलाया है।

'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासकणिज्ज पदेसो णाम परमाणु सो जम्हि परमाणुम्हि समवेद भावेण णत्थि सो परमाणु अपदे सओत्ति परियम्मे वुत्तो। तेण ण णिरवयवत्तं गम्मदे।'—पु० १३ पृ० १८।

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नही होता' इसप्रकार परमाणुओंका निरवयवपना परिकर्ममें कहा है।' ऐसी आशंका नही करना चाहिये, क्योंकि प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नही है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है। अत परमाणु निर्-अवयव है यह बात परिकमसे नही जानी जाती।'

सव्वजीवरासिदो लद्धिमक्खरमणतगुणमिदि कुदो णव्वदे ? परियम्मादो। त जहा—सव्वजीवरासी वग्गिज्जमाणा अणत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वपोग्गलदव्व पावदि। पुणो सव्वपोग्गलदव्व वग्गिज्जमाण वग्गिज्जमाण अणत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वकाल पावदि। पुणो सव्वकाला वग्गिज्ज-माणा वग्गिज्जमाणा अणतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वागाससेढि पावदि। पुणो सव्वागाससेढी वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणतलोगमेत्त वग्गण-ट्ठाणाणि उवरि गतूण धम्मत्थिय अधम्मत्थियदव्वाणमगुरुअलहुअगुण पावदि। पुणो धम्मत्थिय-अधम्मत्थियअगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणंत-लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणं पावदि। पुणो एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणत लोगमेत्तवग्गणट्ठा-णाणि उवरि गंतूण सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स लद्धिक्खर पावदित्ति परियम्मे भणिदं' —पु० १३, पृ० २६२-६३।

'सब जीव राशिसे लब्ध्यक्षर ज्ञान अनन्तगुणा है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है। परिकर्ममें कहा है—'सब जीव राशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व पुद्गल-द्रव्योंका प्रमाण प्राप्त होता। पुन सर्व पुद्गल द्रव्यके प्रमाणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व काल का प्रमाण आता है। पुन सर्वकालके प्रमाणका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान आगे जाकर समस्त आकाश श्रेणी प्राप्त होती है। पुन. सर्व आकाश श्रेणीका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान जानेपर आगे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

द्रव्यके अगुरुलघुगुण प्राप्त होते हैं। पुनः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अगुरु-लघुगुणोंका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर एक जीवका अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। पुनः एक जीवके अगुरुलघुगुणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है।'

'संखेज्जावलियाहि एगो उस्सासो, सत्तुस्सासेहि, एगो थोवो होदित्ति परि-यम्मवयणादो।' —पु० १३, पृ० २९९।

'संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास होता और सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है, ऐसा परिकर्मका वचन है।

'असखेज्जमेत्त कुदो णव्वदे ? परियम्मादो।' तं जहा परियम्मे भणिदं।

यहाँ गुणकारका प्रमाण असंख्यात लोक है, यह (पु० १४, पृ० ३७४-७५।)

किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है।

धवलाटीकामें पाये जानेवाले परिकर्मके उक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय जैन गणित है, इसीसे उसके प्राय सभी उद्धरण गणनासे सम्बद्ध पाये जाते हैं। सम्भवतया गणनाके प्रसंगसे ही उसमें ज्ञानोंकी भी चर्चा आयी है, क्योंकि श्रुतज्ञान और उसके एक भेद लब्ध्यक्षर श्रुत ज्ञानके प्रमाणका भी उसमें वर्णन है। तथा वह प्राकृत गद्य रूपमें रचा गया था किन्तु 'अपदेस णेव इदिए गेज्झं' उद्धरणसे यह भी व्यक्त होता है कि उसमें गाथा भी होनी चाहिये। और ग्रन्थोंका वर्णन भी होना चाहिए।

जैसा कि हम लिख आये हैं कि परिकर्मके अधिकतर उद्धरण जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वारकी धवला टीकामें हैं। द्रव्य प्रमाणमें गुण स्थानों और मार्गणास्थानोंमें जीवोंकी संख्या बतलायी गयी है। उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि उसमें भी गति आदिकी अपेक्षा जीवोंकी संख्याका प्रतिपादन होना चाहिये।

किन्तु 'परिकर्म' षट्खण्डागमकी व्याख्या है, इसका कोई निर्देश धवलाकारने नहीं किया है। बल्कि एक दो स्थानो पर 'परिकर्मसूत्र' करके उसका निर्देश किया है, जिससे ऐसा आभास आता है कि वह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते हैं जिनसे विपरीत भावना व्यक्त होती है।

वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकार के सूत्र नम्बर २०८ की व्याख्या दृष्टव्य है। सूत्रमें कहा गया है कि 'एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिसे संख्यात भाग वृद्धि होती है।' इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असंख्यात कहनेसे उत्कृष्ट संख्यातका ग्रहण करना चाहिये। इसपर शंका की गयी कि सीधे उत्कृष्ट संख्यात न कहकर और सूत्रको बड़ा करके 'एक कम जघन्य

खुद्दाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें बादर पृथिवी-कायिक आदि जीवोंकी उत्कृष्ट ? स्थिति बतलानेके लिए एक सूत्र आता है—'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' अर्थात् अधिक से अधिक से अधिक कर्मस्थिति प्रमाण काल तक जीव बादर पृथिवी-कायिक, आदिमें रहता है ।

इस सूत्रकी धवलामें लिखा है—'सूत्रमें जो 'कम्मट्ठिदी' शब्द आया है उससे सत्तर कोड़ा-कोडी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये। फिर लिखा है—'के वि आइरिया सत्तरि सागरो इस कोडाकोडिमावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे बादर पुढवि कायादीण कायट्ठिदी होदित्ति भणंति। तेसिं कम्मट्ठिदि ववएसो कज्जे कारणोवयरादो। एद वक्खाणमत्थित्ति कध णव्वदे ? कम्मट्ठिदिमावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे बादरट्ठिदि होदि त्ति परियम्म वयणण्णहाणुववत्तीदो। तत्थ सामण्णे बादरट्ठिदी होदि त्ति ज वि उत्त तो वि पुढविकायदीण वादराण पत्तेयकायट्ठिदी घेत्तव्वा, असखेज्जासेज्जाओ ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्मि बादरट्ठिदि परूवणादो।"—पु० ७ पृ० १४५।

'किन्ही आचार्योंका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोड़ा-कोड़ीको आवलीके असख्यातवें भागसे गुणा करने पर बादर पृथिवीकायिक आदि जीवोंकी कायस्थितिका प्रमाण होता है। किन्तु उनकी कर्मस्थिति यह संज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है।

शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर बादर स्थिति होती है, परिकर्मके ऐसे वचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नही सकती है। वहाँ पर (परिकर्म में) यद्यपि सामान्यसे 'बादर स्थिति होती है, ऐसा कहा है तो भी प्रत्येक बादर पृथिकायादिकी काय स्थिति ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि सूत्रमें (षट्ख०) बादर स्थितिका कथन असख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।'

इस उद्धरणमें जो खुद्दाबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शंका की गयी है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन नहीं बन सकता था उससे प्रकृत विषय पर थोड़ा विशेष प्रकाश पड़ता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्म सूत्रोंके व्याख्यानसे सम्बन्ध अवश्य था।

उक्त चर्चा जीवट्ठाणके कालानुगमकी धवला टीकामें प्रकारान्तरसे आई है उसमें लिखा है—

'के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो बादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयार-मवलंबिय बादरट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदि सण्णमिच्छंति, तण्ण घडदे,

'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय इति न्यायात्। ण च बादराणं सामण्णेण वुत्तकालो बादरेगदेसाणं बादर पुढविकाइयाणं पि सो चेव होदि त्ति, विरोहा।'—पु० ४, पृ० ४०३।

कोई आचार्य 'कर्मस्थितिसे बादर स्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है' इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके बादर स्थिति की ही कर्मस्थिति संज्ञा मानते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि 'गौण और मुख्यमें से मुख्यका ही ज्ञान होता है' ऐसा न्याय है। तथा बादरोंका सामान्य रूपसे कहा हुआ काल बादरोंके एक देश बादर पृथिवीकायिकों का भी, वही हो नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विरोध आता है।''

खुद्दाबन्धमें भी उक्त चर्चा 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' सूत्रकी व्याख्यामें आयी है। और जीवट्ठाणके कालानुगममें भी 'उक्कस्सेणकम्मट्ठिदी ॥१४४॥ सूत्रकी व्याख्यामें उक्त चर्चा निबद्ध है। उक्त चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित बादरस्थिति 'कमस्थिति' से उत्पन्न हुई है। अर्थात् षट्खण्डागमके सूत्रमें आगत 'कर्मस्थिति' शब्दसे ही परिकर्मगत बादरस्थिति उत्पन्न हुई है। अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि षटखण्डागम सूत्रोंके आधार पर ही परिकर्म रचा गया किन्तु एक उद्धरणसे षट्खण्डागमसे परिकर्ममें कहीं कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है।

यही चर्चा जीव ट्ठाणके कालानुगममें एक जीवकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रियकी उत्कृष्ट स्थिति बतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आयी है। लिखा है—

कम्मट्ठिदी आवलियाए असंखेज्जदि भागेण गुणिदे बादरट्ठिदी जादा त्ति परियम्म वयणेण सह एदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति णेदस्स ओवक्खत्तं, सुत्ताणुसारि परियम्म वयण ण होदि त्ति तस्सेव ओवक्खत्तप्पसंगा।'—पु० ४, पृ० ३९०।

'कर्मस्थितिको आवली के असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर बादर स्थिति उत्पन्न हुई है परिकर्मके इस वचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पड़ता है इसलिए इस सूत्रको अवक्षिप्तताका प्रसंग नहीं आता। किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रानुसारी नहीं है इसलिए परिकर्मकी ही अवाक्षिप्तताका प्रसंग आता है।'

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि उक्त चर्चामें भी परिकर्मके वचनको सूत्रानुसारी नहीं होनेके कारण अवक्षिप्तताका प्रसंग दिया है। इसीका परिहार खुद्दाबन्धकी धवलाके उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेनस्वामीने ही स्वयं कर दिया है। उन्होंने लिखा है—

''वहाँ (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'बादरस्थिति होती है' ऐसा कहा है तथापि पृथिवीकायादि बादरोंके अलगकी कायस्थिति होनी चाहिये क्योंकि सूत्र

(षट्खण्ड०) में असंख्यात उत्सार्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण बादर स्थिति कही है। अर्थात् परिकर्ममें जो बादरस्थिति कही है, वह पृथिवीकायिक, आदि प्रत्येक बादर-कायिक जीवकी है और जीवट्ठाण के कालानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ११२ में जो बादर स्थिति, कही है वह बादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है अस्तु। किन्तु धवलामें ही परिकर्मको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

'जत्तियाणि दीवसागर रूवाणि जम्बूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुछेदणाणि' त्ति परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे? एदेण सह विरुज्झदि, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदि। तेणेदस्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वं ण परियम्मस्स, तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। ण सुत्त विरुद्ध वक्खाणं होदि, अइप्पसंगादो।'—पु० ४, पृ० १५६।

शंका—'जितनी द्वीप और सागरोंकी संख्या है, तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजुके अर्धच्छेद होते हैं' इस परिकमके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होता?

समाधान—भले ही परिकर्मके साथ उक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता हो किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता। इस कारणसे इस व्याख्यानको स्वीकार करना चाहिए, परिकर्मको नहीं, क्योंकि परिकर्मका व्याख्यान सूत्रविरुद्ध है। और जो व्याख्यान सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है।'

उक्त उद्धरणमें परिकमको जो सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है। इससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोंके व्याख्यान रूप होनेका ही समर्थन होता है। प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है। किन्तु जीवट्ठाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगमकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है। लिखा है—

'ण च एद वक्खाणं जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जंबूदीवच्छेदणाणि च रूवाहियाणि त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झइ, रूवेण अहियाणि रूवाहियाणि त्ति अग्गहणादो।'—पु० ३, पृ० ३६।

'और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपों और सागरोंकी संख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्धच्छेद हैं' इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहां 'रूपाधिकका' अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नहीं लिया, किन्तु रूपोंसे अधिक रूपाधिक लिया है।'

उक्त उद्धरणोंसे जो तथ्य प्रकाशमें आते हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि परिकर्मकी रचना षट्खण्डागमके सूत्रोंके बाद हुई थी और वह अमुक अंशमें उनका व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होते हुए भी निर्दोष व्याख्यान नहीं था। तथा '[illegible]

परिकर्म' का अनेक व्याख्याकारोंने अपनी व्याख्याओंका उसे आधार बनाया था अथवा उसकी सहायता लेकर अपनी व्याख्याएँ लिखी थीं। धवलाकार वीरसेन स्वामीके सम्मुख वह मौजूद था और उन्होंने भी उसका साहाय्य ग्रहण किया था। अतः इन्द्रनन्दिने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थकी रचना करनेका निर्देश किया है वह यथार्थ प्रतीत होता है यहाँ एक बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन्द्रनन्दिने परिकर्म ग्रन्थको पद्धति, व्याख्या, टीका आदि शब्दोंसे नहीं कहा है जबकि अन्य व्याख्यात्मक ग्रन्थोंको इन शब्दोंसे अभिहित किया है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि परिकर्म ग्रन्थोंका आधार षट्खण्डागम सूत्र थे किन्तु वह केवल एक व्याख्यारूप ग्रन्थ नहीं था। धवलाके उद्धरणोंसे भी इसी बातका समर्थन होता है।

इन्द्रनन्दिने परिकर्मका रचयिता पद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दको बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द दि० जैन परम्पराके एक ख्यात नाम प्राचीन आचार्य थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी भाषा प्राकृत है और परिकर्म भी प्राकृत भाषामें ही रचा गया था यह बात उसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होती है। किन्तु कुन्दकुन्दके सभी उपलब्ध ग्रन्थ गाथाबद्ध हैं, जबकि परिकर्म गद्य प्राकृतमें रचा गया प्रमाणित होता है। इसका कारण परिकर्मका व्याख्यात्मक होना सम्भव है। जैसे आचार्य यतिवृषभने कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी थी शायद उसी तरह कुन्दकुन्दने षट्खण्डागमके आधारपर परिकर्मसूत्र नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उससे धवलाकारने एक उद्धरण इसप्रकार दिया है

'अपदेस णेवइंदिए इंदिए गेज्झ' इदि परमाणूण णिरवयवत्त परियम्मे वुत्ता' पु १३, पृ १८ अपदेसणेव इंदिए गेज्झं' यह उद्धरण गाथाका अंश प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दके नियमसारकी एक[1] गाथाका जो परमाणुका स्वरूप बतलाती है द्वितीय चरण 'णेव इंदिए गेज्झं' है किन्तु उसके पहले जो 'अपदेसं' शब्द है वह उसमें नहीं है। अत सम्भव है कि जिस गाथाका उक्त अंश है वह गाथा नियमसार वाली गाथासे भिन्न हो। किन्तु उससे दो बातें प्रमाणित होती हैं, प्रथम परिकर्ममें गाथाओंका अस्तित्व और दूसरे परिकर्मका कुन्दकुन्द रचित होना।

पञ्चास्तिकायके अंग्रेजी अनुवादकी अपनी प्रस्तावनामें डा० चक्रवर्तीने तथा प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्यायेने कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शती सुनिश्चित किया और नन्दिसंघकी पट्टावलीके आधार पर

---

१ 'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं तं परमाणू वियाणाहि ॥२६॥'

पुष्पदन्तका समय ईसाकी दूसरी शतीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है ऐसी स्थितिमें कुन्द-कुन्दका समय ईसाकी दूसरी शतीके मध्यसे पहिले नहीं होना चाहिए।

शामकुण्डकृत 'पद्धति'—

इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका षट्खण्डागमके पाँच खण्डोंपर तथा कसाय-पाहुडपर रची गयी थी। यह टीका पद्धति रूप थी। जयधवलाके अनुसार सूत्र-वृत्ति इन तीनोंके विवरणको 'पद्धति[1] कहते हैं। तदनुसार यह पद्धति नामक टीका कसायपाहुडके गाथा सूत्रों और वृत्तिका विवरण रूप होनी चाहिये इसी षट्खण्डागमके भी किन्ही सूत्रों और वृत्तिको लेकर यह रची गयी होगी। शायद वह वृत्ति परिकर्म सूत्र ही हों। इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गयी थी। और उसकी भाषा प्राकृत, संस्कृत और कन्नडी तीनों मिश्रित थीं।

जयधवलामें वृत्तिसूत्र, टीका, पंजिका, और पद्धतिका लक्षण है तथा जय-धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें एक श्लोक द्वारा कषाय-प्राभृत विषयक साहित्यका विभाग इस प्रकार किया है—'सूत्र[2] तो गाथा सूत्र है, चूर्णिसूत्र वार्तिक अथवा वृत्तिरूप हैं टीका श्री वीरसेन रचित जयधवला है और शेष या तो पद्धति रूप हैं या पंजिकारूप हैं।' यहाँ बहुवचनान्त 'शेषा' शब्दसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि कषाय-प्राभृत पर अन्य भी अनेक विवरणात्मक ग्रन्थ थे जिन्हें जयधव-लाकारने पद्धति या पंजिका कहा है। उन्हींमें शामकुण्डाचार्य रचित 'पद्धति' भी हो सकती है। किन्तु धवला या जयधवलामें इस टीकाका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

साथही सामकुण्ड नामक किन्हीं आचार्यका पता भी अभी तक नहीं लग सका है। शामकुण्ड नाम कुन्दकुन्दका ही प्रतिपक्षी ज्ञात होता है। दोनोंके अन्तमें कुण्ड या कुन्द शब्द आता है। और साम (श्याम) कुन्दका विपरीत है—कुन्द सफेद होता है और श्याम कालेको कहते हैं। अत' कुन्दकुन्द नामको सामने रख कर ही 'सामकुण्ड' नामकी उपज होना सम्भव है।

तुम्बुलूराचार्य कृत 'चूडामणि'—

इन्द्रनन्दिने शामकुण्डाचार्य रचित पद्धतिके पश्चात् तुम्बुलूराचार्य रचित 'चूडामणि' नामकी व्याख्याका उल्लेख किया है और बतलाया है कि यह व्याख्या षट्खण्डागमके प्रथम पाँचखण्डोंपर तथा कषाय-पाहुड पर रची गयी थी और उसका प्रमाण चौरासी हजार था। उसकी भाषा कनड़ी थी। इसके अतिरिक्त

---

१ सुत्तवित्ति विवरणाए पद्धई ववएसादो।'—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२ 'गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम्।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति पंजिका ॥३९॥'

उन्होंने छठे खण्डपर सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका भी लिखी थी।' इस प्रकार उनकी कुल रचनाओंका प्रमाण ९१ हजार था। धवला और जय धवलामें इनका कोई उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

भट्टाकलंक नामक एक विद्वान्ने अपने कर्णाटक 'शब्दानुशासनमें कनड़ी भाषामें रचित चूडामणि नामक महाशास्त्रका उल्लेख किया है। किन्तु उसे तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान बतलाया है तथा उसका परिमाण भी ९६ हजार बतलाया है। इससे इतना तो प्रमाणित होता है कि कनड़ी भाषामें एक चूडामणि नामक वृहत्काय व्याख्या थी। किन्तु वह व्याख्या इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोंकी या भट्टाकलंकके निर्देशानुसार तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी थी, यह विचार-ग्रस्त है।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र[2] तत्त्वार्थ सूत्रको कहा गया है। विद्यानन्दि[3]ने 'तत्त्वार्थ-शास्त्र' नामसे उसका उल्लेख किया है। किन्तु आदरणीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने लिखा[4] है—तत्त्वार्थ सूत्रका अर्थ तत्त्वार्थ विषयक शास्त्र होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-शास्त्र और तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र कहलाता है किन्तु आपने यह भी लिखा है कि पुष्पदन्त भूतबल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त शास्त्रको भी तत्त्वार्थ शास्त्र या तत्त्वार्थ महाशास्त्र कहा जाता है। इन सिद्धान्त शास्त्रों पर तुम्बुलूराचार्यने कनड़ी भाषमें चूडामणि नामकी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतारमें ८४ हजार और कर्नाटक शब्दानुशासमें ९६ हजार श्लोकोका बतलाया है।'

कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको उद्धृत करके मुख्तारसाहबने लिखा है—'इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि चूडामणि जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ तत्त्वार्थ महाशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे सिद्धान्तशास्त्र और तत्त्वार्थ दोनोंकी एकार्थताका समर्थन होता है। और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत कषाय प्राभृत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र कहलाते थे। तत्त्वार्थ विषयक होनेसे उन्हें तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थसूत्र कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।'

---

१ 'न चैषाभाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमित ग्रन्थसन्दर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य।'

—'इन्स्क्रिपशन्स ऐट श्रवणबेल्गोला' से उद्धृत।

२ 'प्रमाणनयैरधिगम' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्।'—न्या० दी०।

३. 'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्र'—त० श्लो० वा०, पृ० ४।

'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ'—आ० प० अन्तिम श्लोक।

४. जै० सा० इ० वि० प्र०।

षट्खण्डागम पुस्तक[1] की अपनी प्रस्तावनामें प्रोफेसर हीरालालजीने भी लिखा— इन ग्रन्थोंकी भी तत्त्वार्थ महाशास्त्र नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रन्थोंकी चूडामणि टीकाको अकलंकदेवने तत्त्वार्थ-महाशास्त्र-व्याख्यान कहा है' (पृ ५१)।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम लाक्षणिक होते हुए भी उस तत्त्वार्थसूत्रके लिए ही रूढ हुआ है जिसको उमास्वामीकी कृति माना जाता है। उसे ही तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया है। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता जिसमें उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया हो। अतएव, चूँकि इन्द्रनन्दिने उक्त सिद्धान्तग्रन्थों पर तुम्बुलूराचार्यकी चूडामणिनामक टीकाका निर्देश किया है जो कनडीमें थी। और शब्दानुशासनमें तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी चूडामणि नामक कनडी टीकाका निर्देश किया गया है, अत सिद्धान्त-ग्रन्थोंको तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहते थे, यह निष्कर्ष निकालना हमें उचित प्रतीत नहीं होता।

कर्नाटक शब्दानुशासनकी रचना १६०४ ई० में हुई है। और उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके ऊपर धवला-जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा उनके आधार पर श्री गोम्मटसारकी रचना होनेपर हम सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी चर्चाका अवरोध पाते हैं जबकि तत्त्वार्थ सूत्रकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। कर्नाटक शब्दानुशासनकी तरह न्यायदीपिका में भी तत्त्वार्थसूत्रको महाशास्त्र कहा है। न्यायदीपिका ईसाकी १५ वीं शतीके लगभग रची गयी थी अत उस कालमें तत्त्वार्थ-महाशास्त्रके रूपमें तत्त्वार्थसूत्रकी ही ख्याति थी, सिद्धान्त ग्रन्थोंका तो नाम भी उसकाल में सुनायी नहीं देता। अत कर्नाटक शब्दानुशासनके रचयिताने चूडामणिको तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान समझा हो, ऐसा भ्रम होना सम्भव है। अस्तु कर्नाटक शब्दानुशासनके उक्त उल्लेखसे यह प्रमाणित होता है, कि कनडी भाषामें एक व्याख्या-ग्रन्थ था और उस व्याख्या-ग्रन्थका इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-ग्रन्थ होना सम्भव है।

किन्तु श्रीयुत् गोविन्द 'पै' का मत है कि भट्टाकलंकके द्वारा कर्नाटक शब्दानुशासनमें स्मृत चूडामणि तुम्बुलूराचार्य कृत चूडामणि नहीं हो सकता, क्योंकि पहलेका परिमाण ९६ हजार बतलाया गया है और दूसरेका ८४ हजार। अत पै महाशयका कहना है कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारकी 'कर्णाट भाषया कृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम्' पंक्ति अशुद्ध प्रतीत होती है। इसमें आये हुए 'चूडामणि

---

१ 'श्रीमद्देव एण्ड तुम्बुलूराचार्य'—जैन एण्टि०, जि० ४ नं० ४।

पदको अलग न पढ़कर आगेके 'व्याख्या' पदके साथ मिलाकर 'चूडामणि व्याख्या' पढ़ना चाहिए। तब उस पंक्तिका अर्थ होगा—तुम्बुलूराचार्यने कनडीमें चूडा-मणिकी एक बड़ी टीका बनायी।'

तब प्रश्न होता है कि चूडामणि ग्रन्थ किसका था जिसकी व्याख्या तुम्बुलूरा-चार्यने बनायी[1] ? श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथ-बसदिके स्तम्भपर अंकित शिलालेखमें चूडामणि नामक काव्यके रचयिता श्री वर्द्धदेवका स्मरण किया है और उनकी प्रशंसामें दण्डीकविके द्वारा कहा गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है। यथा—

"चूडामणि कवीनां चूडामणि नाम सेव्य काव्य कवि ।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्य कीर्ति माहर्तुम् ॥

य एवं मुपश्लोकितो दण्डिना—

जह्नो कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वर ।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं ॥

शिलालेखके इस कथनके साथ कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको मिला कर श्री पैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीवर्द्धदेवने तत्वार्थ-महाशास्त्रपर ९६००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक टीका कन्नड भाषामें रची। और तुम्बुलूरा-चार्यने चूडामणिके ऊपर ८४ हजार प्रमाण कन्नड़ टीका और ७००० प्रमाण पंजिका लिखी।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके तुम्बुलूराचार्य विषयक श्लोक कर्णाटक-कविचरिते में उद्धृत हैं और श्री पैं ने अपने लेखमें उन्हें वहींसे उद्धृत किया है।

अत प्रतीत होता है कि श्रीयुत पैं ने इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार नहीं देखा। अन्यथा वे 'चूणामणि-व्याख्या'को समस्त पद न बनाकर उसका 'चूडामणिकी व्याख्या' ऐसा अर्थ न करते। क्योंकि श्रुतावतारमें सिद्धान्त ग्रन्थोंके व्याख्यानोंका कथन किया गया है, जिसमें से एक चूडामणि नामक व्याख्या भी है फिर शिला-लेखमें श्री वर्द्धदेवको चूडामणि नामक काव्यका कर्ता कहा है। चूडामणि नामक कन्नड टीकाका कर्ता नहीं कहा। तभी तो वर्द्धदेवका शिलालेखमें 'कवीनां' चूडामणि लिखा है और प्रसिद्ध कवि दण्डीके द्वारा उनकी प्रशंसा किये जानेसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वर्द्धदेवका चूडामणि काव्य संस्कृतका गौरव रूप था। अत श्री पैं महाशयका उक्त कथन भ्रामक है।

तुम्बुलूर ग्रामके वासी होनेके कारण चूडामणि व्याख्याकार तुम्बुलूराचार्य कहलाते थे उनका असली नाम क्या था यह अज्ञात है। गंगराजके मंत्री तथा सेनापति चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमें, जो ९७८ ई. में कन्नड़ गद्यमें रचा

---

१. जै० शिलालेख सं०, प्र० भा०, पृ० १०२।

गया था, अन्य महान जैनाचार्योंमें तुम्बुलूराचार्यका भी स्मरण किया है अतः यह निश्चित है कि वह ईसाकी दसवीं सदीसे पूर्वमें हुए हैं। इन्द्रनन्दिने उन्हें शामकुण्डाचार्य और समन्तभद्रके मध्यमें रखा है।

समन्तभद्रकृत संस्कृत टीका—

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार तार्किकार्क आचार्य समन्तभद्रने भी षट्खण्डागमके प्रथम पाँच खण्डोंपर ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची थी यह टीका अति सुन्दर मृदु संस्कृत भाषामें थी। तार्किकार्क विशेषणसे यह स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिका अभिप्राय आप्तमीमांसा के स्वयम्भूस्तोत्र आदिके रचयिता प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र से ही है लघु-समन्तभद्रने अष्ट सहस्त्रीके टिप्पणमें समन्त भद्रको तार्किकार्क विशेषणसे ही अभिहित किया है। यथा—

'तदेवं महा महभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनो पलालिता मासमीमांसां।' वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें समन्त भद्रके नामोल्लेख पूर्वक उनके आप्तमीमांसा[1] तथा बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे[2] उद्धरण दिये हैं। किन्तु ऐसा एक भी उल्लेख नही मिलता, जिससे उक्त टीकाका संकेत मिलता हो।

समन्तभद्र कृत गन्धहस्ति-महाभाष्य[3]के भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें उसे तत्वार्थसूत्र अथवा तत्वार्थका व्याख्यान कहा है। उसका परिमाण कही ८४ हजार तो कहीं छियानवे हजार बतलाया है। गन्धहस्ति-महाभाष्य विषयक उल्लेख प्राय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके और उसके बादके हैं। अत जैसे तुम्बुलूराचार्यकी टीकाको भ्रमसे तत्वार्थसूत्रकी टीका समझ लिया गया, कही इसी तरह समन्तभद्रकी षट्खण्डागम सूत्रोपर रचित टीकाको भी तत्वार्थ सूत्रकी टीका तो नही समझ लिया गया। ८४ और ९६ हजार सख्या किसी न किसी रूपमें ४८ हजारसे सम्बद्ध है एक उसके अकोंका व्यतिक्रम रूप है तो दूसरी उसका द्विगुणित रूप है। किन्तु यह सब तो अनुमान मात्र है। यथार्थमें तो उक्त उल्लेखोंके सिवाय ऐसे पुष्ट प्रमाणोका अभाव है जिनके आधार पर उक्त टीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्यका अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता हो।

---

१ 'तथा समन्तभद्रस्वा मिनाप्युक्तम्—'स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेष व्यञ्जको नय।'

२ 'तहा समन्तभद्द समाणि वि उत्त—विधिविषक्त प्रतिषेधरूप। षट्खं, पु० ७, पृ ९९।

३ तत्त्वार्थ सूत्र व्याख्यान गन्धहस्ति प्रवर्तक। स्वामी समन्तभद्रो ऽभूद्देवागम निदेशकः।' —वि० कौरव तत्त्वार्थ व्याख्यान षण्णवति सहस्र गन्धहस्तिमहाभाष्य विधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वादविद्यापति समन्तभद्र '॰ जै. सा इ वि प्र ७ पृ २७७।

बप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्ति—

इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतारके जिन श्लोकोंमें बप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख है उनका अर्थ समझनेमें कुछ भ्रम हुआ है। श्लोक इस प्रकार हैं—

> श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥१७३॥
> अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेष पञ्चखण्डे तु।
> व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य ॥१७४॥
> षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य—
> प्राभृतकस्य च षष्ठि सहस्रग्रन्थ प्रमाणयुताम् ॥१७५॥
> व्यलिखत् प्राकृत भाषा रूपां सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।
> अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥१७६॥

पहली पंक्तिका अर्थ स्पष्ट है—'शुभनन्दि और रविनन्दिके समीप में समस्त सिद्धान्तको सुन कर बप्पदेवगुरुने'।

दूसरी पंक्तिका अर्थ—छैखण्डमेंसे महाबन्धको पृथक् करके, शेष पाँच-खण्डोंमें।

तीसरी पंक्तिका अर्थ—व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डोंको मिलाकर

चौथी तथा पाँचवी पंक्ति—इस प्रकार निष्पन्न हुए छहों खण्डोंकी तथा कषाय-प्राभृतकी साठ हजार ग्रन्थ प्रमाणवाली।

छठी-सातवीं पंक्ति—प्राकृत भाषारूप प्राचीन व्याख्याको लिखा और महा-बन्ध पर आठ हजार पाँच ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या लिखी।

अतः बप्पदेव टीकाका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति नहीं था। किन्तु भूतबली-पुष्पदन्त प्रणीत पाँच खण्डोंमें बप्पदेवने जो छठा खण्ड मिलाया उसका नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति था। इसी व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचा था। श्रुतावतारमें लिखा है—

> "व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खण्डतस्ततः तस्मिन्।
> उपरितमबन्धनाद्यधिकारैः रष्टादश विकल्पैः ॥१८०॥
> सत्कर्म नाम धेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
> इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थ सहस्रैः द्विसप्तत्या ॥१८१॥
> प्राकृत संस्कृत भाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्"

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने आगेके निबन्धन आदि अट्ठारह अधिकारोंके भेदसे सत्कर्म नामक छठें खण्डकी रचना की और उसे पहले के षट्खण्डमें मिलाया इस तरह छै खण्डोंकी बहत्तर हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत संस्कृत मिश्रित धवला नामक टीका लिखी।'

उक्त दोनों उद्धरणोंकी दो पंक्तियाँ विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य हैं—

"व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठं खण्डं च ततः संक्षिप्य"

और

'सत्कर्मनामधेय षष्ठ खण्ड विधाय संक्षिप्य'

जैसे बप्पदेव गुरुने पाँच खण्डोंमें व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये और फिर उन पर टीका रची। वैसे ही वीरसेन स्वामीने व्याख्या प्रज्ञप्तिके आधारपर सत्कर्म नामक छठे खण्डका निर्माण करके उसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये तब उनपर धवला नामक टीका लिखी।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि महाकर्मप्रकृति प्राभृतके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे और उन्होंने भूतबलि पुष्पदन्तको पढ़ाया था। महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतमें चौबीस अनुयोगद्वार थे, उनमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोंके आधारपर भूतबलीने षट्खण्डागमकी रचनाकी थी। किन्तु वीरसेन स्वामीने षटखण्डागमके पाँच खण्डोंमें एक सत्कर्म नामक स्वरचित छठा भाग मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये हैं और इस सत्कर्म नामक छठें खण्डमें महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके अठारह अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त कथन है जिन्हे महाकर्मप्रकृति-प्राभृत-ज्ञाता भूतबलीने भी छोड़ दिया था ऐसी स्थितिमें यह जाननेका कौतूहल होना स्वाभाविक है कि वीरसेन स्वामीने उन अट्ठारह अनुयोगोंका परिचय किस आधारसे दिया गया ? उनके समय तक महाकर्मप्रकृति प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे उस जिज्ञासाका समाधान हो जाता है। व्याख्या-प्रज्ञप्तिको पा करके उन्होंने अपने 'सत्कर्म'की रचनाकी थी। अतः व्याख्या प्रज्ञप्तिमें अवश्य ही शेष अट्ठारह अनुयोगोंका कथन होना चाहिए।

धवला टीकामें दो स्थानोंपर उद्धरण देते हुए व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख किया है एक[1] स्थानपर यह शका की गयी है कि तिर्यग्लोकका अन्त कहाँ होता है ? उत्तर दिया गया है कि तीनो वातवलयों के बाह्य भागमें तिर्यग्लोकका अन्त होता है। इसपर पुनः शंकाकी गयी कि यह कैसे जाना ? तो उत्तर दिया गया कि 'लोक वातवलयोंसे प्रतिष्ठित है, इस व्याख्या प्रज्ञप्तिके वचन से जाना।

दूसरी जगह एक लम्बा उद्धरण इस प्रकार दिया है—

'जीवा ण भंते ! कदि भागावसेसियंसि याउगंसि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधता बंधंति ? गोदम ! 'जीवा दुविहा पण्णत्ता संखेज्जवस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव।

---

१. कम्हि तिरिय लोगस्स पज्जवसाणं ? तिण्हं वादवलयाणं बहिर भागे। तं कधं जाणिज्जदि 'लोगो वादपदिट्ठदो' त्ति वियाह पण्णत्ति वयणादो।—षट्खं०, पु० ४।

तत्थ जे ते असंखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसम्मि आउगम्मि परभवियं आउगं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते संखेज्जवस्साउआ ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउआ णिरुवक्कमाउआ चेव। तत्थ जे ते णिरुवक्कमाउआ ते तिभागावसेसम्मि आउगम्मि परभवियं आउगं कम्मं णिबंधंता बंधंति। तत्थ जे ते सोवक्कमाउआ ते सिया तिभागत्ति भागावसेसम्मि सिया आउगम्मि परभवियं आउग कम्मं णिबंधंता बंधंति।' एदेण वियाह-पण्णत्ति सुत्तेण सह कथं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुध भूदस्स आइरिय भेएण भेदमावण्णस्स एयत्ता भावादो।'—षट्खं० पु० १० पृ. २३७ २३८।

शंका—'हे भगवन्! आयुमें कितने भाग शेष रहनेपर जीव पर-भविक आयु कर्मको बांधते हुए बांधते हैं? हे गौतम जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—संख्यात् वर्षायुष्क और असंख्यात् वर्षायुष्क। उनमें जो असंख्यात् वर्षायुष्क हैं वे आयुके छै मास शेष रहने पर-भविक आयुको बांधते हुए बांधते हैं। और जो संख्यात् वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकारके कहे गये हैं—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमा-युष्क। उनमें जो निरुपक्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक आयुकर्म को बांधते हैं। और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं, वे कथंचित् त्रिभाग कथंचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथंचित् त्रिभाग-त्रिभागका शेष रहनेपर परभव सम्बन्धी आयुकर्मको बांधते हैं।' इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं आता?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस सूत्रसे व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न है, आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त है अत इन दोनोंमें एकत्वका अभाव है। धवलाके उक्त दोनों उद्धरण यद्यपि व्याख्या प्रज्ञप्ति विषयक हैं तथापि दोनों दो विभिन्न दृष्टिकोणोंको उपस्थित करते हैं। पहले उद्धरणमें वीरसेन स्वामी व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनको अपनी बातके समर्थनमें प्रमाण रूपसे उपस्थित करते हैं। दूसरे विस्तृत उद्धरणके सम्बन्धमें वे व्याख्या-प्रज्ञप्तिको षट्खण्डागम सूत्रसे भिन्न और आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त कहते हैं। आचार्य भेदसे मतलब यहाँ आचार्य परम्पराका भेद ज्ञात होता है क्योंकि यों तो भिन्न आचार्यों के द्वारा रचित सभी शास्त्रोंमें आचार्य भेद पाया जाता है। अत. उनका यह कथन सम्भवतया श्वेताम्बरीय पंचम अंग व्याख्या-प्रज्ञप्तिके विषयमें जान पड़ता है क्योंकि उसमें उक्त प्रकारसे भगवान् महावीर और गौतमके मध्य हुए प्रश्नोत्तरोंके रूपमें विवेचन मिलता है। साथ ही उक्त उद्धरणकी शैली और भाषा भी श्वेताम्बरीय आगमोंके अनुरूप अर्धमागधी है। अर्धमागधीमें सप्तमीका एकवचन 'म्मि' होता है यथा—'छम्मा-सावसेसंमि आउगंमि।' किन्तु शौरसेनी आगमोंकी भाषा है 'म्मि' होता है।

किन्तु उक्त उद्धरण उपलब्ध व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें नहीं पाया जाता। हाँ इससे मिलता जुलता उद्धरण श्वेताम्बरीय [1]प्रज्ञापना सूत्रमें अवश्य मिलता है।

अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दो स्थानोंपर व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकका निर्देश किया है। श्वेताम्बरीय व्याख्या-प्रज्ञप्ति[2]में उन दोनों निर्देशो जैसा कथन तो नही मिलता किन्तु अन्य रूपमें इस प्रकारके कथनका आभास मिलता है।

ऐसी स्थितिमें व्याख्या प्रज्ञप्तिकी स्थिति चिन्तनीय है।

धवलाका दूसरा उद्धरण तो अवश्य ही ऐसे व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे सम्बद्ध है, जो भिन्न परम्पराका होना चाहिये। किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया वाक्य उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिका होना चाहिये जिसे वह मान्य करते थे और वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति शायद वही हो जिसे पाकर उन्होंने सत्कर्मकी रचना की। और जिसे पाँच खण्डोमे मिलाकर वप्पदेवगुरुने छै खण्ड निष्पन्न किये। शायद उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी रचना वप्पदेवने की हो। किन्तु वह व्याख्या प्रज्ञप्ति षट्खण्डागमकी टीका नही थी।

एक बात और भी चिन्तनीय है। इन्द्रनन्दिने लिखा है—

'व्यलिखत प्राकृत भाषा रूपा सम्यक पुरातन व्याख्याम्'

इसका सीधा सा अथ होता है—'प्राकृत भाषा रूप प्राचीन व्याख्याको सम्बद्ध रूपमें लिखा' लिखानेका अथ रचा भी हो सकता है किन्तु व्याख्याके साथ लगा 'पुरातन' विशेषण बतलाता है कि वप्पदेवगुरुने किसी प्राकत भाषा रूप

---

१ 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ण भंते ! कइ भागावसेसाउया पर भवियाउयं पकरंति ? गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्ख जोणिया दुविहा पन्नत्ता तं जहा—सखेज्जवस्साउया असखेज्ज वस्साउया। तत्थ ण जे ते असंखेज्जवस्साउया ते नियमाच्छम्मासावसे साउया पर भवियाउयं पकरंति। तत्थ ण जे ते संखिज्जवस्साउया ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउया य निरुववक्कमाउया य। तत्थ ण जे ते निरुवक्कमा ते नियमा ति भागावसेसाउया पर भवियाउय पकरंति। तत्थ ण जे ते सोवक्कमाउया ते ण सिय ति भागावसेसा परभवियाउय पकरति सिय तिभागा तिभागे परभवियाउयं पकरति। सिय तिभाग तिभागावसेसाउया परभवियाउय पकरति। एवं मणुस्सा व।'
—प्रज्ञा०, पद ६।

२ 'व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभंगे वाय्पोरौदारिक वैक्रियिक तैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि'—पृ० १५३ १५४ एवं हि व्याख्या प्रज्ञप्ति दण्डकेषूक्तम्—विजयादिषु देवा मनुष्य भवमास्कन्दन्त कियतीर्गत्यागति विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतम प्रश्ने भगवतोक्त जघन्येनैको भव आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौ भवौ।'
—त वा, पृ २४५।

प्राचीन व्याख्याको सम्यक्रूपसे लिखा था। इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है।

इन्द्रनन्दिने जहाँ अन्य टीकाकारोंके लिये 'रचितानि' रचिता, 'व्याख्यामकृत' 'विरचितवान्', जैसे रचनापरक शब्दोंका प्रयोग किया है वहाँ अकेले बप्पदेवके लिये 'अलिखत्' शब्दका प्रयोग किया है।

यह भी अभिप्राय निकल सकता है कि बप्पदेवने किसी पुरातन व्याख्याको प्राकृत भाषामें लिखा हो और ऐसी स्थितिमें तुम्बुलूराचार्यके द्वारा कर्नाटक भाषामें रची गयी महती चूडामणि व्याख्या की ओर ही दृष्टि जाती है। क्योंकि वही सबसे विशाल टीका थी और पुरातन भी थी।

धवला टीकामें तो वप्पदेव और उनकी किसी टीकाका संकेत तक नहीं है। किन्तु जयधवलामें वप्पदेवके द्वारा लिखित उच्चारण-वृत्तिका निर्देश मिलता है। यह उच्चारण-वृत्ति यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंपर थी। वीरसेन[1] स्वामीने भी बप्पदेवके साथ 'लिहिद' (लिखित) शब्दका ही प्रयोग किया है, साथ ही उन्होंने अपने द्वारा लिखी हुई उच्चारणाका निर्देश किया है। किन्तु वीरसेन स्वामीने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंपर कोई उच्चारण-वृत्ति रची थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता ऐसी स्थितिमें 'रचित'के स्थानमें 'लिखित' शब्दका प्रयोग अवश्य ही कुछ विशेष अर्थ रखता है।

धवला टीकासे इस बातका कोई आभास नहीं मिलता कि वीरसेन स्वामीके सामने धवला टीका लिखते समय षट्खण्डागम सूत्रोंकी कोई टीका उपस्थित थी। परिकर्मका उपयोग तो उन्होंने किया है। किन्तु यह नही लिखा कि यह सूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ है। इस परिकर्मके सिवाय अन्य किसी ऐसे ग्रन्थका या ग्रन्थसम्बन्धी संकेतका विवरण नही मिलता जिसे व्याख्या ग्रंथ कहा जा सकता है।

दो स्थलोंपर उन्होने 'केसु वि सुत्तपोत्थएसु'[2] लिखकर यह सूचित किया है कि उनके सामने षट्खण्डागम सूत्रोंकी अनेक प्रतियाँ थी, जिनमें कुछ पाठ भेद थे। किन्तु व्याख्या पुस्तकोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

हाँ, अपने कथनकी पुष्टि करते हुए उन्होंने 'आचार्य परम्परासे आगत उपदेशसे ऐसा जाना' या 'सूत्रसे अविरुद्ध आचार्यवचनसे ऐसा जाना' इस प्रकार

---

१ 'चुण्णि सुत्तम्मि बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए च अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण—।' क पा, भा १, पृ १९८।

२ षट्खं पु ८, पृ ६५। पु० १४, पृ १२७।

अनेक स्थलोपर कहा है। एक [1]स्थानपर ऐसा भी लिखा है कि 'आचार्य परम्परा से आगत सूत्रसे अविरुद्ध व्याख्यानसे ऐसा जाना।'

सत्कर्मपंजिका—

धवलागत षटखण्डागमके अंतिम खंड सत्कमपर एक[2] पंजिका है जिसका पूरा नाम सत्कम-पंजिका। यह पंजिका मूडबिद्रीके उसी सिद्धान्तबसति मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे प्राप्त हुई है, जिससे धवला, जयधवला और महाबंधकी ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी। वहाँ महाबन्धकी जो ताडपत्रीय प्रति है उसके प्रारम्भके २७ पत्र इसी सत्कम पंजिकाके हैं। यह पंजिका सत्कमके अन्तर्गत अट्ठारह, अनुयोग द्वारोमें से केवल आदिके चार ही अनुयोगद्वारों पर है। चौथे उदय अनुयोग द्वारके अन्तमें 'समाप्तोयमुद्ग्रन्थ' ऐसा लिखा है। फिर कन्नडी पद्योमें एक छोटी सी प्रशस्ति है।

यह पंजिका किसने कब रची थी इसका कोई संकेत अभी तक प्राप्त नही हो सका। यह भी ज्ञात करनेका कोई साधन नही मिला कि रचयिताने इतना ही अंश रचा था या पूरे सत्कमपर अपनी पंजिका-वृत्ति रची थी।

पंजिकाके आदिमें जो गाथा है उसका भी केवल उत्तरार्द्ध ही प्राप्त हो सका है—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचि (जि) यरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥१॥'

इसमें सत्कमपर पंजिका रूपसे 'सुमहत्थ' विवरण लिखनेकी प्रतिज्ञाकी गयी है। यहाँ विवरणका समुहत्थ" विशेषण उल्लेखनीय है। सप्ततिका-की प्रथम गाथामें भी सप्तप्तिकाकारने सिद्धपएहिं महत्थं' लिखकर अपनी कृतिको 'महाथ' बतलाया है। और चूर्णिकारने महार्थका अर्थ—'निपुण, गम्भीर दुरवगाह पयत्थ वित्थार विसय' किया है। अर्थात जिसमें दु खसे अवगाहित करने योग्य पदार्थोंका विस्तार हो उसे महत्थ या महाथ कहते हैं।

चन्द्रर्षिने भी अपने पञ्चसंग्रहकी प्रथम गाथाके उत्तरार्धमें उसे 'महत्थ' कहा है और उसका अर्थ किया है—'जिसमें महान् अर्थ हो उसे महार्थ कहते है।' उक्त गाथांशसे चन्द्रर्षिकी गाथाका उत्तरार्ध मेल खाता है—

'वोच्छामि पंचसंग्रहमेयं महत्थं जहत्थं च ॥१॥'

अत पंजिकाकारने जो अपने पंजिकारूप विवरणको 'महाथ' ही नहीं सुमहाथ

१ कुदो णव्वदे ? आइरियपरंपरा गय सुत्ताविरुद्धवक्खाणादो'—पु १३, पृ ३१० ।

२ इसका उपलब्ध भाग षट्खण्डागमके १५ के खण्डके साथ उसके अन्तमें मुद्रित हो गया है।

कहा है उससे प्रकट होता है कि उनका यह पंजिका रूप विवरण दुर्-अवगाहित पदार्थोंके विस्तार को लिये हुए है। और उससे यह भी प्रकट होती है कि पंजिका काम पूरे सत्कम पर उसे रचनेके विचारसे ही आरम्भ किया था। वह अपने इस महान कार्यको पूर्ण करनेमें सफल हुए अथवा मध्यमें ही किसी दैवी विघ्नके कारण उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया, यह भी निर्णयात्मक रूपसे कह सकना सम्भव नहीं है। किन्तु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यदि यह पंजिका पूर्ण उपलब्ध हो सके तो वह भी एक महत्त्वकी कृति मानी जाये गी।

वीरसेनस्वामीके अनुसार वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंको खोलनेवाले विवरणको पंजिका कहते हैं। पजिका रूप विवरणमें पूरे ग्रन्थोंका व्याख्यान नहीं होता किन्तु उसके कठिन और गम्भीर स्थल होते हैं, उनका खुलासा होता है। तदनुसार पजिकाकारने वीरसेन स्वामी कृत सत्कमके वाक्योंको ले कर उसका खुलासा किया है। वह खुलासा केवल शब्दार्थरूपमें अथवा पदच्छेद रूपमें नहीं किया है किन्तु वाक्यसे सम्बद्ध विषयके सम्बन्धमें विवेचन भी किया है और उसके अवलोकनसे प्रकट होता है कि पजिकाकार अपने विषयके अधिकारी विद्वान थे और उन्हें एतत्सम्बद्ध प्राप्त विषयका अच्छा अनुगम था।

उनकी यह पजिका धवलाकी तरह ही प्राकृत गद्य में है। और उसीकी शैलीको लिये हुए है यथा स्थान मतान्तरोंका भी निर्देश है और मतान्तर तो मौलिक प्रतीत होते हैं।

पजिकाको आरम्भ करते हुए लिखा है—

महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके कृति, वेदना, आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें से कृति और वेदना अधिकारका वेदना-खण्डमें, स्पर्श, कम, प्रकृति और बन्धन अनुयोग-

---

१ 'वित्तिसुत विसम पय भंजियाए पंजिय ववएसादो।'—क० पा० छ० १४।

२ महाकम्म पयडिपाहुडस्स कदि वेदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणात्ति आणि आणियोगद्दाराणि वेदणाखडम्मि, पुणो प [पस्स-कम्म पयडि बधणत्ति] चत्तारि अणिओगद्दरेसु तत्थबंधाबंधणिज्जणामाणि योगेहिंसह वग्गणाखंडम्मि, पुणो बधविधाण णामाणियोगद्दारो महाबंधम्मि, पुणो बंधगाणियोगो खुद्दाबधम्मि च सप्पबंचेण परू विदाणि। पुणो तेहिंतोसेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परू विदाणि। तोवि तस्साइ गंभारत्तादो अत्थ विसम पदाणमत्थे थोरत्थयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो। तं जहा—

तत्थ पढमाणिओगद्दारस्स णिबंधण [स्स] परूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेओ छव्विह सरूवेण परूविदो। तत्थ तव्विदस्स दव्वणिक्खेवस्स सरूव परूवणट्ठं आइरियो एवमाह—'—षट्खं० पु० १५, सं० प० पृ० १।

द्वारोंमेंसे बन्ध तथा बंधनीय अनुयोगद्वार वर्गणाखण्डमें, बन्ध-विधान नामक अनुयोगद्वार महाबंधमें और बन्धक-अनुयोगका खुद्दाबन्धमें विस्तारसे प्ररूपण किया। इनके सिवाय शेष सब अट्ठारह अनुयोगद्वारोंका कथन सत्कर्ममें किया। फिर भी उसके अत्यन्त गम्भीर होनेसे विषम पदोंका अर्थ पंजिका रूपसे कहेंगे।'

इस प्रकार पंजिकाकारनेका पूरे षटखण्डागममें छहों खण्डोंमें महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वारमें से किस खण्डमें किस-किस अनुयोगद्वारका कथन किया गया यह बतलाते हुए, अपनी पंजिकाका आरम्भ किया है जो इस प्रकार है—

उनमेंसे, प्रथम अनुयोगद्वार निबन्धका कथन सुगम है। किन्तु उसका निक्षेप छ प्रकारसे कहा है उनमें से तीसरे द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपका कथन करनेके लिए आचार्यने ऐसा कहा है। उसका अर्थ कहते हैं।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है। सत्कर्मके उपक्रम अनुयोगमें वीरसेन स्वामीने लिखा है कि इन चारों ही बन्धनोपक्रमोंका अर्थ जैसा सतकम्म-पाहुडमें कहा है वैसा ही कहना चाहिये। इस वाक्यमें आगत सतकम्म-पाहुडपर प्रकाश डालते हुए पंजिकामें लिखा है—सतकम्म-पाहुड[1] कौन सा है? महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे दूसरा अधिकार वेदना है। उसके सोलह अनुयोगद्वारोंमें से चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार द्रव्य विधान, काल विधान और भाव-विधान हैं। तथा महाकमप्रकृति-प्राभृतका पाचवां अधिकार प्रकृति नामक है। उसमें चार अनुयोग द्वार हैं उसमें आठो कर्मो के प्रकृति-सत्व, स्थिति-सत्व, अनुभाग सत्व और प्रदेश सत्वका कथन करके उत्तर प्रकृति सत्व, उत्तर स्थिति सत्व, उत्तर अनुभाग-सत्व और उत्तर प्रदेस-सत्वको सूचित किया है। इनको सत कम्मपाहुड कहते हैं। तथा मोहनीयकी सत्ताका कथन करनेवाला कसायपाहुड भी है। इस तरह धवलामें निर्दिष्ट सतकम्म-पाहुडका भी खुलासा पंजिकाकारने किया है।

---

१ सत कम्मपाहुड णाम कथ (द) मं? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसमणियोगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम। तस्स सोलस अणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम सत्तमाणि योगद्दाराणि दव्वकाल भावविहाण णामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्म पयडी-पाहुडस्स पंचमो पयडी णामहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठ कम्माण पयडि ट्ठिदि, अणुभागप्पदेस सत्ताणि परूविय सुचिदुत्तर पयडि ट्ठिदि अणुभागप्पदेस सत्तत्तादो। एवाणि सत्त (संत) कम्मपाहुडं णाम। मोहणीयं पडुच्च कसाय पाहुड पि होदि।'—स० पं०, पृ० १८।

'एत्थ बोयगो भणादि' 'ण एस दोसो' जैसे वाक्यों के द्वारा पंजिकाकारने आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र शंका-समाधान भी किया है। और 'केइ एवं भणंति' 'तत्थ एक्कुवदेसेण' 'अण्णेक्कुवदेसेण' जैसे पदों और वाक्योंके द्वारा विवक्षित चर्चाओंके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके मत दिये हैं। तथा उन मतोंमें कौन ठीक है? इसका उत्तर भी धवलाकारकी तरह ही दिया है—'उपदेश[1] प्राप्त करके दोनोंमें से एकका निर्णय कर लेना चाहिए। एक जगह लिखा[2] है—'इन दोनो उपदेशोंमें कैसे वैशिष्ट्य नही है? नही जानता, उसे श्रुतकेवली जानते हैं। किन्तु मुझे बुद्धिसे ऐसा प्रतिभासित होता है।

एक जगह लिखा[3] है—'ये परस्परमें विरोधी दो प्रकारका स्वामित्व क्यों कहा? अभिप्रायान्तर बतलानेके लिए कहा है और फिर उस अभिप्रायान्तरको स्पष्ट भी किया है।

एक जगह लिखा[4] है कि—'भोगभूमिमें कदलीघात होता है एक मतसे ऐसा है। और भोगभूमिमें आयुका घात नही होता ऐसा कहनेवाले आचार्योंके मतसे पूर्वप्रकार है।' यहाँ भोगभूमिमें कदली-घात मरणवाला हमारे देखनेमें अन्यत्र नही आया सत्कर्मके उदयानियोगद्वारमें प्रदेशोदयके स्वामित्वका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—'उत्कृष्ट[5] स्वामित्वमें पाँचों सहननोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय किसके होता है? संयमासंयम-गुणश्रेणि, संयम-गुणश्रेणि और अनन्तानुबन्धी विसंयोजन गुणश्रेणि, इन तीनोंको एकत्र करके स्थित संयतके जब पूर्वोक्त तीनों गुणश्रेणि शीर्ष उदयको प्राप्त होते हैं तब पाँचो सहननोंका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।'

---

१ 'तदो उवदेसं लद्धूण दोण्हमेक्कदर णिण्णओ कायव्वो'—सं॰ ५, पृ॰ ४। २ 'एदेसिं दोण्ह मुवदेसेसु कधं मविसिट्ठमिदि चेण्णेदं जाणिज्जदे, तं सुदकेवली जाणिज्जदि। किंतु पढमंतर परूवणाए विदियतर परूवणं अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि।'—पृ॰ २४।

३ 'किमट्ठं दुप्पयार सामित्तमण्णोण्ण विरोधं परूविद? अभिप्पायतरपयासणट्ठं परूविदत्तादो'—पृ॰ ८०।

४ 'भोगभूमीए कदली घातमत्थि त्ति अभिप्पायेण। तं चेदं। पुणो भोग भूमीए आउअस्स घादं णत्थि त्ति भणंताइरियाणं अभिप्पायण पुव्वं।'—पृ॰ ७८।

५. 'पंचण्हं संघडणाण उक्कस्स पदेसोदओ कस्स? संजमासंजम-संजम-अणंताणुबंधि विसंयोजण गुणसेढीओ तिण्णि वि एगट्ठं कादूण ट्ठिदसंजदस्स जाधे पुव्वत्त गुणसेढि सीसयाणि तिण्णि वि उदयमागदाणि ताधे पंचण्हं संघडणाणं उक्कस्सो पदेसोदओ।'—पृ॰ ३०१।

इसकी पंजिकामें लिखा[1] है—'इससे पाँचों संहननों के उदयवाले जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा कथित होता है। तथा वज्रनाराच और नाराच संहननके उदयवाले जीवोंको भी उपशमश्रेणि चढ़ना संभव नहीं है यह भी इससे ज्ञापित कर दिया। यदि ऐसा है तो पूर्वापर विरोध क्यों नहीं आता? नहीं आता, यह आचार्योंके अभिप्रायोंका सूचक होनेसे ग्रन्थान्तर (मतान्तर) है। वह अभिप्राय कहते हैं—इनका उदय पुद्गल-विपाकी है। वे पुद्गल जीवोंके रागद्वेषोंके उत्पादनमें निमित्तभूत शक्तिको उत्पन्न करते हैं। जैसे बाह्य पुद्गलोंके वैसे उपशम श्रेणीमें रागद्वेषको उत्पन्न करानेमें समर्थ नहीं है। अत उनके फलके अभावकी अपेक्षासे उपशमश्रेणिमें उनका उदय नही हैं, यह सूचित किया। अन्य ग्रन्थोंमें प्रदेश-निजरा मात्रकी विवक्षा करके उदय कहा है। अथवा वज्रनाराच और नाराच सहननवालोंके उपशमश्रेणि चढनेकी शक्ति नही है, ऐसा अभिप्राय कहना चाहिये।'

आगे एक जगह पुन इसी बातको दूसरे प्रसगसे इस प्रकार लिखा है—'अन्तिम पाँच सहनन असख्यात गुने हैं। दो प्रकारके संयम गुणश्रेणि शीष और उनसे गुणित अनन्तानुबन्धी विसयोजन गुणश्रेणिशीष, इन तीनोंको एकत्र करके नामकर्म सम्बन्धी अटठाईस अथवा तीस प्रकृतिक स्थानसे भाग देनेपर होता है। दशममोहक्षपक-गुणश्रेणिका ग्रहण क्यो नही किया? इन संहननोंके उदयसहित जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है। इस अभिप्रायसे उसका ग्रहण नही किया। दूसरे और तीसरे सहननवालोंकी उपशान्त-कषाय गुण श्रेणिका ग्रहण क्यो नही किया? जिनके दशन मोहको क्षपण करनेकी शक्तिका अभाव है उनके उपशम श्रेणिपर चढ़नेकी शक्तिके होनेका विरोध ह इस अभिप्रायसे नही किया। यदि ऐसा है तो अनन्तर ही बीती उदीरणास्थान प्ररूपणामें विरोध क्यो नही आता? विरोध तो आता है किन्तु ग्रन्थान्तरका अभिप्राय

---

१ 'एदेण पचण्हं संहडणाणमुदइल्लाण पि उवसमसेढिचडण संभव णत्थि त्ति जाणाविद। जदि एवं [तो] पुव्वावरविरोही (हो) किं ण भवे? ण वा भवे, गंथांतर माइरियाणमभिप्पायाणं सूचयत्तादो। तं कथ? अभिप्पाय उच्चदे—एदेसि मुदयो पोग्गल विवाग करेदि। ते पोग्गला जीवाण रागदोसाणमुप्पयाणणिमित्त सत्तिमुप्पादयंति। जहा बाहिर पोग्गलाण सत्ते वियप्पो (?) तहा उवसमसेढ ए राग दोसमुप्पाएदु ण सक्किज्जदि त्ति। तदो तप्फलाम (भा) वावेक्खाए उदओ उवसम सेढिए णत्थि त्ति सूचिदं। इदरगथेसु पदेसणिज्जरामेत्त विवक्खिय भणिदं। अहवा उवसमसेढि चडणसत्ती एदेसिं णत्थि त्ति एदमभिप्पायमित्थ म (भा) विदव्वं॥'

—सं० पं०, पृ० ७४।

होनेसे दोनोंका ग्रहण करना चाहिये, ऐसा परिहार पहले ही कर दिया है।"[1]

गोम्मटसार[2] कर्मकाण्डके उदय प्रकरणमें नेमिचन्द्राचार्यने भूतबलि तथा यतिवृषभ दोनों आचार्योंके मतसे जो प्रत्येक गुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ बतलायी हैं दोनों ही मतोंके अनुसार उनमें वज्रनाराच संहनन और नाराच संहननका उदय ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक बतलाया है। अत षट्खण्डागम और कसायपाहुड दोनोंके मतोंसे उक्त दोनों सहनन वाले जीव उपशम-श्रेणी चढ़ सकते हैं और जब उपशम-श्रेणी चढ सकते हैं तो दर्शनमोहनीयका क्षपण भी कर सकते हैं। अत पंजिकाकारके द्वारा निर्दिष्ट उक्त मत इन दोनों ग्रन्थोंका तो नहीं जान पडता। यह ग्रन्थान्तर कोई दूसरा ही होना चाहिये। श्वेताम्बर[3] सम्प्रदायमें यद्यपि उक्त दोनों मत मिलते हैं। किन्तु बहुमान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे सहननवाले उपशमश्रेणि नहीं चढ सकते, दिगम्बर परम्पराको जो मत मान्य है उसका उल्लेख वहाँ मतान्तरके रूपमें किया गया है। किन्तु चन्द्रर्षिने पञ्चसग्रहकी[4] स्वोपज्ञ टीकामें केवल इसी मतको मान्य किया है कि दूसरे तीसरे सहननवाला उपशमश्रेणि चढ़ सकता है। उसीके दूसरे टीकाकार मलयगिरि ने ग्रन्थकार चन्द्रर्षिको मान्य मतका निर्देश 'अन्ये' कर के किया है और नही चढ़नेवालों' के मत को मान्य स्थान दिया है। इसीसे यह प्रकट होता है कि सम्प्रदाय-मान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे संहननवाले उप-

१ "पुणोवि अतिम पचसंहडणाणि असंखेज्ज गुणाणि। कुदो ? दुविह सजमगुणसेढिसीसस्स एगव्भहियमणताणुबधि बिंसंयोजयण गुणसेढिसीसयाणित्ति तिण्णिवि एगट्ठं काऊण णाम-कम्मसंबंधीणं अट्ठावीसेण वा तीसेण वा भजिदमेतं होदि त्ति। किमट्ठ दसणमोहक्खवण गुणसेढीण घेप्पदे ? ण, तं खवण(तक्खवण) सत्ती एदेसि संहडणाण उदयसहिदजीवाणं णत्थि त्ति अभिप्पयादो। बिदिय तदियमिदि दोण्हं संहडणाणं उवसतकसायगुणसेढि किं ण गहिदा ? ण, दंसणमोहक्खवणा सत्तिविरहिदाणं उवसमसेढि चडणसत्तीणं संभव विरोहो होदि त्ति अभिप्पाएण। जदि एवं (तो) अणंतएदिक्कंत उदीरणट्ठाणपरूवणाए ण मियूणेण (?) च विरोहो किं ण भवे ? होदि विरोहो, गंथंतराभिप्पाएण दोण्हं पि गहणं कायव्वं इदि पुव्वं चेव परिहार दिण्णत्तादो।"—सं० पं०, पृ० ७९।

२ 'सते वज्ज णारायणारायं' ॥२६९॥'—गो० क०

३ —'अण्णे भणंति' ति संयणो उवसमसेढिं पडिवज्ज इत्ति'—सि० चू०, पृ० ४९। 'अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणी प्रतिपद्यन्ते।' सप्त० टी० पृ० २३३।

४ 'अपूर्वकरण बादर सूक्ष्मोप शान्तेषु प्रत्येकं त्रिशदुदयो भवति, द्वासप्तति भङ्गा; शान्तेषु संहननत्रयस्यैवोदय। पं०स० स्वो० टी० पृ० ११८। अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्य-संहननत्रयान्यतम संहनन युक्ता अपि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, तन्मतेन भङ्गा द्विसप्तति।'—पं० स० टी०, भा० २, पृ० ११५।

हम अंपि नही चढ़ सकते। पंजिकारको भी यही मत मान्य प्रतीत होता है।

रचनाकाल—

जैसा कि प्रारम्भमें लिखा है, पंजिकाके इस अन्त-निरीक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिताको षट्खण्डागम सिद्धान्तका तो अच्छा ज्ञान था ही, साथ ही सत्कर्ममें वीरसेनस्वामी के द्वारा संगृहीत किये गये शेष अनुयोगोंका तथा कसायपाहुड़का भी अच्छा ज्ञान था और उनकी लेखन शैली भी वीरसेन स्वामीसे निम्न स्तरकी नही थी। फिर भी उसे हम वीरसेनस्वामीकी समकक्षता तो नही ही दे सकते। हाँ जयधवलाको पूर्ण करनेवाले जिनसेन की समकक्षता अवश्य दे सकते हैं। इससे ऐसा लगता है कि यह पंजिका वीरसेनके ही किसी शिष्य या प्रशिष्यके द्वारा रचित हो सकती है।

पंजिकामें उद्धरण भी दो तीनसे अधिक नही हैं। उनमें तीन गाथाएँ तो कसायपाहुडकी हैं उनके साथमें 'कसायपाहुडगाथासुत्त' लिखा हुआ है। एक गाथा ऐसी है जो दिगंबर प्राकृत पंचसंग्रह की है। अत इन उद्धरणोंसे भी हमरे उक्त अनुमानको कोई बाधा नहीं आती है।

प्रक्रम अनुयोगके अंत में अल्प-बहुत्वका प्रतिपादन कर के वीरसेन स्वामीने 'एसो णिक्खेवाइरिय उवएसो' लिखकर उसे निक्षेपाचार्य उपदेश बतलाया है उसकी पंजिकामें पंजीकारने लिखा है—[2]स्थिति अनुभागोंमें प्रक्रमित कर्मद्रव्यका अल्प-बहुत्व तो ग्रन्थ सिद्ध होनेसे सुगम है इसलिए उसका कथन न कर के स्थितिनिषेक प्रति प्रक्रमित अनुभागका अल्पबहुत्व निक्षेपाचार्यने ऐसा कहा है।' और लिख-कर निक्षेपाचार्यका कथन बतलाया है फिर उसकी उपपत्ति भी पंजिकाकारने दी है उनका यह सब प्रतिपादन दो पृष्ठसे भी अधिक है। अन्तमें लिखा है—[3]इसप्रकार स्थितिके अनुसार अनुभाग अनंतगुण हीन रूपसे बंधको प्राप्त होते हैं यह निक्षेपाचार्यके वचन सिद्ध हुए' पश्चात् 'सेसाइरियाणमभिप्पायेण' लिखकर शेष आचार्योंका अभिप्राय बतलाया है।' इससे प्रकट होता है कि वीरसेनस्वामीने जिस निक्षेपाचार्यके उपदेशका उल्लेख किया है, पंजिकाकार उसके उपदेशसे भी अच्छी तरह सांगोपांग परिचित थे। जगह-जगह पंजिकामें अपने कथनके समर्थनमें

---

१ पु १५, पृ ४०।

२ 'पुणो ट्ठिदि-अणुभागेसु पक्कमिदकम्मदव्वस्स अप्पाबहुगं गंथसिद्ध सुगममिदि तमरू विय पुणो ठिदिणिसेयप्पडि पक्कमिदाणुभागस्सघाबहुग णिक्खेवाइरियेण एवं परूविदं'—सं पं० पृ १४।

३ 'एव ठिदिमणुसरिण अणुभागा अणंत गुणहीणसरूवेण बज्झंति त्ति णिक्खेवाइरियवयणं सिद्ध'—सं प पृ १७।

'आर्ष' और 'आर्षवचन'का निर्देश किया गया। वातोंसे भी हमारे उक्त अनुमान-का ही समर्थन होता है। वह व्यक्ति कौन हो सकता है, यद्यपि यह कहना शक्य नहीं है। किन्तु धवलाकी प्रशस्तिके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार है—

> वोद्दणराय णरिंदे णरिंद चूडामणिम्हि भुंजते।
> सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि धवला प्रशस्तिकी इससे पूर्वकी गाथाओंमें 'कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिया धवला' लिखकर धवलाकी समाप्तिका काल और जगत्तुंगदेवके राज्यमें धवलाकी समाप्तिका कथन किया जा चुका है। इसीसे उसके पश्चात् ही दूसरे राजाके राज्यका उल्लेख बडा अटपटा लगता है और उसकी संगति बैठानेके लिए यह कल्पना की जाती है। कि जगत्तुंग[1] के राज्यमें धवलाका प्रारम्भ हुआ और नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय (अमोघवर्ष प्र०)के राज्यमें उसकी समाप्ति हुई। किन्तु यह सब उक्त अन्तिम गाथाके आये हुए अतमें 'विगत्ता' शब्दपर ध्यान न देनेका फल है। 'विगत्ता' शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक कृत् धातुसे कृदतमें 'विगत्ता' बनता है। उसका अथ होता काटा हुवा या छिन्न उससे यहां कोई प्रयोजन नही है। अतः 'विगत्ता'के स्थानमें 'विअत्ता' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। उसका अर्थ होता है—व्यक्ता अर्थात् स्पष्ट की गयी। अत नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नरेन्द्रके राज्यकालमें धवला या उसके किसी अशको जिसने व्यक्त किया उसीके द्वारा यह पद्य रचा जान पडता है। और पीछेसे वह मूल प्रशस्तिके अन्तमें जोड दिया गया है। इस तरहकी यह घटना नई नही है। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं।

वीरसेनके शिष्य गुण[2]भद्रके उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें गुणभद्र शिष्य लोकसेनकी प्रशिस्त जुड़ गयी है। जिनसेनके पाश्र्वाभ्युदयका निर्देश हरिवंश-पुराण[3]में है जो शक सं० ७०५ रचा गयाथा और पार्श्वाभ्युदय[4]के अन्तमें अमोघ-वर्षका उल्लेख है जो शक स० ७३५ के पश्चात् गद्दीपर बैठे। अत स्पष्ट है, कि अमोघवर्षके उल्लेखवाले पद्य उसमें पीछेसे जोडे गये। इसी तरह धवलाकी

---

१ जै० सा० इ०, पृ० १४७।

२ जै० सा० इ०, पृ० १४२।

३ 'या मिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्र गुणसंस्तुति। स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥' ह० पु० १० प्र०।

४. 'इति विरचित मेतद् काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुण मपदोषं कालिदासस्य काव्यम्। मलिनित परकाव्यं तिष्ठता दाशशांङ्क भुवनमवतु देव सर्वदाऽमोघवर्षः ॥'—पार्श्वा०

प्रशस्तिकी उक्त गाथा भी पीछसे उसमें जोडी गयी जान पड़ती है। यदि बोद्दणराय यथार्थमें अमोघवर्ष प्रथम हैं तो कहना होगा कि पंजिकाकी रचना वीरसेनके सामने अथवा उनके स्वर्गवासके पश्चात् तत्काल ही हो गयी थी। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें[3] वीरसेनके शिष्य जिनसेनने श्रीपाल, पद्मसेन, और देवसेन नाम के तीन विद्वानोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे श्रीपालको तो उन्होने अपनी टीका जयधवलाका सम्पालक कहा है ये तीनों उनके गुरुभाई जान पडते हैं सम्भवतया उन्हींमें से किसीने पंजिकाका निर्माण किया हो।

●

चतुर्थ अध्याय

अन्य कर्मसाहित्य

छक्खंडागम, कसायपाहुड आदि मूल आगमग्रन्थोंके अतिरिक्त कर्मविषयक अन्य प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध हैं। यह साहित्य मूल आनुगमानुसारी है और इसका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवी शताब्दीसे लेकर विक्रमकी नवम शताब्दीतक है। यद्यपि कर्म-विषयक मूल और टीका ग्रन्थो का निर्माण विक्रमकी १५ वी—१६वीं शताब्दीतक होता रहा है। पर इस अध्यायमें प्राचीन कर्म-साहित्य का ही इतिवृत्त प्रस्तुत है। यहाँ पर कर्म-प्रकृति, बृहत्कर्म-प्रकृति, शतकचूर्णि, सित्तरी, कर्मस्तव और प्राकृत-पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थोपर विचार किया आरहा है।

कर्म-प्रकृति ग्रन्थको सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस ग्रन्थपर कई चूर्णि और टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कर्मप्रकृति प्राचीन ग्रन्थ है और इसका उपयोग दोनो ही परम्पराओमे होता रहा है।

कर्मप्रकृति—

इस ग्रन्थमें ४७५ गाथाएँ हैं। प्राकृत चूर्णिके साथ मलयगिरिकी संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। ग्रन्थपर एक अन्य टीका उपाध्याय यशोविजयजी ने भी लिखी है।

नाम—ग्रन्थाकारने ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[1] कहा है कि मैंने कर्म-प्रकृतिसे इसका उद्धार किया है। किन्तु स्वयं उन्होंने अपनी इस कृतिको कोई नाम नहीं दिया।' उसीपरसे इसग्रथका नाम कमप्रकृति प्रवर्तित हुआ जान पडता है। किंतु चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें[2] लिखा है कि विच्छिन्न-कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने सार्थक नामवाला 'कर्मप्रकृति-संग्रहणी' नामक प्रकरण रचा है। उससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति-संग्रहणी था। शतकचूर्णिमें[3] तथा सित्तरीचूर्णि[4] इसी नामसे इसका निर्देश मिलता है।

१—'इय कम्मप्पगडीओ जहा सुयं नीय मप्प मइण्णा वि। सोहियणा भोग कयं कहंतु वर दिट्ठी वायम् ॥५६॥—कर्म प्र०, सत्ता०।

२—'विच्छिन्न कम्मपयडिमहागंत्थत्थ संबोहणत्थ आरद्ध आयरिएणं तग्गुणणामगं कम्म पयडी संगहणी णाम पगरण। क० प्र० चू०।

३—'जहा कम्मपयडिसंगणिए भणियं तहा भणामि,'—पृ ४ एयाणि जहा कम्मपयडिसंगहणीय,'—पृ २६। 'एतासि अत्थो जहा कम्मपयडि संगहणीए'—पृ० ४३।—श० चू०।

४—'उव्वट्टणाविही जहा कम्मपयडी संगहणीए'—पृ० ६१। 'विसेसपच्चओ जहा कम्म-

देवेन्द्रसूरिने अपने नवीन कमग्रन्थोंकी स्वोपज्ञ टीकामें यद्यपि कर्मप्रकृतिके नामसे ही उसका उल्लेख किया है। तथापि एक स्थल[1] पर कर्मप्रकृति-सग्रहणी नामसे ही उसका निर्देश किया है। अत ग्रन्थका प्राचीन नाम कर्मप्रकृति-सग्रहणी है। उसीका सक्षिप्त रूप कमप्रकति है।

बृहत्कम-प्रकृति—

नव्य कर्म-ग्रन्थाकार श्रीदेवेन्द्रसूरिने स्वोपज्ञ टीकामें एक स्थल पर बृहत्कर्मका निर्देश किया है। कर्म विपाक नामक प्रथम ग्रन्थकी सातवी गाथामें उन्होंने श्रुत-ज्ञानके यद्यपि पर्याय पर्याय-समास, आदि बीस भेदोंको गिनाया हैं। शतकचूर्णिमें भी बिल्कुल ऐसी ही एक गाथा उद्धृत है जिसमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद गिनाये गये। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद केवल कार्मिकोमें ही मिलते हैं, सैद्धान्तिक पक्ष इनसे भिन्न श्रुतज्ञानके चौदह भेद मानता है और वे ही भेद श्वेता-म्बर साहित्यमें बहुतायतसे मिलते हैं। अस्तु, उक्त गाथा ७ की स्वोपज्ञ[2] टीकामें श्रुतज्ञानके बीस भेदोको सक्षेपसे बतला कर लिखा है कि विस्तारसे जाननेके इच्छुक को 'बृहत्कर्मप्रकृति' अन्वेषण करना चाहिये।

वतमान कर्मप्रकतिमें श्रुतज्ञानके बीस भेदोकी गन्ध भी नही है तथा इस कर्मप्रकतिका तो देवेन्द्रसूरिने कर्मप्रकति नामसे ही उल्लेख किया है। अत यह 'बृहत्कर्मप्रकति' इस कर्मप्रकृतिसे भिन्न होनी चाहिये। उसकी भिन्नता और महत्ताकी सूचना करनेके लिए ही देवेन्द्रसूरिने उसके नामके साथ 'बृहत्' शब्द जोडा जान पडता है।

किन्तु विक्रमकी १३ १४वी शतीके ग्रन्थकारके द्वारा बृहत्कर्म-प्रकृतिका उल्लेख देखकर उसका आधार खोजते हुए हमें 'शतक' ग्रन्थकी मलधारी हेमचद विरचित टीकामें इस तरहका उल्लेख मिला। उन्होने श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका सामान्य कथन करके विस्तारार्थीको 'बृहत्कर्म चूर्णिका अन्वेषण[3] करनेकी प्रेरणा की है।

पयडीसंगहणीए—पृ० ६३। अन्तर करणविट्टी जहा कम्मपयडीसंग्रहणीए—पृ० ६४।—सित० चु०।

१—यदुक्त कर्मप्रकृति संग्रहण्याम्—आहारतित्थगद्दा भज्जति।—शतक टीका० पृ० ११

२—'विस्तारार्थिना बृहत्कर्म प्रकृतिरन्वेषणीया—स० च० क०, पृ० १९।

३,—'एवमेते संक्षेपत श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिता विस्तारार्थिना तु बृहत्कर्म प्रकृति चूर्णिरन्वेषणीया।—शतक टी० गा० १८।

मिलान करनेसे यह तो हमें स्पष्ट हो गया कि देवेन्द्रसूरिका उक्त कथन मलधारी जीकी टीकाका ऋणी है। किन्तु चूँकि वर्तमान कर्मप्रकृतिकी तरह उसकी चूर्णिमें भी श्रुतज्ञानके बीस भेदोंकी चर्चा नहीं है अत या तो उन्होंने उसमें संशोधन करके 'बृहत्कर्म-प्रकृति' कर दिया या 'चूर्णि' शब्द लेखक वगैरहके प्रमादसे छूट गया। अत हम नहीं कह सकते कि श्री हेमचन्द्रके उक्त उल्लेखका क्या आधार है और उसमें कहाँ तक तथ्य है।

यदि बृहत्कर्म-प्रकृतिसे मतलब अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृति प्राभृतसे है तो उसमें उक्त बीस भेदोका वर्णन अवश्य था, यह बात षट्खण्डागमसे[1] स्पष्ट है क्योंकि उसके वेदनाखण्डमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी बीस प्रकृतियोको बतलाते हुए श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका कथन किया है।

कर्मप्रकृति

विषय परिचय—

कर्मप्रकृति[2] की पहली पहली गाथामें सिद्धोको नमस्कार करते हुए ग्रन्थकारने आठो कर्मोंके आठ करणो तथा उदय और सत्त्वके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अत इस ग्रन्थमें क्रमसे बन्धनकरण सक्रमकरण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्ति, निकाचना, उदय और सत्त्व इन दस करणोका कथन है।

कर्मोंके आत्माके साथ बधनेकी क्रियाका नाम बधन-करण है। बन्धके दो कारण हैं योग और कषाय। अत प्रथम योगका कथन किया है। वीर्यान्तराय कर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे वीर्यलब्धि होती है उस वीर्यलब्धिसे वीर्य होता। उसे ही योग कहते हैं। उसके द्वारा जीव औदारिक आदि शरीरोके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है। योगका कथन दस अधिकारोंके द्वारा किया गया है—अविभागप्रतिच्छेद-प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, वृद्धिप्ररूपणा, समयप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा षट्खण्डागमके वेदना खण्डमें बारह अनुयोगद्वारोसे अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानका कथन करते हुए उक्त कथन कर आये हैं उक्त दसों अधिकार उसीमें गर्भित हैं अत उनका यहाँ पुन कथन करने से पिष्टपेषण ही होगा। कसायपाहुडके अनुभागविभक्ति और

१.—षट्खं०, पु० १३, पृ० २६०।

२. कर्मप्रकृति, चूर्णि तथा दोनों टीकाओंके साथ है। सन् १९१७ में जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से तथा सन् १९३७ में मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोइ (गुजरात)से प्रकाशित।

विशेषतया प्रदेशविभक्ति नामक अधिकारोंके चूर्णिसूत्रोंमें भी उक्त विषयोंकी चर्चा है।

गाथा १८-२० के द्वारा जीवके द्वारा ग्रहण योग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं-का निरूपण किया है षटखण्डागमके वगणाखण्डके अन्तगत बन्धन अनुयोगद्वारमें इन वर्गणाओं का कथन आया है।

बन्ध योग्य वगणाओका कथन करनेके बाद बद्ध समयप्रबद्धका विभाग आठों मूलकर्मोको उत्तर प्रकृतियोंमें किस प्रकारसे होता ह इसका विवेचन किया है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें प्रत्येक उत्तर प्रकृतिके विभागका कथन विस्तारसे किया है।

प्रदेशबन्ध के बाद अनुभागबन्धका कथन ह। चूर्णिकारने चूर्णिमें वे सब अपने[1] अनुयोगद्वार कुछ व्यतिक्रमसे गिनाये हैं जो षटखण्डागमके वेदनाखण्ड[2] के अन्तगत वेदना-भाव विधानका कथन करते हुए बतलाये हैं। कमप्रकृति में चूर्णि निर्दिष्ट क्रमानुसार कथन किया है। तत्पश्चात षटखण्डागम के वेदनाभाव विधानके अन्तर्गत जीव समुदाहारके अनुसार ही आठ अनुयोगोके द्वारा जीव समुदाहारका कथन है।

गाथा ६७ का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिमे उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागके अल्पबहुत्वका विचार विस्तारसे किया है। अन्तमे लिखा है— आदि[3] अनादि प्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसज्ञा, स्थानसज्ञा, शुभाशुभ-प्ररूपणा, बन्धप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणाका कथन जैसा शतकमें कहा है वसा कह लेना चाहिए।' तत्पश्चात् स्थितिबन्धका कथन किया ह। जो जीव स्थान चूलिकाके ही अनुरूप है।

---

१ 'अनुभाग ब धज्झवसाणस्स परूवणा कीरति। तस्स इमे अणुतोगद्दारा। त जहा अविभागपलिच्छेद परूवणा वग्गणपरूवणा, (फड्डगपरूवणा), अंतरपरूवणा, ठाणपरू वणा, कंडगपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेटठाट्ठाण परूवणा समयपरूवणा, जवम ज्यपरूवणा उयजुम्णपरूवणा, पज्जवसाणपरूवणा, अप्पाबहुगपरूवणात्ति।'

क० प्र० चू०, पृ० ८५।

२ एत्तो अणुभागबधज्झवसाणट्ठाणणाए परूवणदाए तत्थ इमाणि बारस अणियोगद्दाराणि ॥१९७॥ अविभागपडिच्छेद परूवणा, ट्ठाणपरूवणा, अंतरपरूवणा कंदयपरूवणा, ओजजुम्मपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाणपरूवणा समयपरूवणा, वड्ढिपरू-वणा जवमज्भपरूवणा पज्जवसाणपरूवणा अप्पाबहुए त्ति ॥१९८॥—षट्ख, पु० १२ पृ० ८८॥

३ इदाणिं सादि अणादि परूवणा, सामित्त घातिसण्णा ट्ठाणसण्णा सुभासुभपरूवणा बंधतो विवागो य जहा सयगे तहा भाणियव्वा —क० प्र० चू पृ० २४६।

बन्धनकरणमें १०२ गाथाएँ हैं।

एक कर्मप्रकृतिके दलिकोंका सजातीय अन्य प्रकृतिरूप संक्रान्त होनेकी क्रियाको संक्रमण कहते हैं। किन्तु जैसे मूल प्रकृतियोंमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता वैसे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता और न आयु कर्मकी चार उत्तर प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रमण होता है। इस संक्रमणके भी बन्धके चार भेदोंकी तरह चार भेद हैं—प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम। प्रकृतिसंक्रमके भी दो मूल भेद हैं एकैक प्रकृतिसंक्रम और प्रकृति-स्थान संक्रम। जब एक प्रकृति एक प्रकृतिमें संक्रान्त होती है तो उसे एकैक प्रकृति संक्रम कहते हैं। और जब बहुत-सी प्रकृतियों में परस्परमें संक्रमण होता है तो उसे प्रकृतिस्थान संक्रम कहते हैं। कसायपाहुडमें केवल मोहनीय कर्मका ही कथन है, जब कि कर्मप्रकृतिमें आठों कर्मोंके सम्बन्धमें कथन है। अतः कसायपाहुडके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम नामक अधिकारकी २७ से ३९ नम्बर तककी तेरह गाथाएँ अनुक्रमसे कर्मप्रकृतिके संक्रम करण नामक अधिकारमें पायी जाती हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये गाथाएँ मोहनीय कर्मके प्रकृति स्थानसंक्रम से सम्बद्ध हैं। यहाँ हम तुलना के लिए दोनो ग्रन्थोंसे उक्त गाथाओंको उद्धृत कर देना उचित समझते हैं इससे दोनोंमें जो पाठ भेद है वह भी स्पष्ट हो जायेगा।

> अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा।
> एदे खलु मोत्तूण सेसाण संकमो होइ।।२७।। क० पा०
> अट्ठ चउरहियवीस सत्तरसं सोलस च पन्नरस।
> वज्जिय संकमट्ठाणाई होंति तेवीसइ मोहे ।।१०।। क० प्र०

दोनो गाथाओंमें कहा है कि अट्ठाईस, चौबीस, सतरह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिक स्थानोंको छोड़कर मोहनीय कर्मके शेष स्थानोंमें जिनकी संख्या २३ है, संक्रमण होता है। दोनो गाथाओंकी चूर्णियोंमें कोई ऐसी उल्लेखनीय समानता नहीं है जिसपरसे कोई कल्पना की जा सके।

> सोलसग बारसट्ठग वीसं वीसं तिगादि गाधिगा य।
> एदे खलु मोत्तूणं सेसाणि पडिग्गहा होंति ।।२८।। क पा०
> सोलस बारसगट्ठग वीसग तेवीस गाइगे छच्च।
> वज्जिय मोहस्स पडिग्गहा उ अट्ठारस हवंति ।।११।। क० प्र०।

दोनों गाथाओंके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है। रेखांकित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है कर्मप्रकृतिका पाठ ठीक है। दोनोंमें कहा है कि सोलह, बारह, आठ, बीस और तेईस आदि छै स्थानोंको छोड़ कर शेष मोहनीयके पतद्ग्रह होते हैं। जिन

प्रकृति स्थानोंमें कोई प्रकृति स्थान सक्रान्त होता है उन्हें पतद्ग्रह कहते हैं । कसायपाहुड गाथा न २९ ३०-३१ में कम-प्रकृति गा० न० १२-१३-१४ में कोई अन्तर नही है, क्वचित् शब्दोंका अन्तर ह।

चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे च णियम वावीसा ।
णियमा मणुस गईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ३२॥ क० पा०
चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे य होइ वावीसा ।
णियमा मणुय गईए णियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥१५॥ क० प्र०

दोनो गाथाओके चतुथ चरणमें अन्तर होनेपर भी दोनोके अभिप्रायमें अन्तर नही है । ऊपर की गाथामें बतलाया है कि चौदह, दस, सात और अट्ठारहमें बाईस प्रकृतियो का सक्रमण होता है । वह सक्रमण नियमसे मनुष्य गतिमें, और सयतासयत और असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोमें होता है । कम प्रकृतिकी गाथामें गुणस्थानोंका निर्देश न करके यह निर्देश किया है कि यह बाईस प्रकृतिक स्थान नियमसे दशनमोहनीय की सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व रूप प्रकृतियोका ही अस्तित्व होने पर होता है । किंतु कषायपाहुड निर्दिष्ट गुणस्थानोका कथन सभीको मान्य है । उसमें कोई मतभेद नही है ।

तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एगवीसाए ।
एगाधिगाए वीसाए सकमो छप्पि सम्मते ॥३३॥ क० पा०
तेरसग णवग सत्तग सत्तरसग पणग एक्कवीसासु ।
एक्कावीसा सकमइ सुद्ध सासाण मीसेसु ॥ १६ ॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके चतुर्थ चरणमें अन्तर है तथा अभिप्रायमें भी थोडा अतर है । दोनों में कहा है कि तेरह, नौ, सात, सतरह, पाँच और इक्कीस इन छै स्थानों में इक्कीस का सक्रमण होता है । कसायपाहुडमें कहा है कि यह सक्रमण सम्य क्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोंमें ही होना है । कर्मप्रकृतिमें कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिमें तथा ससादन और मिश्र गुणस्थानमें होता है । उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए जयधवलामें सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोमें सासादनका तो ग्रहण किया है किन्तु मिश्र गुणस्थान का ग्रहण नहीं किया । इन गाथाओपर दोनो ग्रन्थोंमें चूर्णियाँ नही हैं अत कुछ विशेष कह सकना शक्य नही हैं ।

एत्तो अवसेसा सजमम्हि उवसामगे च खवगे च ।
वीसाय सकमदुगे छक्के पणए च बोद्धव्वा ॥३४॥ क० पा०
एत्तो।अविसेसा सकमति उवसामगे व खवगे वा ।
उवसामगेसु वीसा य सत्तगे छक्क पणगे वा ॥१७॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके उत्तरार्द्धमें अन्तर है और थोड़ा-सा मतभेद भी है। दोनोंमें कहा है कि उक्तसे अवशिष्ट प्रकृतिस्थान-संक्रम उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें संक्रान्त होते हैं। किन्तु कसायपाहुडमें आगे कहा है कि बीसका संक्रम केवल छै और पाँच इन दो ही स्थानोंमें होता है और कर्मप्रकृतिमें कहा है कि सात, छै और पाँचमें बीसका संक्रमण होता है। यह अन्तर है।

> पचसु च ऊणवीसा अट्ठारस चदुसु होंति बोद्धव्वा।
> चोद्दस छसु पयडीसु य तेरसयं छक्क पणगम्हि ॥३५॥ क० पा०
> पचसु एगुण वीसा अट्ठारस पंचगे चउक्के य।
> चोद्दस छसु पगडीसु तेरसग छक्कपणगम्मि ॥१८॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंमें थोडा अन्तर है। कसायपाहुडके अनुसार १८ का संक्रमण चार प्रकृतियोंमें होता है और कर्मप्रकृतिके अनुसार चार और पाँचमें होता है।

शेष चार गाथाओंमें कोई अन्तर नहीं है। इस तरह संक्रमण प्रकरणमें १३ गाथाएँ ऐसी पायी जाती हैं जो कसायपाहुडकी हैं। इस प्रकरणकी गाथासंख्याका प्रमाण एक सौ ग्यारह है।

संक्रम-करणके पश्चात् उद्वर्तना-अपवर्तनाकरणका कथन है। ये दोनों करण स्थिति और अनुभागसे सम्बन्ध रखते हैं। स्थिति और अनुभागके बढ़ानेको उद्वर्तना और घटानेको अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना तो बन्धकाल पर्यन्त ही होती है किन्तु अपवर्तना बन्धकालमें भी होती है और अबन्धकालमें भी होती है। दस गाथाओंके द्वारा इन दोनो करणोका कथन है।

पश्चात् उदीरणा-करण का कथन है। विशुद्ध अथवा संक्लेश परिणामोंके द्वारा उदयावलि-बाह्य निषेकोको अपवर्तनाके द्वारा बलात् उदयावलीमें ला कर उनका वेदन करनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे आमोको तोडकर भूसे आदिमें दबा कर जल्दी पका कर खाते हैं। उसी तरह जो कर्मको अपने समयसे पहले भोग किया जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। उसके भी चार भेद हैं—प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा और प्रदेश-उदीरणा। प्रकृति-उदीरणा और प्रकृतिस्थान-उदीरणाका कथन करते हुए उनके स्वामियोंका कथन किया है कि अमुक-प्रकृतिकी उदीरणा कौन करता है। इसी प्रकार स्थिति-उदीरणा आदिका भी कथन किया है। इस प्रकरण की गाथा संख्या ८९ है।

उपशमना-करण का कथन करते हुए इन अधिकारोंके द्वारा उसका कथन किया है—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पादना, देश विरति की प्राप्ति, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन, दर्शनमोहकी क्षपणा, दर्शनमोहकी उपशामना, चारित्रमोहकी उपशमना।

पहली गाथाके द्वारा उपशामनाके दो भेद बतलाये हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाका दूसरा नाम अनुदीर्णोपशमना भी है। (यथा प्रवृत्त, अध प्रवृत्त), अपूवकरण और अनिवर्त्तिकरण रूप परिणामोंके द्वारा जो कर्मोका उपशम किया जाता है उसे तो करणोपशामना कहते हैं। और इन करणोके बिना जो उपशमना होती है उसे अकरणोपशमना कहते हैं। वैसे उपशमनाके दो भेद हैं—देशोपशमना और सर्वोपशमना। उक्त दो भेद देशोपशमनाके ही है। (सर्वोपशमना तो उक्त करणो के द्वारा ही होती है)। उपशमनाके उक्त दो भेद करके कर्म-प्रकृतिकारने अकरणोपशमनाके अनुयोगधरोंको नमस्कार किया है।[1] चूर्णिकारने उसका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अकरणोपशमनाका अनुयोग विच्छिन्न हो गया। अत उसको नही जानने वाले कम प्रकृतिकारने उसके जानने वाले आचायको नमस्कार किया है।

दूसरी गाथामे कहा ह कि सर्वोपाशमनाके दो नाम हैं—गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना। देशोपशमनाके भी दो नाम है अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना। सर्वोपशमना केवल मोहनीय कमकी ही होती है। इस प्रकरणमें भी चार गाथाए ऐसी हैं जो कसायपाहुडमें भी पायी जाती हैं। कमप्रकृतिमें उनका नम्बर-२३, २४, २५, २६ ह। और ये गाथाए कसायपाहुडके दशन मोहोपशमना नामक अधिकारके अन्तमे आती है। चारमें से अन्तकी दो में तो कोई अतर नही है। प्रारम्भकी दो में अन्तर हैं उसमेंसे भी भी दूसरीमे केवल शब्दोका व्यत्तिक्रम है। हां, पहलीमें उल्लेखनीय अन्तर है। कम प्रकृति (उपशमना) की गाथा इस प्रकार है—

सम्मत्त पढम लम्भो सव्वोवसमा तहा विगिट्ठो य।
छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥

इसमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्व की प्रथम प्राप्ति मोहनीय कर्मके सर्वोपशमसे होती है तथा प्रथम स्थितिकी अपेक्षा उसके अन्तमुहुर्त कालका प्रमाण बडा होता है। जब उस सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छै आवली काल शेष रहता है तो कोई कोई जीव गिर कर सासादन गुणस्थानके चले जाते हैं और वहांसे पुन मिथ्यात्वमें आ जाते हैं।

यह गाथा कसायपाहुडमें इस प्रकार पायी जाती है—

सम्मत्त पढम लभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्ख सव्वोवसमेण देसेण ॥१००॥

---

१. 'सा अकरणोपसामणा ताले अणुओगो वोछिन्नो, तो त अजाण तो आयरिओ जाणंतस्स नमोक्कारं करेति कर्म प्र ऊप, गा १ च

इस गाथाके भी पूर्वार्द्धमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्वका प्रथम लाभ मोहनीयके सर्वोपशमसे होता है। किन्तु आगे 'विपट्ठेण' का अर्थ भिन्न किया है, यद्यपि विपट्ठ और 'विगिट्ठ' शब्दोंमें वैसा भेद प्रतीत नहीं होता। जयधवला-कारने उसका अर्थ किया है—'जो मिथ्यात्वमें जा कर बहुत काल बीतने पर पुन सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशमसे ही प्राप्त करता है।' और जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी पुन सम्यक्त्वके अभिमुख होता है वह सर्वोपशमसे अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

कर्म-प्रकृतिके उपशमना-करणकी २६ वी गाथा और कसायपाहुड़की १०५वी गाथामें कोई अन्तर नही है किन्तु दोनोंके टीकाकारोके अर्थमें अन्तर है गाथा इस प्रकार है—

सम्मामिच्छद्दिट्ठी सागारे वा तहा अणागारे।
अह वजणोग्गहम्मि य सागारे होई नायव्वो ॥२६॥

कषायपाहुडमें सागारे और 'अणागारे'के स्थानमें 'सागारो' और 'अणागारो पाठ है। कर्म प्रकृतिकी चूर्णिमें पूर्वाधका अर्थ किया है—'सम्यग्मिथ्यादृष्टि या तो साकार उपयोगमें वतमान होता है अथवा अनाकार उपयोगमें वतमान होता है।' जयधवलाके अनुसार अथ है—सम्यग्मिथ्यादृष्टि साकारोपयोगी होता है अथवा अनाकारोपयोगी होता है। दोनों अर्थोंमें कोई अन्तर नही है। किन्तु उतराधके अर्थ में अन्तर है—

कर्म प्रकृति चूर्णिमें अथ किया है—

'यदि साकार उपयोगमें वतमान होता है' तो व्यजनावग्रहमें होता है अर्था-वग्रहमें नही। क्योकि सशयज्ञानी अव्यक्त-ज्ञानी होता है।' और जयधवलामें अथ किया है—'वजंणोग्गहम्मि दु' यदि विचार पूवक अथ ग्रहण करनेकी अवस्थामें होता है तो सकारोपयोगी होता है।

इन गाथाओ पर कसायपाहुडमें चूर्णि सूत्र नही हैं। कसायपाहुड और कर्मप्रकृति दोनोकी दर्शन-मोहोपशमना नामक प्रकरण उक्त गाथाके साथ समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् कर्मप्रकृतिमें चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। इसमें ७४ गाथाएँ हैं अन्तमें २-३ गाथाओ द्वारा निधत्ति और निका-चनाका कथन है।

आठो करणों का कथन समाप्त होने के पश्चात् कर्मों के उदय का प्रकरण प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट प्रदेशोदयके स्वामी का कथन करने से पूर्व दो गाथाओं

१. 'सम्मतुप्पत्ति सावयविरयसंजोयणा विणासे य।
दंसणमोह क्खवगे कसाय उवसामगुवसंते ॥८॥

के द्वारा ग्यारह[1] गुण-श्रेणियां गिनायी हैं। ये गुण-श्रेणियां जैन सिद्धान्तमें दोनों परम्पराओं में अति प्रसिद्ध हैं। षटखण्डागमके वेदना-खण्डमें भी दो गाथाओंके द्वारा ग्यारह गुणश्रेणियां गिनायी हैं। दोनों ग्रन्थों की गाथाओंमें तो साम्यमेव है ही, आशय मे भी किञ्चित् अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें 'जिणे दुविहे' पाठ है। चूर्णिमें उसका अर्थ सयोग-केवली और अयोग-केवली किया है। किन्तु षट्-खण्डागम में केवल 'जिणेय' पाठ है। और गाथाओं का विवरण करने वाले षट्खण्डागम के सूत्रो में जिनसे केवल अध प्रवृत्त-केवली और योग निरोध करने वाला सयोग-केवली लिया है। अयोग-केवलीको नहीं लिया।

तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्यायमें भी ये गुण श्रेणियां गिनायी हैं। और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओके टीकाकारोंने जिनसे सामान्य जिन ही लिया है और इस तरह वहां उनकी सख्या दस ही, है ग्यारह नहीं।

उदय-प्रकरणमें कर्मोंके उदय का वर्णन है। कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। उदय के पश्चात सत्ता का कथन है। किन स्थानोंमें किन-किन कर्म प्रकृतियों का सत्त्व रहता है इसका विस्तारसे कथन है। उदय और सत्व दोनोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा चार,चार भेद कर के उनके जघन्य और उत्कृष्ट भेदो के स्वामियों का कथन किया है। प्रदेश सत्कममें योग-स्थान और स्पर्धकों का निर्देश करके भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है।

कर्म प्रकृति के इन प्रकरणोमें क्रमसे १०२ + १११ + १० + ८९ + ७१ + ३- + ३२ + ५७ = ४७५ गाथाएं हैं।

कर्ता—

इसमें तो सन्देह नही कि कम-प्रकृति एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी प्राकृति चूर्णि भी प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु इन दोनों के रचयिताओं का नाम ज्ञात नही है और इसीलिए उनके रचनाकाल का भी कोई निश्चित समय

खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी ।
उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुण सेढी ॥९॥ कर्मप्र०, उदय
सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय विरदे अणंत कम्मं से ।
दंसणमोह क्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥७॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा ।
तीव्विवरीदो कालो संखेज्ज गुण य सेढीओ ॥८॥' षट्खं० पु० १२, पृ०, ७८।
'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरता नन्त वियोजक दर्शन मोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिना क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जरा ॥४५॥' तत्त्वा० सू०।

निर्णीत नहीं है। परम्पराके आधार पर कर्म-प्रकृति को शिवशर्म सूरि की कृति माना जाता है।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित कर्म-प्रकृति की संस्कृत प्रस्तावना में लिखा है कि पूर्वधर भगवान श्री शिवशर्म सूरिने कर्म-प्रकृति नामक मूलग्रन्थ को रचा था। इतिहास का अभाव होनेसे इनका समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका। इनके गुरु कौन थे और ये कितने पूर्वोंके धारी थे यह भी निश्चित नही है। तथापि नन्दी-सूत्रके आदि पाठ को देखनसे यह निश्चय किया जाता है कि ये आगमोद्धारक देवर्धिगणिके पूर्ववर्ती थे। ऐसी संभावना है कि ये दशपूर्वधर थे।"

जैन साहित्य का इतिहास (पृ० १३९)में लिखा है कि शिव शर्म सूरि नामके एक महान आचार्य हो गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। उन्होंने ४७५ गाथाओ में कर्म-प्रकृति नामक ग्रन्थ दृष्टिवादके अन्तगत दूसरे पूर्व में से उद्धार कर रचा है। अत उनका समय वि स० ५००के आस पास रखा जा सकता है।'

कल्पसूत्रस्यस्थविरावली, नन्दीसूत्रस्यस्थविरावली आदि किसी प्राचीन पट्टावली में हमें शिवशम सूरि नाम देखने को नहीं मिला। चूर्णिकार को भी यह ज्ञात नहीं था कि इस कम-प्रकृति के रचयिता कौन हैं क्योकि उन्होंने भी ग्रन्थकार का नाम नही दिया। चूर्णिकारकी तरह १२-१३ वी शताब्दीके टीकाकर मलयगिरिने भी यह नहीं लिखा कि कर्म-प्रकृति के कर्ता अमुक नामके आचार्य हैं। हाँ, १८ वी शताब्दीके दूसरे टीकाकार यशोविजय ने कर्म-प्रकृति की प्रथम गाथा की उत्थानिकामें शिवशर्म सूरि का नाम दिया है। अत उनके सामने कोई आधार अवश्य होना चाहिये जिसके आधार पर उन्होने कमप्रकृतिको शिवशर्म सूरि की कृति बतलाया। खोजने पर देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कम-ग्रन्थो की स्वोपज्ञ[1] टीका में कर्म-प्रकृति का उद्धरण देते हुए उसे शिवशर्म सूरि रचित लिखा है। तथा उसी में एक स्थान[2] पर शिवशर्म सूरि रचित शतक का उद्धरण दिया है।

कर्म प्रकृतिकार ने कर्मप्रकृति की रचना करनेसे पहले शतक नामका भी एक ग्रन्थ रचा था वह कर्म-प्रकृतिसे ही ज्ञात होता है। अत देवेन्द्रसूरिके उल्लेखके अनुसार इन दोनोंके रचयिता शिवशम सूरि थे। देवेन्द्र सूरि का समय १३-१४ वीं शताब्दी है और मलयगिरि का समय १२-१३ वीं शताब्दी है। दोनोंमें एक शताब्दी का अन्तराल है फिर भी मलयगिरि जैसे बहुश्रुत टीकाकार ने कर्म-प्रकृति की अपनी टीकामें उसके रचयिता शिवशर्म सूरिके

---

१. "यदाह शिवशर्म सूरिवर कर्मप्रकृतौ—क च क., पृ. १२०। २ "यदुक्त शिवशम सूरिपादैः शतके"—स. च. क., पृ. ७१।

नामका उल्लेख क्यों नही किया ? इस विचारका खोज करने पर देवेन्द्रसूरिके इस उल्लेखका आधार शतकचूर्णिमें मिला । शतकचूर्णिमें लिखा[1] है कि इस शतक नामके ग्रन्थको शब्द, तर्क, न्याय और कर्मप्रकृति सिद्धान्तके ज्ञाता, अनेक वादोमें विजय प्राप्त करनेवाले शिवशर्मा नामक आचार्यने रचा । अत' चूर्णिसे यह प्रकट होता है कि शतक और कर्मप्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरि थे । किन्तु शतकचूर्णिके इस उल्लेखका आधार क्या है, यह हम नही जान सके । कमप्रकृति-चूर्णिकी तरह ही शतक-चूर्णिके कर्ताका तथा उसका रचनाकाल भी अनिर्णीत है । किन्तु दोनो चूर्णियोकी शैली आदिकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनोंके कर्ता भिन्न-भिन्न है तथा कम-प्रकृतिकी चूर्णिसे शतक चूर्णिबादमें रची गयी है।

समय—

यह शिवशमसूरि कब हुए इसके जाननेका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही है । जो कुछ है वह उनके दोनो ग्रन्थ ही हैं । कमप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामे उन्होंने कहा कि—'इस[2] प्रकार मुझ अल्पबुद्धिने भी जैसा सुना वैसा कमप्रकृतिसे उद्धृत किया । जो कुछ स्खलित कथन किया हो, उसे दृष्टिवादके ज्ञाता शुद्ध कर के कहें ।

चूकि कमप्रकृति-प्राभृत दृष्टिवादके अन्तगत द्वितीय पूवका अश था और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार भगवान महावीरके निर्वाणसे एक हजार वर्ष तक दृष्टिवाद रहा । अत कम-प्रकृतिके रचयिता शिवशम सूरिका समय वि० स० ५०० के लगभग अनुमान किया जाता है ।

प० हीरालालजी शास्त्रीने कसायपाहुड सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामे लिखा है कि वतमान कमप्रकृति वही कमप्रकृति है जिसका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें किया है । कसायपाहुडके चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें 'उवसामणा कदि विधा' इस गाथाशका व्याख्यान करते हुए कहा है कि 'उपशामनाके[3]

---

१ 'केण कयं ? ति शब्दतक न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं ।'—शत० चू० पृ० १ ।

२ 'इय कम्मपगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि । सोहियणा भोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥५६॥

—कर्म प्र० सता० ।

३ 'उवसामणा कदि विधा त्ति उवसामणा दुविहा करणोवसामणा च अकरणोव सामणा च । जा सअकरणोवसामणा तिस्से दुवे नामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा साकरणोवसामणा सा दुविहा त्ति वि देसकरणोवसामणा त्ति वि । सव्वकरणोवसामणाए देसकरणोवसामणाए दुवे णामणि देसकरणोवसामणाए त्ति वि अप्पसत्थ उवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु ।

—क० पा० सू०, इ० ।

दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। अकरणोपशामनाका कथन कर्म-प्रवाद में है। करणोपशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। देशकरणोपशामनाके दो नाम हैं—देशकरणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। इसका कथन कर्म-प्रकृतिमें है।'

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा[1] है कि द्वितीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारसे प्रतिबद्ध चतुर्थ प्राभृतका नाम कम्मपयडी है। उसमें इस देशकरणोपशामनाका विस्तारसे कथन है। शायद यह शंका की जाये कि कर्मप्रकृति प्राभृत तो एक है उसका यहाँ 'कम्मपयडीसु' इस बहुवचन रूपसे निर्देश क्यों किया?' तो उसका समाधान है कि 'यद्यपि कर्मप्रकृति-प्राभृत एक है किन्तु उसके अन्तर्गत कृति, वेदना, आदि अनेक अवान्तर अधिकार हैं, उनकी विवक्षासे बहुवचनका निर्देश करनेमें कोई विरोध नहीं है।'

जयधवलाकारके इस स्पष्ट निर्देशके सामने शास्त्रीजीके उक्त कथनको कैसे मान्य किया जा सकता है। फिर जिस देसकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रकृतिका निर्देश यतिवृषभने किया है, प्रस्तुत कर्मप्रकृतिमे उसका केवल ६ (६६-७१) गाथाओंमें उल्लेख मात्र है। उनसे पहली गाथामें तो देशकरणोपशामनाके भेद बतलाये हैं। दो में उसके स्वामियोंका निर्देश ह तथा एक गाथामें प्रकृति उपशामनाका, एकमें स्थिति-उपशामनाका और एकमे अनुभाग और प्रदेश-उपशामनाका उल्लेख है। अत अकरणोपशमनाके लिए कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्वका निर्देश करनेवाले यतिवृषभ जैसे कसायपाहुडके वेत्ता विद्वान् देशकरणोपशामनाके लिए इस कर्मप्रकृतिका निर्देश नहीं कर सकते। प्रस्तुत कर्मप्रकृति अवश्य ही उनके उत्तरकालकी रचना होनी चाहिए। फिर जैसा प्रारम्भमें लिख आये हैं इस कर्मप्रकृतिके सिवाय एक बृहत्कर्म-प्रकृति भी थी। चूर्णिकारने शायद उसी कम्मपयडी महाग्रन्थके विच्छेदकी सूचना दी है। वह बृहत्कर्म-प्रकृति अथवा कम्मपयडी महाग्रंथ सम्भवतया अग्रायणी पूर्वके चतुर्थ वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-प्राभृत ही हो सकता है। जैसा कि जयधवलाकारका मत है। अत उसीका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया हो सकता है।

---

१. 'कम्मपयडीओ णाम विदिय पुव्व पंचम वत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुड सण्णिदो अहियार अत्थि। तत्थेसा देसकरणोवसामणा दट्ठव्वा, सवित्थरमेदिस्से तत्थ पबंधेण परूविदत्तादो। कधमेत्थ एयस्स कम्मपयडिपाहुडस्स 'कम्मपयडिसु' त्ति बहुवयणणिद्देसो त्ति णासंकणिज्जं, एक्कस्सवि तस्स कदि, वेदणा अवांतराहियार भेदावेक्खाए बहुवयणणिद्देसाविरोहादो।'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६५६७–६८।

नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तीको कर्मप्रकृति प्रधान बतलाया है उसको लेकर शास्त्रीजीने लिखा है जब यतिवृषभके गुरु कम्मपयडीके प्रधान व्याख्याताओमें थे तो यतिवृषभके सामने तो उसका होना स्वत सिद्ध है ? बात ठीक है, किन्तु जब यतिवृषभके सामने वतमान कम-प्रकृति थी तो नागहस्ती भी सभवत उसीके प्रधान व्याख्याता होगे। और ऐसी दशामें वर्तमान कमप्रकृति नागहस्तीसे भी पूवरचित होनी चाहिये ? किन्तु यह सब निराधार कल्पना है। शास्त्रीजीने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रो और कमप्रकृतिकी कतिपय गाथाओंको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि वतमान कमप्रकृतिके आधारपर ही चूर्णिसूत्र रचे गये है। किन्तु शास्त्रीजीने जितने तुलनात्मक उद्धरण दोनों ग्रन्थोंसे दिये हैं, वे सब निष्प्राण हैं, बल्कि उनके देखनेसे तो यही अधिक सभव प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रकारने कमप्रकृतिका अनुसरण नही किया बल्कि कमप्रकृतिके रचयिताने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोका अनुसरण किया है। यह सत्य शास्त्रीजीकी लेखनीसे भी प्रकट हुए बिना नही रहा है। दर्शनमोह उपशामकके परिणाम, योग, उपयोग और लेश्यादिका वणन करनेवाले चूर्णिसूत्रोको उद्धृत करके शास्त्रीजीने लिखा है—'इन सब सूत्रोकी तुलना कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिये और देखिये कि किस खूबीके साथ सब सूत्रोके अर्थका एक ही गाथाम समावेश किया गया है ? (पृ० ३५)

चूर्णिसूत्र और कमप्रकृति चूर्णि—

कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोमें और कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें यत्र तत्र कुछ साम्य प्रतीत होता है किंतु गहराईमे अवलोकन करने पर चूर्णिसूत्रोकी शैलीका कमप्रकृतिकी चूर्णिमें आभास नही मिलता। चूर्णिसूत्रोमे कसायपाहुडकी गाथाओंके व्याख्यानके लिए विभाषा और पदच्छेदकी जो शैली अपनायी गयी है यहाँ उसका अभाव है। कमप्रकृतिकी चूर्णि तो एक टीका प्रकारकी व्याख्या है जिसमें गाथाके अथको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। और उस परसे यह भ्रम होता है कि दोनों चूर्णियाँ एक ही की कृति हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नही है। दोनोंमें शैलीभेद और भाषाभेद तो है ही, सैद्धान्तिक भेद भी परिलक्षित होता है।

---

१ नीचे हम तुलनाके लिए शास्त्रीजीके उद्धरणोंमेंसे एक उद्धरण देते हैं—'ज पदेसग्गम ण्णपयडि णिज्जदे जत्तो पयडीदो त पदेसग्ग णिज्जदि निस्से पयडीए सो पदेससकमो। एदेण अटठपदेण तत्थ पचविहो संकमा त जहा, उव्वेलणसंकमो, विज्झादसकमो, अद्धा पवत्तसंकमो, गुणसंकमो सव्वसंकमो च।' (क पा सू, पृ० ३१७।
इन चूर्णिसूत्रोंका मिलान कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिए—

जं दलियमण्णपगइ णिज्जइ सो संकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो ॥६०॥—कर्मप्र
—क० पा० सु० प्रस्तावना पृ० ३३।

उदीरणा[1] प्रकरणमें कर्मप्रकृति-चूर्णिमें उत्तरप्रकृतिके १५८ भेद बतलाये हैं। उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या अभेद विवक्षा से १२२ मानी गयी है। और भेद विवक्षासे १४८। औदारिकि, आदि शरीरोंके संयोगी भग पन्द्रह होते हैं और उनको शामिल कर लेनेसे १५८ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में उक्त सयोगी भग गिनाये अवश्य हैं और नामकर्मकी सत्व-प्रकृतियोंको गिनाते हुए ९३ या १०३ लिखकर उन्हें सम्मिलित भी किया है किन्तु सत्त्व-प्रकृतियोंकी सख्या १४८ ही बतलायी है।

कर्मप्रकृतिके टीकाकार उपाध्याय यशोविजय[2]ने अपनी टीकामें इसपर लिखा है कि यद्यपि उदय प्रकृतियोंकी सख्याके तुल्य ही उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या होती है और इसलिए कर्मस्तव-टीका आदिमें उनकी सख्या १२२ बतलायी है और यहाँ १५८ बतलायी है। तथापि एकसौ बाईस में बन्धनादिकी पृथक् विवक्षा नहीं की है और १५८ में पृथक् विवक्षा की है इसलिए कोई दोष नही है। फिर भी १५८ सख्यामें भी मान्यता-भेद तो रहा ही है। मलयगिरि[3]ने गर्गर्षि आदिके मतमें १५८ प्रकृति सख्या होनेका निर्देश किया है।

२ कमप्रकृति[4]में क्षपक-श्रेणीमें क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नही माना ह। तदनुसार चूर्णिम भी लिखा है। इस बातको लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मतभेद पाया जाता है। किन्तु दिगम्बर धमके भूतबलि और यतिवृषभ दोनो ही उक्त गुणस्थानोमें निद्रा और प्रचलाका उदय मानते हैं। गो०[5] कमकाण्डमें उदय व्युच्छित्तिमें जो दोनों आचार्योंके मत दिये हैं, उससे यह स्पष्ट है। किन्तु इतना सुनिश्चित जान पडता है कि कर्मप्रकृतिकी चूर्णि बनानेवालेके सामने यतिवृषभके चूर्णिसूत्र अवश्य थे और उसने कहीं कहींपर तो उनका अक्षरश अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए हम उपशामनाका भाग उद्धृत करते हैं—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयणि अकरणावसामणाा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा

१ 'उत्तरपगतिउदीरणा अट्ठावण्णुत्तरसतभेदा'—क प्र चू।

२ 'यद्यप्युदीरणायामुदयसमकक्षतया प्रकृतीना द्वाविंश शतं कर्मस्तवटीकादावुक्तम्, इह तु अष्टपञ्चाशं शतं, तथापि तत्र बन्धनादीनां पृथग् न विवक्षा, इह तु पृथग् विवक्षेति न दोष।—कर्म प्र, उदी०, पृ०

३ गर्गर्षि प्रभृतिमते च बन्धन पञ्चदशकग्रहणादष्टपञ्चाशं शतम्।'—क० प्र० टी, पृ० ८।

४ 'निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज ॥१८॥' 'खीणकसाय खवगखीणकसायखवगे मोत्तूण सेसु उदओ णत्थि त्ति।—कर्म प्र, चू, उदी०।

५. कर्मका०, गा०।

त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देसकरणोवसा-मणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि । देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देस-करणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु । जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । एदाए एत्थ पयदं ।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८ ।

'करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि इयाए ।
अकरण अणुइन्नाए अणुओगधरे पणिवयामि ।।१।।

(चू०) 'करणकय' त्ति—करणोवसणा, 'अकरणकय त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ । 'वितियाए अकरणअणु इन्नाए'त्ति–वितिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोप-समणाते अणुओगधरे पणिवयामि त्ति किं भणिय होति ? करण क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपाषाणवट्टससारत्थस्स जीवस्स वेद-नादिभि कारणरुपशातता भवति सो अकरणोवसामणा, तात अणुओगो वोच्छि न्नो, तो त अजाणतो आयारिओ जाणतस्स नमोक्कार करेति । करणुपसमणाते अहिगारोत्थ ।।१।।' क० प्र० ।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये है । करणोपशामना और अकरणोप-शामना । अकरणोपशामनाके दो नाम है—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशा मना। इसका कथन कमप्रवादमें बतलाया है ।

कमप्रकृतिमे भी उक्त भेद करके अकरण उपशामनाके ज्ञाताओको नमस्कार किया हैं । उसकी चूर्णिमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कमप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते हैं ।

आचाय यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कमप्रवाद नामक आठवें पूवमें उसका कथन होनेका निर्देश करते है । किन्तु कमप्रकृतिकार उसके ज्ञाताको नमस्कार करते हैं । और उनके चूर्णिकार कहते है कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नही था क्योंकि वह विच्छिन्न हो चुका था । इन दो प्रकारके कथनोंसे दोनों चूर्णियोके कर्ता एक नही हो सकते ।

इसके सिवाय दोनों चूर्णियोमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोंकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है । दिगम्बर धमकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है । किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते हैं । श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदिकी

भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। किन्तु उसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिसके कारण उसे जैन महाराष्ट्री कहा जाता है। दोनोंका अन्तर दोनों चूर्णियोंमें परिलक्षित होता है। प० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा परिवर्तित की गयी है। इसके लिए उन्होंने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णिसे तथा कर्मप्रकृतिके टीकाकार मलयगिरि एवं यशोविजय उपाध्यायकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णि-वाक्योंको तुलनाके लिए दिया है। यथा—नाम पगडीतो = णाम पगईओ। इस तरहके परिवर्तन अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप हैं, शौरसेनीके नहीं। यतिवृषभके चूर्णि सूत्रोंमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है। अर्धमागधीके अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं और जैन महाराष्ट्रीमें भी परिवर्तन हुए है 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण' की तरह 'न', ये अर्धमागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं। अनेक स्थलोंमें महाराष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका सस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक हैं, यह बात कर्मप्रकृति चूर्णि और कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। अत टीकाकारोंकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णिवाक्योंमें मूलचूर्णिसे जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोंके द्वारा उद्धृत वाक्यों पर तत्कालीन प्रभाव है।

अत कर्मप्रकृति चूर्णि यतिवृषभकी कृति नहीं है। प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके रचयिताने ही उसकी चूर्णि भी रची हो तो कोई असभाव्य बात नहीं है क्योंकि चूर्णिकारने कई स्थानोपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त सन्देहकी पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए उदीरणा प्रकरणकी गाथा[1] ४७ के 'मणनाण सेससम' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिमें कहा है। 'ये सब बन्धशतकमें कहा है फिर भी असंमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है।' यह बात चूर्णिकारने चूर्णिमें किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा है। किन्तु हम देखते हैं कि पचसंग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पचसग्रहटीकामें[2] अपना उल्लेख अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है। हम इस सम्बन्धमें विशेष जोर डालनेकी स्थितिमें नहीं हैं फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वेषकोंके सामने रखना उचित समझते हैं। हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

---

१ 'एए बंधसतगे भणिया तहा वि असंमोहत्थ उल्लोइया—क० प्र० चू०।

२ 'अशोत्यमपि न हि न शिष्ट. अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवृत्तवान्'—पञ्च०, स०गा० १ की उत्थानिका 'भावनां सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्वं भावयति', 'एतदेव वृत्तिकारो भावयति',—पंचस०।

यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिके रचयिताके सामने थे।

चूर्णिका समय—

चूर्णिके कर्ताकी तरह चूर्णिका समय भी अनिश्चित है। जिस तरह जिनभद्र गणिके द्वारा कमप्रकृतिका उल्लेख मिलता है उसी तरह उसकी चूर्णिका उल्लेख नही मिलता अत जिनभद्रके सामने कमप्रकृतिकी चूर्णि उपस्थित थी या नही, यह निश्चयपूवक नही कहा जा सकता। किन्तु जिनभद्रगणिके विशेषावश्यक-भाष्यका उद्धरण अपनी पचसग्रह टीकामें देनेवाले चन्द्रर्षि महत्तरके सम्मुख पच-सग्रहका कमप्रकृति विभाग रचते समय कर्मप्रकृति की ही तरह उसकी चूर्णि भी उपस्थित थी, यह निश्चित है। चूर्णिमें एक गाथा[1] उद्धृत है जिसमें योग के नामान्तर दिये है। यह गाथा पचसग्रह[2] के मूलमें सम्मिलित कर ली गयी है। यह गाथा आवश्यक[3] चूर्णिमें भी है किन्तु उसके मूलस्थानका पता नही लग सका। गाथा अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिये। एक और गाथा क० चूर्णिमें उदधृत है जो कुन्कुन्दके समयसार की ८०वी गाथा है, यह समयसार से ही उद्धृत की गयी होनी चाहिये, क्योंकि समयसारमें कोई गाथा ऐसी नही है जिसे सग्रह गाथा कहा जा सके। अत कर्मप्रकृति चूर्णिकी रचना समयसारके पश्चात् हुई है। कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी ह। कमप्रकृति ही जब उसके शताब्दियों पश्चात् रची गयी है तब चूर्णिका तो कहना ही क्या है।

चूर्णिमे एक गद्याश और भी उद्धृत है—'सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ' यहाँ 'चदसूराण' (क० प्र० उदी० गा० ४८) यह अश नन्दीसूत्र ४३ में पाया जाता है। यद्यपि वाक्य नन्दीसूत्रमें भी कहीसे लिया गया प्रतीत होता है। तथापि अनेक बातो का ध्यान रखते हुए यही सम्भव प्रतीत होता है कि चूर्णिकारने उसे नन्दी-सूत्रसे लिया है। नन्दीसूत्र[4] वलभी-वाचनाके समय (वि० स० ५१३)की रचना माना जाता है। अत चूर्णिको उसके पश्चात्‌की रचना मानना चाहिए। इसे भी चूर्णिकी पूर्वावधि ही समझना चाहिए।

शतक-लघुचूर्णिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि उसके कर्ताके सामने कम-चूर्णि थी। उसका कर्ता भी पचसग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तरको माना जाता है और

---

१ 'जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा। सत्ती सामत्थ त्ति य जोगस्स भवति पज्जाया ॥१॥ —क० प्र०, चू० (बध०) गा० ३।

२ पञ्चसं० कर्म प्र०, गा० ४।

३ 'जीवपरिणामहेतो(त्) कम्मत्ता पोग्गला परिणमन्ति। पोग्गलकम्मणिमित्त जीवो वि तहेव परिणमति ॥ —कर्म प्र०, चू०, संक्र० गा० १।

४ जै० सा० इ० (गु०) पृ १४३।

पंचसंग्रहके दूसरे भाग कर्मप्रकृतिमें चूर्णिका पर्याप्त उपयोग किया गया है अतः कर्म चूर्णि उससे पूर्व रची जा चुकी थी। चन्द्रर्षि महत्तर का समय भी निश्चित नही है। किन्तु उन्होंने पञ्चसंग्रहकी अपनी टीका[1]में विशे० भाष्य से उद्धरण दिया है। अत वे विक्रमकी सातवीं शती से पहले नहीं हुए यह निश्चित है। उनकी उत्तरावधि अभी अनिश्चित है। फिर भी इतना निश्चित है कि वे बारहवीं शतीसे पहले हुए हैं क्योंकि मलयगिरि की वृत्तिके अनुसार तो चूर्णिकी रचनाका समय वि० सं० ५५०-७५० के मध्यमें जानना चाहिए।

शतक कर्मग्रन्थ (श्वे०)—

कमप्रकृतिमें तथा उसकी चूर्णिमें शतक नामक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है। जिससे प्रकट होता है कि कमप्रकृतिकारने कर्म-प्रकृतिकी रचना करनेसे पूव एक शतक नामक ग्रन्थ भी रचा था। कर्म प्रकृतिके बन्धन करण[2]की अन्तिम गाथामें कहा हैं कि—''इस प्रकार 'बन्धशतक'के साथ बन्धन-करणका कथन करने पर बन्ध-विधानका ज्ञान सुखपूवक शीघ्र होता है।' चूर्णिकारने चूर्णिमें कहा है कि शतकका बन्ध-शतक कहा है। मलयगिरिने अपनी टीकामें लिखा है कि इससे शतक और कम-प्रकृतिकी एककर्तृकताका आवेदन किया है।

चूर्णिकारने तो अपनी चूर्णिमे अनेक स्थलो पर शतकका निर्देश किया है। उदाहरणके लिए कमप्रकृतिके उदीरणाकरण[3]में अनुभागोदीरणाका कथन करते हुए कमप्रकृतिकारने कहा है कि 'अनुभाग-उदीरणामें सञ्ज्ञा, शुभ, अशुभ तथा विपाकका कथन अनुभागबंधमे जैसा कहा है वैसा जानना, जो विशेष है वह कहते हैं।' उसकी चूर्णिमें गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने कहा है कि 'बन्ध-शतकके अनुभागबन्धमें जैसा कहा है वैसा ही कहना चाहिए।' अत यह बात निर्विवाद है कि कमप्रकृतिका बड़ा भाई शतक नामक ग्रन्थ है।

विषय परिचय—

दूसरी और तीसरी गाथामें वणनीय विषयोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने

---

१ 'सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा। (वि भा गा ३०९६)।
—प० स० टी० गा० ८।

२ 'एव बंधणकरणे परूविए सह हि बंधसयगेण। बंधविहाणाहिगमो सुहमभिगत्तु लहु होइ ॥१०२॥ चू०—'एतंमि बंधकरणेसयगेणा सह परूविते 'बन्धसतगं'ति सतगमेव भण्णति। टी०—'एतेन किल शतक कर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या।'—क० प्र० बन्ध०, पृ० २०३।

३ 'अणुभागुदीरणाए सन्ना य सुभा-सुभा विवागो य। अणुभागबन्ध भणिया नाणत्तं पच्चया चेमे ॥४३॥ चू०—'अणुभागबन्ध भणिया' त्ति—बंधसयगस्स अणुभागबन्धे भणिया तहेव, भाणियव्वा।'—क० प्र० उदी० पृ० ६२।

कहा है—'जिन जीवस्थानों और गुणस्थानोंमें जितने उपयोग और योग होते हैं उन्हें कहे बन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग। इनमेंसे किस गुणस्थानमें कितने प्रत्यय होते हैं यह कहेंगे। ज्ञानावरणादि आठो कर्मोके बन्धके विशेष कारणोका कथन करेंगे। जिनगुणस्थानोमे जितन बधस्थान उदयस्थान और उदीरणा स्थान होते हैं उनका तथा उनके सयोगका कथन करेंगे। अन्तमें संक्षेपसे बन्धविधानका कथन करेंगे।'

उक्त विषयसूचीके अनुसार कथन करते हुए ग्रन्थकारने सबसे प्रथम गाथा ४-५ में चौदह जीवस्थानोंको कहा है। गाथा ६ में चौदह जीव समासोमें उपयोग (ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग) का कथन किया ह। गाथा ७ में योगका कथन है। गाथा ९ में चौदह गुणस्थानोके नाम गिनाये है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें अनेक गाथाए उद्धृत करके गुणस्थानोका स्वरूप समझाया है।

गाथा १०में केवल गतिमार्गणामें गुणस्थानोका निर्देश किया है। किन्तु चूर्णिमें चौदहो मागणाओमें गुणस्थानोका कथन सक्षेपसे किया है। गाथा ११ में गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन किया है। गाथा १२-१३ में गुणस्थानोमें योगका कथन है। यद्यपि गाथा १२ में ही योगका कथन हो जाता ह। किन्तु १३ वी गाथा मतान्तरकी सूचक है। उसके सबन्धमें चूर्णिकारन लिखा है कि किन्ही आचार्योके मतसे देशविरत और प्रमत्त-सयत गुणस्थानमे वक्रियिक काययोग हाता है उनके मतसे ऐसा पाठ है। शतककी ये दोनो गाथाए चन्द्रर्षिकृत पञ्चसग्रहकी गाथा (अ०-१-१८)की स्वोपज्ञ वृत्तिमें इसी क्रमसे उद्धृत है। गाथा १४-१५में गुणस्थानोमें बन्धके प्रत्ययोका कथन ह। गाथा १६ २६तक आठो कर्मोके बन्धके विशेष कारण बतलाये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके अन्तमें भी बतलाये गये हैं। किन्तु दशन-मोहनीय कमके बन्ध-कारणोमें मौलिक अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र[1]मे केवली श्रुत,सघ, धम और देवोके अवणवादको दशन मोहनीयके बन्धका कारण बतलाया है। और शतक[2]में अरिहन्त, सिद्ध चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, साधु और सघकी प्रत्यनीकताको बधका कारण बतलाया ह। गाथा २७ से ३७ तक आठो कर्मोंके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और उदीरणास्थानों तथा उनके सयोगका कथन है। तत्पश्चात प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्धका कथन है।

शतक नामक एक ग्रन्थ, जिसे प्राचीन कमग्रन्थ कहा जाता है, चूर्णि,भाष्य और

---

१ केवलिश्रुतसंघधर्मदेववर्णवादो दशनमोहस्य ।। त मू अ ६।

२ अरहतसिद्ध चेइय तवसुय गुरु साधु सघ पडणीओ। बधइ दसणमोहं अणत सारिओजेत ।।१८।। ५। तक

टीकाके साथ छपकर प्रकाशित हो चुका है। उसके दो संस्करण[1] हमारे सामने हैं। एकमें शतकके साथ चूर्णि भी मुद्रित है। इसपर श्रीशतक प्रकरण नाम मुद्रित है। दूसरे संस्करणमें शतकके साथ मलधारी हेमचन्द्र रचित टीका तथा चक्रेश्वराचार्य विरचित भाष्य मुद्रित है। चूर्णि[2] टीका[3]में उसे कर्म-प्रकृतिकार शिव-शर्म सूरिकी रचना बतलाया है। अत यह मानना होगा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें जिस शतक अथवा बन्ध-शतकका निर्देश है वह यही है। उनमें जिन विषयोंके लिए शतकका निर्देश किया है वे विषय भी प्रस्तुत शतकमें मिलते हैं।

चूर्णिकारने 'गाहापरिमाणेण सयमेत्त' तथा टीकाकारने 'गाथाशतपरिमाण-निष्पन्न यथार्थनामक शतकाख्य प्रकरणम्' लिखकर यह सूचन किया कि प्रस्तुत प्रकरणकी गाथा सख्या सौ है इसीसे इसका शतक नाम सार्थक है। किन्तु वास्तवमें दोनों ही संस्करणोमें गाथा परिमाण १०६ है। उन १०६ गाथाओंपर चूर्णि और टीका दोनो हैं। फिर भी शतक नाम रखनेका और तदनुसार सौ गाथा संख्या बतलानेका कारण यह जान पडता है कि आदिकी तीन तथा अन्तकी तीन गाथाए आरम्भ-परक और उपसहार-परक हैं। प्रतिपाद्य विषय मध्यकी सौ गाथाओमें ही पाया जाता है। अत 'शतक' नाम उचित ही है। इसका दूसरा नाम बन्धशतक भी है। कमप्रकृतिमें इसका उल्लेख बन्धशतक के नामसे है। चूर्णिकारने इसका खुलासा कर दिया कि शतकको ही बन्धशतक कहा है। अत चूर्णिकारके समयमें शतक नामसे ही इसकी ख्याति थी ऐसा प्रतीत होता है। शतकके उत्तरार्धमें बन्धका वणन होनेसे उसे बन्ध-शतक नाम दिया गया है। किन्तु शतककी एक सौ सात गाथाओंमें उसका कोई नाम नहीं दिया। प्रथम गाथा[4] में कहा है—'इस प्रकरणमें जीवस्थान और गुणस्थानोंके विषयमें दृष्टिवादसे सार-युक्त गाथाएं कहूंगा, उन्हें सुनो।' आगे गाथा[5] २-३में वर्णित विषयकी सूची दी है। उसमें कहा है— जिन जीवस्थानों और गुणस्थानोंके जितने उपयोग और योग होते

---

१ दोनों संस्करण राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित हुए हैं।

२ 'केण कय ? ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अणेगवाय समालद्धविएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कय।—चु०।

३ 'अनेकवादसमरविजयिभि श्रीशिवशर्मसूरिभि संक्षिप्ततर' सुखबोधं च गाथाशत-परिमाणनिष्पन्न यथार्थनामकं प्रकरणमभ्यधायीति।' श० टी०।

४ 'सुणह इह जीवगुणसंनिएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ। वोच्छं कइवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवायाओ ॥१॥—शतक।

५ 'उवओगा जोगविही जेसु य ठाणेसु जत्तिया अत्थि। जप्पच्चइओ बंधो होइ जहा जेसु ठाणेसु ॥२॥ बंधं उदयमुदीरणविहिं च तिण्हं पि तेसि संजोगं। बंधविहाणे य तहा किंचि समासं पवक्खामि ॥३॥—शतक।

हूँ उन्हें कहूँगा। जिन गुणस्थानोमें जिन-जिन कारणोसे कर्मबंध होता है, उन्हें कहूगा। बन्ध उदय और उदीरणाकी विधिको तथा उनके संयोगको कहूगा। तथा संक्षेपमें बंधके भेदोंका कथन करूगा'॥ अन्तमें गाथा[1] १०४में कहा है कि—"बिन्दुक्षेप रूप से इस बन्ध-समासका कथन किया। यह कमप्रवाद रूपी श्रुत-समुद्रका निस्यन्द मात्र है॥' गाथा[2] १०५में कहा है—'मुक्त अल्पज्ञानी मन्द-मतिने बन्धविधान समासको रचा, बन्ध-मोक्षके ज्ञाता कुशल पुरुष उसे पूरा करके कहें॥' इस अन्तिम गाथाके अनुसार तो यदि ग्रन्थको कोई नाम दिया जा सकता है तो वह बन्धविधान समास अथवा बन्धसमास है। उसी परसे ग्रन्थकारने उसे अपनी दूसरी कृति कमप्रकृतिमें बन्धशतक नाम दिया जान पड़ता है। उसके सम्बन्धमें और कुछ लिखनेसे पूव ग्रन्थका विषय-परिचय संक्षेपमें दिया जाता ह।

इस विषय परिचयसे प्रकट होता है प्रस्तुत शतक ग्रन्थ एक सग्रह-ग्रन्थ जैसा है। उसकी प्रथम गाथाके अनुसार भी उसके रचयिताने दृष्टिवादसे कुछ गाथाओका सम्भवतया सकलन किया ह। इसीस इसमें विविध विषयो का कथन पाया जाता है। इसका क्रमबद्ध प्रकरण बन्धसमास है, वही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु उसमे भी परिपूर्णता नही ह। गाथा ५२ ५३ में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतला कर जघन्य स्थितिको करनेकी प्रतिज्ञा की ह किन्तु जघन्य स्थिति नही बत लाई। शतकचूर्णिमे एक गाथा दी ह जिसमें जघन्य स्थितिका कथन है और चूर्णिकार ने उसकी व्याख्या भी की है किंतु उस गाथाको मूलमें सम्मिलित नहीं किया। हेमचन्द्र की टीकामें चूर्णिकी उसटीककी चर्चा तक नही है। प्रतिज्ञा करके भी कथन न करना कमप्रकृतिकार जसे आचार्यके लिए उपयुक्त नही है। अत बन्धशतककी गाथाए सगृहीत जान पड़ती हैं। इसका समथन ग्रन्थके प्रारम्भकी एक गाथासे होता है जो दोनो सस्करणोमें यथास्थान मुद्रित है किन्तु उसपर चूर्णि नही है और इसी लिए टीकाकारने भी उसे मूलमें सम्मिलित नही किया किन्तु अपनी टीकामें उसे उद्धृत करते हुए लिखा है—' यह[3] गाथा ग्रन्थके आदिम पायी जाती है किंतु

१ 'एसो बधसमासो बिंदु खेवेण वन्निओ कोइ। कम्मपवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥—। श।

२,— बधविहाणसमासो रइआ अप्प सुयमद मइणा उ। तं बधमोक्ख णिउणा पूरेऊण परिकहेतु ॥१०५॥'—श०।

३ 'अरहंते भगवंते, अणुत्तर परक्कमे पणमिऊणं। बंधसमये निबद्ध संग्रहणियमो पवक्खामि॥१॥—(इतीयं) गाथा आदौ दृश्यते, सा च पूर्वचूर्णिकारैरव्याख्यातत्वाद् प्रक्षेप गाथेति लक्ष्यते, सुगमा च। नवरं कर्मप्रकृतिप्राभृताद्युद्धृत्यसंग्रहमेनमन्तस्तत्त्वगृहीतं प्रवक्ष्यामि। कथभूतम्? इत्याह—'निबद्धम्' आरोपितम्, क्व? इत्याह 'बन्धशतके' प्रस्तुतप्रकरणे। इद हि शतगाथानिष्पन्नत्वाचच्छतकोऽभिधीयते। बन्ध एव चात्र

पूर्व चूर्णिकारोंने भी उसका व्याख्यान नहीं किया है इसीलिए यह प्रक्षेप-गाथा प्रतीत होती है और सुगम भी है।' फिर भी टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका शब्दार्थ कर दिया है। गाथामें कहा है—'अनुत्तर पराक्रमी अरहन्त भगवान्‌को नमस्कार करके बन्धशतकमें निबद्ध इस संग्रहको कहूंगा।'

टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका अर्थ इस प्रकार किया है—'कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत करके इस बन्धशतक नामके प्रकरणमें आरोपित इस संग्रहको कहूंगा।' सौ गाथाएं होनेके कारण इसे शतक कहा जाता है और चूंकि इसमें बन्धका ही विस्तारसे कथन किया जायेगा इसीलिए इसे बन्धप्रधान शतक बन्ध-शतक कहा है।'

इस गाथामें मंगलाचरणके साथ बन्धशतक नाम भी आ जाता है। इसे मूल ग्रन्थसे अलग कर देनेपर ग्रन्थ बिना मंगलका और बिना नामका रह जाता है। बन्धशतकके रचयिताकी दूसरी अमरकृति कर्मप्रकृति[1]के आरम्भमें भी इसी प्रकार गाथाके पूर्वार्द्धसे मंगल करके उत्तरार्द्धसे उसके प्रतिपाद्य विषयका सूचन किया गया है। अतः उक्त गाथाकी स्थिति विचारणीय है। उससे शतककी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है। बन्धशतक संग्रहात्मक होनेसे तथा प्रथम कृति होनेसे कर्मप्रकृति जैसी प्रौढ़ कृतिकी समकक्षता नहीं कर सकता और इसीसे उसके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह होना संभव है कि कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट बन्धशतक प्रस्तुत बन्धशतक नहीं है। किन्तु उसकी पुष्टिमें प्रबल प्रमाणोंका अभाव है।

शतक चूर्णि—

प्रस्तुत शतक पर एक चूर्णि उपलब्ध है जो मुद्रित हो चुकी है। यह लघु चूर्णि है इसके सिवाय एक बृहत्-चूर्णि भी थी। उसका उल्लेख हेमचन्द्रने तो अपनी शतक[2] टीकामें किया ही है, किन्तु मलयगिरि[3], देवेन्द्रसूरि[4] आदिने भी अपनी टीकाओंमें किया है। इसीसे टीकाकार हेमचन्द्रने प्रस्तुत मुद्रित चूर्णिको लघुचूर्णि कहा है। बृहच्चूर्णि अभी तक अनुपलब्ध है। लघुचूर्णिमें बृहच्चूर्णिका कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया। इससे निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि दोनोंमेंसे

विस्तरेणाभिधास्यते अतो बन्धप्रधान शतको बन्धशतकस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥१॥—शतक टी०।

१ 'सिद्ध सिद्धत्थसुयं वंदिय निद्धोय सव्वकम्ममलं। कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय संताणि वोच्छामि ॥ १ ॥—क० प्र०।

२ 'उक्तं च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे' (पृ ११)। 'एतच्च बृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिका भावनीयेति'—(पृ २८) श० टि०

३ 'उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ (पृ० १९, ३८, ७८,—पञ्चसं० टी०, पृ० १७७,१७२।

४ 'शतकबृहच्चूर्ण्यभिप्रायात्—शतक टी० पृ० १९०।

कौन पहले रची गयी थी। मलयगिरिने पञ्चसंग्रहकी टीकामें दोनोंका निर्देश किया है।

हेमचन्द्रकृत शतक टीकासे प्रकट होता है कि दोनो चूर्णियोंमें सैद्धान्तिक मत-भेद था।[1] गाथा ३५ की टीकामें श्री हेमचद्रने लिखा है—'लघुचूर्णिके अभिप्रायके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होनेमें कोई विरोध नहीं इसलिए गाथामें जो दसवें गुणस्थान सूक्ष्मसाम्परायमें शुक्लध्यान कहा है उसमें कोई विरोध नही है। किंतु बृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सूक्ष्म-सरागके भी धर्मध्यान ही होता है। गाथामे जो सूक्ष्म-सरागके शुक्ल ध्यान कहा है वह उपचारसे कहा है।' टीकाकारने दोनों ही मतोके समथक प्रमाण अपनी टीकामें दिये हैं।

चूंकि बृहच्चूर्णि अनुपलब्ध है अत लघुचूर्णिके सम्बन्धमे ही थोडा-सा प्रकाश डाला जाता है।

चूर्णिकारने कमप्रकृति चूर्णिको खूब अपनाया ह किन्तु उसका उल्लेख कम्म पयडिसगहणी नामसे ही किया है, कही चूर्णिरूपसे उसका स्वतन्त्र निर्देश नही किया।

लघुचूर्णिमें ग्रन्थान्तरोसे काफी पद्य उद्धृत किये गये हैं किन्तु हम उनमेंसे कुछ ही पद्योके मूल स्थानोको खोज सके। चौदह गुणस्थानोके नामोको बतलाने वाली गाथा ९ की चूर्णिमें चूर्णिकारने चौदहो गुणस्थानोका स्वरूप बतलाते हुए 'उक्त च करके अनक गाथाएँ उद्धत की हैं। उनमेंसे तीन गाथाएँ भगवती आराधना की हैं। क्वचित् शब्द-भेद अवश्य ह।

'पयमक्खर च एक्क पि जो णरो खेई सुत्तणिद्दिट्ठ।
सेस रोएता वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो॥'

यह गाथा भ० आ० की ३९वी गाथा है। इसमें केवल भाषा भेद सम्बन्धी अन्तर है। यथा 'पय' की जगह पद, 'रोचेई' की जगह 'रोचेदि' और 'रोएतो' की जगह 'रोचतो'।

दूसरी गाथा है—

सुत्त गणहरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहिय च।
सुयकेवलिणा रइय अभिन्नदसपुव्विणा कहिय॥'

---

१ श्रेणिव्यवस्थितस्य हि जन्तोर्द्वे मे शुक्लध्यानद्वयमपिलघु चूर्ण्यामभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्ल ध्यानस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते। बृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि-धर्मध्यानमेव। यत्पुनरिह शुक्लध्यानाभिधानं तदासन्नवीतरागभावमपेक्ष्योपचारतो द्रष्टव्यम्। —श टी पृ ३७।

भ०आ० की यह ३४वीं गाथा है। इसमें थोड़ा शब्दभेद है। यथा—'गणधर धणिदं, और 'सुयकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुव्विकथिद च'।

तीसरी गाथा—

'तं मिच्छत्तं जयसद्दहण तच्चाण जाण अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहिय अणभिउग्गहियं च तं तिविहं॥'

यह भा० आ० की गाथा ५६ है। इसमें केवल 'जाण'के स्थानमें 'होइ' पाठ है। शेष ज्यों-की-त्यों है। ये तीनों गाथाएँ एक साथ उद्धृत हैं। तथा श्वेताम्बर साहित्यमें हमें यह उपलब्ध नही हो सकीं। अत चूर्णिकारने इन्हें भगवती आराधनासे ही लिया जान पडता है।

सासादन गुणस्थानका वर्णन करते हुए चूर्णिकारने दो गाथाएँ उद्धृत की हैं उनमेंसे एक गाथा कसायपाहुडकी ९७वी गाथा इस प्रकार है—

'उवसामगो य सव्वो णिव्वाघाएण तह णिरासाणो।
उवसन्ते सासाणो णिरसाणो होइ खीणम्मि॥'

तीसरे गुणस्थानका स्वरूप कथन करते हुए पाँच गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमेंसे एक गाथा दिगम्बरीय प्राकृत पंच-सग्रह की है। गाथा इस प्रकार है—

सद्दहणासद्दहण जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो॥'

दर्शनके स्वरूपको बतलानेवाली नीचे लिखी गाथा दिगम्बर परम्पराके प्राकृत पच-सग्रह (१-१३८) गोमट्टसार (गा० ४८१) तथा द्रव्यसग्रह (गा० ४३) में पाई जाती है—

'ज सामण्णग्गहण भावाणं णेव कट्टुमायार।
अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णए समए॥'

यह गाथा भी शब्दभेदके साथ चूर्णिमें उद्धृत है। अन्य भी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं किन्तु उनका स्थल मिल सके तो चूर्णिका समय निश्चित करनेमें उससे बहुत सहायता मिलने की आशा है। एक गाथा विशेषावश्यक भाष्यकी भी उद्धृत होने से इतना निश्चित है कि चूर्णिकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पहले नहीं हुई।

चूर्णि में कतिपय मतभेदोंका भी निर्देश है—

---

१. भ० आराधनाके सम्बन्धमें जाननेके लिये देखो—'यापनीयोंका साहित्य' और भगवती आराधना और उनकी टीकाएँ' शीर्षक लेख। जै, सा इ में।

शतक गाथा ११ में पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच उपयोग बतलाये हैं—मति अज्ञान, श्रुताज्ञान, विभङ्ग, चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शन[1]। चूर्णिमें कहा है कि अन्य छै उपयोग मानते हैं अर्थात् विभङ्ग ज्ञानसे पहले अवधि-दर्शन भी मानते है। दिगम्बर परम्परामें प्रतिपादित पाँच उपयोगकी ही मान्यता है, उसमें कोई मतभेद नही है। श्वेताम्बर परम्परामें कार्मिको और सैद्धान्तिकोंमें अनेक मतभेद पाये जाते हैं। कार्मिक अर्थात् कर्मशास्त्रके वेत्ता सैद्धान्तिक अर्थात् आगमानुयायी। प्रज्ञापना सूत्रमें अज्ञानियोके भी अवधि-दर्शन माना है। किन्तु शतक, पञ्चसग्रह, आदिमें नहीं माना है।

सित्तरी—

सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक एक कर्मविषयक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें बहुमान्य है। इसके भी कर्ताका पता नही चल सका है। श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित ग्रन्थ सख्या ८६ में यह ग्रन्थ मलयगिरिकी टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है। उसमें इसे चन्द्रर्षि महत्तरकृत बतलाया है। किन्तु प्रस्तावनामें मुनिश्री पुण्यविजयजीने इसे भ्रामक बतलाते हुए इस प्रकारका भ्रम होने का कारण भी बतलाया है।

सप्ततिका प्रकरण मूलकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोके अन्तमें चन्द्रर्षि महत्तरके नामको लिये हुए एक गाथा इस प्रकार मिलती है—

> गाहग्ग सयरीए चदमहत्तरमयाणुसारीए।
> टीगाइ नियमियाण एगूणां होइ नउई उ ॥

टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमहत्तर आचार्यके मतका अनुसरण करनेवाली ७० गाथाओमें यह ग्रथ रचा गया है। उसमे टीकाकारोंके द्वारा रचित नई गाथाओके मिलनेसे गाथा सख्या नवासी हो गई है। इसके विवेचनमें लिखा है कि इस सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रमहत्तर आचार्यने तो पहले सत्तर ही गाथाएँ रची थीं, आदि।

उक्त गाथाके इस भ्रमपूर्ण अर्थके कारण ही सप्ततिकाको चन्द्रर्षि-महत्तरकृत मान लिया गया जान पडता है। किन्तु गाथाका अर्थ है—'चन्द्रर्षि महत्तरके मतका अनुसरण करनेवाली टीकाके आधारसे सत्तरिकी गाथा ८९ हो गई।' इसमें

---

१ 'अन्ने भणंति–ओहिदंसणसहिया छ उवओगा—श० चू पृ० ११। यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छाम। अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्टयादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते। यत उक्तं प्रज्ञप्तौ—।–पञ्चसं० मलयटीका भा०२, पृ०२९।

सित्तरी प्रकरणकी गाथाओंमें वृद्धि होनेका कारण बतलाया है। उसके कर्ताके विषयमें कुछ भी नहीं कहा। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी टीकामें इस विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। सित्तरीकी चूर्णिमें[1] भी उसके कर्ताका कोई निर्देश नहीं है। अतः सित्तरीके कर्ताका प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है। जैसे गाथा संख्याके आधारपर शतक नाम पड़ा वैसे ही गाथा संख्याके आधारपर इस ग्रन्थका नाम प्राकृतमें सित्तरी है। संस्कृतमें उसे सप्ततिका कहते हैं। मलयगिरि टीकाके अनुसार ग्रन्थ-की गाथा संख्या ७२ है। किन्तु चूर्णि सहित प्रकाशित सित्तरीमें गाथा संख्या ७१ है। इस अन्तरका कारण यह है कि मलयगिरि टीकाके अनुसार जिस गाथा-की संख्या २५ है उस गाथाको उक्त चूर्णि सहित सित्तरीमें मूलमें सम्मिलित नहीं किया है। यद्यपि उस पर भी चूर्णि है। किन्तु गाथाके आगे 'पाठतरं' छपा हुआ है और पादटिप्पणमें छपा है—'अन्यकर्तृका चेयं गाथा' अर्थात् यह गाथा किसी अन्यके द्वारा रचित है। यदि उसे मूलमें सम्मिलित कर लिया जाये तो सित्तरीकी गाथा संख्या ७२ समझनी चाहिये। श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगराकी ओरसे प्रकाशित हिन्दी अनुवाद सहित सप्ततिका प्रकरणमें भी गाथा ७२ ही है।

इन ७२ गाथाओंके सिवाय दस अन्य भाष्य गाथाएँ हैं जिन पर चूर्णि भी है और टीका भी है। तथा पाँच गाथाएँ और हैं उनपर भी चूर्णि और टीका है। ये गाथाएँ विवरणात्मक हैं। इनके सिवाय एक गाथा और भी है जो आवश्यक[2] नियुक्ति की है। इससे प्रतीत होता है कि मूल सप्ततिकाके व्याख्यानके लिए चूर्णि-कारके द्वारा ग्रन्थान्तरोंसे कुछ अन्य गाथाएँ भी सम्मिलित की गयी थी और मूल सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाओं तथा उन अन्य गाथाओंके मिल जानेसे उनकी संख्या ८९ हो गयी। तथा पश्चात् उन सम्मिलित की गयी गाथाओंको भी मूलकर्ता-की ही समझ लिया गया। यह बात मलयगिरिकी टीकासे प्रकट होती है। उसमें सम्मिलित की गई किन्हीं किन्हीं गाथाओं का निर्देश 'तथा चाह सूत्रकृत्' कहकर किया गया है, जो बतलाता है कि मलयगिरि उन्हे मूलकर्ताकी मानते हैं। किन्तु चूर्णिके अनुसार गाथा नं० ६२ और ६३ तथा टीकाके अनुसार गाथा नं ६३-६४ की व्याख्याके अन्तर्गत आयी तीन गाथाएँ दिगम्बरीय सप्ततिकाकी हैं। इस तरह-से सप्ततिकाकी गाथा संख्यामें अन्तर पड गया है।

---

१. मूल तथा अन्तर्भाष्यके साथ यह चूर्णि मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

२ 'संभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं। तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥१२७॥ आ० नि०।

रचयिता तथा रचनाकाल—

इस सप्ततिकाकी रचना किसने की यह भी अज्ञात है। चूर्णि वगैरहमें भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु सित्तरी और शतक दोनोंके आरम्भ और अन्तमें एकरूपता की झलक पायी जाती है। शतक की तरह सप्ततिकाके आदिमें भी मंगल नहीं किया गया है। शतककी गाथा १०४ में उसे कर्मप्रवाद श्रुत-सागरका निष्यन्द कहा है। सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें उसे दृष्टिवादका निष्यन्द कहा है।

सप्ततिकाकी पहली और अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सिद्धपए हि महत्थ बधोदयसन्तपगइठाणाण।
वोच्छ सुण सखव नीसद दिटठवायस्स ॥१॥
जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति।
त खमिऊण बहुसुया पूरे ऊण परिकहतु ॥७२॥

शतककी आदि तथा अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सुणह इह जीवगुण सन्निएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ।
वोच्छ कइवइयाओ गाहाओ दिटठीवायाओ ॥१॥
ऐसो बधसमासो बिन्दुक्खेवेण वन्निओ कोइ।
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्सदमेत्ताओ ॥१०४॥
बधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमद मइणा उ।
तं बधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥

यद्यपि भावगत तथा शब्दगत उक्त सादृश्य उल्लेखनीय है किन्तु उसके आधारपर कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि शतककी तरह ही सप्ततिकाका रचनाकाल प्राचीन है। क्योंकि जैसे जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृतिका निर्देश मिलता है वैसे ही सित्तरी[1] का भी निर्देश मिलता है। अत यह निश्चित है कि कमप्रकृति और उसमें निर्दिष्ट शतककी तरह ही सप्ततिकाकी भी रचना विक्रमकी सातवी शताब्दीके पश्चात्की नहीं है।

विषयपरिचय—

सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें बन्धप्रकृति-स्थान उदयप्रकृति-स्थान और सत्त्व-प्रकृति स्थानका सक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। कमप्रकृतिका विषय-

---

१ 'सयरीए मोहबंधट्ठाणा—॥९०॥ 'सयरीए दो वियप्पा ॥९१ ,सयरीय पच्चविहबंधयस्स . ॥९२॥ विशेषणवती।

परिचय कराते हुए दस करणोका अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस अवस्थाओंका स्वरूप बतला आये हैं। उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। उन्हीं-का विशेषरूपसे कथन इस ग्रन्थमें है। जिसका निर्देश दूसरी गाथामें किया गया है। उसमें कहा गया है—कितनी प्रकृतियोका बन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका वेदन (उदय) होता है तथा कितनी प्रकृतियोका बन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका सत्त्व होता है। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमे अनेक भग जानने चाहिये।' इन्ही भगोका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। यथा, गाथा तीनमें कहा है—आठो कर्मोंका अथवा सात कर्मोंका अथवा छह कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवोके आठो कर्मोंका उदय और सत्त्व होता है। (पाँच, चार, तीन या दो कर्मोंका बन्ध किसीके नही होता)। और एक कर्मका बन्ध करनेवाले जीवके तीन विकल्प होते हैं—एकका बन्ध, सातका उदय और आठकी सत्ता १, एकका बन्ध, सातका उदय और सातकी सत्ता २, एकका बन्ध, चारका उदय और चार की सत्ता ३। पहला विकल्प ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योकि उसके मोहनीय कर्मका उदय नही होता। दूसरा विकल्प बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योकि उसका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है। और तीसरा विकल्प तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योकि उसके चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं। और इन तीनो गुणस्थानोमें केवल एक सातवेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। गाथा चारमें उक्त भगोका कथन जीव-समासोमें और गाथा पाचमें गुणस्थानोमे किया है। आगे इसी प्रकारका कथन आठो कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोको आधार बनाकर किया गया है।

कर्म प्रकृति और सप्ततिकामे मतभेद—

कर्मप्रकृति और सप्ततिकामें कुछ मतभेद पाया जाता है। सप्ततिका गाथा २८ में नामकर्मके सत्त्व स्थान ९३ ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९, ८ ये बारह बतलाये है। और कर्मप्रकृतिमें (सत्ता० गा० ९) १०३, १०२ ९६, ९५ ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९-८ ये बारह सत्त्व स्थान नाम कर्मके कहे हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार पाँच बन्धन और पाँच सघात नाम कर्मोंको अलग गिनते हैं। किन्तु सप्ततिकामें उनकी पृथक गणना नही की। उनका अन्तर्भाव शरीरमें ही कर लिया है। सप्ततिका[1] चूर्णिमें 'अण्णे'[1] करके कर्मप्रकृतिके मतको आगम और युक्तिसे विरुद्ध कहा है।

सप्ततिका गाथा ६१ में अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया

---

१ 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतठ्ठाणाणि विगप्पयंति, ताणि आगमे जुत्तीहिय न घडंति।'—सि० चू०, पृ० २७।

है किन्तु कमप्रकृति (उपश० गा० ३१) में उसका निषेध किया है। सप्ततिका [1]चूर्णिमें 'अण्णेसि' करके उसका निर्देश किया है।

इससे यह निश्चित है कि सप्ततिका कमप्रकतिकार की कृति नहीं है। अत शतक और सप्ततिकाकी आद्य तथा अन्तिम गाथाओमें पाये जानेवाले सादृश्यके आधारपर उन दोनोंका कर्ता तब तक एक व्यक्ति नही माना जा सकता जबतक शतक को कर्मप्रकतिकारकी कृति न माना जाये।

कर्मस्तव

इस मूल ग्रन्थकी सख्या ५५ है। प्रारम्भिक[2] गाथामें जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके बन्ध, उदय और सत्त्वसे युक्त 'स्तव' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। इसी परसे इसका कमस्तव नाम प्रवर्तित हुआ प्रतीत होता है। क्योकि कमविषयक बन्ध उदय सत्त्वका ही इसमें विवेचन है। दिगम्बरीय प्राकृत पचसग्रहके अन्तगत तीसरा अधिकार कमस्तव नामक ह। इस अधिकारमे प्रकृत कमस्तवकी प्राय सभी गाथाएँ पाई जाती हैं अत इसके कमस्तव नाम के आधार पर ही उक्त पचसग्रह के तीसरे अधिकारको कर्मस्तव नाम दिया गया है। चन्द्रर्षिकृत पचसग्रहकी स्वोपज्ञ वृत्तिमे कर्मस्तवका उल्लेख मिलता है। अत प्रकृत ग्रन्थका कमस्तव नाम सुसिद्ध एव प्रसिद्ध है।

स्तवका प्रचलित अथ तो स्तुतिपरक ही ह किन्तु स्तव और स्तुतिमें अन्तर है। अगबाह्यके चौदह भेदोमेंसे एक भेद चतुर्विशति स्तव ह और एक भेद वन्दना है। चौबीस तीर्थङ्करोके स्तवनको चतुर्विशति स्तव[3] कहते हैं और एक तीर्थङ्कर विषयक स्तुतिको वन्दना कहते हैं। अत स्तुतिसे स्तव व्यापक होता है।

षटखण्डागमके वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारमें आगममें उपयोगके प्रकार वाचना, पच्छना प्रतीच्छना परिवतना अनुप्रेक्षा तथा स्तव स्तुति आदि

---

१ 'अण्णेसिं आयरियाण अणताणुबधीण उवसामणा नाम नत्थि, विसयोजणाणाम अणंताणुबधीणं भवति।' सि० चु० पृ० ६१।

२ 'नमिऊण जिणवारिंदे तिहुयणवरनाणदसणपईवे। बधुदयसत्तजुत्त वोच्छामि थयं निसामेह।' गोविन्दगणि की सस्कृत टीकाके साथ कमस्तव श्रीजैन आत्मानन्दसभा भावनगरसे(वि० स० १९७२) 'सटीकाश्चत्वार प्राचीना कर्मग्र था' के अन्दर प्रकाशित हो चुका है।

३ चउवीसत्थओ चउवीसण्ह तित्थयराण वदणविहाणं ।वदणा एकजिणजिणालयविषय ।' —षट्ख पु १, पृ ०६ ९७।

एगदुगेतिसलोका थुतीसु, अन्तेसि होइ जा सत्त। देविदत्थयमादी तेणं तु पर थया होइ ॥'—व्यव० सू० ७ उ०।

बतलाये हैं। इनका लक्षण बतलाते हुए[1] धवलाकारने 'सब अगोंके विषयोंकी प्रधानतासे बारह अगोके उपसहारको स्तव और बारह अगोमेंसे एक अंगके उपसहारको स्तुति कहा है। इससे भी यही व्यक्त होता है कि स्तव सकलांगी होता है और स्तुति एकागी होती है। अत उक्त कर्मस्तवमें अपने विषयका पूर्ण वर्णन है ऐसा ध्वनित होता है।

यह पहले बतलाया है कम की दस अवस्थाएँ होती हैं उनमें तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। कर्मोंके बधनेको बन्ध, समयपर फल देनेको उदय और बन्ध के पश्चात् तथा उदय से पूर्व स्थिति रहनेको सत्ता कहते हैं।

कम आठ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनके अवान्तर भेद क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच कहे हैं। नाम कम के बयालीस भेदो के भी अवान्तर भेद मिलाने से नामकर्मके ९३ भेद होते हैं इस तरह आठो कर्मोके कुल भेद १४८ होते हैं। उनमें भी अभेद विवक्षासे बन्धप्रकृतियोकी सख्या १२० और उदय प्रकृतियोकी सख्या १२२ ली गयी है किन्तु सत्त्व प्रकृतियो की सख्या १४८ ही ली गयी है।

मोक्षके लिये प्रयत्नशील जीवकी आन्तरिक अभ्युन्नति के सूचक चौदह दर्जे हैं जिन्हे गुणस्थान कहते हैं। ज्यो ज्यो जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें चढता जाता है उसके कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तामें ह्रास होता जाता है। पहले दूसरे तीसरे आदि गुणस्थानोमें कर्मोंके उक्त १२०, १२२ और १४८ भेदोंमेंसे किन किन कर्मोका बन्ध, उदय उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है यही कथन इस कर्मस्तवमें किया गया है।

गा० २-३ में बतलाया है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें सोलहका, दूसरे सासादनमें पच्चीसका और चौथे अविरत गुणस्थानमें दस प्रकृतियोके बन्धका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे पाँचवें गुणस्थानमें चारका, छठेमें छैका, सातवें में एकका, आठवेंमें छत्तीसका, नौवेंमें पाचका, दसवेंमें सोलहका और तेरहवें सयोग गुणस्थानमें एक सातावेदनीयका बन्धविच्छेद होता है।

गाथा चारमें बतलाया है कि चौदह गुणस्थानोंमें क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३०, १२ कर्मप्रकृतियोंका उदय रुकता चला जाता है। पाँचवी गाथामें कहा है कि पहलेसे तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ८, ४, ६, ६, १, २, १६, और ३९ कर्मोंकी उदीरणाका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे गा० ५, ६, ७ में सत्तासे विच्छिन्न होनेवाले कर्मोंकी संख्याका निर्देश है। आगे उन्हीका विस्तारसे कथन करते हुए बतलाया है कि किस-किस

---

१ वारसगसधारो सयलंगविसयप्पणादो ,थवो णाम। वारसगेसु एक्कंगोवसंघारो थुदी णाम।'—षट्खं०, पु ९, पृ २६२।

गुणस्थानमें कौन-कौन कमप्रकृतियोको बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता ह ।

कमस्तवके सबधमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें क्षीणकषाय गुण-स्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला की उदयव्युच्छित्ति बतलाई है। दिगम्बर परम्परामे यही मत सवमान्य है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें सत्कमका मत विशेष मान्य है जिसके अनुसार क्षपकश्रेणीमें और क्षीणकषायमें निद्रा प्रचला-का उदय नही होता। सप्ततिका उसकी चूर्णि कमप्रकृति और उसकी चूर्णिका यही मत है। नव्यकमग्रन्थके कर्ताने भी इसी मत को मान्य किया ह। अकेले चन्द्रर्षि महत्तरने कमस्तवका मत मा*य किया है।

रचनाकाल

इस ग्रन्थके कर्ताका पता न लग सकनेसे इसका रचनाकाल भी अनिश्चित है। फिर भी इसके अन्य ग्रन्थामे पाये जानेवाले उल्लेख आदिसे इसकी प्राचीनता व्यक्त होती है। इसकी वृत्ति गोवि*दाचायने रची ह। यह गोविन्दाचाय नाग देवके शिष्य थे। किन्तु उनके समयादिका भी पता नही चलता। इस वृत्तिकी ताडपत्रीय प्राचीन प्रति स १२८८ की लिखी हुई मिलती ह। अत यह सुनिश्चित है कि गोविन्दाचाय स० १२८८ से पहले हो गये है। और इसलिए कमस्तव उसस भी पहले रचा जा चुका था।

बन्धस्वामित्व नामक तीसरे प्राचीन कमग्रन्थके भी कर्ताका पता नही है उसमे कमस्तवका[1] का निर्देश किया गया गया ह। अत इससे कमस्तव पहल रचा गया था। बन्धस्वामित्वकी टीका वृद्धगच्छीय देव सूरिके शिष्य हरिभद्रसूरिन रची थी। यह वृत्ति अणहिल्ल[2] पाटकपुरमे जयसिहदेवके राज्यमे स० ११७२ म रची गयी थी। इसमें [3]कमस्तवटीका का निर्देश है। यह टीका गाविन्दाचायकृत ही जान पडती है। अत कमस्तवकी उक्त टीका स० ११७२ से भी पहले की है, इसलिये कमम्तव उससे भी पूवका है। दि० प्राकृत पचसग्रहके तीसरे अधिकार का नाम भी कमस्तव अथवा बन्धोदय सत्वाधिकार है। और उसमे उक्त कर्मस्तवकी गाथाएँ वतमान हं। तथा चन्द्रर्षिकृत पचसग्रहकी स्वोपज्ञ[4] टीकामे कमस्तवका

---

१ 'इय पुव्वसूरिकयपगरणेसु जडबुद्धिणा मय र*य। ब*धस्सामित्तमिणं नेय कम्मत्थय सोउ ॥५४॥'— ब० सा०।

२ 'अणहिल*पाट*फ पुरे श्रीमज्जयसि*ह देवनृपराज्ये,' ब सा टी प्रशस्ति।

३ 'आसा *शानामपि गाथानां पुनर्व्याख्यान कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यं'—बंस्सा टी।

४ एवमेका*श भङ्गा सप्ततिकाकार मतेन। कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—
—प सं स्वो भा २, पृ *२७।

निर्देश है। अत उक्त कर्मस्तव इन दोनों पचसग्रहोंसे प्राचीन है। वीरसेनकी धवला टीकामें उद्धृत अनेक गाथाएँ दि० पचसग्रह में ज्यो की त्यो पाई जाती हैं। अत दि० पचसग्रह विक्रमकी नौवी शताब्दीसे पहले रचा गया था और इस-लिए कर्मस्तव उससे भी पूवका है। चन्द्रर्षि के प्राकृत पचसग्रह की स्वोपज्ञ टीकामें विशेषावश्यक भाष्य का उद्धरण है और वि० भा० वि० स० ६८६ में रचा गया था। अत चन्द्रर्षि विक्रमकी सातवी शतीसे पूव नही हुए यह निश्चित है।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृति और सितरीका तो निर्देश है किन्तु कमस्तवका नही ह।

किन्तु उसके आधार पर यह निष्कष नही निकाला जा सकता कि इसलिए कमस्तव उसके बाद होना चाहिए। क्योकि कमस्तवका क्षीण कषायके उपान्त्य-समयमे निद्राद्विककी व्युच्छितिवाली बात श्वेताम्बर कार्मिकोके विरुद्ध हैं। और इसलिए कमस्तवकी ओर कट्टर पन्थियोकी अनास्था होना स्वाभाविक है जैसा कि आचाय मलयगिरिके वचनोसे प्रकट होता ह—

'केचित पुन क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्सत्कम-कमप्रकृत्यादिग्रन्थै सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते,—(सप्तति० टी०, पृ० १५८)

'अर्थात कोई आचाय क्षपक और क्षीणमोहोंमे भी निद्रा-प्रचलाका उदय मानते हैं, वह सत्कम और कमकृतिआदि ग्रन्थो से विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकारने भी शायद इसीलिए उसकी उपेक्षा की हो। कम-स्तवमें कर्मोंके नाम तथा भेदसख्यावाली गा० ८-९, शतक में ३८, ३९ न० पर हैं। इसी तरह गा० ४८ सप्ततिचूर्णिमे पृ० ६६ पर हैं। मलयगिरिने उसका उल्लेख 'तथाचाह सूत्रकृत' करके किया है। जिससे प्रकट होता हैं कि वह उसे सप्ततिकारकी मानते हैं।

इस सादृश्यसे भी कोई निष्कष निकालना तो सम्भव नही है। किन्तु सित्तरी और शतककी प्राचीनता की दृष्टिसे यही सम्भावना की जा सकती है कि सम्भवतया वह उन दोनो के पश्चात और दि० प० स के पहले रचा गया है।

दि० प्राकृत पञ्च संग्रह

पच सग्रह नामके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं दो प्राकृत में और दो संस्कृतमें। प्राकृत पंचसग्रह एक दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्पराका। यहाँ प्रथमकी चर्चा पहले की जाती है।

इस पच सग्रहको प्रकाशमे लानेका श्रेय वीर सेवा मन्दिर देहलीके प०

परमानन्दको ह । उन्होने 'अनेकान्त' वष ३, कि ३ में 'अति प्राचीन प्राकृत पंच सग्रह' शीषक से एक लेख प्रकाशित कराया था । उसीसे उसकी जानकारी प्राप्त हुई थी । अब तो यह प्रकाशित हो चुका है ।

इस पंचसग्रहमें न तो उसके रचयिताका ही कोई निर्देश है और न ग्रन्थका ही नाम है । अन्तमें एक वाक्य लिखा है 'इदि पचसगहो समत्तो ।' उसीसे यह प्रकट होता है कि इसका नाम पच सग्रह ह । इसमें पाँच प्रकरण है—जीव समास, प्रकृति समुत्कीतन, कमस्तव, शतक और सप्ततिका । अत पच सग्रह नाम तो उचित ही है । किन्तु यह नाम पीछेसे दिया गया है या पहलेसे रहा है यह चिन्त्य ह ।

जो दा सस्कत पच सग्रह है वे प्राय इसीको लेकर रूपान्तरित किये गये हैं, अत उनके नामसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना के समय यह इसी नामसे प्रसिद्ध था। अमितगति (वि स १०७३) न अपने पचसग्रहमे एक स्थानपर (पृ० १३१) लिखा ह—पचसग्रहके अभिप्रायसे यह कथन ह । अत पचसग्रह नाम ही प्रचलित था ।

विक्रमकी तेरहवी शतीके ग्रन्थकार प० आशाधरजीने भगवती आराधनाकी गाथा २१२४ पर रचित मूलाराधना दर्पण नामक टीकामे 'तदुक्त पञ्चसग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धतकी हैं । ये छहों गाथाएँ प्रकत प्राकत पचसग्रहके तीसरे अधिकारमें इसी क्रमसे पाई जाती है । हमारे जाननेमें आशाधरजो प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने प्राकत पचसग्रहका इस प्रकार स्पष्टरूपसे निर्देश किया है । इससे यह निर्विवाद रूपसे निर्णीत हो जाता है कि विक्रमकी तेरहवी शतीमें प्रकृत ग्रन्थ पचसग्रहके नामस ख्यात था तथा उससे पहले भी अर्थात सस्कृत पचसग्रहके रचनाकालमें भी उसे पचसग्रह कहते थे ।

विक्रमकी नौवी शतीके प्रसिद्ध जैनाचाय वीरसेनने अपनी धवलाटीकामें 'उक्त च' करके बहुत सी गाथाएँ उद्ध त की है । उनमें बहुत सी गाथाएँ इस प्राकृत पचसग्रहमें वतमान हैं । षट्खण्डागमके सतप्ररूपणा' नामक प्रथम पुस्तककी धवलाटीकामें उद्ध त जिन गाथाओको पादटिप्पणमें गोमट्टसार जीवकाण्डमें पाई

१ प्राकृत पञ्च संग्रह सुमति कीर्ति का टीका तथा प० हीरालाल जी की भाषा टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६० में प्रथमबार प्रकाशित हुआ है । इसी मे उसकी प्राकृत चूर्णि तथा श्रीपाल सुत डड्ढा विरचित सस्कृत पचसग्रह भी प्रथमबार प्रकाशित हुआ है । दूसरा प्राकृत पचसग्रह स्वोपज्ञ और मलय गिरि की वृत्ति के साथ मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोई (गुजरात) से सन् ३७ ३८ में प्रकाशित हुआ है । अमितगतिकृत पचसग्रह मूल माणिक चन्द ग्रन्थ माला बम्बई से प्रथमबार प्रकाशित हुआ था ।

जानेवाली बतलाया है और जिनकी सख्या सौ से भी ऊपर है, वे सब गाथाएँ पचसग्रहके प्रथम अधिकारमें जिसका नाम जीव समास है, पाई जाती हैं।

उसपरसे प० परमानन्दजीने अपने लेख में यह निष्कर्ष निकाला था कि धवलाकारके सामने पचसग्रह अवश्य था। इसपर आपत्ति करते हुए मुख्तार श्री-जुगलकिशोरजीने लिखा था—'कम-से-कम जबतक धवलामें एक जगह भी किसी गाथाके उद्धरणके साथ पचसग्रहका स्पष्ट नामोल्लेख न बतला दिया जाये तबतक मात्र गाथाओंकी समानता परसे यह नही कहा जा सकता कि धवला में वे गाथाएँ इसी पचसग्रह परसे उद्धृत की गई हैं जो खुद भी एक सग्रह ग्रन्थ है।' (पु० वाक्य सू० प्रस्ता०, पृ० ९५)।

मुख्तार साहबकी आपत्ति बहुत ही उचित थी। किन्तु धवला[1]में ही एक स्थान पर 'जीवसमासए वि उत्तं' करके नीचेकी गाथा उद्धत है—

> छप्पंच णव विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
> आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥

यह गाथा पचसग्रहके अन्तगत जीव समास नामक प्रथम अधिकारमें मौजूद है और सत्प्ररूपणाकी धवलामें उद्धृत लगभग १२५ गाथाएँ भी जीव समास नामक अधिकारकी ही हैं। अत इस उद्धरण से यह बात तो निर्विवाद हो जाती है कि पचसग्रहका कम-से-कम जीव समास नामक अधिकार तो वीरसेन स्वामी के सामने वतमान था। किन्तु जहाँ उक्त उद्धरणमे यह बात सिद्ध होती है वहाँ एक शका भी होती ह कि वीरसेन स्वामीने पंचसग्रहका नामोल्लेख न करके उसके अन्तगत अधिकारका नाम निर्देश क्यो किया ?

यदि धवलामें केवल जीव समाससे ही उद्धरण लिये होते तो कहा जा सकता था कि पचसग्रहके अन्य अधिकार वीरसेन स्वामीके सामने नही थे। किन्तु 'उक्त च' करके उद्धृत कुछ गाथाएँ पचसग्रहके अन्य अधिकारो में पाई जाती है। इसीसे हमें यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि पचसग्रह नाम क्या पीछे से दिया गया है। इस सन्देहके अन्य भी कारण हैं और उन्हें बतलाने के लिये ग्रन्थकी आन्तरिक स्थिति आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। उससे पहले एक आवश्यक जानकारी करा देना उचित होगा।

पंचसंग्रह नामकी सार्थकता—

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पचसग्रहके आरम्भमें पचसग्रह नामकी साथकता बतलाते

1—षट्खं पु० ४ पृ० ३१५।

हुए कहा है कि इस ग्रन्थमें [1]शतक आदि पाँच ग्रन्थोको सक्षिप्त किया गया है अथवा इसमें पाँच द्वार हं इसलिए इसका पचसग्रह नाम साथक है। शतक आदि पाँच ग्रन्थोका नाम ग्रन्थकार ने नही बताया। किन्तु उनकी स्वोपज्ञ[2] टीकामें कमस्तव और सप्ततिका ग्रन्थोका नाम आया है। तथा दूसरे भागका नाम कर्म-प्रकति है जो शिवशमरचित कमप्रकृतिके आधार पर रचा गया है। अत तद नुसार शतक, सप्ततिका, कमप्रकति और कमस्तव इन चार ग्रन्थोका इस पच-सग्रहमें सक्षेप किया गया है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु टीकाकार[3] मलय-गिरिने लिखा है कि इस पचसग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृत सत्कम, और कमप्रकति इन पाच ग्रन्थोका सग्रह है अथवा योगोपयोग विषय मागणा, बधक, बधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच अर्थाधिकारोका सग्रह ह इसलिए इसका नाम पचसग्रह ह। पचसग्रह नामके इस अथके प्रकाशमे एक अथ तो दि० प० स० मे स्पष्टरूपसे घटित होता ह कि उसमें भी जावसमास कमप्रकतिस्तव, बन्धोदयो दीरणास्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच अधिकार हैं, इसलिए इसका पच-सग्रह नामका साथक ह। किन्तु क्या श्वे० प० स० की तरह दि० प० स० में भी पाँच ग्रन्थोका सग्रह किया गया ह यह प्रश्न विचारणीय ह इसके समाधान के लिए हमे प्रत्यक अधिकार का तुलनात्मक परिशीलन करना हागा।

१ जीव समास और सत्प्ररूपणा

इस दि० प० स० के प्रथम अधिकार का नाम जीवसमास ह। इसमे २०६ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथा मे अरहन्तदेवका नमस्कार करके जीवका प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की ह। इस गाथापर प्राकतमे चूर्णि भी ह। दूसरी गाथामे गुण स्थान जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, सज्ञा, चौदह मागणा और उपयाग इन २० प्ररूपणाओको कहा ह। इन्ही बीस प्ररूपणाओका कथन इस जीव समास नामक अधिकारमें ह। षटखण्डागम के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणा सूत्रो में भी गुणस्थान और मागणाओका कथन ह। किन्तु इस प्रकारसे बीस प्ररूपणाआ का कथन उसमे नही है। सत्प्ररूपणा सूत्रोको धवला टीकामें गुण स्थान और मागणाओका कथन वीर-

---

१ सयगाइ पच गथा जहारिह जेण येत्थ सखित्ता। दाराणि पच अहवा तेन जहत्थाभि हाणमिद ॥२॥ —श्वे० प० स०।

२ एवमेवादश भङ्गा सप्तति काकारमतेन। कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति ततश्च त्रयोदशभङ्गा —प० सं० स्वो टी० भा० ३ गा० १४।

३ 'पचाना शतक सप्ततिका कषायप्राभत सत्कर्म कर्मप्रकृति लक्षणाना ग्र थानां अथवा पंचानामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणा —बधक बंधव्य बंधहेतु बंधविधि लक्षणानां सग्रह पच संग्रह। —श्वे० पं० स०, टी० पृ० ३।

सेन स्वामीने जीव समास नामक अधिकारके आधार पर ही किया है और उससे लगभग सवा सौ गाथाए भी प्रमाणरूपसे उद्धत की है।

सत्प्ररूपणामे पहले मार्गणाओका निर्देश है पश्चात गुणस्थानोका और पच-संग्रह गत जीवसमासमें पहले गुणस्थानोका कथन है पीछे मागणाओका। सत्प्ररूपणा सूत्र ४ की धवलामें चौदह मागणाओंका सामान्य कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने चौदह मार्गणाओसे सम्बद्ध १६ गाथाए प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं जो प० स० के जोवसमास अधिकारमे ज्यो-की-त्यो वतमान हैं। आगे गुण-स्थानोके वर्णनमे तेईस गाथाएँ प्रमाणरूपसे उद्धत की हैं। ये सब भी इसी प्रमाण में वतमान है। और जीवसमासाधिकारमें उनकी क्रम सख्या क्रमश ३, ६, ७, ९, १०, १२, ११, १३ ×, १४, १५, १६, १७ १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७ २९, ३०, ३१ है। इनमेंमे क्वचित् ही साधारण-सा पाठ भेद पाया जाता ह और केवल एक जगह गाथाका व्यतिक्रम है। सत्प्ररूपणा में गुण-स्थानोके पश्चात् मागणाओका विशेष कथन हैं उसकी धवलामें भी प्रत्येक मागणा के प्रकरणमें जीव समासकी गाथाए उद्धत हैं।

गति[1] मागणा में पाच गाथाएँ पाचो गति सम्बन्धी उद्धत हैं और उनकी क्रम स० जी० स० मे क्रमस ६० से ६४ तक हैं। इन्द्रिय मागणामें जी० स० की गा० न० ६६, ६७ और ६९ क्रमसे उद्धत हैं। आगे क्रमसे चार गाथाएं और उद्धृत हैं जिनमे दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोको उदा-हरण के रूप मे गिनाया है। जी० स० में भी गा० ६९ से आगे (७०-७३) चार गाथाओ से दो इन्द्रिय आदि जीवोको गिनाया ह किन्तु दोनो ग्रन्थो की केवल इन्ही गाथाओमें मेल नही है, भिन्नता है। नीचे उन चारो गाथाओको दिया जाता है।

पञ्चसग्रह गत जीव समासमें ये चारो गाथायें इस प्रकार पाई जाती है—

> खुल्ला वराड सखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गडोला।
> कुक्खि किमि सिप्पिआइ णेया बेइदिया जीवा ॥७०॥
> कुथु पिपीलिय-मक्कुण-विच्छिय-जू विंद गोव गु भीया।
> उत्तिग मट्ठियाई (?) णेया तेइदिया जीवा ॥७१॥
> दस-मसगो य-मक्खिय गोमच्छिय-भमर-कीड-मक्कडया।
> सलह-पयगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ॥७२॥
> अडज पोदज-जरजा-रसजा संसेदिया य सम्मुच्छा।
> उब्भिदिमोववादिय णेया पंचिंदिया जीवा ॥७३॥

---

१ षट्खं० पु० १, पृ० २०२-२०४।

और धवला में उद्धृत गाथाएँ इस प्रकार हैं—

कुक्खि किमि सिप्पि सखा गडोलारिट्ठ अक्ख खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे ॥१३६॥
कुंथु-पिपीलिक-मक्कुड विच्छिय-जू इंदगोव गोम्ही य ।
उत्तिंगणट्टियादी णेया तेइंदिया जीवा ॥१३७॥
मक्कडय भमर-महुवर-मसय-पयंगा य सलह गोमच्छी ।
मच्छी सदस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा ॥१३८॥
सस्सेदिम सम्मुच्छिम उब्भेदिम-ओववादिया जीवा ।
रस पोदंड जरायुज णेया पंचिंदिया जीवा ॥१३९॥'

—षट ख० पु० १, पृ० २४१-२५६ ।

इनमेंसे तेइन्द्रिय जीव सम्बन्धी गाथा में तो कोई अन्तर नही हैं, किन्तु शेष तीनो गाथाएँ भिन्न हैं और साथ मे ही यह भी उल्लेखनीय है कि आगे १४० में जो गाथा उदधृत है वह भी जी० स० मे गाथा ७३ से आगे यथा क्रम पाई जाती है । मध्यकी केवल इन तीन गाथाओंमें ही भेद होनेका कारण समझमें नही आता ।

काय मार्गणामें ग्यारह गाथाए उदधृत हैं ये गाथाए भी जीव समासमें हैं केवल उनके क्रममे अन्तर है । धवलामें उद्धृत गाथा १४४ का नम्बर जी० स० में ८७ है । १४५ से १४८ तक एक साथ उद्धृत गाथाओ की क्रमसंख्या जी० स० में ८२ से ८५ तक है । और १४९ से १५३ नम्बर तक उद्धृत गाथाओकी संख्या जी० स० में ७७ से ७८ तक यथाक्रम है । योग मार्गणामें १२ गाथाए उद्धृत हैं । उनमें अन्तिम गाथाको छोडकर, जो धवलामें प्रथम उदधृत है, शेष गाथाएँ जी०स० में यथाक्रम पाई जाती है । उनमेंसे केवल तीन गाथाओके प्रथम चरणमें पाठभेद है—ओरालिय मुत्तत्थ, । 'वउव्विय मुत्तत्थ' और 'आहारय मुत्तत्थ' इन तीन प्रथम चरणोके स्थानमें जीवसमास में 'अतोमुहुत्त मज्झ' पाठ पाया जाता है । इस मार्गणामें दो गाथा और भी उद्धृत हैं जो जी० स० में पाई जाती हैं ।

वेद मार्गणामें चार गाथायें उद्धृत है चारो यथाक्रमसे जी० स० मे वर्तमान है ।किन्तु कसाय मार्गणामें उदधृत गाथाओकी स्थिति इन्द्रिय मार्गणाके तुल्य हैं । दोनो की चार गाथाओमें अन्तर पाया जाता है ।

धवला मे उद्धृत वे चार गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिल पुढवीभेद धूली जलराईसमाणओ हवे कोहो ।
णारय तिरिय णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१७४॥

सेलट्ठि कट्ठिवेत्ते णियभेएणणु हरतओ माणो ।
णारय तिरय णरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥१७५॥
वेलुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तोएण खोरप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरेसु जणइ जिअ ॥१७६॥
किमिराय चक्क तणु मल हरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारय तिरिक्ख-माणुस देवसुप्पायओ कमसो ॥१७७॥

—(पृ० ३५०)

जी० स० (प० स०) में ये गाथाए इस प्रकार है—

सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा ।
णिर तिरि णर देवत्त उविंति जीवा हु कोहवसा ॥११२॥
सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तसमो ।
णिर-तिरि-णर देवत्त उविंति जीवा हु माणवसा ॥११३॥
वसीमूल मेसस्स सिग गोमुत्तिय च (खोरप्प) ।
णिर तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु मायवसा ॥११४॥
किमिराय चक्क मल कद्दमो य तह चेय जाण हारिद्द ।
णिर तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११५॥

यहाँ भी आगे की गाथा दोनोमें समान है ।

ज्ञानमार्गणामें ८ गाथाएँ उद्धृत है जो जी० स० में यथाक्रम है। सयम मार्गणामें उद्धृत ८ गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम है। मध्यकी केवल एक गाथा सयमासयमवाली ऐसी है जो धवलामें छोड दी गई है। दर्शन मार्गणा में उद्धृत तीन गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम है। लेश्या मार्गणामें उद्धृत दस गाथायें भी जी० स० में यथाक्रम है। किन्तु सम्यक्त्व मार्गणामें उद्धृत पाच गाथाओमें से जी० स० में शुरु की तीन गाथायें तो यथाक्रम है अन्तकी दो गाथाओंमें से उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाने वाली गाथा भी जी० स० में है किन्तु वेदकसम्यक्त्ववाली गाथा नही है उसके स्थान में अन्य गाथा है। इस तरह सत्प्ररूपणा सूत्रों की धवला टीका में उद्धृत बहुत-सी गाथायें पचसग्रह के प्रथम अधिकारमें वर्तमान हैं केवल उक्त गाथाओ की स्थिति चिन्त्य है। जीव समास अधिकारमें गाथा १८२ तक बीस प्ररूपणाओका कथन समाप्त हो जाता है। यहाँ तकका कथन क्रमबद्ध और व्यवस्थित है। किन्तु आगेका कथन वैसा व्यवस्थित नही है। १८२ वी गाथामें बीस प्ररूपणाओंके कथन का उपसहार करनेके पश्चात् पुन लेश्याओका वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। यह कथन दस गाथाओंमें है। इसमें जीवोंके गतिके अनुसार द्रव्यलेश्या और भावलेश्याका कथन

किया है। यह कथन लेश्या मार्गणामें ही होना चाहिए था संस्कृत प० स० मे ऐसा ही किया गया है।

लेश्याओं का कथन समाप्त होने के बाद सिद्धान्त की फुटकर विशेष बातोका सग्रह है—जिनमे बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि कहा-कहा उत्पन्न नही होता। कौन सयम किस किस गुणस्थानमे होता है? फिर सात समुद्घातों का कथन है। केवलिसमुद्घात का कथन करते हुए एक गाथामे कहा है कि छै मास आयु शेष रहने पर जिन्हे केवलज्ञान होता है वे केवली नियमसे समुद्घात करते हैं। शेषके लिये कोई नियम नही है। यह गाथा इस प्रकार है—

छम्मासाउगसेसे उप्पन्न जेसि केवल णाण।
ते णियमा समुग्घाय सेसेसु हवति भयणिज्जा ॥ २०० ॥

यह गाथा धवलामे इस रूपमे उद्धृत है—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्ण जस्स केवल णाण।
स समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥
(षट् पु० १, पृ० ३०३)

भगवती आराधनामें यह गाथा इस रूपमें पाई जाती है—

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चति समुग्घाय सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९ ॥

गाथा के इन रूपो को देखते हुए यह कहना तो शक्य नही है कि धवलाकारने उक्त गाथा उसी जीव समास से उद्धृत की है या भ० आराधना से। किन्तु इसी सम्बन्ध में उन्होने एक गाथा और उद्धृत की है जो भ० आराधनाकी २११० वी गाथा[1] है यद्यपि उसमे भी पाठ भेद है। अत सभव है उन्होने उक्त दोनो गाथा भ० आराधना से ही ली हो। किन्तु वीरसेन[2] स्वामी ने इन दोनो गाथाओ को आगम नही माना है। जब कि जीव समास से उद्धृत गाथा का आर्ष कहकर उल्लेख किया है और तत्वार्थ सूत्र से भी उसे प्रथम स्थान दिया है।

वह उद्धरण इस प्रकार है—

'के ते एकेन्द्रिया? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय। एतेषा स्पर्शनमेकमेवे-

---

१ जेसिं आउ समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च। ते अकय समुग्घाया वज्जंतियरे समुग्घाए॥' 'जेसिं आउसमाइ णामगोदाइ वेदणीयं च। ते अकद समुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२११०॥

२ एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावात्। आर्षेवाऽस्तु गाथयोरेवोपादानम्।—षट० खं०, पु० १ पृ० ३८४

न्द्रियमस्ति न शेषाणीति कथमवगम्यते ? इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एते इति प्रतिपादककार्योपलम्भात । क्व तत्सूत्रमिति चेत कथ्यते—

'जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्त थावरु एइदिओ तेण ।। १३५ ।।

'वनस्पत्यन्तानामेकम' इति तत्वाथसूत्राद्वा— (षटखं, पु० १, प० २३९) ।

शका— वे एकेन्द्रिय जीव कौन से हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ।

शका—इन पाचो के एक स्पशन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रिया नही होती यह कैसे जाना ?

समाधान—पथिवी आदि जीव एक स्पशन इन्द्रिय वाले ही होते हैं, इस प्रकार का कथन करनेवाला आपवचन पाया जाता है ?

शका—वह सूत्र रूप आष वचन कहाँ है ?

समाधान—उसे कहते है—'क्योकि स्थावर जीव एक स्पशन इन्द्रियके द्वारा ही जानता ह देखता ~ खाता है सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसलिये उसे स्थावर एकेन्द्रिय कहते है ।,

अथवा 'वनस्पत्यन्तानामेकम' तत्वाथ सूत्र के इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पशन इन्द्रिय ही होती ह ।'

उक्त आष रूपसे उद्धत गाथा जीव समासकी ६९वी गाथा है । अत जीव समासका वीरसेन स्वामीके चित्तम बहुत आदर था, यह स्पष्ट है । चूकि जीव-समास नामका अन्य काई ग्रन्थ उपलब्ध नही है और न उसके अस्तित्वका ही कोई सकेत मिलता है, अत यही मानना पडता है, कि वीर सेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत जीव समास पच सग्रह के अन्तगत जीव समास नामक अधिकार ही होना चाहिये ।

श्वेताम्बर साहित्य म जीव[1] समास प्रकरण नामका एक गाथाबद्ध प्राचीन ग्रन्थ है जिसका सकलन इसके एक[2] उल्लेख के अनुसार दृष्टि वाद अग से किया गया है । चूकि पञ्चसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है अत हमें सन्देह हुआ कि जीव समास नामक अधिकार कही उसका तो ऋणी नहीं है किन्तु दोनों-का मिलान करने पर हमारा सन्देह ठीक नही निकला । यद्यपि यत्र तत्र कुछ

१ श्री जीवसमास प्रकरण मलधारी हेमचन्द्र रचित वृत्ति के साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हो चुका है ।

२ बहुभंग दिट्ठीवाए दिट्ठत्थाण जिणोवइट्ठाणं । धारण पत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उव उत्तो ॥२८५॥—जी० स० ।

गाथाएँ ऐसी हैं जो दोनो में पायी जाती हैं—चौदह गुण स्थानो की नाम सूचक दो गाथाएँ, जिनकी सख्या श्वे० जी० स० मे ८–९ और दि० जी० स० में ४–५ है पर्याप्ति के नामादि बतलानेवाली गाथा, जिसकी क्रमसख्या श्वे० जी० स० में २५ और दि० जी० स० में ४४ ह, 'मुलग्ग पोरबीया' इत्यादि गाथा। दो एक गाथाओका केवल पूर्वाध दोनो में समान ह। इसके सिवाय और कोई ऐसी बात नही मिलती जिसके आधार पर कहा जा सके कि एक का दूसरे पर प्रभाव है। दोनोका विषय वणन आदि स्वतत्र है। हा, नामसाम्य अवश्य है।

फिर भी यह बात नही भुलाई जा सकती कि पच सग्रह एक सग्रहात्मक ग्रथ है। और जीव समास अधिकार भी उससे अछूता नही है।

ऊपर जो एक गाथा 'छम्मासाउग सेसे' उद्धत की गयी है, जो कि भगवती आराधना में भी है और जिसके वीरसेन स्वामीने आगमरूप होनेमें सन्देह किया ह, उसकी स्थिति सन्देह कारक है क्योकि जिसके वचनोको वह आष रूपमें उपस्थित करें उसमें ही एक ऐसी गाथा पाया जाना, जिसके आगमरूप होनेमें सन्देह है, इस जीव समास की स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है। सम्भव है उसका सग्रह भगवती आ० से ही सग्रहकार ने किया हो क्योकि उससे आगेकी एक गाथाको छोडकर तीन गाथाएँ कसायपाहुडकी है जो इस प्रकार है—

> दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो य।
> णियमा मणुसगईए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥२०२॥
>
> खवणाए पट्ठवगो जम्मि भव णियमदो तदो अन्ते।
> णादिक्कदि तिण्णि भव दसणमोहम्मि खीणम्मि ॥२०३॥
>
> दसणमोहस्सुवसामगो दु चउसुवि गईसु बोहव्वो।
> पर्चिदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥२०४॥

इसी तरह और भी कुछ गाथाए सगृहीत हो सकती है।

पच सग्रहके दूसरे अधिकार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है। इसकी पहली गाथा में भी जीव समासकी तरह हो मगलपूर्वक प्रकृति समुत्कीतनको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई ह। इसमें १२ गाथाएँ और कुछ प्राकृत गद्य ह। जैसा इसके नाम से व्यक्त होता है इस अधिकार में आठों कर्मों के नाम और उनकी प्रकृतियोंका कथन है।

आठो कर्मोंके नामोको बतलानेवाली गाथा उनकी प्रकृतियोकी सख्या सूचक गाथा कर्मस्तवमें वर्तमान है। तीसरे अधिकारमे कमस्तवकी बहुत-सी गाथाएँ हैं, अत मानना पडता है कि ये दोनो गाथाएँ भी उसीकी हो सकती हैं। कर्मोंकी

प्रकृतियोंकी गणना गद्यमें है वह गद्य षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणकी चूलिका-के अन्तगत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके सूत्रोंसे बिल्कुल मिलती है। मेल और अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए थोडा-सा नमूना दे देना पर्याप्त होगा।

'णाणावरणीयस्स कम्मस्स पच पयडीओ ॥१३॥ आभिणिबोहियणाणावर-णीय सुदणाणावरणीय ओहिणाणावरणीय मणपज्जवणाणावरणीय केवलणाणा-वरणीय चेदि ॥१४॥—(षटखे० पु०, ६ पृ० १४-१५)

'ज णाणावरणीय कम्म त पचविह'। आगे ऊपर की तरह ही है, इसी प्रकार आठों कर्मो में समझना चाहिये। इस अधिकारका नाम भी चूलिकाके 'प्रकृति समुत्कीतन' नामका ही ऋणी है। अत यह दूसरा अधिकार चूलिका के प्रकृति समुत्कीतन अधिकार के आधार पर ही रचा गया प्रतीत होता है।

गद्यात्मक सूत्रोमें आठो कर्मो की प्रकृतियोको बतलानेके बाद कुछ गाथाएँ आती है, उनमें बध प्रकृतियोकी और उदय प्रकृतियोकी सख्या बतलाते हुए उद्वेलन प्रकृतियोको और ध्रुवबन्धी तथा अध्रुवबन्धी प्रकृतियो को गिनाया है।

तीसरे अधिकारका नाम बन्धोदय सत्ताधिकार है। पहली गाथा में जिनेन्द्र-देवको नमस्कार करके बन्धोदय सत्त्व' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। सस्कृत पच सग्रहमें इस अधिकारका नाम कमबन्धस्तव' है। यथा—'कमबन्धस्तवाख्य तृतीय परिच्छेद। पहले 'कमस्तव' नामक जिस प्रकरण ग्रन्थका परिचय करा आये है उसकी ५५ गाआओमें से ५३ गाथाएँ इस अधिकारमें प्राय ज्योंकी त्यो उपलब्ध होती है। इस अधिकारकी गाथा सख्या ७७ है उनमेंसे ५३ गाथाएँ कमस्तवकी है। उन्हे मुद्रित प्रतिमें मूल गाथा कहा है। पचसग्रहके इस अधिकार-की तथा कर्मस्तवकी पहली गाथा एक ही है। अत कर्मस्तवका भी मूल नाम 'बन्धोदय सत्त्वयुक्त स्तव' ही है। किन्तु यह कमस्तवके नामसे ही प्रसिद्ध है। मूल कर्मस्तवम ५५ गाथाएँ हैं। उसमेंसे ५३ गाथाएँ कुछ व्यतिक्रमसे इस पच सग्रहके तीसरे अधिकारमें है। इस तीसरे अधिकारकी गाथा सख्या ६४ है। उसके बाद चूलिका अधिकार है उसमें १३ गाथाएँ है। इस तरह सब ७७ गाथएँ हैं। मूल कमस्तवकी ५३ गाथाएँ ६४ में गर्भित है, चूलिकामें नही।

पंच सग्रहके इस अधिकार की जो गाथाएँ कर्मस्तव में नही है या व्यतिक्रमसे हैं उन पर प्रकाश डालना उचित होगा।

इस अधिकारका नाम बन्धोदय सत्त्व युक्त स्तव होनेका कारण यह है कि इसमें कर्मो के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्वका कथन किया गया है। अत पच सग्रहमें पहले तो बन्ध उदय, उदीरणा और सत्ताका लक्षण या स्वरूप कहा है। फिर गुणस्थानोंमें आठो मूल कर्मोके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका कथन किया है। यह कथन २ से ८ तक ७ गाथाओं में है। कर्म स्तवमें यह कथन नहीं है अत

उसमें उक्त गाथाएँ नही है। कमस्तव की २, ३ गाथाका नम्बर इसी से इस अधिकारमें ९ १० है। इन दोनो गाथाओमें प्रत्येक गुण स्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली कमप्रकृतियोकी सख्या बतलाई है।

गाथा ११ १२ कमस्तवमें नही है। इन गाथाओमें कहा है कि तीर्थङ्कर और आहारकाद्विक को छोडकर शेष कमप्रकृतियोका बन्ध मिथ्यादष्टिके होता है।

कर्मस्तवमे गुणस्थानो मे कर्मो की बन्धव्युच्छिति, उदयव्युच्छिति, उदीरणा व्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्तिको बतलाने वाली गाथाओको जिनकी क्रमसख्या २ से ८ तक है एक साथ कहकर पीछे क्रमवार बन्धादिका कथन किया है और प स के इस अधिकार में बन्धव्युच्छित्ति दशक गाथाओ को बन्ध प्रकरणके आदि म, उदय उदीरणा व्युच्छित्ति दशक गाथाओ को उदय-उदीरणा प्रकरण के आदि में और सत्वव्युच्छित्ति दशक गाथाओ को सत्व प्रकरण के आदिमें दिया है। इसी से इस अधिकारमे कमस्तवकी गा० २, ३ की क्रम सख्या ९ १०, ४ की क्रम स० २७ ५ की ४८ और ६ ७, ८ की क्रम सख्या ४९ ५०, ५१ हो गई है जो बतलाती ह कि इस अधिकारमे १३ से २६ गाथा तक बन्धका, २७ से ४३ गाथा तक उदयका ४४ से ४८ तक उदीरणाका और ४९ से ६३ तक सत्ता का कथन ह। ६४वी गाथा जो कि कमस्तवकी अन्तिम गाथा है, मगला त्मक ह। इस गाथाके पश्चात इस अधिकार मे १३ गाथाएँ और है। उनमें यह बतलाया ह कि उदय व्युच्छित्तिसे पहले जिनकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है उदय व्युच्छित्तिके पश्चात जिनकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है और उदय व्युच्छित्तिके साथ जिनकी बन्धव्युच्छित्ति होती ह, ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी है। इसी तरह स्वोदयबन्धी, परोदयबन्धी, उभयबन्धी निरन्तरबन्धी सान्तर बन्धी और उभयबन्धी प्रकृतियाँ कौनसी हैं, इन नौ प्रश्नो का समाधान किया गया है।

चौथे अधिकारका नाम शतक है जबकि इस अधिकारकी गाथा सख्या ४२२ ह। इस नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि इस अधिकारमें बन्ध शतक नामक ग्रथ समाविष्ट ह। उसकी प्रथम गाथा इसकी तीसरी गाथा है। उससे पहले दो गाथाएँ और हैं जिनमें से प्रथम गाथामें वीर भगवानको नमस्कार करक श्रुतज्ञान से पद' कहने की प्रतिज्ञा की गयी ह। बन्ध शतकका विषय परिचय पहले करा आये है अत उससे इसमें जो विशेष कथन है उसे ही बत लाया जाता ह।

बन्ध शतककी गाथा २ से ५ तक इसमें यथाक्रम दी गयी है। ५ वी गाथा में कहा है कि तियञ्च गतिमें चौदहो जीव समास होते हैं और शेष गतियों में दो दो जीव समास हाते हं। इस प्रकार मार्गणाओ मे जीव समास जान लेने चाहिए।' पञ्चसग्रहके कर्ताने १२ गाथाओके द्वारा चौदह मागणाओ में जीव समासोका

विवेचन किया है। तत्पश्चात ब० श० की छठी गाथा दी गयी है। उसमें जीव-समासोंमें उपयोगोंका कथन है। पंचसंग्रहकारने उसके पश्चात् १९ गाथाओं के द्वारा मार्गणाओंमें उपयोगोंका कथन किया है और समाप्ति पर लिखा है—'एवं मग्गणासु उवओगा समत्ता।'

पश्चात ब० श० की ७ वी गाथा आती है उसमें जीवसमासमें योगका कथन किया है। इस गाथा में थोड़ा सा अन्तर है। ब० श० में 'पन्नरस' पाठ है और प० स० में 'चउदस'। बन्धशतकके अनुसार पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके पन्द्रह योग होते हैं और प०[1] स० के अनुसार चौदह अर्थात वैक्रियिक मिश्रकाय योग संज्ञी पर्याप्तक के नही होता। किन्तु दोनो स० प० स० में संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग बतलाये हैं।

इस विषयमे जो बात ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उसका कथन पंचसंग्रहके कालका विवेचन करते समय करेंगे।

पंचसंग्रहकारने ब० श० की ७वी गाथाके अर्थका स्पष्टीकरण दो गाथाओंसे करके आगे ग्यारह गाथाओसे (गा० ४४–५४) मार्गणाओमें योगका कथन किया है।

पंच संग्रहमें बन्धशतक की ८–९वी गाथाका नम्बर ५५-५६ है। इनके द्वारा मार्गणाओमे योगोके वर्णनकी समाप्तिकी सूचना है। किन्तु इससे स्पष्ट है कि बन्धशतककी गाथा ८ के पूर्वार्ध को पञ्चसंग्रहकारने अपने अनुसार परिवर्तित किया है। ब० श० में पाठ है—उवजोगा जोगविही जीवसमासेसु वण्णिया एव'। और प० स० में है—'उवओगो जोगविही मग्गणजीवेसु वाण्णिया एव'। इस परिवर्तनका कारण यह है कि ब० श० में उपयोग और योगका कथन केवल जीवसमासमें किया है किन्तु पंचसंग्रहमें जीवसमास और मार्गणाओंमें कथन किया है। अत तदनुकूल परिवर्तन किया गया है। आगे प० स० में गाथा ५७ से ७० तक मार्गणाओंमें गुणस्थान का कथन है।

पुन बं० श० की ग्यारहवी गाथा आती है। इसमें गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन है। प० स० में दो गाथाओंके द्वारा इसका व्याख्यान किया गया है। इसके पश्चात् ब० श० की बारहवीं गाथा है इसमें गुणस्थानोंमें योगोंका कथन है। इसका व्याख्यान भी पं० स० में दो गाथाओंके द्वारा किया गया है।

१—'सण्णि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्सकायजोगो दु। सण्णीसु पुण्णेसु चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४२॥ पं० सं० पृ० ४।

२—'द्वौ चतुर्षु नवस्वेक समस्ता सन्ति संज्ञिनि। नवस्वथ चतुर्ष्वेकस्मिन्नेको द्वौ तिस्रि क्रमा। सं० पं० स०, पृ ८।

बन्धशतक की १३ वी गाथामें भी गुणस्थानोंमें योगोंका कथन किया है जो मतान्तर से सम्बन्ध रखता है। यह गाथा पचसग्रह में नहीं है। और उसमें जो मत प्रदर्शित है वह भी दिगम्बर साहित्यमें नहो मिलता।

तत्पश्चात ब० श० की गा० १४ व १५ आती हैं उनमें गुणस्थानोंमें बन्ध के कारणो का निर्देश किया गया है। बन्ध के चार कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति कषाय योग और उनके भेद हैं क्रमसे ५ + १२ + २५ + १५ = ५७। गुणस्थान, और मार्गणाओंमें इन सत्तावन उत्तरकारणोका पञ्चसग्रहमें बहुत विस्तार से तथा कई प्रकारसे कथन किया ह। इस कथन पर्यन्त शतकाधिकार की गाथा सख्या २०३ हो जाती है। गाथा सख्या २०४ से ब०श० की १६ वी आदि गाथा आती हैं इनमें ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंके आस्रव के विशेष कारण बतलाये हैं। यह कारण प्राय वे ही है जो तत्वार्थसूत्रके छठे अध्याय में पतलाये हैं। बन्धसतकको दस गाथाओ में इनका कथन है और वे दसो गाथाएँ पचसग्रह में यथाक्रम दी गयी हैं। उनके पश्चात दो गाथा और हैं उनमे बतलाया है यह कथन अनुभाग बन्धको अपेक्षा से है।

इसके पश्चात बन्धशतककी २७ वी गाथा आती है। यहांसे बन्धशतकमें गुणस्थानोमें आठो मूलकर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन है। यह कथन पचसग्रहके तीसरे अधिकार के प्रारम्भ में भी आता है और यहा भी है इस लिये पुनरुक्त जैसा हो जाता है।

बन्धशतक की २८वी गाथा इस प्रकार है—

सत्तट्ठविहछ (-विह) बन्धगावि वेयन्ति अट्ठग णियमा।
एगविह बन्धगा पुण चत्तारि व सत्त वेयन्ति ॥२८॥

पचसंग्रह में इसके स्थान पर जो गाथा है वह इस प्रकार है—

अट्ठविह सत्त छब्बन्धगा वि वेयन्ति अट्ठय णियमा।
उवसंत खीणमोहा मोहूणाणि य जिणा अघाईणि ॥२१६॥

दोनो के अभिप्रायमें कोइ अन्तर नही है।

इसी तरह बंधशतककी २९ वी गाथाका अन्तिम चरण है—'तहेव सत्तेमुदीरिति'। और पचसग्रहमें इसके स्थानमें 'मिस्सूणा सत्त आऊण पाठ हैं।

ब० श० की ३० से ३६ तककी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें यथाक्रम हैं। ३७ वी गाथामें पाठान्तर' है। ब० श० गा० ३८ में आठों कर्मों के नाम और भेद

१ 'अवसेसट्ठ विहकगा वेयंति उदीरयावि अट्ठण्हं। सत्तविहगावि वेद ति अट्ठगमुदरंगे भज्जा ॥३७। ब० श०
'बधंतिय वेयति य उदीरबंति यअट्ठ अट्ठ अवसेसा। सत्तविहबंधगा पुणा अट्ठण्हमुदीरगे भज्जा' ॥२२६॥—पं० स०।

गिनाये है ये दोनों गाथाएँ पञ्चसंग्रहके प्रकृति समुत्कीर्तन नामक दूसरे अधिकारमें आ गई हैं। इससे इस अधिकारमें नही दी हैं। इसके पश्चात् बंधके आदि, अनादि ध्रुव और अध्रुव भेदों का तथा अल्पतर, भुजकार, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है। ये कथन बन्ध शतकमें ४० से ४३ तक चार गाथाओंमें है।

४३ वीं गाथामें कहा है कि दर्शनावरण कर्मके तीन बन्ध स्थान हैं, मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान हैं, और नामकर्मके आठ बन्धस्थान है। इन तीन कर्मोंमें ही भुजकारादिबन्ध होते हैं। शेष कर्मोंका तो एक ही बन्ध स्थान है। इस सामान्य कथनका पञ्चसंग्रहमें बहुत विस्तारसे कथन ६५ गाथाओ द्वारा दिया गया है।

पश्चात् ब० श० में बन्धक का कथन गा० ४४ से ५० तक किया है। उसी-का विस्तृत कथन पञ्चसंग्रहमें है। ब० श० गा० २१ में कहा है कि गत्यादि मार्गणाओंमें भी स्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। तदनुसार पंचसंग्रहमें गा० ३२५ से ३८९ तक उसका कथन किया है। उसके साथ ही प्रकृतिबन्धका कथन समाप्त हो जाता है। ब० श० में गा० ५२ से ६४ तक स्थितिबन्धका कथन है। प० स० में यही कथन गा० ३९० से ४४० तक है। ब० श० की गा० ५२ ५३ में आठो मूलकर्मों की स्थिति बतलाई है। ये दोनो गाथाएँ पञ्च-संग्रहमें नही है। उनके स्थानमें दो भिन्न गाथाओके द्वारा आठों कर्मो की स्थिति बतलाई ह। शेष गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें सम्मिलित हैं। ब० श० में गाथा ६५ से ८६ तक अनुभाग बन्धका कथन है। प० स० गा० ४४१ से ४९३ तक अनुभा-गबन्धका कथन है जिसमें ब० श० की उक्त गाथाएँ सम्मिलित है। केवल ७२ वीं गाथा भिन्न है और ७३ वी गाथा के प्रथम चरणमें अन्तर हैं। मिलान से ऐसा प्रतीत होता कि इन गाथाओमें कुछ हेरफेर किया गया है किन्तु अभिप्रायमें भेद नहीं है। ब० श० की गाथा ८४ इस प्रकार हैं—

> चदुपच्चइगो मिच्छत्त सोलस दु पच्चया य पणतीस।
> सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जाओ ॥८४॥

प० सं० में यह गाथा इस प्रकार है—

> सायं चउपच्चइओ मिच्छो सोलह दु पच्चया पणवीस।
> सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जा दो ॥४८॥

बन्ध शतकमें दूसरे गुणस्थान तक बधने वाली पच्चीस और चौथे गुणस्थान तक बंधनेवाली दस इन पैंतीस प्रकृतियोंके बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेष प्रकृतियोंके बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय को कहा है। किन्तु पंचसंग्रहमें केवल पच्चीसके ही बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेषके बन्धका कारण तीनोंको बतलाया है।

किन्तु इसमें कोई सैद्धान्तिक भेद दृष्टिगोचर नही होता क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अविरतिकी ही प्रधानता है आगे कषायकी प्रधानता ह । इसी विवक्षासे बधशतकमें पैंतीसको दुप्रत्यय कहा है ।

ब० श० गा० ८४-८५ में पुग्गल विपाकी प्रकृतियोको गिनाया है और ८६ में भवविपाकी आदिको । प० स० में ये तीनो गाथाएँ है ।

आग प्रदेश बन्धका वणन है । इसमें बन्धशतककी ८७ से लेकर १०७ तक सब गाथाएँ यथाक्रम हैं । ८७ गाथाका नम्बर प० स० में ४९४ है और १०७ अन्तिम गाथा का नं० ५१२ है । इस तरह केवल आठ गाथाएँ इस प्रकरणमें अतिरिक्त है जिनमें कथनको स्पष्ट किया गया है । गाथा ९४ में अन्तर है ।

ब० श० मे 'आउक्कस्स पदेसस्स पच मोहस्स सत्त ठाणाणि' पाठ है और प० स० में 'आउक्कस्स पदेसस्स छच्च माहस्स णव दु ठाणाणि, पाठ है । बन्धशतकके अनुसार आयुकमका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादष्टि और चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त पाँच गुणस्थानवाले जीव करते है । तथा मोहनीय कमका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यगमिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले जीवोंको छोडकर शेष सात गुणस्थानवाले जीव करते हैं । किन्तु पञ्चसग्रह के अनुसार आयुकमका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दूसरे गुण स्थानमें होता ह । अत छह गुणस्थानवाले जीव आयुका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करते हैं । और मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहलेसे लेकर नौ गुणस्थान पयन्त होता है ।

बन्धशतक[1] चूर्णिमे अन्ने पठति कहकर पचसग्रहवाले पाठका निर्देश किया है और उसे ठीक नही बतलाया । यह चतुथ प्रकरणकी स्थितिका चित्रण है । पचसग्रहमें इसका शतक नाम नही पाया जाता । किन्तु दानो स० पञ्च सग्रहोंके अन्तमें शतकसमाप्तम आता है ।

सप्ततिका और पचसग्रह—

पंचसग्रहके पाँचवे अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति है । इस अधिकारके आदिकी गाथामें[2] पचसग्रहकारने स्वय उसका निर्देश किया है । तथा अमितगतिने भी अपने सस्कृत पच[3] सग्रहमें पाँचवें अधिकारका नाम सप्तति दिया है । अत इस अधिकारका उक्त नाम निर्बाध है ।

---

१ 'अन्ने पठति— आउक्कोसम्स पदेसम्स छत्ति' । सासणोवि उक्कोस बंतित्ति, तं ण मोहस्स सत्त ठाणाणि । अन्ने पठति–मोहस्स णव उ ठाणाणित्ति सासणसम्ममिच्छेहिं सह । तं ण सम्भवति ।'—ब श चू ।

२. 'णमिऊण णदाण वरकेवलणाणिसुक्खपत्ताण । वोच्छा सत्तरिभंगं उवइट्ठं वीरनाहेण ॥१॥

३ नत्वाहमर्हतो भक्त्या घातिकर्मप्रघातिन । स्वशक्त्या सप्ततिवक्ष्ये बंधभेदावबुद्धये ॥३७६॥ सं० पं० सं० ।

जैसे चौथे अधिकार में पंचसंग्रहकारने शतक ग्रन्थका संग्रह किया है और उसीके कारण अधिकारका नाम शतक रखा है। वैसे ही पाँचवें अधिकारमें सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक प्रकरणका संग्रह है और उसीसे इस अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति रखा गया है। सित्तरी ग्रन्थका परिचयादि पहले लिख आये हैं। जो विषय सित्तरीका है वही इस पाचवें अधिकारका है। इस पाँचवे-अधिकारमें मगलाचरणके पश्चात् सित्तरीके आदिकी पाँच गाथाएँ यथाक्रमसे दी हुई है। उनके पश्चात् एक गाथा इस प्रकार आती है।

मूलपयडीसु एवं अत्थोगाढेण जिह विही भणिया।
उत्तर पयडीसु एव जहाविहिं जाण वोच्छामि ॥७॥

इसमें कहा है कि मूलप्रकृतियोमें कथनकर दिया अब उत्तर प्रकृतियोंमें कहते है। इसके पश्चात सि० की छठी गाथा आती है। उसमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्ध स्थान, उदय स्थान और सत्वस्थान पचप्रकृति रूप कहे हैं। आगे दर्शनावरणीय कर्मके बन्धादिका कथन है। किन्तु सितरीकी दर्शनावरण कर्मके कथन सम्बन्धी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें नही है उनके स्थानमें पचसग्रहकारने अपनी स्वतन्त्र गाथाएँ रची हैं। इसका कारण शायद यह प्रतीत होता है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचलाका उदय नही माना है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें माना गया है।

श्वे० पचसग्रहमें दोनो मतोको स्थान दिया गया है। सितरीमें वेदनीय गोत्र और आयुकर्मके भगोका कथन नही है किन्तु पचसग्रहकारने उनका कथन किया है। आगे मोहनीय कर्मका कथन है और उसका आरम्भ सित्तरीकी दसवी गाथासे होता है। उसकी सख्या प० स० में २५ है। दस से लेकर १६ तक सित्तरीकी गाथाएँ पचसग्रहमें मिलती हैं। प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण दो एक गाथाओंसे आवश्यकताके अनुसार किया गया है।

सित्तरीकी गाथा १७, १८, २०, २१, २२ पञ्चसग्रहमें नही हैं। मोहनीय कर्म सम्बन्धी कथनके उपसहार परक २३ वी गाथा है। २४वी गाथासे नामकर्मके के बन्ध स्थानोंका कथन आरम्भ होता है। प० स० में इसकी सख्या ५२ है। सित्तरीकी उक्त गाथामें केवल नामकर्मके बन्धस्थानोंको गिनाया है। पचसग्रहमें उसका विवेचन ४५ गाथाओंके द्वारा किया है। यही कथन शतक नामा चौथे अधिकारमें भी है। अत यह कथन पुनरुक्त है। दोनो प्रकरणोकी गाथाएँ भी एक ही हैं।

इसके पश्चात् सित्तरीकी २५ वी गाथा आती है। इसमें नामकर्मके उदय-स्थानोंका कथन है। मलयगिरिकी टीकामें इस गाथाका न० २६ है अत गणनामें एकका व्यतिक्रम हो गया है। २७-२८ वीं गाथा जिनमें नामकर्मके उदय स्थानोंके

भंग बतलाये हैं पंचसग्रहमें नहीं है। गा० २९ है इसमें नामकर्मके सत्वस्थानोको बतलाया है। यह गाथा शाब्दिक भेदको लिए हुए है। इसी तरह आगे ३० आदि सख्या वाली गाथाएँ पचसग्रहमें यथास्थान हैं।

इस प्रकार नामकमके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्वस्थानके भेद तथा उनके संवेधका कथन करके जीव समास और गुणस्थानोंके आश्रयसे कर्मों के उक्त स्थानोंके स्वामियोका कथन किया ह।

उसमें सि० गा० ३५ मे और पच सग्रहमें आगत इसी गाथामें कुछ अन्तर है जो मतभेदका सूचक ह। सप्ततिकामें दर्शनावरण के भेद पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय के ग्यारह बतलाय है और प० स० में १३ बतलाये है। इस अन्तरका कारण यह है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचला का उदय नही माना गया किन्तु पंचसग्रहमें माना गया ह।

गा० ३७-३८ प० स० में व्यतिक्रमसे है पहले ३८ वी है फिर ३७ वी ह। तथा सित्तरीमें सज्ञीके नामकमके दस सत्वस्थान कहे हैं किन्तु प० स० में ११ कहे हैं। इसलिए सितरी में अटठ दसग पाठ है। पं० सं० में अट्ठट्ठमेयार पाठ है।

ऊपर यह लिखना हम भूल गये कि नामकमके सत्वस्थानको लेकर दोनो ग्रन्थोंमें मतभेद है—सित्तरीके अनुसार उनकी सख्या १२ है—९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ ७५,'९, और ८ प्रकृतिक। और प० स० में ९३ ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक।[1]

जीव समासोमे स्थानोका कथन करनेके पश्चात् गुणस्थानमें बन्धादिस्थानोका कथन है। किन्तु दर्शनावरण कमकी प्रकृतियोके उदयको लेकर मतभेद होनेके कारण उस सम्बन्धी गाथाएँ पचसग्रहमें नही है।

आगे सितरीकी ४२ से ४५ तक गाथाएँ लगातार ह। सित्तरीमें कुछ अन्तर्भाष्यगाथाएँ है उसमें से भी एक दो गाथा प० स० में मिलती है। उक्त गाथाओंके व्याख्यानरूप मोहनीयके उदय स्थानोका वणन पंचस०में बहुत विस्तारसे किया गया है।

---

१ कर्म प्रकृतिमें नाम कर्मके सत्त्व स्थान इस प्रकार बताये हैं—
तिदुगसय छप्पचगतिगनउइ नउइ इगुण नउइ य। चउ तिगदुगाही गासी नव अठय-नामठाणाइं ॥१४॥१०३ १०२, ९६ ९५ ९३, ९० ८९, ८४ ८३, ८२ ९, और ८। बन्धन सघातकी अलग गणना करनेसे १० की सख्या बढ़ गइ है। सि० चू० में अण्णे करके इस मतको अमान्य किया है।

फिर गुणस्थानोंमें मोहनीयके सत्व स्थानोंका कथन है, और उसके लिए सित्तरीकी गाथा ४८ पाई जाती है। इसमें भी मतभेद है। सित्तरीमें 'तिगमिस्से' लिखकर मिश्रगुण स्थानमें मोहनीय कर्मके तीन सत्वस्थान बतलाये हैं, २८, २७ और २४ प्रकृतिक। किन्तु पंचसंग्रहमें 'दुगमिस्से' पाठ रखकर मिश्रमें ही दो सत्वस्थान बतलाये हैं २८ और २४ प्रकृतिक। यह सैद्धान्तिक मतभेद को सूचन करता है।

आगे गुणस्थानोंमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोंका कथन करनेके लिये सि० की गा० ४९-५० आती हैं। उनका विवेचन किया गया है।

आगे गति आदिमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोका कथन करनेके लिए प० सं० में सित०की गा० ५१ आती है। फिर इन्द्रिय मार्गणामें कथन करनेके लिये सि० की ५२ वी गा० प० सं० में आती है। सित्तरीमें आगेकी मार्गणाओंमें कथन नहीं किया है किन्तु पंचसंग्रहमें किया है। उसके पश्चात् सि० की ५३ वीं गाथा आती है जो उपसंहार रूप है। आगे उदय और उदीरणाके स्वामियों में अन्तर बतलाने-के लिये सित्तरीकी ५४, ५५, आई हैं। फिर गुणस्थानको आधार बनाकर कौन किन कर्मप्रकृतियोका बन्ध करता है, इसका कथन सि० की गा० ५६, ५७ ५८, ५९, ६० के द्वारा प० सं० में किया गया है।

आगे सि०की ६१ वीं आदि गाथाओंसे गतियोंमें कर्मप्रकृतियोंकी सत्ता-असत्ता का विशेष कथन किया गया है। ६१से आगे ७२ पर्यन्त सब गाथाएँ पं०सं० में वर्तमान हैं और उनके साथ ही वह सम्पूर्ण होता है।

इस तरह इस अधिकारमें सित्तरीको कतिपय गाथाओंके सिवाय शेष सभी गाथाएँ अन्तर्निहित हैं जिनमेंसे कुछमें पाठभेद भी पाया जाता है।

पंचसंग्रहके उक्त परिशीलनसे तो यही प्रकट होता है कि उसमे ग्रन्थकारने षट्खण्डागम, कसायपाहुड, कर्मस्तव, शतक और सित्तरी इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया है। उनमेंसे अन्तके तीन ग्रन्थोको एक तरह से पूरी तरह आत्मसात्‌कर लिया है, शेष दोका आवश्यकतानुसार साहाय्य लिया है।

किन्तु पं० परमानन्दजीने अपने 'श्वेताम्बर कर्म साहित्य और दि० पंचसंग्रह' नामक दूसरे लेखमें उक्त कथनसे बिलकुल विपरीत विचार व्यक्त किया था। उनका कहना है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी नाम के जो प्रकरण पाये जाते हैं वे उक्त पंचसंग्रहसे संकलित किये हैं। इन तीनों ग्रन्थोंमें संकलित गाथाएँ पंचसंग्रहकी मूलभूत गाथाएँ और शेष व्याख्या रूप गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हैं। किसीने मूलभूत गाथाओंको शतकादि नामोंसे पृथक् संकलित कर लिया है।

जो कुछ स्थिति है उसमें पंडितजीके उक्त कथनको सहसा मान्य तो नहीं

कहा जा सकता, क्योकि न तो पचसग्रहके ही कर्ताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात है और न कर्मस्तव, और सित्तरी के ही कर्ताका पता है। हाँ, शतकको चूर्णिकारने शतक अथवा बन्धशतकका निर्देश मिलता है और वह शतक या बन्ध कृति, अवश्य बतलाया है और कमप्रकृति तथा उसकी चूर्णिमें भीशिवशर्मसूरिको शतक वही माना जाता है जिसकी ९४ गाथाएँ पचसग्रहके शतक नामक चतुथ अधिकारमें संगृहीत है साथ ही कमप्रकृतिके साथ शतक की तुलना करने पर वे दोनो एक ही आचार्यकी कृति नही प्रतीत होते और शतक एक सग्रह ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। दोनो पक्षोके अनुकूल और प्रतिकूल बातोके होते हुए भी एक बातको नही भुलाया जा सकता कि पचसग्रहके चतुथ और पचम अधिकारका नाम शतक और सप्ततिका है। जिस प्रकरणमें सौ या उसके-आसपास गाथा स ख्या हो उसे शतक और जिसमें सत्तर या उसके आस पास गाथा सख्या हो उसे सित्तरी कहा जाता है। किन्तु प स०के चतुथ और पचम अधिकारोकी गाथा स ख्या पाँच-पाँच सौ से भी कुछ अधिक है। ऐसी स्थितिमे समान स ख्या होते हुए भी एक अधिकार का नाम शतक और दूसरेका नाम सित्तारी रखनेका कारण समझमें नही आता। उसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि चतुथ अधिकारकी मूल गाथाओका प्रमाण सौ के लगभग और पांचवें अधिकारकी मूल गाथाओका परिमाण सत्तरके लगभग होनेसे उन अधिकारो को शतक और सित्तरी नाम दिया गया। किन्तु इससे तो यही प्रमाणित होता है कि उक्त दोनो अधिकारोंके मूल शतक और सित्तारी नामक प्रकरण है अत मूल विवाद इस बात पर रह जाता है कि वे दोनो प्रकरण भी उन पर भाष्य रचने वाले पचसग्रहकारकी ही कृति हैं या किसी दूसरे की कृति हैं ? इस विवादके समाधानके लिये हमें उक्त प्रकरणोंको ही देखना होगा।

प० स० के प्रथम द्वितीय और ततीय अधिकारके आदिमें ग्रन्थकारने केवल एक गाथाके द्वारा मगलपूवक विषयवणनकी प्रतिज्ञा करके प्रकृत विषयका प्रतिपादन प्रारम कर दिया है और उन अधिकारोके अन्तमें कोई उपसहार तक नहीं किया। किन्तु चौथे अधिकारके आदिमें तीन गाथाएँ मगलरूपमें हैं। प्रथम गाथामें श्रुतज्ञानमे पद कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है और तीसरी गाथामें जो शतककी प्रथम गाथा है दृष्टिवादसे कुछ गाथाओको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। पहले अधिकारोका कथन दृष्टिवादके आधार पर नही किया गया और चौथेका कथन दृष्टिवादके आधार पर किया गया ऐसा भेद क्यो ? इस अधिकारके अन्तकी तीन गाथाओमें ग्रन्थकारने अपने कथनको कमप्रवादरूपी श्रुतसमुद्रका निस्यन्द कहा है और लिखा है मुझ अल्पमतिने यह बन्ध विधान सक्षेपसे रचा, विशेष निपुण उसे पूरा करके कथन करें।' अपनी कृतिके एक अवान्तर अधिकारके अन्तमें कोई ग्रन्थकार ऐसी बात नहीं कहता। यही बात पचम अधिकारमें भी पाई जाती है। किन्तु उसके

अन्तिम अधिकार होनेसे इस प्रकारका उपसंहार उचित भी हो सकता है किन्तु बीचके केवल एक चतुर्थ अधिकारके अन्तमें इस प्रकारकी बात कहना, जो ग्रन्थकी समाप्ति के लिये ही उपयुक्त हो सकती है, इस बातको सूचित करती है कि शतक नामके किसी स्वतन्त्र प्रकरणका संग्रह इस अधिकारमें किया गया है उसीके कारण अधिकारका नाम 'शतक' रखा गया है। और यही बात सित्तरीके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। ऐसी स्थितिमे ये दोनो प्रकरण उस पंचसंग्रहकारके नहीं जान पडते जिसने पंचसंग्रहके आदिके तीन अध्याय रचे थे क्योकि उनमें न कहीं दृष्टिवादका उल्लेख है और न अपनेको मन्दमति बतलाकर उसके संशोधनादिकी बात कही गई है।

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्रीने श्वे० सित्तरीके अपने अनुवादकी भूमिकामें[1] एक बात कही है कि शतक और सित्तरी की अन्तिम गाथाओमें कुछ साम्य प्रतीत होता है। यथा—

वोच्छं पुण संखेव णीसंद दिट्ठीवादस्स ॥१॥ सित्त०
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक

× × ×

जो जत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥७२॥—सप्त०

बंधविहाण समासो रइओ अप्पसुयमंदमइणावि।
तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥—शतक

पं०जी का कहना है कि 'इनमें 'णीसंद' अप्पगम, अप्पसुयमंदमइ, 'पूरेऊण परिकहंतु' ये पद ध्यान देने योग्य हैं। ऐसा साम्य उन्ही ग्रन्थोमें देखनेको मिलता है जो या तो एककर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत संभव है कि शतक और सप्ततिकाके कर्ता एक हो'।

उक्त साम्यके आधार पर पण्डितजीकी उक्त संभावना अनुचित तो नहीं कही जा सकती। किंतु शतकको कर्मप्रकृतिकारकी कृति माना जाता है और कर्मप्रकृति तथा सित्तरीके कथनोमें मतभेद है। अतः कर्मप्रकृतिकारकी कृति तो सित्तरी नही हो सकती। यदि शतक कर्मप्रकृतिकारकी कृति नहीं है जैसा कि संदेह प्रकट किया गया है तो शतक और सित्तरी एक व्यक्ति की भी कृति हो सकते हैं क्योंकि दोनोमें कोई मतभेद दृष्टिगोचर नही हुआ। किंतु इस सम्बन्धमें विशेष प्रमाणोंके अभावमें कोई निर्णय कर सकना शक्य नही है।

---

१ पृ० १०।

पंचसंग्रहकी स्थिति पर विचार करनेके लिए एक बात और भी उल्लेखनीय है। और वह है उसमें पुनरुक्त गाथाओंका होना और उनकी संख्या भी कम नहीं है। इस दृष्टिसे शतक नामक चौथा अधिकार उल्लेखनीय है जिसकी गाथाएँ तीसरे और पाँचवे अधिकारमें पाई जाती हैं। इस पुनरुक्तिका कारण है कि जो कथन चौथे में आया है वह तीसरे और पाँचवेंमें भी आया है। और उसके आनेका कारण यह है कि कमस्तव और बन्धशतकमें तथा शतक और सित्तरीमें कुछ कथन समान है।

कमस्तवकी गा० १३ आदिमें बन्धव्युच्छितिका कथन है और उधर शतककी गाथा ४६में बन्धव्युच्छित्तिका कथन है, उसको आधार बनाकर पंचसंग्रहकारने तीसरे अधिकारकी बन्धव्युच्छितिवाली गाथाएँ चौथे अधिकारमें भी लाकर रख दी हैं।

इधर शतककी गा० ४२ ४३ में कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन है। उसके भाष्यरूप मे पचसग्रहकारने बहुत सा कथन किया है। उधर सप्ततिका २४में भी यही कथन होनेसे पचसग्रहकारने उनके व्याख्या रूपसे चौथे अधिकारकी गाथा पाँचवे अधिकारमें लाकर रख दी है। इसी तरह दर्शनावरण कर्मके बन्धादिका कथन पाँचवे अधिकार प्रारभमें भी किया है। और आगे भी किया है। इससे उसमें भी 'पुनरुक्तता' आ गई है।

इससे प्रथम तो इस बातका समर्थन होता है कि कमस्तव, शतक और सित्तरी पचसग्रहकारकी कृति नही हैं किंतु उन्हे उन्होने अपनाकर उनपर अपने भाष्यकी रचना की है। यदि वे एक ही व्यक्तिकी कृति होते तो उनमें पिष्ट-पेषण न होता। दूसरे, उन्होने उन्हें पृथक-पृथक प्रकरणके रूपमें रखा होना चाहिए। इसीसे एक प्रकरणकी गाथाओंको दूसरे प्रकरणमें रखते हुए उन्हें सकोच नही हुआ और इसीसे समग्र ग्रन्थमें न ग्रन्थका नाम मिलता है और न एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही उसकी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। उन्होने स्वय अथवा पीछसे किसीने उनको सम्बद्ध करके पचसग्रह नाम दे दिया है। जैसे सिद्धांत ग्रन्थ षटखण्डागमको भूतबलिने कोई सामूहिक नाम नही दिया और धवलाकार वीरसेनस्वामीने उसके खण्डोंके नामसे ही उसका निर्देश किया और पीछेसे छै खण्ड होनके कारण षट्खण्डागम नाम दे दिया गया। वैसे ही उक्त पाँचों प्रकरण प्रारभमें भिन्न २ थे। पीछे उन्हें पचसग्रह नाम दे दिया गया जान पड़ता है। इसीसे वीरसेनस्वामीने 'जीवसमास' प्रकरणका ही निर्देश किया है, सामूहिक नाम पचसग्रहका निर्देश पूरा नही किया। उसपर से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनस्वामीके पश्चात् ही किसीने उसे पचसग्रह नाम दिया होगा।

रचनाकाल

१. पं० आशाधरजी ने अपनी मूलाराधना दर्पण नामक टीका में भगवती आराधना की गाथा २१२४ की टीकामें 'तथा चोक्तं पंचसंग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये छहो गाथाएँ पचसग्रह के तीसरे अधिकार के अन्त में इसी क्रमसे अवस्थित हैं और उनकी क्रम सख्या ६०-६५ है। प० आशाधर जी विक्रमकी तेरहवी शताब्दी में हुए हैं। अत यह निश्चित है कि उससे पहले पंच-सग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२ आचाय अमितगति ने वि० स० १०७२ में अपना सस्कृत पंचसंग्रह रचकर पूर्ण किया था। यह सस्कृत प० स० उक्त प्राकृत पचसग्रहको ही सामने रखकर रचा गया है। अत यह निश्चित है कि वि० स० १०७३से पूर्व उसकी रचना हो चुकी थी।

३ आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें जो बहुत सी गाथाएँ पचसंग्रह-से उद्धृत की हैं वे गाथाएँ धवलामें जिस क्रमसे उद्धृत हैं प्राय उसी क्रमसे प० सं०में पाई जाती हैं। अधिकाश गाथाएँ पं० स०के अन्तर्गत जीव समास नामक प्रकरण की हैं। यद्यपि वीरसेनने 'पचसग्रह'का नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु एक स्थान पर जीवसमासका उल्लेख किया है। अत यह जीवसमास पंच संग्रहके अन्तगत जीव समास ही होना चाहिए। तथा कुछ गाथाएँ प० सं०के चौथे शतक नामक अधिकार की हैं। शतक नामक अधिकारमें एक शतक नामक प्रकरण सगृहीत है यह हम पीछे बतला आये हैं। ऐसी स्थितिमें यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि गाथाएँ उस शतक प्रकरण से ही तो सीधे उद्धृत नही की गई। यद्यपि वे गाथाएँ उस शतकमें भी हैं किन्तु उनमें से एक गाथा ऐसी भी है जो उस शतकमें नही है किन्तु प० स०के अन्तर्गत शतकमें है। वे तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

चदुपच्चइगो बंधो पढमे उवरिमतिए तिपच्चइगो।
मिस्सग विदिओ उवरिमदुग च सेसेगदेसम्हि ॥
उवरिल्लपंचए पुण दुपच्चओ जोग पच्चओ तिण्णं।
सामण्ण पच्चया खलु अट्ठण्ण होंति कम्माण ॥
पणवण्णा इरवण्णा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चदुवीसदु वावीसा सोलस एगूण जाव णव सत्तं ॥

—(षट्खं० पु० ८, पृ० २४)

इनमेंस शुरूकी दो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी हैं। किन्तु प०स०में ये तीनों गाथाएँ उसके चौथे अधिकारमें इसी क्रमसे वर्तमान हैं और उनकी क्रमसंख्या ७८, ७९, ८० है। क्वचित् पाठ भेद है। यथा—'उवरिमतिए' के स्थानमें 'अणं-

तरतिए' 'सेसेगदेसम्हि' के स्थान 'देसेक्कदेसम्हि' और 'इरवण्णा' के स्थान में 'पण्णासा'। किन्तु उनमें आशयभेद नही है। अत ये गाथाएँ पचसग्रहसे ही उद्धृत की गई होनी चाहिए।

इसी तरह धवलामें एक और गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

एयक्खेत्तोगाढसव्वपदेसेहि कम्मणो जोग्ग।
बधइ जहुत्तहेदू सादियमहणादिय वा वि॥

(षटख० पु० १२ पृ० २७७)

यद्यपि यह गाथा शतक प्रकरणमें भी है किन्तु उसमें 'एयपदेसोगाढ' पाठ है। और प० स० में एयक्खेत्तोगाढ पाठ (गाथा स० ४९४) है। अत यह भी उसीमे उद्धृत की गयी होनी चाहिए।

उक्त उद्धरणो से प्रकट ह कि धवलासे पहले पचसग्रहकी रचना हो चुकी थी। चूँकि धवला विक्रमकी नौंवी शताब्दीमें रचकर पूण हुई थी। अत पचसग्रह उससे पहले रचा जा चुका था।

४ शतक गाथा ९३ में पाठ हैं—'आउक्कस्स पदेसस्स पच मोहस्स सत्त-ठाणाणि। और प० स० के शतकाधिकारमें पाठ है—'आउक्कस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि। शतकचूर्णिमे 'अन्न पढति'[1] करके पञ्चसग्रहोक्त पाठ भेद को उद्धृत किया है। अत यह सिद्ध ह कि चूर्णिकार पञ्चसग्रह से परिचित थे। इतना ही नही, श० चू०में पञ्चसग्रह से गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

गुणस्थानो के वणन मे (श० गा० ९) नीचे लिखी गाथा उद्धृत है—

सद्दहणासद्दहण जस्स जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो॥

यह पचसग्रह के प्रथम अधिकारकी १६९वी गाथा है।

यदि ये गाथाएँ अन्यत्रसे सगृहीत की गयी हों तब भी उक्त उद्धरणसे तो यह स्पष्ट ही ह कि चूर्णिकार के सम्मुख पचसग्रहकारका मत था।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित चूर्णिसहित सित्तरीकी प्रस्तावनामें लिखा है—'परन्तु शतक लघुचूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर छे एविषेनो उल्लेख खभात श्रीशान्तिनाथजी ताडपत्रीय भडारनी प्रतिना अन्तमा मलता नीचेना उल्लेखना आधारे जाणी शकाय छे—'कृतिराचाय श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य 'शतकस्य ग्रन्थस्य'। उसमें उस पत्रका फोटु भी दिया है।

---

१ 'अन्ने पढंति 'आउक्कस्स पदेसस्स छ त्ति'। अन्ने पढंति—'मोहस्स णव उ ठाणाणि'। श० चू० गा० ९३।

अत जब शतकचूर्णि चन्द्रर्षि महत्तर रचित है तो स्पष्ट है कि उनके द्वारा रचित पञ्चसग्रहसे प्रकृत पंचसग्रह प्राचीन है और सम्भवतया उसीसे उन्हें शतकादि ग्रन्थोके आधारपर पचसग्रह रचने की प्रेरणा मिली होगी। यद्यपि चन्द्रर्षि का भी समय सुनिश्चित नही है फिर भी उसकी स्थिति चिन्त्य है।

५ अकलक देवके तत्त्वार्थवार्तिकमें नीचे लिखी दो गाथाएँ उद्धृत हैं—

सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सगो दु उक्कस्स संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्ज सेसाण ॥–(त० वा०, पृ० ५०७)
सुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण सकिलेसेण।
विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीण ॥–(त० वा० प० ५०८)

ये दोनो गाथाएँ पचसग्रहके चतुथ शतक नामक अधिकारकी क्रमश ४१९ और ४४५वी गाथाए है। किन्तु ये दोनो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी वतमान हैं और उनका नम्बर क्रमश ५७ और ६८ है। अत यह कहा जा सकता है कि ये गाथाएँ शतक प्रकरण से न लेकर पञ्चसग्रहसे ही ली गई है इसमें क्या प्रमाण है? इस सन्देहको दूर करनेके लिए पचसग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक मे निर्दिष्ट सैद्धान्तिक चर्चाम उतरना होगा।

शतक प्रकरणकी ७वी गाथामें सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह भाग बतलाये हैं। शतक चूर्णिमें उसका खुलासा करते हुए लिखा है कि[1]—एक अर्थात् सज्ञी पर्याप्तके पन्द्रह योग होते है—मनोयोग ४, बचनयाग ४, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक काययोग तो प्रसिद्ध ही है। औदारिक मिश्रकाय योग और कामणकाययोग सयोग केवलीके समुद्घातकालमे होते ह। वक्रियिक मिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाय योग। विक्रिया करनेवाले तथा अहारक शरीर उत्पन्न करनेवालोके होता है और वे पर्याप्तक ही होते है। इस तरह पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियक मिश्र भी माननेसे सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग शतकमें बतलाये है। किन्तु पचसग्रहगत उक्त शतकवाली गाथामे पण्णरसकी जगह 'चउदस' पाठ है जो बतलाता है कि संज्ञी पर्याप्तकके चौदह योग होते हैं, वैक्रियिक मिश्र काययोग नही होता। प० स० की भाष्य[2]

---

१ एक्कम्मि सन्निपज्जत्तगम्मि पन्नरस वि योगा भवन्ति। मणजोग (गा) वइजोग (गा) '४' ओरालिय वेउव्विय अहारक कायजोगा परसिद्धा, ओरालियमिस्सकायजोगो कम्मइग कायजोगो य सयोगकेवलि पडुच्च समुग्घायकाले लब्भन्ति, वेउव्विय मिस्सकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो य वेउव्विय आहारगे विउव्वन्ते आहारयन्ते त पडुच्च, ते पज्जत्तगा चेव।'—श० चू०, पृ० ६।

१ सन्नि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्स काय जोगो दु।
सण्णीसु पुण्णेसु य चउदस जोगा मुणेयव्वा ॥४२॥—सं० सं० ४।

गाथामें उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सज्ञी अपर्याप्तको में वैक्रियिक मिश्र काय योग होता है और सज्ञी पर्याप्तकोमें चौदह योग होते हैं।

इस तरह दोनोमें सज्ञी पर्याप्तके वैक्रियिक मिश्रयोगके होने और न होनेको लेकर मतभेद है। किंतु लक्ष्मणसुत डडडा और अमित गति[1]आचार्यने अपने पं० स० में सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह ही योग बतलाये है। मुझे इसका कारण लक्ष्मणसुत डडढापर [2]तत्त्वार्थवार्तिकका प्रभाव प्रतीत होता है। अमितगतिने तो उन्हीका अनुसरण किया है।

अकलक देवने स्वामिभेदसे शरीरोमे भेद करते हुए बतलाया है कि औदारिक तिर्यञ्च मनुष्योके होता है, वैक्रियिक देव नारकियोके होता है और किन्ही तैजस्कायिक, वायुकायिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यो के होता है। अकलक देवने अपने इस कथनपर षटखण्डागम के जीवस्थानका प्रमाण देकर यह आपत्ति शकाकारके द्वारा उठाई है कि जीवस्थान मे तो काययोग के स्वामियोका कथन करते हुए औदारिक काययोग और औदारिक मिश्रकाययोग तिर्यञ्च मनुष्योके तथा वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव नारकियोंके कहा है यहाँ आप तिर्यञ्च मनुष्योके भी कहते हैं। यह बात तो आगम विरुद्ध है। इसका उत्तर देते हुए अकलकदेवने कहा कि—'यह कथन अन्यत्र मिलता है व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकोंमें शरीरके भेदोका कथन करते हुए वायुके औदारिक वैक्रियिक, तैजस और कामण चार शरीर कहे हैं। और मनुष्यो के पाँच।' मनुष्योके पाचों शरीर माननेसे ही सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग हो सकते हैं, अन्यथा नही।

डडडाने प्राकृत पच सग्रहका संस्कृत अनुवाद करते हुए भी पचसग्रहगत पाठको छोडकर मूल शतक प्रकरणका पाठ क्यो रखा, यह अकलंक देवके तत्त्वार्थ वार्तिकके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है उन्हे अकलकदेववाली बात जंची।

---

१. द्वौ चतुर्षु नवस्वेक समस्ता सति सज्ञिनि।
जीवस्थानेषु विज्ञेया योगा योगविशारदै ॥१०॥
तदित्थम् मज्ञिनि पर्याप्ते पचं दश योगा ।— स० प० सं०, पृ० ८२।

२ 'स्वामिभेदादन्यत्वम्—औदारिक तिर्यङ् मनुष्याणाम्, वैक्रियिकी। देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणाणाञ्च केषाञ्चित्। अत्राह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणाया औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणां वैक्रियककायोगो वैक्रियिक मिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्-उक्त, इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते। तादिदमार्षविरुद्धमिति। अत्रोच्यते—न अन्यत्रोपदेशात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभगे वायोरौदारिकवैक्रियकतैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि, मनुष्याणां पंच।
—त० वा०, पृ १४३, १४४।

इसलिए अकलंक देवके मतसे ज्ञात होती हैं उन्होंने अपने पंच संग्रहके अन्तमें अकलक देवके लघीयस्त्रय से एक कारिका उद्धृत की है। उन्हें अकलकलक देवका कथन ही उचित प्रतीत हुआ। इसलिए उसीका ही अनुसरण अमितगतिने किया। और पञ्चसग्रहकारके सामने अकलकदेवका वार्तिक नही था क्योंकि पञ्चसग्रहकी रचना वार्तिक से पहले हो चुकी थी। अत उन्होंने 'चउदस' पाठ रखना ही उचित समझा क्योंकि जीवट्ठाण के अनुसार वही पाठ उपयुक्त था।

अत पचसंग्रहकार अकलंक देवके पूववर्ती होने चाहिए। अकलंकदेव विक्रम की आठवीं शताब्दीसे पश्चात्के विद्वान् नही हैं। अत पञ्चसंग्रहकी रचना विक्रमकी आठवीं शताब्दीसे पूर्व होनी चाहिए।

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पच सग्रह

दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसग्रहकी तरह श्वेताम्बर परम्परामें भी एक [1]पंच-स ग्रह नामक महत्वपूण ग्र थ है। जिसपर पञ्चसग्रहकारकी एक स्वोपज्ञ सस्कृत वृत्ति भी है। तथा आचाय मलयगिरिकृत सस्कृत टीका है। यह भी कम प्रकृति आदि की तरह प्राकृत गाथाबद्ध है।

उसकी प्रथम गाथाम वीर प्रभुको नमस्कार करते हुए पचसग्रहको कहनेका प्रतिज्ञा की गई है और उसे महाथ तथा यथाथ कहा है। गाथा[2] दोमें पचसग्रह नामकी साथकता बतलाते हुए कहा है कि चूँकि इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच ग्रन्थोका यथायोग्य न्यास किया गया है अथवा इसके पाँच द्वार हैं इसलिए पचसग्रह नाम साथक है।

शतक आदिसे कौनसे पाँच ग्रन्थ ग्रन्थकारको अभीष्ट थे वह उन्होंने स्वयं प्रकट नहीं किया। टीकाकार मलयगिरि ने पचसग्रह शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'शतक[3], सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कम और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोंका अथवा[3] योग उपयोग विषयक मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य बन्ध हेतु और बन्धविधि, इन पाँच अर्थाधिकारोंका जिस ग्रन्थमें सग्रह है वह पचसग्रह है।

शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृतका परिचय तो पीछे कराया जा चुका है।

---

१ स्वोपज्ञवृत्ति तथा मलयगिरिकी टीकाके साथ पञ्चसंग्रह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (अहमदाबाद) से प्रकाशित हो चुका है।

२ सयगाइ पञ्च गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता। दाराणि पञ्च अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥'—पं० सं०।

३ 'पञ्चानां शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणानां ग्रन्थानां अथवा पञ्चानामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणा—बंधक-बन्धव्य-बन्धहेतु-बन्धविधि लक्षणानां संग्रहः पञ्चसंग्रहः।'—प० सं० टी०, पृ० ३१।

किन्तु सत्कर्म ग्रन्थसे हम परिचित नही हो सके। मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकामें उससे एक उद्धरण[1] भी दिया है। सम्भवतया मलयगिरिका यह उद्धरण सप्ततिका चूर्णिका ऋणी है क्योंकि उसमें यही उद्धरण[2] 'सतकम्मे भणिय' कहकर दिया गया है। 'सतकम्म'का संस्कृत रूप सत्कम होता है।

षट्खण्डागमका परिचय कराते हुए सतकम्मपाहुड या सत्कमप्राभृतके विषयमें प्रकाश डाला गया है। सत्कम उससे भिन्न होना चाहिए क्योंकि इसके उक्त उद्धरणमें बतलाया है कि क्षपक श्रेणि और क्षीण कषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नही होता। श्वेताम्बर[3] कम साहित्यमें इस विषयमें दो मत पाये जाते है। कमप्रकृति, सप्ततिका और सत्कमके अनुसार उक्त गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय नही होता। किन्तु प्राचीन कमस्तव तथा प्राकृत पचसग्रहके अनुसार होता है। दिगम्बर कम साहित्य म यह मतभेद नही पाया जाता। उसमें क्षीणकषायमें निद्रा प्रचलाका उदय माना है। अत दिगम्बरीय सतकम्म पाहुडसे श्वेताम्बरी 'सन्तकम्म' भिन्न होना चाहिए।

तीसरी गाथामें ग्रन्थकारने ग्रन्थके योग उपयाग मागणा बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच द्वारोंका निर्देश किया ह और तदनुसार ही आगे कथन किया है। अर्थात प्रथम द्वारमें योग और उपयोगका कथन गुणस्थान और मागणा स्थानोमें किया है। जैसा कि सक्षेप रूपमे शतकके प्रारम्भमें पाया जाता है। दूसरे द्वार मे कमका बन्ध करनेवाले बन्धक जीवोका कथन ह। प्रथम दो गाथाओंके द्वारा प्रश्नात्तर रूपमें जीवका सामान्य कथन है—जीव किसे कहते हैं? औपशमिक आदि भावोसे सयुक्त द्रव्यको। जीव किसका स्वामी है? अपने स्वरूप का। किसने उन्हें बनाया है? किसीने भी नही बनाया। कहाँ रहते हैं? शरीरमें अथवा लोकमें रहते है। कबतक रहते है? सवदा रहते हैं। कितने भावोसे युक्त होते है? आगे सतपद प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पशन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ अनुयोगोके द्वारा जीवका कथन है।

तीसरे बन्धद्वारमें आठो कर्मों और उनके उत्तर भेदोंका कथन है। आठों कर्मोंकी प्रकृतियोको बतलानेके पश्चात ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धी, ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, सवघाती, देशघाती, शुभ, अशुभ, तथा क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, पुद्गल विपाकी प्रकृतियोको बतलाया ह। इस तरह कर्मप्रकृतियोका विविध रूपसे कथन तीसरे द्वारमें है।

---

१ तदुक्त सत्कमग्रन्थे— निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज'।

—सप्त० टी०, पृ० १५८।

२ स० चू०, पृ० ७।

३ इस चर्चाके लिए देखो—सि० चू० पृ० ७की टिप्पणी।

चौथे बन्धहेतु द्वारमें कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग तथा उनके भेदोंका कथन भंगपूर्वक विस्तारसे किया है। चूँकि परीषह भी कर्मोंके उदयसे होती हैं इसलिए अन्तमें परीषहोंका भी कथन तीन गाथाओंसे किया है। स्वोपज्ञ वृत्तिमें नग्नताका कोई अर्थ सम्प्रदायपरक नहीं किया है जैसा कि मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है।

पाँचवें बन्धविधि द्वारमें बन्धविधिके साथ ही उदय, उदीरणा और सत्ताका भी कथन किया है क्योंकि बद्धकर्मका उदय होता है, और उदयप्राप्त कर्ममें अनुदय प्राप्त कर्मका प्रक्षेपण करनेको उदीरणा कहते हैं। और जिस कर्मका उदय अथवा उदीरणा नहीं होते वह सत्तामें रहता है। अत बन्धके साथ उदय उदीरणा और सत्ताका कथन किया गया है। अत ये द्वार बडा है इसमें बन्धके चारो भेदोका कथन होनेके साथ ही साथ उदय उदीरणा और सत्ताका भी कथन है। इस तरह पंचसंग्रहके पाँचों द्वार समाप्त हो जाते हैं। और उनके साथ ही ग्रन्थका पूर्वार्ध हो जाता है।

उत्तरार्धमें कर्मप्रकृतिमें कथित आठों करणोंका स्वरूप प्रतिपादित है। इसके प्रारम्भमें पञ्चसंग्रहकारने श्रुतधरोंको नमस्कार किया है। किन्तु उन्होंने यह नही कहा कि मैं कर्मप्रकृतिका कथन करता हूँ। टीकाकार मलयगिरिने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें कहा है—'अब[1] कर्मप्रकृति संग्रहको कहना चाहिए। कर्मप्रकृति महान् शास्त्रान्तर है। उसे हमारे जैसे अल्पबुद्धि केवल अपनी बुद्धिके प्रभावसे संग्रहीत करनेमें असमर्थ हैं किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृत आदि शास्त्रोंके पारगामी विशिष्ट श्रुतधरोंके उपदेशकी परम्पराके साहाय्यसे कर सकते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने श्रुतधरोंको नमस्कार किया है।

इसका विषय परिचय करानेकी आवश्यकता नही है क्योंकि इसकी रचना शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिको सामने रखकर उसीके अनुसार की गयी है। दोनोंका मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। अन्तिम भागमें सप्ततिका का संग्रह किया गया है। अत सप्ततिकामें जो विषय प्रतिपादित है वही इसमें भी है।

---

१ 'नमिऊण सुयहराणं वोच्छं करणाणि बंधणाईणि।
संकमकरणं बहुसो अइदेसियं उदय संते जं॥१॥
मलयटी०—सम्प्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्य। कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरं महद्धि च' ततो न मादृशैरल्पमेधोभिः स्वमतिप्रभावत संग्रहीतुं शक्यते। किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृतादि-शास्त्रार्थ-पारगामि विशिष्टश्रुतधरोपदेशपारम्पर्येण ततोऽवश्यं ते नमस्कर णीयाः—पं० सं० उत्त०।

ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ

पचसग्रहकारने अपने मूलग्रन्थमें 'सयगाई पचगंथा' करके शतक आदि जिन पाँच ग्रन्थोका संग्रह करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमेंसे शतकके सिवाय शेषोका नाम नही बतलाया, यह हम ऊपर लिख आये हैं। फिर भी पचसग्रहके पयबेक्षणसे यह निश्चित है कि शेष चार ग्रन्थोमेंसे दो अवश्य ही कमप्रकृति और सप्ततिका हैं। शेष दोका प्रश्न विवादग्रस्त है। मलयगिरिके अनुसार वे कसायपाहुड और सत्कम हैं। कसायपाहुडके सम्बन्धमें कोई ऐसा उल्लेख हमारे देखनेमें नही आया जिसके आधारपर उसकी विधि या निषेधपर जोर दिया जा सके। किन्तु सत्कमके सम्बन्धमें तो यह कहा जा सकता है कि पचसग्रहकारके द्वारा निर्दिष्ट पाँच ग्रन्थोमें उसकी स्थिति सदिग्ध है क्योकि पचसग्रहकारने उसके मतके सामने [1]कमस्तवका मत मान्य किया ह। तथा एक स्थानपर [2]स्वोपज्ञवृत्तिमें कमस्तवका उल्लेख भी किया है। अत पचसग्रहकारके द्वारा सगृहीत पाच ग्रन्थोमें एक कमस्तव अवश्य हाना चाहिए।

सप्ततिका और कमस्तवके सिवाय पचसग्रहकारने अपनी वृत्तिमें प्रज्ञापना और जीवसमासका उल्लेख किया है। दोनो ही प्राचीन ग्रन्थ है और उनमें प्रकृत ग्रन्थमें चर्चित कुछ विषय भी पाये जाते हैं। फिर भी पाँच ग्रन्थोमें उनके होने की सम्भावना कम है।

पञ्चसग्रहकारका अन्य कामिको तथा सैद्धान्तिकोसे मतभेद

पंचसग्रहकारने यद्यपि अपने ग्रन्थ पचसग्रहमें पाँच ग्रन्थोका सकलन किया है तथापि उन्होने एकान्त रूपसे अनुसरण नही किया। अनेक विषयोंमें उनका अन्य कार्मिकों तथा सैद्धान्तिकोंसे मतभेद प्रकट है। नीचे उसीको बतलाया जाता है।

१ पंचसग्रह (गा० १७) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं। मलयगिरिने उसकी टीकामें यह शका उठायी है कि वैक्रिय लब्धि सम्पन्न

---

१ 'कर्मस्तवप्रणेता तु क्षीणमोहेपि द्विचरमसमयं यावन्निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छति। तथा चोक्त कर्मस्तवे—'निद्दापयलाण तहा खीणदुचरिमंमि उदयवोच्छेओ'। इति। तत स्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावदुदओ वेदितव्य।'—प० स० मलयटी०, भा० १ पृ० १९५। 'एतच्चाचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेणोक्तम् सत्कर्मग्रथाद्यभिप्रायेण तु क्षपकक्षीणमोहानां चतुर्णामेवोदयो न पञ्चानामपि। तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे— निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिचज्ज।' —प०, सं० मलयटी० भा० २, पृ० २२७।

२ 'एवमेकादशभङ्गा सप्ततिकाकारमतेन कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदया भवन्ति—पं० स०, भा० २, पृ० २२७।

पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चों के सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें विक्रिया होती है उसके पहले वैक्रियमिश्र होता है वह यहाँ क्यो नही कहा[1]। उत्तर दिया गया है कि वहाँ विक्रिया नही होती इसलिए अथवा अन्य किसी कारणसे आचार्यने तथा दूसरोंने नही माना यह हम नहीं जानते क्योकि उस प्रकारके सम्प्रदायका अभाव है।'

दिगम्बर परम्परामें भी तीसरे गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं और उक्त शकित विक्रियाको स्वीकार नही किया है।

२ पञ्चसग्रह (गा० ९) में उपयोगका कथन गुणस्थानोंमें करते हुए पहले और दूसरे गुणस्थानमे पाँच ही उपयोग बतलाये हैं। शतक गा० ४१ में भी पाँच ही उपयोग बतलाये हैं। यही कार्मिकोंका मत है जो दिगम्बर परम्परामें भी मान्य है। किन्तु प्रज्ञापनामें विभङ्गावधिके साथ अवधिदर्शन भी बतलाया है। पचसग्रहकारकी कुछ बातोका विरोध मलयगिरिने स्पष्ट रूपसे अपनी टीकामें किया है। यथा—

३ गाथा ४६ से ५१ तक पचसग्रहकारने जीवोकी कायस्थितिका कथन किया है। यह कायस्थिति प्रज्ञापनामें कथित कायस्थितिसे मेल नही खाती। अत [1]मलयगिरिने उसे आगम विरुद्ध मान कर अपनी टीकामें प्रज्ञापनाके अनुसार ही कथन किया है। किन्तु यह कायस्थिति [2]षट्खण्डागमके अन्तगत जीवट्ठाणके कालानुयोगद्वारमें कथित कायस्थितिसे मेल खाती है।

४ चतुर्थद्वारकी गाथा १८ में पचसग्रहकारने चौइन्द्रियोके तीनों वेद माने हैं। [3]मलयगिरिने केवल एक नपुसक वेद ही लिखा है। दिगम्बर [4]परम्पराके अनुसार भी चौइन्द्रियपर्यन्तजीव नपुसकवेदी ही होते हैं।

५ चतुर्थद्वारमें ही पञ्चसग्रहकारने उत्तर प्रकृतियोकी जो जघन्य स्थिति बतलायी है वह कर्मप्रकृतिसे मेल नही खाती। दोनोंमें अन्तर है। यथा—पञ्चसग्रहकारने तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष बतलायी है। तथा आहारकद्विककी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलायी है किन्तु कर्मप्रकृति आदिमें

---

१ 'इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथागमविरोधिनी दृश्यते। ततस्तामुपेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारत सूत्रगाथा विवृता। अतएव ग्रन्थगौरवमनादृत्य सर्वत्र प्रज्ञापनासूत्रमुपादर्शि —पं० सं० मलयटी०, भा० १ पृ० ८१।

२ षट्खं०, पु० ४। ३ पं सं० मलय० टी०, भा० १, पृ० १८३। ४ 'तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदियात्ति ॥१०६॥—षट्खं० पु०, पृ० ३४५।

३ 'इदं च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमाचार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयम, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात्।'—पं० सं० मलयटी०, भा० १, पृ० २२७।

उनकी जघन्य स्थिति कोटी-कोटी सागर बतलायी है। दिगम्बर परम्परामें भी यही बतलायी है।

कार्मिको और सैद्धान्तिकोंमें तो मतभेद है ही। कुछ बातोंको लेकर कार्मिकोंमें भी परस्परमें मतभेद है। जैसे क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय कोई मानता है कोई नही मानता। कर्मप्रकृतिकार और सप्ततिकार नही मानते। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव और तदनुयायी पञ्चसग्रहकार तथा दिगम्बरा-चाय मानते हैं। किन्तु [1]पञ्चसग्रहकारने अपने सप्ततिका प्रकरण में सप्ततिका सग्रह करते हुए दोनोका निर्देश कर दिया है। दूसरा मौलिक मतभेद अनन्तानु-बन्धी कषायकी उपशमना और विसंयोजनाको लेकर है कर्मप्रकृतिकारका मत कि अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना ही होती है उपशमना नही होती। किन्तु सप्ततिका (गा० ६१) और पञ्चसग्रहके अनुसार उपशमना होती है। तथापि [2]पञ्चसग्रहमें विसयोजना भी बतलायी है।

पञ्चसग्रहकारने अपने सप्ततिका नामक प्रकरणमें गा० ९ में वैक्रियिक द्वयका उदय चौथे गुणस्थान तक ही बतलाया है। उसकी टीकामें [3]मलयगिरिने लिखा ह कि वैक्रिय और वक्रिय अगोपागका चौथे गुणस्थानसे आगे उदयका निषेध आचाय-ने कमस्तवके अभिप्रायानुसार किया है। स्वय तो वे देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त-में उनका उदय मानते हैं।

उक्त चर्चाओसे प्रकट होता है कि पञ्चसग्रहकार कमशास्त्रके बहुत विशिष्ट विद्वान थे और अपने समयके कमसिद्धान्त विषयक सभी प्रमुख ग्रन्थोका उन्होने अवलोकन किया था। और उन सभीके मतोंको उन्होने अपने ग्रन्थमें स्थान दिया, फिर भी कुछ विषयोमें उनका अपना भी विशिष्ट मत था।

कर्ता—

इस पञ्चसग्रहके कर्ता आचायका नाम चन्द्रर्षि महत्तर था। पञ्च सग्रहकी अन्तिम [4]गाथा तथा उसकी वृत्तिमें उन्होंने अपना नाम 'चन्द्रर्षि' मात्र दिया है।

---

१ खवगे सुहुम मि चउब धमि अबंधगम्मि खीणम्मि।
उवसंत चउरुदओ पंचण्हवि केइ इच्छति। १४॥ —श्वे० प० सं०, भाग, २२७।

२ श्वे पं० सं० उप०, गा० ३४ ३५।

३ 'वैक्रियवैक्रियागोपागनिषेधस्तु अत्राचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेण कृतोभिवेदितव्य, न स्वमतेन स्वयं देशविरत प्रमत्ताप्रमत्तेषु तदुदयाभ्युपगमात्, स्वकृतमूलटीकाया तथा भंगभावना करणात्। प० सं० भा० २ पृ० २२७।

४ सुयदेवि पसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं।
समयाओ चन्दरिसिणा समइ वि भवानुसारेण ॥१५३॥

और अपने गुरु आदिके सम्बन्धमें कोई निर्देश नहीं किया।

सित्तरीकी प्रतियोंके अन्तमें जो एक गाथा पाई जाती है।

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए'

उसमें 'चन्द्रमहत्तर' नाम आता है। खंभातके श्री शान्तिनाथभण्डारमें जो शतकचूर्णिकी प्रति है उसके अन्तिम पत्रके अन्तमें यह वाक्य लिखा है—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य'।

इन सब उल्लेखोंसे ग्रन्थकारका पूरा नाम श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रमाणित होता है किन्तु उनके कुलगुरु समय आदिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

साधारणतया उन्हें एक बहुत प्राचीन आचार्य माना जाता है। 'जैनसाहित्य नो इतिहास, (पृ० १३९) में उन्हें कर्मप्रकृतिकारके पश्चात् रखते हुए लिखा है—'चन्द्रर्षि महत्तर थयाते घणा प्राचीन समयमा थया जणाय छे। ते प्राय आ समयमा थया हशे ऐम गणी अहीं तेमनो उल्लेख कर्यो छे'।

किन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीने 'पञ्चमकर्मग्रन्थ और षष्ठम कर्मग्रन्थ' की अपनी प्रस्तावना (पृ० १५)में 'चन्द्रर्षि सप्ततिकाके रचयिता नहीं हैं' इस बातको स्पष्ट करते हुए उनके सम्बन्धमें दो बातें मुद्देकी लिखी हैं। एक-यदि सप्ततिकर्ता और पंचसंग्रहकर्ता आचार्य एक ही होते तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें जैसे शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंका उल्लेख साक्षी रूपसे मिलता है वैसे पञ्चसंग्रह जैसे प्रासादभूत ग्रन्थके नामका उल्लेख भी जरूर मिलता। परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं भी देखनेमें नहीं आता। दूसरी मुद्देकी बात मुनिजीने यह लिखी है कि 'महत्तर' पद तथा गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि जैसे ऋषि पदान्त नाम सामान्यतया पिछले समयके होने चाहिए। आचार्य चन्द्रर्षिके समयका विचार करते समय दोनों मुद्दे नहीं भुलाये जा सकते।

इनके समयका विचार करनेसे पूर्व यहाँ शतकचूर्णि और सप्ततिचूर्णिका परिचय कराया जाता है।

एक अन्य शतकचूर्णि

शतक ग्रन्थका परिचय पहले कराया जा चुका है। उसीपर प्राकृत भाषामें यह चूर्णि रची गयी है। चूर्णिको देखनेसे प्रकट होता है कि उसका रचयिता कोई बहुश्रुत विद्वान होना चाहिए, क्योंकि चूर्णिमें उद्धृत गाथाओंका बाहुल्य है।

१—राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित शतक प्रकरणका इसचूर्णिके साथ प्रकाशन हुआ है।

और चर्चित विषयके सम्बन्धमें कार्मिको औच सैद्धान्तिकोमें जो मतभेद हैं उनका भी यथा स्थान निर्देश किया गया है।

यद्यपि पूरी चूर्णि प्राकृत भाषाबद्ध है किन्तु कही कही सस्कृत वाक्य भी पाये जाते हैं किन्तु उनकी विरलता ह। प्रारम्भिक गाथाकी उत्थानिकामें चूर्णिकारने सम्बन्धादिका कथन करनेके लिए एक सस्कृत आर्या उद्धृत की है—

'सज्ञा निमित्त कर्तार परिमाण प्रयोजन।
प्रागुक्त्वा सवतत्राणा पश्चाद् वक्ता त वणयेत ॥'

प्रथम गाथा मे कहा है कि 'दृष्टिवादसे कुछ गाथाए कहूगा'। चूर्णिकारने दृष्टिवादका परिचय कराते हुए उसके पाच भेदोंमें से दूसरे पूव अग्रायणीयके अन्तगत पचम वस्तुके बीस पाहुडोमेंसे चतुर्थ कमप्रकृति प्राभतसे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति बतलायी है। चतुथ कमप्रकृति प्राभतके चौबीस अनुयोगद्वारोके नाम गिनाकर उनमें से छठे अनुयोगद्वार बन्धनके चार भेद—बध बधक, बन्धनीय और बन्ध-विधानमें से बन्धविधानसे प्रकृत शतककी उत्पति बतलाई है। इससे सूचित होता है कि चूर्णि कारको इस सब उपपत्तिका परिचय था।

इसी तरह ग्रन्थमें वर्णित योग, उपयोग जीवसमास और गुणस्थानोका चूर्णिमें अच्छा विवेचन किया गया है जो सक्षिप्त होते हुए भी बहुमूल्य है। गाथा ३८-३९की चूर्णिमें आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकतियोका विवेचन भी सुन्दर है। आगे चारों बन्धोके कथन में भी चूर्णिमें बहुत विषय भरा हुआ है और चूर्णिकारने 'गागरमें सागरकी कहावत को चरिताथ किया है।

इस चूर्णिके कर्ताका भी नाम अज्ञात हैं। किन्तु खभातके शान्तिनाथ भण्डारसे प्राप्त शतक चूर्णिके अन्तमें उसे श्वेताम्बराचाय श्री चन्द्रमहत्तरकी कृति बतलाया ह।

किन्तु पचसग्रहके साथ चूर्णिकी तुलना करनेसे कोई बात प्रकट नही होती जिसके आधारपर यह निस्सन्देह रूपसे कहा जा सके कि यह चन्द्रर्षि महत्तरकी कृति ह।

१ प्रथम तो चूर्णिका उपोद्घात और पच-सग्रहका उपोद्घात ही भिन्न है। जहा चूर्णिमे सज्ञा निमित्त आदिका कथन ग्रन्थके प्रारम्भ में आवश्यक बतलाया है वहा पञ्चस० के प्रारम्भमें मगल, प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयका कथन करके व्याख्या क्रमके ६ भेद किये हैं—और उनके सम्बन्धमें 'उक्त च' रूपमें यह श्लोक उद्धृत किया है।

सहिता च पद चैव पदाथ पदविग्रह।
चालना प्रत्यवस्थान व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥'

२ शतक गाथा १४ की चूर्णिमें मिथ्यात्वके अनेक भेद बतलाये हैं—एकान्त, वैनयिक, अज्ञान, संशय, मूढ और विपरीत। अथवा क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिकवाद और अज्ञानवाद। तथा नीचे लिखी दो गाथाए उद्धृत की है—

'असियसय किरियाण अकिरियवाईण जाण चुलसीई ।
अन्नाणि य सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीसं ॥"
जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया ।
जावइया परसमया तावइया चेव मिच्छत्ता ॥'

उधर पंचसंग्रहमें[1] मिथ्यात्वके पाच भेद गिनाये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोग। तथा व्याख्यामें 'च' पद से सूचित मिथ्यात्व के भेदोका सूचन करनेके लिए 'तेसठटा तिन्नीसया' और 'जावइया वयण पहा' गाथाओंका निर्देश किया है जो बतलाता है कि चूर्णिमें उद्धत इन गाथाओंसे ये दोनो गाथाए भिन्न है।

३ शतक गा० ५२-५३ की चूर्णिमें उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबन्धका कथन विस्तारसे किया है। उसमे तीर्थङ्कर और आहारकद्वयकी जघन्यस्थिति कर्मप्रकृति के अनुसार, अन्त कोटी-कोटी सागर ही बतलायी है। किन्तु पंचसंग्रहमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी अन्तमुहूर्त बतलायी है।

चूर्णिमें वर्णादिचतुष्ककी उत्कृष्टस्थिति बीस कोडाकोडी सागर बतलायी है और पंचसंग्रह[2] मे पृथक २ बतलायी है। और भी उल्लेखनीय अन्तर स्थिति-बन्धके सम्बन्धमे है।

अत इन बातोको लक्ष्यमें रखनेसे यह निर्विवाद रूपसे नही माना जा सकता कि शतकचूर्णिके कर्त्ता और पंचसंग्रहके कर्ता एक व्यक्ति है।

शायद कहा जाये कि शतक कर्मप्रकृतिकारकी रचना है इसलिए चूर्णि-कारने उसमें कर्मप्रकृतिके अनुसार ही स्थितिका प्रतिपादन किया होगा। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नही है क्योंकि चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिका भी अनुसरण नही किया। कर्मप्रकृति[3]के अनुसार प्रत्येक वर्गकी भी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी

---

१ 'आभिग्गहियमणभिग्गहियं च अभिनिवेसियं चेव । संसइयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा होइ ॥२॥

२ सुक्किलसुरभी महुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाणं । अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अंबिल हालिद्द पुव्वाणं ॥३३॥ श्वे०पं० सं० भा० १, पृ० २१९।

३ वग्गु क्कोस ठिइ ण मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं । सेसाणं तु जहन्ना पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ "७९।"—कं० प्र०; बन्धन ।

उत्कृष्ट स्थितिका भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेसे उत्तरप्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण आता है। और पञ्चसंग्रहके[1] अनुसार प्रत्येक उत्तर प्रकृतिकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिका भाग देने से जो लब्ध आता है वही उस उत्तर प्रकृतिकी जघन्यस्थितिका प्रमाण होता है। चूर्णिमें पंचसंग्रहवाली बातका स्वीकार किया गया है किन्तु उसमें कर्मप्रकृतिकी तरह पल्यका असंख्यातवा भाग कम भी किया गया है। श्वे० पंच स० की टीकामें मलयगिरि ने लिखा है[2] कि जीवाभिगम वगैरह में यही स्थिति मान्य है जो चूर्णिमें बतलायी है।

दि० पंच सं० में भी यही स्थिति मान्य है। दि० प० स० की गाथाओंके साथ स्थिति निर्देशक चूर्णिका मिलान करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त चूर्णि की रचना दि० प० स० की गाथाओंको सामने रखकर की गयी है। दोनों में कथनका क्रम भी एक है।

किन्तु शतकचूर्णिमें[3] तथा प० स० की स्वोपज्ञ[4]वृत्तिमें जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमणके विशेषावश्यक भाष्यसे गाथाए उद्धृत की गयी हैं। अत दोनोकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पूर्व ही हुई है यह निश्चित है।

गुजरातके चालुक्यवंशी नरेश कुमारपालके समयमे हुए आचार्य मलयगिरिने पंचसंग्रह पर टीका रची थी। अत पञ्चसंग्रहकी उत्तरावधि विक्रमकी बारहवी शती निश्चित होती है। देखना यह है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर बारहवी शताब्दी पर्यन्त पाचसौ वर्षों के अन्दर पञ्चसंग्रहकी रचना कब हुई।

इस कालके बीचमें हुए ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पञ्चसंग्रहसे उद्धृत पद्य हमारे देखने में नहीं आये।

पञ्चसंग्रहसे भी कोई विशेष सहायता नही मिलती। हां, पञ्चसंग्रहकी

---

१ 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिइए जं लद्ध ॥४८॥

—श्वे० पं० सं०, भाग १ पृ० २५५।

२ 'जीवाभिगमादौ आचार्योक्त जघन्यस्थितिपरिमाणं पल्योपमासंख्येयभागन्यूनमुक्तम्' श्वे० प० स० पृ० २२७।

३ श० चू० गा० ३८ ३९ में—'जावन्ती अक्खराइ —वि० भा० गा० ४४४। 'इन्द समणोणिमित्तं—' वि० भा गा० १००।

४ सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा० वि० भा० गा० ३०९६।—श्वे० प० सं०, भा० १, पृ० १०।

स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि कुछ [1]आचार्य वामन को चौथा संस्थान मानते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है। हमने खोजने पर गर्गर्षिके कर्मविपाकमें वामनको चौथा और कुब्जकको पाँचवा संस्थान पाया। यथा—

> समचउरंसे नग्गोहमंडले साइवामणे खुज्जे।
> हुंडे वि य संठाणे तेसि सरूवं इम होइ॥१११॥

तब क्या पंचसंग्रहकारने 'केचित्' के द्वारा गर्गर्षिके मतका निर्देश किया है? यदि ऐसा हो तो उन्हें गर्गर्षिके पश्चात्का ग्रन्थकार मानना होगा।

सिद्धर्षि[2] आचार्यने अपनी उपमिति भव प्रपञ्चकथा वि० स० ९६२ में रचकर समाप्त की थी। उसमें उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि लाट देशके निवृतिकुल में सूर्याचार्य हुए। उनका शिष्य छेल्ल महत्तर था जो ज्योतिर्विद था। उनका शिष्य दुर्गस्वामी था। उसने जैन साधुकी दीक्षा ली थी। उसकाशिष्य मैं सिद्धर्षि हूँ। सिद्धर्षिने लिखा है कि मेरे गुरु दुर्गस्वामीको तथा मुझे गर्गस्वामीने दीक्षा दी थी। इन्हीं गर्गस्वामीको कर्म विपाकका रचयिता माना जाता है। अत उसका समय विक्रमकी दसवीं शतीका पूर्वार्ध समझना चाहिए। और ऐसी स्थितिमें पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षिको दसवी शतीसे पहलेका विद्वान नहीं माना जा सकता। और इस आधार पर उनका समय विक्रमकी १० वी शताब्दीका उत्तरार्ध माना जा सकता है। यद्यपि इस समयसे पहलेके रचे हुए ग्रन्थोंमें पंचसंग्रहके उद्धरण हमारे देखनेमें नही आये और इसलिए उक्त समयमें कोई असमजसता प्रतीत नही होती। तथापि उक्त आधार इतना पुष्ट नही है जिसके आधार पर उक्त समयको निर्विवाद रूपसे माना जा सके। क्योंकि गर्गर्षिने अपने कर्म विपाकमें जो वामनको चौथा संस्थान गिनाया है सम्भव है किसी अन्य आधार पर गिनाया हो और उसीका निर्देश पंचसंग्रह मे किया गया हो।

यद्यपि शतक चूर्णि हमें पंचसंग्रहकार रचित प्रतीत नहीं होती तथापि उसके आधार पर भी उसके कर्ताके विषयमें, चाहे वह चन्द्रर्षि हों या अन्य, विचार करना आवश्यक है।

शतक चूर्णिमें ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है और वही एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा चूर्णिके रचना कालके सम्बन्धमें किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है।

---

१ 'वामनस्य केचिच्चतुर्थं (र्थं सं०) स्थानं वदन्ति तन्न भवतीति।'—श्वे० पं०सं०, भा० १, पृ० ११० ।

२ जै० सा० इ० (गु), पृ० १८२ ।

यह तो हम लिख ही आये हैं कि उसमें विशेषावश्यक भाष्यसे उद्धरण दिये गये हैं और उनके आधार पर उसके रचना कालकी पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। अन्य उद्धरणोके स्थानका पता न लग सकनेसे अथवा उनके स्थल में विवाद होनेसे किसी निष्कर्ष पर पहुचने मे जो कठिनाई उपस्थित होती है उसका विवरण दिया जाता है।

दि० पचसग्रहका समय निर्णीत करते हुए यह लिख आये हैं कि शतक चूर्णिकार उससे परिचित थे। उसकी पुष्टिमें एक उद्धरण और भी मिलता है। नीचे लिखी गाथा श० चू० मे उद्धृत है—

'ज सामण्ण गहण भावाण णेवकट्टु आगार।
अविसेसिऊण अत्थे दसणमिई वुच्चए समए।'—श० चू० पृ० १८।

यह गाथा दि० प० स० के प्रथम अधिकारकी १३८ वी गाथा है। यह धवलामें भी उद्धृत है और द्रव्य सग्रहमें तो इसे मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है। शतक चूर्णिसे यह गाथा अन्य श्वेताम्बर टीकाओ में भी उद्धृत की गयी है। यथा कर्मविपाक नामक प्रथम नव्य कर्म ग्रन्थकी गाथा १० की टीकामें वह उद्धृत है और सम्पादक ने उसे बृहद्द्रव्यसग्रहकी बतलाया है। किन्तु मूलमें वह दि० प० स० की ही है। अत शतक चूर्णिकार दि० प० स० से अवश्य सुपरिचित थे। अस्तु,

शतक गाथा ९ की चूर्णिमें गुणस्थानोका कथन करते हुए अनेक गाथाए उद्धृत की गयी हैं। उनमें से प्रथम गुणस्थानके वर्णनमें नीचे लिखी ५ गाथाए एक साथ क्रमवार उद्धृत है—

उक्तच— मिच्छत्त तिमिर पच्छाइयदिट्ठी रागदोससजुत्ता।
धम्म जिणपण्णत्त भव्वावि णरा ण रोचेन्ति ॥१॥
मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण ण सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भाव उवइट्ठ वा अणुवइट्ठ ॥२॥
पदमक्खर च एक्कपि जो ण रोएइ सुत्तणिदिट्ठ।
सेस रोएन्तो वि हु मिच्छाद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥३॥
सुत्त गणहरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहिय च।
सुयकेवलिणा रइय अभिण्णदसपुव्विणा कहिय ॥४॥
अहवा—त मिच्छत्त जमसद्दहण तच्चाण जाण अत्थाण।
स इयमभिग्गहिय अणभिग्गहिय च त तिविह ॥५॥'

इनमे से गाथा २ तथा ५, दि० प० सं० के प्रथम अधिकारकी ८ वीं तथा

१ दि० ग्रन्थोंमें 'भणए' पाठ है।

७ वीं गाथा है। तथा ३, ४, ५, भगवती आराधनामें हैं और उनकी संख्या क्रमश ३१, ३४, और ५६ है। गाथा नं० ४ के पाठमें थोडा भेद है जो इसप्रकार है—

सुत्त गणधरगथिद तहेव पत्तेय बुद्धकहियं च ।
सुदकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुव्विगथिद च ॥३४॥

श्वेताम्बर साहित्यमें बृहतसग्रहिणीमें गा० ३-४ पाई जाती हैं और उनका नम्बर १५३-१५४ है। तथा उसमें 'कहिय' आदिके स्थानमें सवत्र 'रइयं' पाठ है।

इस तरह उक्त पाच गाथाओंमें से फुटकर रूपमें कुछ गाथाए दोनो परम्परा-ओके साहित्य में मिलती हैं। किन्तु लगातार पाचों गाथाए इसी क्रमसे किसी ग्रन्थमें नही मिलती और इसलिए यह निणय करना अशक्य है कि चूर्णिकारने इन्हें अमुकग्रन्थ से उद्धत किया है।

खोजते खोजते हमें ये गाथाए इसी क्रमसे एक अन्य ग्रन्थमें भी उद्धत मिली। सिद्धसेन गणिकृत तत्वाथ भाष्यकी टीका (अ ८ सूत्र १० में) में ये गाथाएं इसी क्रमसे उद्धृत हैं। केवल पाचवी गाथाकी प्रथम पक्तिके अन्तिम शब्द 'अत्थाण' के स्थानमें 'भावाण' पाठ है।

परन्तु चौथी गाथा उद्धृत नही है उसके स्थानमें उसी आशयकी दो संस्कृत आर्याए इसप्रकार उद्धृत है—

'सूत्र तु प्रतिविशिष्टपुरुषप्रणीतमेव श्रद्धागोचर इति यथोक्तम्—
अर्हत्प्रोक्त गणधरदृब्ध प्रत्येकबुद्धदृब्ध वा ।
स्थविरग्रथित च तथा प्रमाणभूतत्रिधा सूत्रम् ॥१॥
श्रुतकेवली च तस्मादधिगतदशपूर्वकश्च तौ स्थविरौ ।
आप्ताज्ञकारित्वाच्च सूत्रमितरत् स्थविरदृब्ध ॥२॥

'सुत्त गणधर कहिय', आदि गाथाके अभिप्रायसे उक्त सस्कृत आर्याओके अभिप्रायमें कोई अन्तर नही है। गाथामें श्रुतवली रचितको तथा दसपूर्वी रचित-को सूत्र कहा है। सस्कृत पद्योमें उन दोनोंको स्थविर बतलाते हुए स्थविर रचितको सूत्र कहा है। हमारा विश्वास है कि शतक चूर्णि तथा सि० टीकाके बीचमें अवश्य ही आदान-प्रदान हुआ है और उन दानोमें से एकने दूसरेका अनु-करण किया है। उसके बिना विभिन्न ग्रन्थोंसे सकलित की गयी गाथाए उसी क्रमसे दोनोंमें नही मिल सकती।

हमारे उक्त विश्वास का आधार केवल उक्त गाथाएं ही नहीं हैं, किन्तु दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोका तथा वाक्योंका बाहुल्य है।

अन्तर इतना ही है कि चूर्णिमें प्राकृत रूप है तो सि० टीकामें संस्कृत रूप है ।

चूर्णिमें तीसरे गुण स्थानका कथन करते हुए पाच गाथाए उद्धृतकी गयी हैं, उनमें से केवल पाचवी गाथा दि० प० स० में मिली है, शेषके स्थलोंका पता नहीं लग सका । उनमें से तीन गाथाएं इस प्रकार हैं—

उक्त च-सम्मत्तगुणेन तओ विसोहइ कम्म मेस मिच्छत्त ।
सुज्झन्ति कोद्दवा जह मदणा ते ओसहेणेव ॥१॥
ज सव्वहा विसुद्ध त चेव य भवई कम्म सम्मत्त ।
मिस्स अद्धविसुद्ध भवे असुद्ध च मिच्छत्त ॥२॥
(स) मयणकोद्दव भोजी अणप्पवसय णरो जहा जाइ ।
सुद्धाइ उण मुज्झइ मिस्सगुणा वा वि मिस्साई ॥४॥

इन तीनो गाथाओका सस्कृत रूपान्तर सि० टीकामें (भा० २, पृष्ठ १३७ १३८) इस प्रकार पाया जाता है—

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभि शोध्यन्ते कोद्रवा मदना ॥१॥
यत्सवथा तत्र विशुद्ध तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम ।
मिश्र तु दर विशुद्ध भवत्यशुद्ध च मिथ्यात्वम ॥२॥'
'ननु कोद्रवान मदनकान भुक्त्वा नात्मवशता नरो याति ।
शुद्धादी न च मुह्यति मिश्रगुणस्यापि मिश्राद् वा ॥१॥'

इसी तरह अन्य भी अनेक गाथाएं हैं जिनका सस्कृत रूपान्तर सि० टीकामें है । कर्मो के लक्षणोमें भी आंशिक समानता पाई जाती है । यथा—

१ 'णोकसाया कषायै सह वतन्ते नहि तेषां पृथक सामर्थ्यमस्ति, जे कसायो दये दोसा ते ऽपि तद्योगात तद्दोषा एव अणन्ताणुबन्धिसहचरिताते अणताणुबन्धि सहाव पडिवज्जति।' (श० चू० पृ० १९)

'कषाय सहकृता एते स्वकार्यनिवर्तनप्रत्यला', न ह्यमीषा पृथक्सामर्थ्य मस्ति यद्दोषश्च य कषायस्तत्सहचारिण एतेऽपि तत्तद्दोषा एव भवन्ति । तदुक्त भवति—अनन्तानुबन्धि सहचरितास्तत्स्वभावका एव जायन्ते ।' (सि० टी०, पृ० १४१)

२ 'इत्थिम्मि अभिलासो पुरिसवेदोदएण जहा सिंभोदए अम्बाइसु । इत्थि-वेओदएण पुरिसाभिलासो पित्तोदए मधुराभिलाषवत । नपुसक वेओदयाओ इत्थि-पुरिसदुगमहिलसति धातुद्वयोदीर्णे मज्जिकादिद्रव्याभिलाषिपुरुषवत् ।' (श० चू०) 'पुरुषवेदमोहोदयात् अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाष आम्रफलाभिलाष इवो-

द्विषत श्लेष्मण । स्त्रीवेदमोहोदयात् नानाकारेषु पुरुषेष्वभिलाष ...। नपुंसक वेदमोहो बहुरूप तदुदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽभिलाष किल प्रादुर्भवति धातुद्वयोदये मार्जिताभिलाषवत् ।' (सि० टी०)

सि० टी०, अ० ६ में तत्तत् कर्मोंके बन्धके विशेष कारण बतलाये हैं । शतक गाथा १६-२६ में भी आठों कर्मोंके बन्धके कारण बतलाये है । चूर्णिमें जो विशेष कारण बतलाये हैं वे क्वचित् सि० टी० से मिलते जुलते हैं । यथा—'इयाणि सामन्नेण भण्णइ—सीलव्वयसपन्ने चरणट्ठे धम्मगुणराधिण सव्वजगावच्छल्ले समणे गरहन्तो 'तवसजमरयाण परमधम्मिकाण धम्माभिमुहाणं च धम्मविग्ध करेन्तो जहासत्तीए सीलव्वयकलियाण देसविरयाण विरइविग्घ करेन्तो, महुमज्ज-मसविरयाण को एत्थ दोसोत्ति अविरतिं दरसेन्तो, चरित्त सदूसणाए अचरित्त संदेसणाए य परस्स कसाए णोकसाए य सजणन्तो बन्धइ चरित्तमोहं कम्म ।' (श० चू०गा ११)

'परम धार्मिकाणा साधूना गर्हणया धर्माभिमुखाना च विघ्नकारितया देशविरति जनान्तरायकरणेन मधुमद्यमासाविरतिगुणदर्शनेन चारित्रगुणसन्दूषणेनाचारित्र-दर्शनेन परस्य कषायनोकषायोदीरणेन चरणगुणोपघातकारिकषायनोकषाय-वेदनीय चारित्रमोह बध्नातीति ।' (सि० टी० भा० पृ० २९) ।

इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शतकचूर्णि और सिद्धसेनगणी-कृतटीकाके कर्ताओंमेसे किसी एकने दूसरेकी कृतिका अनुसरण किया है । किन्तु किसने किसका अनुसरण किया है उक्त उद्धरणोके आधारपर इसका निर्णय करना कठिन है ।

जैसे शतकचूर्णिमें विशेषावश्यक भाष्यके उद्धरण पाये जाते है वैसे ही सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थ भाष्यटीकामें भी वि० भा० के उद्धरण पाये जाते हैं । अत यह निश्चित है कि दोनोकी रचना विशेषावश्यक भाष्यके पश्चात हुई है ।

सिद्धसेन गणिने अपनी टीकाकी प्रशस्तिमें अपनेको दिन्नगणिके शिष्य सिंह-सूरका प्रशिष्य तथा भा स्वामीका शिष्य बतलाया है । प० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्र विवेचनकी प्रस्तावनामें लिखा है कि यही सिंहसूर नयचक्रके टीकाकार हैं । और सिंहसूर विक्रमकी सातवी शताब्दीके मध्यमें अवश्य विद्यमान थे । क्योंकि उनकी टीकामें भी विशेषावश्यक भाष्यकी गाथाएँ उद्धृत हैं और उसका रचनाकाल विक्रमकी सातवीं शताब्दीका मध्य है । विक्रमकी नौवीं दसवीं शताब्दी-के नवागवृत्तिकार शीलांकने गन्धहस्ति नामसे सिद्धसेनका उल्लेख किया है अत वे उनसे पहले किसी समयमें हुए हैं । अधिक से अधिक विक्रमकी नौवीं शताब्दी को उनकी अवधि माना जा सकता है ।

ऐसी स्थितिमें शतकचूर्णिका अनुसरण सिद्धसेन ने किया हो यह सभव है यद्यपि निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिने सप्ततिका या सित्तरी पर एक भाष्य रचा था। इसके प्रारम्भमें उन्होने लिखा[1] है कि वह भाष्य मैं सित्तरीकी चूर्णिके अनुसार लिखता हूँ। अत [2]अभयदेवसूरि (१०८८ ११३५ सं०) से पहले सित्तरी चूर्णिकी रचना हो चुकी थी। और सित्तरीचूर्णिसे पहले शतकचूर्णि रची जा चुकी थी। यह उसके देखनेसे प्रकट होता है।

सि० चू० में कई स्थलो पर 'एयासि अत्थनविवरणा जहा सयगे' (पृ० ३), आदि पदोके द्वारा कर्मोंके भेद-प्रभेदोका, गुणस्थानोका, जीवस्थानोका, विवरण शतक ग्रन्थकी तरह कहा है। मूल शतक ग्रन्थमें तो उनके नाममात्र गिनाये है, उनका विवरण तो चूर्णिमें ही पाया जाता है। अत यही स्वीकार करना पडता है कि सि० चू०के कर्ताने शतक' नामसे शतकचूर्णिका ही निर्देश किया है। अत जब सि० चू० वि० स० ११००से पहले रची जा चुकी थी तो शतकचूर्णि उससे भी पहले रची गयी थी। और इसलिये शतकचूर्णिकी रचना की उत्तरा वधि विक्रम की दसवी शती मान लेना उचित होगा।

अत हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि शतक चूर्णि वि० स० ७५० १००० तकके कालमें किसी समय रची गयी है। और यदि पचसग्रहकार श्री चन्द्रषि महत्तर उसके रचयिता है तो कहना होगा कि वे इसी कालमें किसी समय हुए हैं।

और यदि पञ्चसग्रहमें निर्दिष्ट मत गर्गषिके कमविपाकका है तो उन्हे विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तका विद्वान मानना होगा।

वृहच्चूर्णि और लघुचूर्णि

शतककी हेमचन्द्राचायरचित वृत्तिसे तथा मलयगिरिकी कुछ टीकाओसे प्रकट होता है कि शतकपर दो चूर्णियाँ थी—एक वृहच्चूर्णि और एक लघुचूर्णि। प्रकृत शतकचूर्णि लघुचूर्णि है।

हेमचन्द्र नेअपनी शतक वृत्तिके प्रारम्भमें लिखा[3] है कि यद्यपि पूव चूर्णिकारों

---

१ 'नमिउण महावीर कम्मट्ठपरूवण करिस्सामि बधोदयसचेहिं सत्तरियाचुन्निअनुसार ।।१।। —स० भा०।

२ जै० सा० इ० (गु०), पृ० ११७।

३ इद च यद्यपि पूर्वचूणिकारैरपि व्याख्यातम्, तथापि तच्चूर्णीनामतिगम्भीरत्वात्।' श० वृ०, १।

ने भी शतकका व्याख्यान किया है, तथापि उनकी चूर्णियाँ अति गम्भीर हैं।' यहाँ उन्होंने 'चूर्णिकारैः' और 'चूर्णिनाम्' लिखकर बहुवचनका प्रयोग किया है। जिससे प्रकट होता है कि शतकपर अनेक चूर्णियाँ थीं। किंतु दो चूर्णियोंके ही उल्लेख मिलनेसे यह स्पष्ट है कि शतकपर दो चूर्णियाँ अवश्य थी और उनमें सैद्धांतिक मतभेद भी था।

उपलब्ध [1]लघुचूर्णिमें वेदक औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें संज्ञी-पर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक दो जीवसमास बतलाये हैं। किंतु हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें 'अन्ये' करके औपशमिक सम्यग्दृष्टिके संज्ञि अपर्याप्त होनेका निर्देश किया है किंतु इसे मान्य नही किया और अपने समर्थनमें बृहच्चूर्णिके मतका उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि—जो 'उपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणिमें मरण करता है वह प्रथम समयमें ही सम्यक्त्वपुञ्जको उदयावलीमें लाकर उसका वेदन करता है। अत उपशमसम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नही होता।[2]

शतक गाथा ३५ में दशवें गुणस्थानमें शुक्लध्यान बतलाया है। श्वेताम्बर परम्परामें इस विषयमें मतभेद है। अत लघुचूर्णिमें[3] लिखा है कि श्रेणिमें धर्म और शुक्ल दोनो ही सकते हैं। उसीको लेकर हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें लिखा[4] है कि लघुचूर्णिके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्म और शुक्ल ध्यान दोनों ही अविरुद्ध हैं। किन्तु बृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सरागीके चाहे वह सूक्ष्म सराग भी हो, धर्मध्यान ही होता है।'

---

१ 'समत्ते ति, सम्मदिट्ठी खइग वेयगउवसम-सासण-सम्मामिच्छ मिच्छदिट्ठी य तत्थ वेयग उवसम खइयसम्मद्दिट्ठीसु दो दो जीवट्ठाणाणि सन्निपज्जत्त अपवत्तगाणि।'

शा० चू०, पृ० ५।

२ अन्ये तु संज्ञिपंचेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्याप्यौपशमिकसम्यक्त्वं वर्णयन्ति, तच्च नाव गच्छामस्तथाहि उपशमश्रेणी मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्यापर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेत् ? ननु एतदपि न बहुमन्यामहे तस्य प्रथम समये एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात्। उक्तं च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे—'जो उवसम्मसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए काल करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत्त पुजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जगो लब्भइ।' इत्यादि।'—श० वृ०, पृ० १० ११।

३ 'सुक्कज्झाणग्गहणं किंणिमित्त इतिचेत् ? भन्नइ, सेढीए धम्मसुक्कज्झाणाइ सवि गप्पाइ अविरुद्धाइत्ति 'तद्बोधनार्थं तु सुक्कज्झाणग्गहणं।'—श० चू० पृ० १७।

४ श्रेणि व्यवस्थितस्य हि अन्तोर्धर्मशुक्लध्यानद्वयमपि लघुचूर्ण्यभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्लध्यानस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यते—बृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि धर्मध्यानमेव'—श० वृ०, पृ० ३७।

आचार्य मलयगिरिने भी [1]पंचसंग्रह तथा [2]कर्मप्रकृतिकी टीकामें 'शतक बृहच्चूर्णी' लिखकर उद्धरण दिये हैं।

उक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि शतककी बृहच्चूर्णि १२वीं शतीमें विद्यमान थी। आज वह अनुपलब्ध है। अत उसके कर्ता, काल आदिके सम्बन्धमें कुछ भी कहना शक्य नही है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि शतककी लघुचूर्णिमें किसी अन्य चूर्णिका निर्देश नही है। अत संभव है उसकी रचना लघुचूर्णिके पश्चात् हुई हो। उसके लिए बृहत विशेषणका कारण उसका बड़ा होना ही प्रतीत होता है, क्योंकि लघुचूर्णिका परिमाण लघु है तथा बृ चू के रचयिता कोई कार्मिक न होकर सैद्धान्तिक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने सिद्धान्त पक्षको ही अपनाया है।

सित्तरी चूर्णि

सित्तरी अथवा सप्ततिकापर भी एक चूर्णि है जो मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुई है। इसके भी कर्ताका नामादि अज्ञात है। इस चूर्णिमें सस्कृतका मिश्रण नही है और न उद्धृत पद्योका बाहुल्य है। चूर्णिकारने परिमित शब्दोंमें गाथाके अभिप्रायको स्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया है और यथास्थान अन्य आचार्योंके मतोंका भी निर्देश किया है। यथा स्थान कुछ ग्रन्थोके नामोका भी निर्देश किया है। वे ग्रन्थ हैं—कम्मपगडि संगहणी (कर्मप्रकृति सग्रहणी), कसायपाहुड सयग (शतक) और संतकम्म।

कमप्रकृति सग्रहणी तो शिवशर्म रचित कमप्रकृति है उसको देखनेका निर्देश चूर्णिकारने कई जगह किया है। किन्तु सप्ततिका और कमप्रकृतिमें निर्दिष्ट नाम कमके बन्धस्थानोंमें अन्तर है। सप्ततिकामें नामकमकी ९३ प्रकृतियाँ मानकर बन्धस्थानोका कथन किया है और कमप्रकृतिमें बन्धन और सघातको शरीरमें सम्मिलित न करके नाम कमकी प्रकृतियाँ १०३ मानी हैं। अत उसमें १०३ को लेकर नामकमके बन्धस्थानोका कथन किया है। यहाँ चूर्णिकारने कमप्रकृतिमें निर्दिष्ट १०३ आदि बन्ध स्थानोको युक्तिसगत[3] नही माना।

जहाँ तक हम जान सके है, श्वेताम्बर साहित्यमें सित्तरीचूर्णि ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कसायपाहुडका उल्लेख है। यह कसायपाहुड गुणधररचित वही कसाय पाहुड है जिसपर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र हैं। चूर्णिकारने उसका निर्देश तीन

---

१ पं० सं० टी०, भा० १, पृ० १७ तथा १८।

२ क० प्र० टी०, पृ० ५१।

३ 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतट्ठाणाणि विगप्पयंति। ताणि आगम जुत्तीहिं न घडंति।' —सि० चू०, पृ० २७।

स्थलोंपर किया है। एक जगह लिखा[1] है कि कृष्टियों का लक्षण जैसा कसायपाहुडमें कहा है वैसा जानना। दूसरी जगह लिखा[2] है कि अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरणके कालोंके विषयमें अनेक वक्तव्यता है सो जैसे कसाय-पाहुड या कर्मप्रकृतिसग्रहणीमें कहा है वैसे कहना चाहिए।' यह सब कथन कसाय-पाहुडके चारित्र मोह क्षपणा नामक अधिकारमें है। चूर्णिकारने शतकका निर्देश भी अनेक स्थलो पर किया है। किंतु जिन विषयोके लिये शतकका निर्देश किया गया है वे विषय मूल शतकमें नही हैं, किन्तु उसकी चूर्णिमें हैं। अत शतक नामसे चूर्णिकारने उसकी चूर्णिका ही निर्देश किया है। यथा—[3] आठों कर्मोंके अर्थका विवरण जाननेके लिये शतकका निर्देश किया गया है। किन्तु शतक गा० ३८ में आठो कर्मोंके नाम मात्र गिनाये हैं। और गाथा ३९ में उन आठों कर्मो की अवान्तर प्रकृतियोकी सख्या मात्र। बतलाई है किंतु उनकी चूर्णिमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोका कथन विस्तारसे किया है। इसी तरह जीवस्थान[4] और [5]गुणस्थानोका विवरण जाननेके लिए चूर्णिकारने शतकको देखनेका निर्देश किया है किंतु मूल शतकमें उनका विवरण नहीं है, चूर्णिमें है। अत यह निश्चित है कि शतक नामसे चूर्णिकारने शतकका ही निर्देश किया है।

रचनाकाल

मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकाके आरम्भमें लिखा है—

> चूर्णयो नावगम्यन्ते सप्ततेमन्दबुद्धिभि
> तत स्पष्टावबोधाय तस्याष्टीका करोम्यहम ॥

अर्थात मन्दबुद्धि लोग सप्ततिकी चूर्णियोको नही समझ सकते। इसलिए बोध करानेके लिए मैं उसकी टीका करता हूँ।

बहु वचनान्त 'चूर्णय' पदसे तो यही व्यक्त होता है कि सप्ततिकी अनेक चूर्णियाँ थीं। किंतु मलयगिरिने अपनी टीका प्रकृतचूर्णिके आधारपर ही रची है, यह बात टीकामें प्रमाण रूपसे उद्धृत चूर्णिवाक्योंसे प्रमाणित होती है। अत विक्रमकी बारहवीं शतीसे पहले इस चूर्णिकी रचना हो चुकी थी।

---

१ 'तेसिं लक्खणं जहा कसायपाहुडे।'—सि० चू०, पृ० ६६।

२ एत्थ अपुव्वकरण अणियट्टिअद्धासु अणेगाइ वत्तव्वगाइ जहा कसायपाहुडे कम्मपगडि संगहणीए वा तहा वत्तव्व। —सि० चू० पृ० ६२।

३ 'तत्थ मूलपगती अट्ठविहा, तं जहा—णाणावरणिज्ज जावंतराधियमिति। एयासिं अत्थ विवरणा जहा सयगे।'—सि० चू० पृ० ३।

४ जीवट्ठाणाणं विवरण जहा सयगे' —सि० चू०, पृ० ४।

५ 'मिच्छादिट्ठीपभिती जाव अजोगित्ति, एएसिं विवरण जहा सयगे'—सि चू, पृ. ४।

सप्ततिका भाष्यके रचयिता नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरिने अपने भाष्यके [1]प्रारम्भमें लिखा है कि सप्तति चूर्णिके अनुसार मैं आठों कर्मोंका कथन करूँगा। अभयदेवसूरिका अवसान वि० सं०११३५ में हुआ। अत सित्तरी चूर्णिकी रचना उससे पहले हुई। इस आधारपर उसके रचनाकालकी उत्तरावधि विक्रमकी ११वीं शती निर्णीत होती है।

तथा चूँकि सित्तरी चूर्णिमें शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है और शतकचूर्णिका रचनाकाल वि स ७५०-१००० निर्णीत किया गया है अत चूर्णिकी रचना भी इसी कालके बीचमें शतकचूर्णिके पश्चात किसी समय होनी चाहिए।

सभव है सित्तरीचूर्णिकारने जयधवलाटीकाको देखा हो और जैसे उन्होने शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है वैसे ही कसायपाहुड नामसे उसकी जयधवलाटीकाका निर्देश किया हो क्योंकि उनके द्वारा चर्चित विषय जयधवला में स्पष्टरूपसे मिलते हैं, कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें तो उनका सकेत अथवा निर्देशमात्र किया गया है।

●

---

१ 'नमिऊण महावीरं कम्मट्ठपरूवणं करिस्सामि।
बंधोदयसंतेहिं सत्तरिया चुन्निअणुसारा। १॥'

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

पञ्चम अध्याय

उत्तरकालीन कर्म-साहित्य

पिछले अध्यायमें प्राचीन कम-साहित्यका इतिवृत्त निरूपित किया गया है। इस अध्यायमें विक्रमकी नवम शताब्दीसे उत्तरकालमें रचे गये कम-साहित्यका विवेचन निबद्ध किया जायगा।

नि सन्देह उत्तरकालमे कई सारगभित कर्म-साहित्य सम्बन्धी कृतियाँ रची गयी हैं। लोकप्रियता और उपयोगिताकी दष्टिसे इन रचनाओंका अध्ययन कई शताब्दियोसे अनवच्छिन्न रूपसे होता चला आया है। आचायकल्प पण्डित टोडरमल्लजीने गाम्मटसार जैसे ग्रन्थपर लोकभाषामें विशाल और विशद टीका लिखकर इस ग्रन्थका मर्मोद्घाटन किया है। यही कारण है कि आज भी जिज्ञासुओके स्वाध्यायका वह विषय बना हुआ है।

धवला और जयधवला जसी प्रचुर प्रमेययुक्त टीकाओने मूल ग्रन्थका रूप ग्रहण कर लिया तो इन ग्रन्थोके आधारपर सक्षेपमे कर्म-सिद्धान्तका बोध करानेके हेतु उत्तरकालीन आचार्योंने स्वतन्त्ररूपमें कमसाहित्यका प्रणयन किया। उत्तरकालीन कमसाहित्यकी शैली, भाषा और वण्य-विषयकी दष्टिसे निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं —

१ सक्षेप किन्तु स्पष्ट रूपमें कमसिद्धान्तका निरूपण।
२ सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओका उपयोग।
३ बन्ध, उदय और सत्त्वका गुणस्थान क्रमसे स्पष्ट निर्देश।
४ गणितका बीजक्रम और अकक्रम रूपमें आलम्बन।
५ विभिन्न मत मतान्तरोका सक्षेपमें प्रकटीकरण।
६ शैली प्रसाद गुण युक्त और प्रवाह पूण।
७ सरल और सुबोधताके हेतु काव्योपकरणोकी योजना।

उत्तरकालीन कर्मसाहित्य

करणानुयोग विषयक प्राचीन कमसाहित्यके उक्त विवरणके पश्चात् हम उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी ओर आते हैं। साहित्यके कालक्रमानुसारी पर्य-

वेक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्रतिभामें भी ह्रास होता गया है। विक्रमकी प्रथम सहस्राब्दीके मध्यकाल तक तथा उसके पश्चातकी दो तीन शताब्दी पर्यन्त जैसी प्रतिभाओने जन्म लिया, सहस्राब्दीके पर्यवसानके लगभग वैसी प्रतिभाएँ दृष्टिगोचर नही होती। आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त भूतबली, आचार्य यतिवृषभ आदिमे जो वाग्मिता, पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व और रचनाचातुर्य था, आचार्य वीरसेन तक वह मन्द हो चला था। सभवत कर्मविषयक आगमिक साहित्यके पारगामी वीरसेन स्वामी, अन्तिम साहित्यकार थे जिन्होने धवला और जयधवला जैसे प्रमेयबहुल विस्तृत टीकाग्रन्थ रचे और उनसे पहले कर्मप्रकृति, पचसग्रह जैसी गाथाबद्ध मौलिक कृतियाँ रची गई।

इन रचनाओके पश्चात् जो कर्मविषयक साहित्य उक्तकालमे रचा गया, वह प्राय इन्हीका ऋणी है। या तो इन्हीके आधार पर उसका सकलन किया गया है या इन्हींको परिवर्तित किया गया है। सबसे प्रथम हम एक परिवर्तित या रूपान्तरित कृति की ओर आते है।

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसग्रह

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसग्रह एक दशक पूर्व ही प्राकृत पञ्चसग्रहके साथ भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है। इसको प्रकाशमे लानेका श्रेय इसके सम्पादक प० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री को है। इससे पहले न इस नामके किसी ग्रन्थकार को सुना गया था और न उनकी इस कृतिका ही कहीसे कोई आभास मिला था। हाँ, प्रख्यात साहित्यकार आचार्य अमितगतिका एक पञ्चसग्रह कई दशक पहले श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका था और पञ्चसग्रह नामकी एक वही कृति दृष्ट श्रुत और अनुभूत थी। इसी नामकी किसी अन्य कृतिकी कोई कल्पना भी नहीं थी। ये दोनो ही पञ्चसग्रह दि० प्राकृत पञ्चसग्रहके सस्कृत अनुष्टुपोंमे परिवर्तित रूप है। यत अमितगति एक प्रख्यात ग्रन्थकार थे और उनके पचसग्रह को प्रकाशमें आये कई दशक हो चुके थे। दूसरी ओर श्रीपालसुत डड्ढा एक नये सर्वथा अपरिचित व्यक्ति थे। उनकी एकमात्र कृति भी नई ही प्रकाशमें आई थी। अत सम्पादक प० हीरालालजी शास्त्रीने जब दोनोका तुलनात्मक अध्ययन किया तो उन्हें लगा कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। किन्तु यह तो कल्पना करना कठिन था कि अमितगति जैसे प्रख्यात ग्रन्थकार डड्ढा जैसे अज्ञात रचयिताका अनुकरण करेंगे। अत उन्होंने यही माना कि डड्ढाने अमितगतिकी नकल की है फिर भी डड्ढाकी कृतिने शास्त्रीजीको प्रभावित किया। उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

१ डड्ढा की रचना मूल गाथाओंकी अधिक समीप है, अमितगतिकी

नहीं । जीव समास प्रकरण की ७४वीं मूल गाथाका पद्यानुवाद जितना डड्ढाका मूलके समीप है उतना अमितगतिका नहीं ।

२ कितने ही स्थलों पर डड्ढाकी रचना अमितगतिकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है ।

३ अमित गतिने 'जीव समास' की "साहारणमाहारो" आदि तीन गाथाओं-को स्पर्श भी नहीं किया, किन्तु डड्ढाने उनका सुन्दर पद्यानुवाद किया है । उक्त स्थल पर अमित गतिने गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'उववाद मारणतिय' इत्यादि गाथाका आशय लेकर उसका अनुवाद किया है । किन्तु जीवसमास प्रकरणमें उक्त गाथाके न होनेसे डड्ढाने उसका पद्यानुवाद नहीं किया ।

४ कितने ही स्थलों पर डड्ढाने अमितगतिकी अपेक्षा कुछ विषयोंको बढाया भी है । यथा प्रथम प्रकरणमें धर्मोंका स्वरूप, योगमार्गणाके अन्तमें विक्रिया आदिका स्वरूप ।

५ अमित गतिने सप्ततिकामें पृष्ठ २२१ पर श्लोक ४५३ में शेषमार्गणामें बन्धादित्रिकको न कहकर मूलके समान 'पर्यालोच्यो यथागमम' कहकर समाप्त कर दिया है । किन्तु डड्ढाने श्लोक ३९० में 'बन्धादित्रय नेय यथागमम्' कहकर भी उसके आगे समस्त मार्गणाओंमें बन्धादित्रिकको गिनाया है जो प्राकृत पञ्च-सग्रहके अनुसार होना ही चाहिये ।

इसतरह शास्त्रीजीने डड्ढाकी रचनासे प्रभावित होनेपर भी उसे अमित-गतिकी अनुकृति बताया । किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है ।

रचनाकाल—

डड्ढाके पञ्चसग्रहका अन्त परीक्षण करनेसे नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमें आते है—

१ डड्ढाने शतक प्रकरणमें पृ० ६८३ पर जो मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका स्वरूप गद्यमें लिखा है वह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (८।१) से लिया गया है अत उनके पञ्चसग्रहकी रचना पूज्यपाद (वि०की छठी शताब्दी) के पश्चात् हुई है ।

२ सप्ततिकाके अन्तमें (पृ० ७३७) 'उक्तच' करके जो कारिका दी गई है वह अकलकदेवके लघीयस्त्रयके सातवें परिच्छेदकी चतुर्थ कारिका है । अत अकलंकदेवके लघीयस्त्रयके (वि०की सातवी शताब्दी) पश्चात् उक्त पचसग्रह रचा गया है ।

३ जीव समास प्रकरणमें (पृ० ६६७) 'उक्तञ्च सिद्धान्ते' करके जो वाक्य उद्धृत है वह वीरसेनकी धवला टीकाका है । अत धवला टीका (नवमी शती) के पश्चात् उक्त पंच संग्रहकी रचना हुई है ।

४ दूसरे प्रकृति समुत्कीतन अधिकारमें (पृ० ६७४) 'उक्तञ्च' करके जो श्लोक उद्धृत है वह अमृतचन्द्रके तत्वार्थसारके बन्धाधिकारका ग्यारवा श्लोक है। अत पञ्चसग्रहकी रचना तत्वाथ सार (दसमी शती) के पश्चात् हुई है।

इस तरह डडढाके पञ्चसग्रहके समयकी पूर्वावधि विक्रमकी दसमी शती निश्चित होती है। अब हम उत्तरावधिकी ओर आते हैं।

१ भास्कर नन्दिने तत्वार्थसूत्र पर सुखबोधिनी टीका रची है। इसके चतुर्थ अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीकामें लेश्याके सम्बन्धमें पाँच श्लोक उद्धृत हैं। ये पाचो श्लोक डडढाके पञ्चसग्रहके हैं। भास्कर नन्दिका समय १३–१४वीं शती ह। अत पञ्चसग्रह इसके पश्चातकी रचना नही है।

२ पञ्चास्तिकाय (गाथा ५६) की टीकामें जयसेनाचार्यने एक श्लोक उदधत किया है।

'मोक्ष कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधा ।
बन्धमौदयिका भावा निष्क्रिया पारिणामिका ॥'

यह डडढाके पञ्चसग्रहका पाचवा श्लोक है। जयसेनाचायकी टीका पर ब्रह्मदेवकी वृहद्द्रव्यसग्रहका स्पष्ट प्रभाव ह।

३ वृहदद्रव्य सग्रहकी ४१वी गाथाकी ब्रह्मदेव रचित टीकामे सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलानेके लिए प्रथम एक गाथा हेटिठमछप्पुढवीण' आदि उद्धृत की है जो गोम्मटसार जीवकाण्डकी १२८वी गाथा है। इसके पश्चात् ही 'उसी अथको प्रकारातरसे कहते हैं' लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये है। ये तीनो श्लोक डडढाके पञ्चसग्रहके जीवसमास प्रकरणमें उसी क्रमसे वतमान हैं और उनकी सख्या क्रमसे २२७, २२९, २३० है। अत ब्रह्मदेवजीकी उक्त टीकासे पूव डडढाका पञ्चसग्रह रचा गया था।

इस तरह अमृतचन्द्र और ब्रह्मदेवके अन्तरालमे किसी समय डडढाने अपना पञ्चसग्रह रचा था। आचाय अमितगति भी इसी अन्तरालम हुए हैं। उन्होंने अपना पञ्चसग्रह वि०स० १०७०में समाप्त किया था। इस तरह डडढा-के समयकी पूव और उत्तर अवधि निश्चित हो जाने पर भी यह निणय शेष रहता है कि दोनो पञ्चसग्रहोमे से पहले किसकी रचना हुई थी ?

इसका अन्वेषण करते हुए हमें जयसेनाचार्यके धमरत्नाकरमे पचायती जैन मन्दिर देहलीकी प्रतिके पृ० ६७ पर एक उद्धृत पद्य मिला—

'वचनैर्हेतुभी रूपै सर्वेन्द्रियभयावहै ।
जुगुप्साभिश्च बीभत्सैर्नैव क्षायिकदृक् भवेत ॥

यह डड्ढाके पञ्चसग्रहके जीवसमास प्रकरणका २२३वा श्लोक है। अत

यह निश्चित है कि धर्मरत्नाकरसे पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया है। धर्म-रत्नाकरमें उसका रचनाकाल वि०सं० १०५५ दिया है। और अमित गतिके पञ्चसंग्रहमें उसका रचनाकाल १०७० दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि अमितगतिके पञ्चसंग्रहसे कम-से-कम दो दशक पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया है। इस विषयमें यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसार-का प्रभाव अमितगतिके पञ्चसंग्रह पर है किन्तु डड्ढाके पञ्चसंग्रह पर नहीं है। अतः गोम्मटसारकी रचना इन दोनों पञ्चसंग्रहोंके रचनाकालके मध्यमें किसी समय हुई है।

डड्ढाके पञ्चसंग्रहके अन्तमें ग्रंथकारने अपना परिचय केवल एक श्लोकके द्वारा दिया है—

> श्री चित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते।
> श्रीपालसुतडड्ढेण स्फुट प्रकृतिसंग्रह ॥

यह श्लोक चतुर्थ शतक प्रकरणके भी अन्तमें आता है। उसमें अन्तिम चरण 'स्फुटार्थ पञ्चसंग्रहे' है। इससे प्रकट है कि ग्रन्थकारका नाम डड्ढा है और उनके पिताका नाम श्रीपाल था। श्लोकके पूर्वार्द्ध का 'वणिजाकृते' पद गड़बड़ है। 'वणिजा' पद तृतीयान्त होनेसे डड्ढाका विशेषण प्रतीत होता है जो बत-लाता है कि वे चित्रकूट वासी और पोरवाड जातिके वणिक थे। चित्रकूट चित्तौड़-का पुराना नाम है। आज भी उस ओर पोरवाड जातिका निवास है। किन्तु उक्त अर्थसे 'कृते' शब्द व्यर्थ पड जाता है। यदि यह अर्थ किया जाता है कि चित्रकूटवासी पोरवाड जातिके वणिकके लिए रचा तो उस वणिकका नाम ज्ञात नहीं होता। अस्तु,

विषय परिचय—

यतः यह पञ्चसंग्रह प्राकृत पञ्चसंग्रहका ही संस्कृत श्लोकोंमें अनुवाद-रूप है अतः इसकी विषयवस्तु वही है जो प्राकृत पञ्चसंग्रह की है। उसीके अनुसार इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच प्रकरण हैं। प्रा० पं० सं० के जीवसमास प्रकरणमें २०६ गाथा हैं और इसकेमें २५७ श्लोक हैं। इस अन्तरके कई कारण हैं। १ डड्ढाने प्रारम्भमें अपना मंगल पृथक् किया है। २ श्लोक ४-५ के द्वारा जीवके पाँच भाव गिनाकर उन्हें बन्ध और मोक्षका कारण कहा है। ३ श्लोक २०-२७ के द्वारा दस धर्मोंके नाम गिना कर उनका स्वरूप कहा है। ४ वेदके कथनमें श्लोक १२८ से १३१ तक द्रव्यवेदके चिन्होंका कथन किया है। सारांश यह है कि प्रा० पं०सं० में वेदमार्गणाका कथन केवल आठ गाथाओंमें है। किन्तु इस सं० पं०सं० में श्लोक

१२४ से १३८ तक विस्तारसे वर्णन है। ५ इसी तरह प्रा० प०स० में ज्ञान-मार्गणाका वर्णन केवल दस गाथाओंमें है। किन्तु स० प०स० में १५ श्लोकोंके द्वारा कथन है। इसमें अवधिज्ञानके भेदो और उनके स्वामियोंका भी कथन किया है जो मूलमें नही है। ६ लेश्याओंका वर्णन गद्य द्वारा विस्तार से है। ७ सम्यक्त्व-मार्गणाके वर्णनमें गद्य द्वारा पाँच लब्धियोका स्वरूप विस्तारसे समझाया है। इस तरह प्रा० प०स० के कथनसे इसमें बहुत विस्तारसे कथन है।

आचाय अमितगतिके प०स० में भी ये सब कथन जो डड्ढाने विशेषरूपसे किये हैं, पाये जाते हैं—

देखें—जीवसमास प्रकरणके प्रसग अमितगति १९३–२०२ श्लोक। ज्ञान-मार्गणाका कथन, लेश्याका कथन तथा सम्यक्त्वमार्गणाका कथन।

प्रा० प० स० में गाथा १।१२८ के द्वारा इतना ही कहा है कि सज्ञिपचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव कालादिलब्धिकी प्राप्ति होनेपर सम्यक्त्वग्रहणके योग्य होता है। डड्ढाने गद्य द्वारा पाचो लब्धियोंका स्वरूप विस्तारसे कहा है। अमितगतिने भी तत्त्वार्थवार्तिकका अनुकरण करते हुए और भी अधिक विस्तारसे उक्त कथन किया है। तथा सम्यक्त्वके तीनों भेदोका स्वरूप और उनके सम्बन्धमें विशेष बातें भी डड्ढाका अनुकरण करते हुए कही है।

फिर भी अमितगतिने इस प्रथम प्रकरणमें दो कथन ऐसे किये हैं जो डड्ढाके प० स० में भी नही हैं। एक तो उन्होंने ३६३ मतोंका उपपत्तिपूवक कथन किया है जो गोम्मटसार कमकाण्डका ऋणी प्रतीत होता है। दूसरे, चौदह गुणस्थानोमे जीवोंकी सख्याका कथन किया है। यह कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड (गा० ६२२–६३२) के अनुरूप है।

दूसरे, प्रकृतिसमुत्कीर्तनमें मूलकी तरह ही आठ कर्मोंकी प्रकृतियोंका कथन है। तीसरे कमस्तवमे गुणस्थानोमें कमप्रकृतियोंके बन्ध उदय और सत्वका विवेचन मूलकी तरह ही प्राय है।

प्राकृत पञ्चसग्रहमें पूर्वमें बन्धव्युच्छित्ति और पश्चात उदयव्युच्छित्ति जिन ८१ प्रकृतियोंकी होती है उनकी केवल सख्याका निर्देश है स० प० स० में उनके नाम भी बताये हैं। इसी तरह आगे परोदयबन्धी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात स० प० स० में एक गद्यवाक्यके द्वारा यह भी स्पष्ट किया है कि क्यों ये प्रकृतिया परके उदयमें बधती हैं। प्रा० प० स० में अपने उदय और परके उदयमें बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी केवल सख्या दी है। किन्तु स० प०स० में उनके भी नाम गिनाये हैं। अन्तमें गद्य द्वारा सान्तर और निरन्तर बन्धका गद्य द्वारा स्वरूप भी कहा है। इस तरह स० प० स० में मूलसे वैशिष्ट्य भी है। अमितगतिके प० स० में ये सब कथन डड्ढाके अनुसार ही किया गया है।

शतक नामके चतुर्थ प्रकरणमें भी उस वैशिष्टयके दर्शन स्थान-स्थानपर होते हैं। यद्यपि सब मूल कथन प्राकृत पञ्च स० के अनुसार है किन्तु वर्णनके क्रममें व्यतिक्रम है। प्रा० प० स० में मार्गणाओंमें जीवसमास, जीवसमासोंमें उपयोग, मार्गणाओंमें उपयोग, जीवसमासोंमें योग, मार्गणाओंमें योग, मार्गणाओंमें गुणस्थान, गुणस्थानोंमें उपयोग, योग और प्रत्ययका क्रमसे कथन है। किन्तु इस स० प० स० में मार्गणाओंमें जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग योगका कथन करके फिर जीवसमासोंमें उपयोग और योग कथन है। तथा बन्धके कारणोंके भेद प्रभेदोंका कथन गद्य द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत विस्तारसे किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि डड्ढाने विषयको व्यवस्थित और सुस्पष्ट करनेका भी प्रयत्न किया है। मतभेद भी कहीं-कहीं है। जैसे गाथा ४१में जहाँ चौदह योग कहे हैं वहाँ श्लोक १२ में पन्द्रह योग कहे हैं। अमितगतिने भी श्लोक १० में पन्द्रह योग कहे हैं।

प्रा० प० स० के शतकमें गाथा ३२५ के द्वारा कहा गया है कि गुणस्थानोंमें कहे गये प्रकृतिबन्धका स्वामित्व मार्गणाओंमें भी लगा लेना। इस कथनका विवरण आगे भाष्य गाथाओंके द्वारा किया गया है। सं० प० स० में गाथा ३२५ का रूपान्तर तो है किन्तु भाष्यगाथाओंका नहीं है। अत यह सब कथन स० प० स० मे नही है। यही पर प्रकृति बन्धको समाप्त कर दिया है। अमितगतिने भी ऐसा ही किया है। किन्तु नवम गुणस्थानमें जो प्रत्ययके भेद कहे है। डड्ढा ने तो प्रा० प० स० के अनुसार कहे है किन्तु अमितगतिने पृथक् ही कहे है।

प्रा० प० स० चौथे अध्यायमें नौवे गुणस्थानमे प्रत्ययोंमे भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

> सजलण तिवेदाण णव जोगाण च होइ एयदर।
> सढूण दुवेदाण एयदर पुरिसवेदो य ॥१९७॥

अर्थात् नौवे गुणस्थानके सवेद भागमें चार सज्वलनकषायमेंसे एक, तीन वेदोंमें से एक और नौ योगोंमें एक होता है। नपुसक वेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर दो वेदोंमेंसे एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर एक पुरुष वेदका उदय होता है।

अत. ४ × ३ × ९ = १०८, ४ × २ × ९ = ७२ और ४ × १ × ९ = ३६ भग होते हैं इस तरह

१०८ + ७२ + ३६ = २१६ कुल भग होते हैं। ये सवेद भागके भग हुए।

> चदु सजलण णवण्ह जोगाण होइ एयदरगो।
> वोच्छिण्ण आणवज्जं माणादीहिंयाण एयदरं च ॥१९८॥

अर्थात अवेद भागमें चार सज्वलन कषायोमेंसे एकका तथा नौ योगोंमेंसे एकका उदय होता है। क्रोधकी उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर तीन कषायोमेंसे एक का उदय होता है मानकी व्युच्छित्ति हो जाने पर दो कषायोमेंसे एकका उदय होता है और मायाकी उदय व्युच्छित्ति हा जाने पर केवल एक लोभ कषायका उदय होता है। नौयोगमेंसे एक योगका उदय सवत्र रहता है। अत ४ × ९ = ३६, ३ × ९ = २७, २ × ९ = १८ और १ × ९ = ९ इस प्रकार अवेद भागके ३६ + २७ + १८ + ९ = ९० भग होते है। कुल मिलाकर २१६ + ९० = ३०६ भग दोनो भागोके होते हैं।

किन्तु स० पञ्चसग्रहमे नौवे गुण स्थानके अवेदभागमें चार कषाय और नौ योगोमेंसे एक एकके उदयकी अपेक्षा ४ × ९ = ३६ भग बतलाये है।

यथा—जघन्यौ प्रत्ययौ ज्ञेयौ द्वाववेदानिवृत्तिके।
सज्वालेषु चतुर्ष्वेको योगाना नवके पर ॥६६॥
१ × १। भगा । ४।९ अन्योन्याभ्यस्तौ।

तथा सवेद भागमे चार कषाय, तीन वेद और नौ योगोमेंसे एक एकका उदय होनेसे ४ × ३ × ९ = १०८ भग ही लिये है। यथा—

कषायवेद योगानामकैकग्रहणे सति।
अनिवृत्ते सवेदस्य प्रकृष्टा प्रत्ययास्त्रय ॥६७॥

भगा ४।३।९ अन्योन्याभ्यस्ता १०८।

इस तरह अनिवत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भाग और अवेद भागमें १४४ भग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदय स्थानोंके बतलाये है। आगे प्रा० पचसग्रहमें भी इतने ही भग लिए है और गोम्मटसार कमकाण्डमे भी इतने ही लिए हैं। शायद इसीसे स० प०स० के कर्ताने उक्त स्थानमें १४४ भेदोको ही रखकर जो सवसम्मत थे, शेषका उल्लेख नही किया। उस विषयमे मतभेद भी है।

पाँचवें सप्ततिका कथन प्रा० प०स० के ही समान है। मध्यमें कही-कही किसी कथनको डड्ढाने छोड भी दिया है। जैसे प्रा० प०स० में गतिमागणामें नामकमके उदयस्थानोको कहनके बाद गा० १९१ २०७ में इन्द्रिय आदि शेष मागणाओमें भी नामकमके उदयस्थानोका कथन है। किन्तु डड्ढाने उसे छोड दिया है। अमितगतिने भी डड्ढाका ही अनुसरण किया है। प्रा० पचसग्रहके पाँचवें अध्यायमें मनुष्यगतिमें नामकमके २६०९ भग बतलाये ह। किन्तु स० प०स०में २६६८ बतलाये हैं। उक्त २६०९ भगोमें सयोग केवलिके ५९ भग और जोडे है। ये भग प्रा० पचसग्रहमें नही ह। अमितगतिके पचसग्रहमें भी ऐसा ही है।

दोनों ही स० पचसग्रहमें एक उल्लेखनीय बात और भी है। प्रा०[1] पच-तथा स० पचसग्रहमें योगकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें मोहनीयकर्मके उदय स्थानोंके भंग १३२०९ बतलाये हैं और कर्मकाण्ड[2]में १२९५३ बतलाये हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि [3]कमकाण्डमें छठे गुणस्थानमें आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपु सकके उदयमें नही माना गया। अत छठे गुणस्थानमें भग पचसग्रह की अपेक्षा २११२ होते हैं और कमकाण्डमें १८५६ होते हैं इस तरह २५६ का अन्तर पडता है।

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों ही स० पचसग्रहमे प्रथम अध्यायमें एक [4]श्लोकके द्वारा इस बातको स्वीकार किया है कि आहारक ऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थंकर प्रकृतिका उदय और मन पययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुसकवेदके उदयमें नही होते। फिर भी आगे प्राकृत पञ्चसग्रहके अनुसार ही मोहनीयके उदय विकल्पोंका कथन किया गया है।

सप्ततिकाके पश्चात इस स० प० स० मे चूलिका भी है और उसमें ८४ श्लोकोके द्वारा मागणाओमे बन्ध स्वामित्वका विशेष रूपसे कथन है। इसके प्रारम्भ मे कहा है कि यद्यपि आठकर्मोंकी सब प्रकृतियाँ १४८ हैं किन्तु उनमेसे अठाईसको बन्धमे नही गिना जाता है। वे है—सम्यकमिथ्यात्व, सम्यक्त्व, पाँच बन्धन, पाँच सस्थान और रूप रस गन्ध स्पशके भेदोंमेंसे केवल चार मूल भेदोंको छोड कर १६। अत बन्ध प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनके बन्ध अबन्ध और बन्ध-व्युच्छित्तिका कथन चौदह मागणाओंमे किया है। कर्मस्तव अधिकारमें गुण-स्थानोमे तो कथन है कि किन्तु मागणा स्थानोंमें नही है।

यह चूलिका प्रा० प० स० मे नही है। किन्तु अमितगतिके पचसग्रहमें है।

---

१ तेरस चेव सहस्सा बे चेव सया हवति नव चेव। उदयवियप्पे जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥३३७॥ —प्रा० पचसग्रह, अ० ५।
'मोहनोदयभगा ये योगानाश्रित्य मेलिता। नवोत्तरशते तें द्वे सहस्राणि त्रयोदश ॥७४२॥ —स० प०स०, पृ० २०७।

२ तेवण्ण णव सयाहिय वारससहस्सप्पमाणमुदयस्स। ठाणवियप्पे जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥४९८॥'—गो० कर्मकाण्ड।

३ कमका०, गा० ४९६-४९७।

४ 'आहारर्द्धि परीहारस्तीर्थकृत्तुर्मवेदनम्। नोदये तानि जायन्ते स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥३४३॥'—अमि०स० प०स०, पृ० ४७।
आहारर्द्धि परिहारो मन पर्यय इत्यमी। तीर्थकृच्चोदये न स्यु स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥ —डड्ढा पृ० १।२५५।

अतः यह स्पष्ट है कि अमितगतिने डड्ढाके पञ्चसंग्रहके प्रत्येक कथनको अपनाया है। उद्धृत पद्यों तकको भी अपनाया है।

यद्यपि अमितगतिने अपना पञ्चसंग्रह गोम्मटसारके पश्चात् रचा क्योंकि उसमें उन्होंने गो० सा० का उपयोग किया है। तथापि प्रसंगवश उनका परिचय पूर्वमें दिया जाता है। क्योंकि उनके सं० पं० सं० का अलगसे परिचय देना अनावश्यक है।

सं० पं० सं० के रचयिता अमितगति[1]

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें अमितगति नामके एक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने वि० सं० १०७३ में अपना संस्कृत पञ्चसंग्रह रचकर समाप्त किया था। यह माथुर संघके थे। देवसेन सूरिने अपने दर्शनसारमें माथुरसंघ को पाँच जैनाभासोंमें गिनाया है। माथुरसंघ को निःपिच्छिक भी कहते थे, क्योंकि इस संघके मुनि मोरकी या गौकी पिच्छि नहीं रखते थे।

अमितगतिने अपनी धर्म परीक्षाकी प्रशस्तिमें अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।

तथा अमितगतिकी शिष्य परम्पराका पता अमर कीर्तिके छक्कमोवएससे लगता है जो इस प्रकार है—अमितगति शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

पं० विश्वेश्वरनाथ रऊके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुंजकी सभाके एकरत्न थे। अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने मुंज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। अमितगतिने वि० सं० १०५० में पौष सुक्ल पंचमीके दिन अपना [2]सुभाषित रत्न सन्दोह समाप्त किया था, उस समय राजा मुंज पृथ्वीका पालन करते थे।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होंने विविध धार्मिक विषयों पर ग्रन्थोंका निर्माण किया है। उनके सब उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं। वि० सं० १०५० में उन्होंने सुभाषित रत्न सन्दोह नामक ग्रन्थका निर्माण किया। इसमें सांसारिक विषय निराकरण, माया अहंकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रह, स्त्री गुणदोष विचार आदि

---

१ देखो—'जै० सा० इ०' में पृ० २७५ पर 'अमितगति' शीर्षक निबन्ध।

२ 'समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके॥ समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ, सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥९२२॥'—सुभा० र०।

बत्तीस प्रकरण हैं। अन्तमें श्रावक धर्मका निरूपण है। पूरे ग्रन्थमें १२२ पद्य हैं। स० १०७० में धर्म परीक्षाकी रचना की थी। इसमें सुन्दर कथाके रूपमें पुराणोंकी उटपटांग कथाओं और मान्यताओंकी मनोरजक रूपमें हँसी उड़ाई है। एक उपासकाचार रचा था जो अमितगति श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है। आराधना नामसे शिवार्यकी प्राकृतमें निबद्ध भगवती आराधनाका संस्कृत पद्योंमें अनुवाद किया था। इसके सिवाय सामायिक पाठ, भावना द्वात्रिंशति भी रचे थे। इन ग्रन्थोंमें उनका रचनाकाल नहीं दिया। १०७३ स०में संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना मसूतिका पुरमें की थी। यह धारके पास उससे सात कोस दूर मसीद विलौदा नामक गाँव बताया जाता है।

गोम्मटसार और उसके कर्ता

विक्रमकी नौंवी शताब्दीमें धवला और जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् इन दोनो टीका ग्रन्थोंने अपने मूल ग्रन्थोंके सिद्धान्त नामको अपना लिया और ये दोनो धवलसिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्तके नामसे ख्यात हो गये। वि० सं० १०२२ मे रचकर समाप्त हुए पुष्पदन्त कविके महापुराणमें उनका स्मरण इन्हीं नामोंसे कविने किया है। यह हम पहले भी लिख आये है।

षट्खण्डागम और कसायपाहुडपर टीकाओंका निर्माण बराबर होता रहा है यह भी पहले विस्तारसे लिख आये हैं, और उन्हींके द्वारा कालक्रमसे उनके पठन-पाठनकी प्रवृत्ति भी चालू रही है। धवला और जयधवला टीकाके निर्माणके पश्चात भी वह प्रवृत्ति चालू रही, किन्तु उसका आधार ये दोनों टीकाएँ हो गईं और धवल तथा जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थोंका अभ्यास एक बहुत ही महत्वपूण मापदण्ड सिद्धान्त विषयक विद्वत्ताका माना जाने लगा।

विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीमें दक्षिणमें नेमिचन्द्र नामके एक आचाय हुए। उनकी उपाधि 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' थी। ये दानों सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारी विद्वान थे। इन्होने धवल सिद्धान्तका मथन करके गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचना की और जयधवल सिद्धान्तका मथन करके लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की। इन्होंने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

> जह चक्केण य चक्की छक्खण्ड साहिय अविग्घेण।
> तह मइचक्केण मया छक्खण्ड साहिय सम्म ॥३९७॥

जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छ खण्डोंको बिना किसी विघ्न-बाधाके साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्रने)

---

१ 'त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विष । मसूतिका पुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥६॥—सं० पं० सं०।

अपने बुद्धिरूपी चक्रसे षटखण्डोको या षट्खण्डागम सिद्धान्तको सम्यक रीतिसे साधा।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके अभ्यासीको सिद्धान्त चक्रवर्ती' पद देनेकी परम्पराका सूत्र-पात कब किसने कैसे किया, इस विषयमे निश्चित रूपसे कुछ कहना शक्य नही है। किन्तु इस पदकी कल्पना अवश्य ही जयधवला प्रशस्तिके उस श्लोक[1]के आधारपर की गई होनी चाहिये जिसमें वीरसेन स्वामीके लिये कहा गया है कि भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती षटखण्डागममें स्खलित नही हुई। अत धवला जयधवलाकी रचनाके पश्चात विक्रमको दसवी शताब्दीसे ही इस पदवीका सूत्रपात होना चाहिये।

नेमिचन्द्रके गुरु--

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिको अपना गुरु बतलाया है। कमकाण्डमे दो स्थानोपर उन्होने इन तीनोको नमस्कार किया ह। उनमेंसे एक स्थानपर कहा है[2]—जिसके चरणोके प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिका वत्स्य अनन्त ससाररूपी समुद्रसे पार हो गया उन अभयनन्दि गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ। दूसर स्थानपर लिखा है[3]—'अभयनन्दिको, श्रुत-समुद्रके पारगामी इन्द्रनन्दि गुरुको और वीरनन्दिनाथको नमस्कार करके प्रकृ तियोके प्रत्यय-कारणको कहूँगा।' लब्धिसारमे उन्होने लिखा है[4]—वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य और अभयनन्दिके शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्दने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धिका कथन किया। किन्तु [5]त्रिलोकसारमें उन्होने अपनेको अभयनन्दिका वत्स्य मात्र लिखा ह। शेष दोनो आचार्योका कोई निर्देश नही किया।

इन तीनोमेंसे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभ चरितके कर्ता जान पडते है क्योकि

---

१ प्रीणितप्राणिसपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत ॥२०॥'—ज० ध० प्र०।

२ 'जस्स य पायपसाएणणतससारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणदि गुरु ॥४३६॥—कम का०

३ णमिऊण अभयणदि सुदसागरपारगिंदणदिगुरु।
वरवीरणदिणाह पयडीण पच्चय वोच्छ ॥७८५॥—कम का०

४ वीरिंदणदिवच्छेणप्पसुदेणभयणदिसिस्सेण।
दसण चरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचदेण ॥६४८॥—ल० सा०

५ इदि णेमिचदमुणिणाणप्पसुदेणभयणदिवच्छेण।
रइओ तिलोयसारो खमतु त बहुसुदाइरिया ॥—त्रि० सा०

उन्होंने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्ति[1] में अपनेको अभयनन्दिका शिष्य बतलाया है। और ये अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होने चाहिये क्योंकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अत अभयनन्दि इन सबमें जेठे तथा गुरु होने चाहिये। और वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य। नेमिचन्द्र सम्भवतया सबसे छोटे थे और उन्होने अभयनन्दि गुरुसे अध्ययन करनेसे पूव वीरनन्दि और इन्द्र-नन्दिसे भी अध्ययन किया था।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उदभव बतलाया है। अत वीरनन्दि भी सिद्धान्त ग्रन्थोंके पारगामी थे। उसी तरह इन्द्रनन्दिको तो नेमिचन्द्रने स्पष्ट रूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हीके समीप सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन करके कनकनन्दि[2] ने सत्वस्थानका कथन किया था। उसी सत्व स्थानका सग्रह नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें किया है।

इन्द्रनन्दिके सम्बन्धमें मुख्तार[3] साहब ने लिखा है कि इस नामके कई आचाय हो गये है। उनमेसे ज्वाला मालिनीकल्पके कर्त्ता इन्द्रनन्दिने ग्रन्थका रचनाकाल[4] श० स० ८६१ (वि०स० ९९६) दिया है। और यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ बिल्कुल सगत बैठता है। किन्तु उन्होंने अपनेको बप्प नन्दिका शिष्य बतलाया है। सभव है यह इन्द्रनन्दि बप्पनन्दिके दीक्षित हो, और अभय-नन्दिस उन्होने सिद्धान्त शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की हो।

इस तरह विक्रमकी दसवी शताब्दीके उत्तराधसे लेकर ग्यारहवी शताब्दीके पूर्वाध तक सिद्धान्त ग्रन्थोंके ज्ञाताओकी एक अच्छी गोष्ठी थी। उनमेंसे सिद्धान्त विषयक रचनाये दो ही आचार्योंकी उपलब्ध हैं। वे हैं कनक नन्दि तथा नेमिचन्द्र।

---

१ 'मुनिजननुतपाद प्रास्तमिथ्याप्रवाद सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्य प्रसिद्ध।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धु भव्यलोकैकबन्धु ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमते र्भास्वत्समानत्विष
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधिय श्री वीरनन्दीत्यभूत। —चन्द्र० च० प्रश०।

२ वर इंदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्ध त।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठ ॥३९६॥—कम का०।

३ पुरातन वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ७१–७२।

४ 'अष्ट शतस्यै (सै) कषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्य खेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ॥' —ज्वा० मा०, प्रश०।

कनकनन्दिकी विस्तर सत्व त्रिभंगी

आचार्य कनकनन्दि रचित विस्तर सत्व त्रिभंगी नामक एक ग्रन्थ जैनसिद्धांत भवन आरामें वर्तमान है। उसकी कागज पर लिखी हुई दो प्रतियां हमें देखनेको प्राप्त हुई। जो संभवत एक ही लेखककी लिखी हुई हैं। दोनोंकी गाथा संख्याओंमें अन्तर है। एककी संख्या ४८ है और दूसरीमें गाथाओंकी संख्या ५१ है। तथा दूसरी प्रतिमें गाथाओके साथ सदृष्टिया भी दी हुई हैं। इसीसे पहली प्रतिकी पृष्ठसंख्या केवल ३ है दूसरीकी ७ है।

कर्म काण्डमें इस कनक नन्दि विरचित विस्तर सत्व त्रिभगीको आदिसे अन्तकी गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है। केवल बीचकी ८ या ११ गाथायें यत्र तत्रसे छोड दी गई हैं। क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओंकी संख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है।

इस प्रकरणमें कर्मोके सत्व स्थानोंका कथन गुणस्थानोंमें भगोंके साथ किया गया है। इसका विशेष परिचय आगे कर्मकाण्डका परिचय कराते हुए दिया जायेगा। जो गाथायें छोड दी गई हैं उनके छोड देनेसे भी प्रकृत कथनमें कोई बाधा नही आती। हा, उनके रहनेसे प्रकृत विषयकी चर्चा थोडा विशेष स्पष्ट हो जाती है। प्रथम और द्वितीय प्रतिके अनुसार छोडी हुई गाथाओंकी क्रमसंख्या इस प्रकार है—४-५। (यह गाथा दूसरी प्रतिमें व्यतिक्रमसे दी गई है इससे इसकी संख्या उसमें ५ है। गा० ९, १०। दूसरी प्रतिमें १५ नम्बर पर स्थित गाथा पहली प्रतिमें नही है। अत दोनोंकी संख्यामें एकका अन्तर पड गया है। फलत छोडी गई गाथाओंकी क्रम संख्या पहली प्रतिके अनुसार २२, २३, २८ ३० है और दूसरीके अनुसार २३, २४ २९ और ३१ है। दूसरी प्रतिकी गाथा ३८–३९ पहली प्रतिमें नही है। अत दोनोकी संख्यामें तीनका अन्तर है। फलत पहली प्रतिके अनुसार छोडी गई ८वी गाथाकी संख्या पहली प्रतिमें ४१ और दूसरीमें ४४ है। इस तरह कर्मकाण्डमे उक्त नम्बरकी गाथायें छोड दी गई हैं।

साथ ही एक जगह थोडा व्यतिक्रम भी पाया जाता है। त्रिभगीकी गाथा नं० १५, १६ और १७ की क्रम संख्या कर्मकाण्डमें, क्रमसे ३६८, ३६९, ३७० है। तथा गा० १४ की क्रमसंख्या ३७१ है। अर्थात गाथा १४ को जिसमें प्रथम गुणस्थानके सत्वस्थानोमें भगोंकी संख्या बतलाई गई है कर्मकाण्डमें १५, १६, १७ के बाद दिया है। इन तीनों गाथाओंमें प्रथम गुणस्थानके कुछ स्थानोंमें भगोंका स्पष्टीकरण किया गया है। अत त्रिभगीमें पहले भंगोंकी संख्या बतलाकर पीछे उसका स्पष्टीकरण किया गया है। और कर्मकाण्डमें पहले स्पष्टीकरण करके पीछे भगोंकी संख्या बतलाई है। अस्तु,

विचारणीय बात यह है कि कनक नन्दि आचार्यने ४८ या[1] ५१ गाथा प्रमाण विस्तरसत्व त्रिभगी ग्रन्थ क्या पृथक् रचा था और बादको उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिये ही उन्होंने इस प्रकरणकी रचना की ? उक्त दोनों बातोंमेंसे दूसरी बात ही विशेष संगत प्रतीत होती है क्योंकि कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे, यह बात त्रिभंगीकी अन्तिम गाथासे जो कर्मकाण्डमें भी है, स्पष्ट होती है। ऐसे महान् आचार्यके द्वारा इतना छोटा-सा ग्रन्थ स्वतन्त्र रूपसे रचे जानेकी सभावना ठीक प्रतीत नहीं होती। अत यही विशेष सभावित प्रतीत होता है कि उन्होंने गोम्मटसारके लिये ही उस प्रकरणको रचा और पीछे उसमें यथास्थान स्पष्टीकरणके लिये कुछ गाथाओंको बढाकर उसे एक स्वतत्र प्रकरणका रूप भी दे दिया। अत गोम्मट-सारकी रचनामें कनकनन्दि आचायका भी योगदान था। त्रिभगीकी अन्तिम गाथा नेमिचन्द्राचार्यकी बनाई हुई हो सकती है जिसमें कहा है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पास-मे सम्पूण सिद्धान्तको सुनकर कनकनन्दि गुरुने सत्व स्थानका कथन किया। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शब्दका प्रयाग इसी बातका सकेत करता है।

कनक नन्दिके गुरु इन्द्रनन्दि थे। और इन्द्रनन्दिके गुरु अभयनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दी सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे। अत जैनेन्द्र महावृत्तिको हमने इस दृष्टिसे देखा कि उसमें सिद्धान्त शास्त्र विषयक कोई उदाहरण है या नही ? खोजने पर सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' एव 'सबन्ध सटीकम' उदाहरण महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्धमें डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवालने अपनी भूमिका (पृ० ९) में लिखा है—'यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पय महाकम प्रकृतिप्राभतसे था, जिसके रचयिता आ० पुष्प-दन्त तथा भूतवलि माने जाते है। (प्रथम द्वितीय शती)। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भाग विशेष बन्ध या महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पय ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमे प्राभृत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका

---

१ श्रीप्रेमीजीने लिखा है कि 'प० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार जैनसिद्धान्त भवन आरामें कनकनन्दिका रचा हुआ 'त्रिभगी' नामका एक ग्रन्थ है। जो १४०० श्लोक प्रमाण है (जै० सा० इ०, पृ० २०१)। और टिप्पणमें जैन हितैषी भाग १४, अक ६ का निर्देश किया है। हमने उसे देखा उसमें मुख्तार साहबने जै० सि० भवनकी सूचीके आधार पर उक्त निर्देश किया था इसीसे पुरातन जैनवाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने त्रिभगीके परिमाणके सम्बन्धमें उक्त निर्देश नहीं किया। अत त्रिभगीका १४०० श्लोक प्रमाण कथन भ्रामक है।

अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीक मधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नही हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्म-प्राभृत पर आचाय कुन्दकुन्दने भी एक बडी प्राकृतटीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सभवत वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढी जाती थी।'

डॉक्टर साहबका उक्त अनुमान हमें भी सगत प्रतीत होता ह। पुष्पदन्त और भूतबलिने जिस महाकम प्राभतका षटखण्डागमके रूपमें उपसहृत किया था सम्भवत प्राभृतसे उसीका ग्रहण वत्तिकारने किया है। 'सबन्ध' और 'सटीक' पदोंमे इसी बातका समथन होता है क्योकि बन्ध अथवा महाबन्ध उसीके अन्तगत अन्तिम खण्ड है और उसीकी टीकायें ग्रन्थकारोके द्वारा रची गई थी। किन्तु प्राभतसे षटखण्डागम 'सबन्ध' पदका प्रयोग कुछ विशेष अथ रखता है। बन्ध तो षटखण्डागमका ही एक खण्ड है अत 'प्राभत' से षटखण्डागमका ग्रहण करनेपर बन्धका भी ग्रहण हो ही जाता है पुन 'सबन्ध' कहना कुछ विशेष अथ रखता है। जो बतलाता है कि महावृत्तिकी रचनामे पूव अन्तिम खण्ड बन्ध षटखण्डागम से जुदा हो चुका था। इसीसे 'सबन्ध' पदसे उसका ग्रहण किया गया है।

इन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि— वप्पदेव गुरुने षटखण्डसे महाबन्धको पृथक किया। और व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको सक्षिप्त करके उसमें मिलाया। उसी व्याख्या प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कम नामक छठे खण्डकी रचना की और उमे पाच खण्डोमें मिलाकर छै खण्ड पूरे किये।

अत वप्पभट्ट स्वामीने महावन्धको षटखण्डागमसे पथक् कर दिया था। तथा वीरसेन स्वामीने भी उसे पथक ही रखकर सत्कम नामक नया खण्ड रचकर उसमे मिलाया था जो धवलाका ही अगभूत है। अत सबन्ध' पदसे इतना स्पष्ट है कि बप्पदेवके पश्चात अभयनन्दि हुए हं। किन्तु वप्पदेवका समय भी ज्ञात ही है। परन्तु श्रुतावतारके अनुमार वे वीरसनके गुरु एलाचायसे पूव हुए है। उनके और 'एलाचायके बीचमे श्रुतावतारमें किसी अन्य व्याख्याकारका निर्देश नही किया गया है। अत विक्रमकी सातवी शताब्दीके लगभग उनका काल माना जा सकता है। अत अकलकके पश्चात होनेवाले अभयनन्दिका 'सबन्ध और सटीकम' लिखना उचित ही है।

डॉ० अग्रवाल साहबने यद्यपि अभयनन्दिका कोई निश्चित समय नही लिखा तथापि वे उन्हें धवलासे पूवका विद्वान् मानते हं इसीसे उन्होंने 'सटीक' पदसे धवलाटीकाका ग्रहण नही किया।

किन्तु यदि प्रभाचन्द्रके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत महावृत्तिकार अभयनन्दिका प्रभाचन्द्रके साथ कुछ विद्या सम्बन्ध था तो नेमिचन्द्रके गुरु भी वही हो सकते हैं और उस स्थितिमें उनके द्वारा 'सटीक' शब्दसे धवलाटीकाका उल्लेख होना ही सभव है। किन्तु अभी इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना सभव नही है। एक अभयनन्दी नामक आचार्यने पूज्यपाद देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र महावृत्ति रची है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे हुआ है उसमें आरम्भिक द्वितीय श्लोकमें वार्तिककारने अपना नाम अभयनन्दि[1] मुनि दिया है। किन्तु अपने गुरु आदिका नाम नही दिया और न ग्रन्थ रचनाका समय ही दिया।

अभयनन्दीने सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें माघकविके शिशुपालवधसे एक श्लोक उदधृत किया है। माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। क्योंकि माघके दादा सुप्रभदेव वमलातके मत्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है।

तथा उन्होंने सूत्र ३-२-५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीते' उदाहरण दिया है। इससे प्रकट होता है कि वे तत्वार्थवार्तिकके रचयिता भट्टाकलकके पश्चात हुए हैं।

तथा जैनेन्द्र पर एक 'पचवस्तु' नामकी टीका है उसके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति है। कनडी भाषाके चन्द्रप्रभ चरित नामक ग्रन्थके कर्ता अग्गल[2] कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है। यह चरित शक स० १०११ (वि० स० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ था। यदि ये दोनो श्रुतकीर्ति एक हों तो अभय-नन्दिको विक्रमकी १२वी शतीसे पूर्वका विद्वान मानना चाहिये।

श्रुतकीर्तिने अपनी पचवस्तु[3] प्रक्रियाके अन्तमें एक श्लोकमे जैनेन्द्र शब्दागम अर्थात जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। मूल सूत्ररूपी स्तम्भों पर वह खडा है, न्यासरूपी उसकी रत्नमय भूमि है, वृत्ति रूप उसके कपाट है। भाष्य शय्यातल है। टीकारूप उसके माल या मजिल हैं और वह पचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। उसके द्वारा उस महल पर चढा जा सकता है।

---

१ 'यच्छब्द लक्षण व्यक्तिकरोत्यभयनन्दिमुनि समस्तम् ॥२॥ जै० महावृ०, पृ० १।

२ ' श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्ति श्रीमदग्गलदेव विर चिते चन्द्रप्रभ चरिते—जै० सा० इ०, पृ० ३६।

३ 'सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुते भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागम प्रासादं पृथु पचवस्तुकमिद सोपानमारोहतात् ॥'—जै० सा० इ०, पृ० ३३।

इसमें निर्दिष्ट वृत्ति तो अभयनन्दिकृत वृत्ति है। और न्यास शायद पूज्यपादकृत ही हो।

जैनेन्द्र व्याकरण पर प्रभाचन्द्राचाय कृत 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक एक न्यास ग्रन्थ बम्बईके सरस्वती भवनमें वतमान है जो अपूर्ण है। इसमें तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया है तथा महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों लिये गये हैं। इसके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र वे ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने प्रमेयकमल मातण्ड और न्याय कुमुद की रचना की थी।

प्रभाचन्द्रका समय न्यायाचार्य प० महेन्द्र कुमारजीने ९८० ई० से १०६५ तक निर्णीत किया है। अत अभयनन्दिका उनसे पूर्व होना निश्चित है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यका समय भी ९८९ ई० के लगभग है। अत उनके गुरु अभयनन्दिका समय भी उसीके लगभग उससे कुछ पूर्व होना चाहिये। यदि यह अभयनन्दि ही महावृत्तिके रचयिता हो तो महावृत्तिका रचनाकाल विक्रम स० १००० और १०५० के मध्यमे होना चाहिये। श्री युधिष्ठिर मीमासकने अपने 'सस्कृत व्याकरणका इतिहास' में उस एकताकी सभावनापर ही महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दीका काल विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका प्रथम चरण मात्र कहा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचाय देवनन्दी' शीर्षक अपना निबन्ध प्रथमबार जै० सा० स०, भा० १ अकमें प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होने लिखा था—'हमारा अनुमान ह कि चन्द्रप्रभ काव्यके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने जिन अभयनन्दिको अपना गुरु बनाया है ये वे ही अभयनन्दि होंगे। आचाय नेमिचन्द्रने भी गोम्मटसार कमकाण्डकी ४३६वी गाथामे इनका उल्लेख किया है। अतएव इनका समय विक्रमकी ग्यारहवीके पूर्वार्धके लगभग निश्चित होता है।'

किन्तु जै० सा० इ० में उन्होंने अपने उस लेखमेसे ऊपर वाला अश निकाल दिया है।

परन्तु प्रभाचन्द्रके न्यासमें जो श्लोक है वह उक्त अनुमानका पोषक प्रतीत होता है। श्लोक इस प्रकार है—

> नम श्री वधमानाय महते देवनन्दिने।
> प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥

इसमें आगत 'तस्मै अभयनन्दिने गुरवे' पद महत्वपूण है, जो इस सन्देहको पुष्ट करता है कि प्रभाचन्द्रने अभयनन्दिसे शायद अध्ययन किया था। यदि ऐसा हो तो वे अभयनन्दि नेमिचन्द्राचायके गुरु ही हो सकते हैं।

नाम—

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने षट्खण्डागमकी धवला टीकाका मथन करके गोम्मटसार नामक महान् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थराजके दो भाग हैं—प्रथम भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। ये दोनों नाम टीकाकारोंके द्वारा दिये गये हैं। ग्रन्थकारने प्रथम भागकी पहली गाथामें 'जीवस्स परूवण वोच्छं' लिखकर जीवकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरे भागकी पहली गाथामें कर्म प्रकृतियोंका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अतः जीव और कर्मविषयक कथनोंके कारण प्रथम भागको [1]जीवकाण्ड और दूसरे भागको कर्मकाण्ड संज्ञा दे दी गई है। किन्तु ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थको बनाया दो ही भागोंमें है क्योंकि प्रथम भागके अन्तमें उस गोम्मट राजाकी जय-कामना की गई है जिसके लिए गोम्मटसार रचा गया था। तथा दूसरे भागके अन्तमें चूंकि वह गोम्मटसार ग्रन्थका अन्तिम भाग है इसलिये विशेष रूपसे गोम्मटका गुणगान किया गया है।

टीकाकारोने गोम्मटसारका एक नाम और भी दिया है [2]पञ्चसंग्रह। किन्तु क्यों उसे यह नाम दिया, यह उन्होंने नही बतलाया। सम्भवतया टीका-कारोने अमितगतिके पञ्चसंग्रहको देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमे देखकर इसे यह नाम दिया है। आचार्य नेमिचन्द्रने तो ग्रन्थके दूसरे भागके अन्तमें उसका नाम गोम्मट[3] संग्रह सुत्त अथवा गोम्मट सुत्त दिया है। गोम्मटसार नाम भी टीकाओंमें ही पाया जाता है।

नामका कारण—

जीवकाण्डके अन्तकी गाथा[4]में ग्रन्थकारने कहा है—'आर्य आर्यसेनके गुण समूहको धारण करनेवाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु हैं वह राजा गोम्मट जय-वन्त हो।' कर्मकाण्डके अन्तमें कुछ गाथाओके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—

'गणधर देव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियोंके गुण जिसमें निवास करते हैं, ऐसे

---

१ 'तद् गोम्मटसार प्रथमावयवभूत जीवकाण्ड विरचयन्'—मन्द प्र० टी०, पृ० ३।

२ 'गोम्मटसारनामधेयपञ्चसंग्रह शास्त्र प्रारभमाण'—मन्द प्र०टी०, पृ० ३। 'गोम्मटसार पञ्चसंग्रह प्रपञ्चमारचयन्'—जीव० टी०, पृ० २।

३ 'गोम्मटसंगह सुत्त'—कर्म का०, गा० ९६५ और ९६८।

४. 'अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसधारिअजियसेण गुरू। भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ॥७३५॥—जी०का०।

अजितसेन नाथ जिसके गुरु है वह राजा जयवन्त हो ।।९६६।। सिद्धान्तरूपी उदयाचलके तटसे उदयको प्राप्त निमल नेमिचन्द्र रूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे वृद्धिगत, गुणरत्न भूषण—चामुण्डराय रूपी समुद्रकी बुद्धिरूपी वेला भुवनतलको पूरित करे ।।९६७।। गोम्मट सग्रह सूत्र (गोम्मटसार) गोम्मट शिखर पर स्थित गोम्मट जिन और गोम्मटराजके द्वारा निर्मित कुक्कुट जिन जयवन्त हो ।।९६८।। जिसके द्वारा निर्मित प्रतिमाका मुख सर्वार्थसिद्धिके देवोके द्वारा तथा सर्वावधि ज्ञानके धारक योगियोंके द्वारा देखा गया वह गोम्मट जयवन्त हो ।।९६९।।

जिसके द्वारा खडे किये गये स्तम्भके ऊपर स्थित पक्षके मुकुटके किरण रूपी जलसे सिद्धोके शुद्धपाद धोये गये, वह राजा गोम्मट जयवन्त हो ।।९७१।। गोम्मट सूत्रके लिखते समय जिस गोम्मट राजाने देशी भाषामें जो टीका लिखी, जिसका नाम वीरमातण्डी है, वह राजा चिरकाल तक जयवन्त[1] हो ।।९७२।।

इस तरह श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने गोम्मटसारके अन्तमे ७ गाथाओके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार किया है और उसमे उनके द्वारा किये गये कर्मोंका भी निर्देश किया है।

गाथा ९६८मे तीन वस्तुओका निर्देश हैं—गोम्मटसग्रहसूत्र, गोम्मट शिखरके ऊपर स्थित गोम्मट जिन और गोम्मट राजके द्वारा निर्मित दक्षिण कुक्कुट जिन। गोम्मट सग्रह सूत्र तो गोम्मटसार नामक ग्रन्थ ह। दूसरेके सम्बन्धमें इस गाथाकी जीवतत्व प्रदीपिका टीकामे लिखा[2] है—'चामुण्डरायके द्वारा निर्मित प्रासादमे

---

१ 'जम्हि गुणा विस्सता गणहरदेवादिइडिढपत्ताणा सो। अजियसेणणाहा जस्स गुरू जयउ सो राओ ।।९६६।। सिद्धन्तुदयतडुग्गय णिम्मलवर णेमिचन्दकर-कलिया। गुणरयणभूसणबुहिमइवेला भरउ भुवणयल ।।९६७।। गोम्मट सगहसुत्त गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणोय। गोम्मटविणिम्मियदक्खिण कुक्कुडजिणो जयउ ।।९६८।। जेण विणिम्मिय पडिमावयण सव्वट्ठसिद्धि-देवेहिं। सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठ सो गोम्मटो जयउ ।।९६९।। वज्जयण जिणभवण ईसियभार सुवण्णकलस तु। तिहुवणपडिमाणिक्क जेण कय जयउ सा राओ ।।९७०।। जेणुब्भियथभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया। सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ।।९७१।। गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी। सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्त डी ।।९७२।।

२ 'गोम्मटसग्रहसूत्र च चामुण्डरायविनिर्मितप्रासादस्थितैकहस्तप्रमेन्द्रनीलरत्न-मय। —कम का०। नेमिश्वर प्रतिबिम्ब च चामुण्डराय विनिर्मित दक्षिण कुक्कुड जिनश्च सर्वोत्कर्षेण वतताम'—क०का०, जी०टी०, गा० ९६८।

स्थित नेमीश्वरकी इन्द्रनील मणिकी एक हाथ प्रमाण प्रतिमा।' और तीसरी चामुण्डरायके द्वारा निर्मापित दक्षिण कुक्कुट जिन।

चामुण्डराय गगवशी राजा रायमल्लके मत्री और सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्ध जीते थे और उसके उपलक्ष्यमें उन्हे अनेक उपाधियाँ मिली थी। नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमे उसी 'सम्मत्त[1]रयण निलय' (सम्यक्त्वरत्न निलय), 'गुणरयण[2]भूसण' (गुणरत्न भूषण), सत्ययुधिष्ठिर[3], देवराज[4] आदि विशेषणोका प्रयोग प्रकारान्तरसे किया है। इन चामुण्डरायने श्रवण बेलगोला (मैसूर)में स्थित विन्ध्यगिरि पर्वतपर बाहुबली स्वामीकी ५७ फीट ऊँची अतिशय मनाज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। बाहुबली भगवान ऋषभदेवके पुत्र थे। उन्होने बड़ी कठोर तपस्या की थी। उनकी स्मृतिमें उनके बडे भाई चक्रवर्ती भरतने एक प्रतिमा स्थापित कराई थी। वह कुक्कुट सर्पोसे व्याप्त हो जानेके कारण कुक्कुट जिन नामसे प्रसिद्ध थी। उत्तर भारतकी इस मूर्तिसे भिन्नता बतलानेके लिये चामुण्डरायके द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिण कुक्कुट जिन' कहलाई। क०का० गा० ९६९में उसकी ऊँचाई को लक्ष्यमें रखकर ही नेमिचन्द्राचायने कहा है कि उसका मुख सर्वार्थसिद्धिके देवोने देखा। उसके तलमे नागरी लिपिमें मराठी भाषामें 'श्री चामुण्डराजेम कवियलें' अकित है। उसी विन्ध्यगिरि पर एक स्तम्भ स्थित है जिसे त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ कहते है। ऊपर गा० ९७१ में उसीका गुणगान किया गया प्रतीत होता है।

विन्ध्यगिरिके सामने स्थित दूसरे चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय वसतिके नामसे एक सुन्दर जिनालय स्थित है। इस जिनालयमें चामुण्डरायने इन्द्रनीलमणिकी एक हाथ ऊँची नेमिनाथकी प्रतिमा स्थापित की थी, जो अब अनुपलब्ध है।

चामुण्डरायका घरका नाम 'गोम्मट' था। यह बात डा० आ० ने० उपाध्येने अपने एक लेखमें सप्रमाण सिद्ध की है। उनके इस नामके कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबलिकी मूर्ति गोम्मटेश्वरके नामसे ख्यात हुई। डा० उपाध्ये[5]ने

१ 'सम्मत्तरयण णिलय पयडि समुक्कित्तण वोच्छ' ॥१॥—क०का०।

२ 'गुणरयणभूसणुदय जीवस्स परूवण वोच्छ ॥१॥—जी०का०। 'णमह गुणरयणभूसण ॥८९६॥—क०का०।

३ 'णमिऊण णेमिणाह सच्चजुहिट्ठिरणमसियघिजुग ॥४५१॥—क०का०।

४ 'णमिऊण वड्ढमाण कणयणिह देवरायपरिपुज्ज' ॥३५८॥—क०का०।

५ 'यह मूर्ति बतौर गोम्मटेश्वरके (गोम्मटस्य ईश्वर तत्पुरुष समास) 'गोम्मटके देवता' इस लिये प्रसिद्ध हुई है क्योकि इसे चामुण्डरायने, जिसका अपर नाम 'गोम्मट' है, बनवा कर स्थापित किया था।—अनेकान्त, वर्ष ४ किरण ३, पृ० २३१।

गोम्मटेश्वरका अर्थ किया है—गोम्मट अर्थात चामुण्डरायका देवता। उसीके कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, 'गोम्मट' कहा गया। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिये नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसार नामक सग्रह ग्रन्थकी रचना की थी। इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसार सज्ञा दी गई।

जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाकी उत्थानिकामे अभयचन्द्र सूरिने लिखा[1] है—कि गगवशके ललामभूत श्रीमद्राजमल्लदेवके महामात्य पद पर विराजमान, और रण रगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्न भूषण, सम्यक्त्व रत्न निलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके अर्थका सग्रह करनेके लिये गोम्मटसार नाम वाले पञ्चसग्रह शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मगल पूर्वक गाथासूत्र कहते है।'

अत श्री नेमिचन्द्राचार्यने चामुण्डरायके लिये, जिनका नाम गोम्मटराय भी था, यह ग्रन्थ रचा था। इसीसे उन्होने इस ग्रन्थको 'गोम्मट नाम दिया। जैसे शाकटायनने अपने शाकटायन व्याकरण पर रचित वृत्तिको राजा अमोघ वर्षके नामपर अमोघवृत्ति नाम दिया था।

नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसारके सिवाय दो ग्रन्थ और भी रचे हैं—उनमेंसे एक है लब्धिसार और दूसरा है त्रिलोकसार। त्रिलोकसारकी सस्कृत टीका

---

१ 'श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन-गुहाभ्यन्तर निवासि-प्रवादि-मदाध-सिंधुर-सिंहायमान-सिंहनन्दिमुनीन्द्राभिनन्दितगगवशललामराज-सर्वज्ञाद्यनेकगुणनाम-धेय भागधेय-श्रीमद्राजमल्लदेव महीवल्लभ-महामात्यपदविराजमान रणरग-मल्लसहायापराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्व-रत्ननिलयादिविविध गुणनामसमासादितकीर्तिकात श्रीचामुण्डराय-भव्य-पुण्डरीक द्रव्यानुयोगप्रश्नानुरूप महाकमप्रकृतिप्राभतप्रथमसिद्धान्तजीव-स्थानाख्य-प्रथम-खडार्थ सग्रह-गोम्मटसार-नामधेय-पञ्चसग्रह शास्त्रंप्रारभमाण समस्तसैद्धान्तिकचूडामणि श्रीमन्नेमिचन्द्र-सैद्धान्तिकचक्रवर्ती तद्गोम्मटसारप्रथमावयवभूत जीवकाण्ड विरचयन्।'
—जी० का० म० प्र० टी०, पृ० ३।

२ सिद्धान्तामृतसागर स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्य मध्ये, लेभेऽभीष्ट फलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसर। श्रीमद् गोमट-लब्धिसार-विलसत् त्रैलोक्यसाराम रक्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनि ॥६३॥
—बाहु० च०।

माधवचन्द्र त्रैविद्यके द्वारा रची गई है। ये माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्रके समकालिक और उनके एक प्रमुख शिष्य थे। उनके द्वारा रचित भी कुछ गाथाएँ त्रिलोकसारमें हैं ऐसा उन्होंने अपनी टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है। इन माधवचन्द्रने त्रि० सा० की प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा[2] है कि चार अनुयोग रूपी समुद्रोंके पारगामी भगवान नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेव चामुण्डरायके बहानेसे समस्त विनेय जनोंके प्रतिबोधनके लिये त्रिलोकसारकी रचना करते हैं।

तथा त्रि० सा० की प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे आचार्य नेमिचन्द्रके पक्ष[3]में भी लगाया है और लिखा है कि बल अर्थात् चामुण्डराय और गोविन्द अर्थात् राचमल्लदेव (गगनरेश) ये दोनों नेमिचन्द्रको नमस्कार करते थे।

त्रिलोकसारकी एक प्राचीन प्रतिमें एक चित्र दिया है। जिसमें नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डरायको उपदेश दे रहे हैं।

अत यह निर्विवाद है कि नेमिचन्द्र चामुण्डरायके समकालीन थे। उन्हींके निमित्तसे उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की थी और अपने एक सबसे महान् ग्रन्थको चामुण्डरायके अपरनाम 'गोम्मट' से अभिहित किया था।

समय

चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण शक स० ९०० (वि०स० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। अत उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय मुख्तार साहबने विक्रमकी ११वीं शताब्दी माना है, और श्री प्रेमीजीने विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका पूर्वार्द्ध निश्चित किया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मट जिनकी मूर्तिका निर्देश है। अत यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मट मूर्तिकी स्थापनाके पश्चात ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापना कालको लेकर इतिहासज्ञोंमें

---

१ 'गुरुणेमिचन्द-सम्मद-कदिवय गाहा तहिं तहिं रइदा। माहवचंदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥—त्रि०सा०।

२ 'भगवान्नेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेनाशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्।' —त्रि० सा० टी०, पृ० २।

३ 'अथवा, णमसामि, क० 'विमलयरणेमिचंद' । विमलतर स चासौ नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतरनेमिचन्द्रस्तं नमस्यामीति बल चामुण्डराय' गा पृथ्वीं बिभर्ति पालयतीति गोविन्दो राचमल्लदेव ।—त्रि० सा० टी०, पृ० ३।

बडा मतभेद है। बाहुबलि चरित्रमें गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय इस प्रकार दिया है—

'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्ता चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम ॥'

अर्थात कल्कि संवत ६०० मे विभव संवत्सरमें चैत्र शुक्ल ५ रविवारको कुम्भलग्न, सौभाग्ययोग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्रमे चामुण्डराजने बेल्गुल नगरमें गोमटेशकी प्रतिष्ठा कराई।

किन्तु उक्त तिथि कब पडती है इसमे भी अनेक मत हैं। प्रा० घोषालने अपने वृहद्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनाम उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० ई० माना ह। श्री गोविन्द पैंने १३ मार्च ९८१ ई० माना है। ज्योतिषाचार्य श्री नेमिचन्द्रजीने[१] लिखा है कि भारतीय ज्योतिषके अनुसार बहुबलि चरित्रमे गोम्मट मूर्तिकी स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं वे १३ मार्च सन ९८१ में ठीक घटित होते हैं। प्रो० [२]हीरालाल जीने लिखा है कि २३ मार्च १०२८ सन् म उक्ततिथि वगैरह ठीक घटित होती ह। किन्तु शामशास्त्रीने ३ मार्च १०२८ सन बतलाया है। एस० श्री [३]कण्ठशास्त्री 'कल्क्यब्दे'के स्थान पर 'कल्यब्दे' पाठ ठीक मानते है और शामशास्त्रीके मतका अमान्य करते हुए लिखते ह कि १०२८ ई० तक चामुण्डरायके जीवित रहनेके प्रमाणोका अभाव ह। उन्होने एक नये आधार पर मूर्तिकी स्थापनाका समय ९०७-८ ई० निर्धारित किया है। इस तरहसे मूर्तिकी स्थापनाके समयको लेकर बहुत मतभेद ह।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डराय पुराणमें मूर्ति स्थापनकी कोई चर्चा नही की है। इस परसे साधारणतया विद्वानोका यही मत है कि उसकी समाप्तिके पश्चात ही मूर्तिकी स्थापना हुई है। किन्तु श्रीकण्ठशास्त्री इस बातको महत्व नही देते। रन्नका अजितनाथ पुराण श० स० ९१५ में समाप्त हुआ था। उसम लिखा ह कि 'अत्तिमब्ब'ने गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके दर्शन किये। अत यह निश्चित ह कि श०स० ९१५ (वि०स० १०५०) से पहले मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो

---

१ ज०सि०भा०, भा० ६, पृ० २६१।
२ ज०शि०स० भा० १, प्रस्ता० पृ० ३१।
३ जै० एण्टी०, जि० ५, न० ४ में 'दी डेट आफ दी कन्सक्रेशन आफ दी इमेज' पृ० १०७ ११४।

चुकी थी। यदि चामुण्डरायपुराणमें मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्व दिया जाये तो कहना होगा कि वि०स० १०३५ और १०५० के बीचमें किसी समय मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई और इसी १५ वर्षके अन्तरालमें गोम्मटसारकी रचना हुई।

प्रेमीजी ने गगनरेश राचमल्लका राज्यकाल वि०स० १०३१ से १०४१ तक लिखा है। और भुजबलि शतक अनुसार उसीके राज्यकालमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई थी, अत मूर्ति स्थापनाका समय ९८१ ई० (वि०स० १०३८) ही उपयुक्त जान पडता है। उसमें बाहुबलि चरितका तिथि क्रम भी घटित हो जाता है और चामुण्डराय पुराणमें उल्लेख न होने वाली बातकी सगति भी बैठ जाती है। यदि यह ठीक है तो उसके बाद स० १०४० के लगभग गोम्मटसारकी रचना होना सभव है।

इतने विस्तारसे इस पर प्रकाश डालनेका कारण यह है कि अमितगतिने अपना सस्कृत पञ्चसग्रह वि०स० १०७३ में बनाकर समाप्त किया था। और उसके देखनेसे प्रकट होता है कि अमितगतिने सम्भवतया गोम्मटसार को देखा था, क्योकि स० पञ्चसग्रहके प्रथम अध्यायमे जो ३६३ मिथ्यामतोंकी उपपत्ति दी है वह कमकाण्डसे ली गई प्रतीत होती है। प्रा० प०स० में तो वह है ही नही और कमकाण्डसे बिल्कुल मेल खाती है। कमकाण्डमें काल ईश्वर आत्मा नियति और स्वभावका जो लक्षण दिया है उसीका अनुवाद स० पञ्चसग्रह में है। केवल क्रममें अन्तर है। उसमें स्वभाव, नियति, काल, ईश्वर और आत्मा यह क्रम रखा गया है। नीचे कमकाण्डकी गाथा के साथ स० पञ्चसग्रहसे उसका सस्कृत अनुवाद दिया जाता है—

१ कालो सव्व जणयदि कालो सव्व विणस्सदे भूद।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वचिदु कालो ॥८७९॥ क० का०।
सुप्तेषु जागर्ति सदैव काल काल प्रजा सहरते समस्ता।
भूतानि काल पचतीति मूढा कालस्य कर्त्तृत्वमुदाहरन्ति ॥३१२॥

२ अण्णाणि हु अणीसा अप्पा तस्स य सुह च दुक्ख च।
सग्ग णिरय गमण सव्व ईसरकय होदि ॥८८०॥
अज्ञ शरीरी नरकेऽथ नाके प्रपेयमाणो व्रजतीश्वरेण।
स्वस्याक्षमो दु खसुखे विधातुमिद वदन्तीश्वरवादिनोऽन्ये ॥३१३॥

३ एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥
एको देव सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता।
आत्मा मूर्त सर्वभूतस्वरूप साक्षाज्ज्ञाता निर्गुण शुद्धरूप ॥३१४॥

४ जत्त् जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्त् तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥
यथा यदा यत्र यतोऽस्ति येन यत तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुट नियत्येह नियम्यमाण परो न शक्त किमपीह कर्तु म् ॥३११॥

५ को करइ कंटयाण तिक्खत्त मियविहगमादीण ।
विविहत्त तु सहाओ इदि सव्वपि य सहाओ त्ति ॥८८३॥
क स्वभावमपहाय वक्रता कटकेषु विहगेषु चित्रताम ।
मत्स्यकेषु कुरुते पयोगति पकजेषु खरदण्डता पर ॥३१०॥

इसके सिवाय अन्य भी कई बातें है जो गोम्मटसार जीवकाण्डसे ली गई जान पडती हैं। जीवकाण्डमें कषायमार्गणामें पचसग्रहसे कुछ विशेष कथन किया है। इस कथनको करने वाली कोई गाथा धवलामें भी हमारे देखनेमें नही आई। उस कथनको करने वाली जीवकाण्डमे यह गाथा विशेष है—

णारय तिरिक्ख-णर-सुर-गईसु उप्पण-पढम-कालम्मि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वा पि ॥२८७॥

इसी बातको स० पञ्च सग्रहमें इस प्रकार कहा गया है—

क्रुद्ध श्वभ्रेषु तिर्यक्षु मायाया प्रथमोदय ।
जातस्य नृषु मानस्य लोभस्य स्वर्गवासिषु ॥२१०॥
आचार्या निगदन्त्यन्ये कोपादि प्रथमोदये ।
भ्रमतो भवकान्तारे नियमो नास्ति जन्मिनाम ॥२११॥

पहले श्लोकमे उक्त गाथाके तीन चरणोका अनुवाद है और 'अणियमो वाऽपि' इस चतुर्थ चरणके आशयको दूसरे श्लोकसे स्पष्ट किया गया है।

इसी तरह जीवकाण्ड-योग मार्गणामें आहारक शरीरके आकारादिके सम्बन्धमें जो विशेष कथन किया गया हैं वह सब स० प० स० में भी यथास्थान वर्तमान है।

जीव काण्डमें कहा है—

सुह सठाण धवल हत्थपमाण पसत्थुदय ॥२३७॥
अव्वाघादी अतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।'

स० प० स० में इसका अनुवाद इस प्रकार है—

'य प्रमत्तस्य मूर्धोत्थो धवलो धातुवर्जित ।
अन्तर्मुहूर्तस्थितिक सर्वव्याघातविच्युत ॥१७६॥
पवित्रोत्तमसस्थान' हस्तमात्रोऽनवद्यति ।'

यदि श्लोक १७६ के उत्तरार्धके स्थानमें श्लोक १७७ के पूर्वार्धको रख दिया जाये तो गाथानुसार अनुवाद हो जाता है।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि अमितगतिने नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसार-का भी उपयोग अपने सं० पञ्चसंग्रहमें किया है। अत गोम्मटसार स० पञ्चसंग्रहसे (वि० स० १०७३) तीस पैंतीस वर्ष पूर्व रचा गया होना चाहिये। और इसलिये उसका रचनाकाल वि० स० १०४० के लगभग जानना चाहिये।

विषय-वस्तु

यह पहले लिखा जा चुका है कि गोम्मटसारके दो भाग हैं, पहले भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड। जीवकाण्डके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं। गांधी नाथारगजी बम्बई द्वारा प्रकाशित सस्करणमें मूल गाथाएँ और उनकी सस्कृत छाया मात्र है। रायचन्दशास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें प० खूबचन्दजी रचित हिन्दी टीका भी दी गई है। ये दोनों सस्करण पुस्तकाकार हैं। गांधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित शास्त्राकार सस्करणमे मूल और छायाके साथ दो सस्कृत टीकाएँ तथा प० टोडरमलजी रचित ढुढारी भाषामे टीका है। पहले दोनों सस्करणोंमें गाथा सख्या ७३३ है। किन्तु प्रथम मूल सस्करणमें दूसरेसे एक गाथा जिसका नम्बर ११४ है, अधिक है, यह गाथा दूसरे सस्करणमें नहीं है। फिर भी गाथा सख्या बराबर होनेका कारण यह है कि प्रथम मूल सस्करणमें दो गाथाओं पर २४७ नम्बर पड गया है। अत पूरे ग्रन्थकी गाथा सख्या ७३४ है। तीसरे सस्करणमें गाथा सख्या ७३५ है। इसमें एक गाथा बढ जानेका कारण यह है कि गाथा न० ७२९ दो बार आई है और उस पर दोनो बार क्रमसे ७२९–७३० नम्बर पड गया है। अत जीवकाण्डकी गाथा सख्या ७३४ है।

जैसा इस भागके नामसे व्यक्त होता है इसमे जीवका कथन है। ग्रन्थकारने प्रथम गाथामें मगलपूर्वक जीवका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथा-में उन बीस प्ररूपणाओको गिनाया है जिन बीस अधिकारोंके द्वारा जीवका कथन इस ग्रन्थमें किया गया है। वे बीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग। इन्ही बीस प्ररूपणाओका कथन पञ्चसग्रहके जीव समास नामक अधिकारमें किया गया है। उसीका विस्तार-से प्रतिपादन जीवकाण्डमें है। जीवसमास प्रकरणकी २१६ गाथाओंमेंसे अधिकांश गाथाएँ जीवकाण्डमें ज्योंकी त्यों ले ली गई है।

गोम्मटसार एक सग्रह ग्रथ है, यह बात कर्मकाण्डकी गाथा नं० ९६५में आये हुए 'गोम्मटसग्रह सुत्त' नामसे स्पष्ट है। जीवकाण्डका सकलन मुख्यरूपसे पञ्चसंग्रहके

जीव समास अधिकार तथा षटखण्डागमके प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारोकी धवलाटीकाके आधार पर किया गया है।

यह पहले लिख आये हैं कि धवलामें दि० पञ्चसंग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ उद्धत है और क्वचित किन्ही गाथाओमे शाब्दिक अन्तर भी है। किन्तु जीवकाण्डमें सकलित इस प्रकारकी गाथाओंका पाठ धवलासे मिलता है, पञ्चसग्रहसे नही। अत जीवकाण्डके सकलनमें धवलाकी मुख्यता जाननी चाहिये।

पचसग्रहसे जीवकाण्डमे जो विशेषता है उसका दिग्दशन इस प्रकार है—

पञ्चसग्रहमे ३० गाथाओंसे गुणस्थानोका कथन है किन्तु जी०का०में ६८ गाथाओमें कथन है। उसमे बीस प्ररूपणाओका परस्परमे अन्तर्भावका कथन तथा प्रमादोके भगोका कथन पञ्चमग्रहसे विशेष है। प०स०में जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओ मे है किन्तु जी०का०में ४८ गाथाओमें है। उसमे स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना और कुलोके द्वारा जीवसमासका कथन विस्तारसे किया है। यह सब कथन प०स०में नही है। तथा प०स०के इस प्रकरणकी केवल एक गाथा जी०का०मे है शेष सब कथन स्वतन्त्र है।

पर्याप्तिका कथन प०स०मे दो गाथाओमें हैं और जी०का०मे ११ गाथाओमे। प०स०की दोनो गाथाएँ जी०का०में है। प्राणोंका कथन प०स०में ६ गाथाओमें है और जी०का०मे ५ गाथाओमें। इसमे प०स०की केवल दो गाथाएँ ली गई ह। सज्ञाओकी पाचो गाथाएँ जी०का०मे ले ली ह केवल स्वामियोका[1] कथन जी०का०मे विशेष है।

जी० का० के मागणाओंके कथनमें एक बडी विशेषता यह है कि उसमें मागणाओमे जीवोकी सख्याका कथन भी किया गया है। यह कथन दि० प० स० मे नही है।

इन्द्रियमागणाके कथनमें प० स० में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवोको बतलाया है ये जीव एकेन्द्रिय ह ये द्वीन्द्रिय हैं। जी० का० में इसे छोड दिया है और प्रत्येक इन्द्रियके विषयका तथा इन्द्रियोमे लगे हुए आत्मप्रदेशोका कथन विस्तारसे किया है यह कथन प० स० में नही है।

कायमागणाके कथनमें जी० का० में प० स० से कई बातें विशिष्ट है। जैसे त्रसोंका वासस्थान, निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित शरीर और स्थावर जीवोंके शरीरका आकार। योगमागणामें भी इसी तरह कई विशिष्ट कथन हैं।

कषायमागणाके कथनमें जी० का० मे शक्ति, लेश्या और आयुबन्धाबन्धकी

---

१ गा० १३९–जी० का०।

अपेक्षा कषायके भेदोंका कथन किया गया है जो प० स० में नहीं है। और जी० का० में ज्ञानमार्गणाका कथन तो बेजोड़ है। श्रुतज्ञानके बीस भेद जो उसमें बतलाये है उनका कथन षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड और उसकी धवलासे लिया गया है। यह कथन श्वेताम्बर साहित्यमें भी नही मिलता। इसी तरह अवधिज्ञानके भेदोंका कथन भी बहुत विस्तृत है। ज्ञानमार्गणाकी गाथा सख्या १६६ है। प० स० में केवल १० गाथाएँ इस प्रकरणमें हैं।

इसी तरह जी० का० में लेश्यामार्गणा भी बहुत विस्तृत है और लेश्याओंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। सम्यक्त्वमार्गणामें सम्यक्त्वके भेदोंका तथा उनके सम्बन्धसे छै द्रव्यो और नौ पदार्थोंका कथन बहुत विस्तृत है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र-के पाँचवे अध्यायका तो सभी आवश्यक कथन सगृहीत कर दिया गया है। उसके अतिरिक्त भी बहुत सा कथन सगृहीत किया गया है।

इस तरह जीवकाण्डमे गागरमे सागर' की कहावत चरितार्थ की गई है। उसका सकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसीसे दिगम्बर साहित्यमे उसका विशिष्ट स्थान रहा है। उसीके कारण पचसग्रह और जीव-स्थानके ओझल हो जानेपर भी उनका अभाव नही खटका और लोग एक तरहसे उन्हे भूल ही गये।

कर्मकाण्ड

गोम्मटसारके दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। इसके दो सस्करण प्रकाशित हुए हैं। रायचन्द शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित सस्करणमें मूल तथा हिन्दी टीका है। और हरिभाईदेवकरण शास्त्रमालासे प्रकाशित सस्करणमे मूलके साथ सस्कृत टीका और उस सस्कृत टीकाके आधारपर ढुढारी भाषामें लिखी हुई टीका दी गई है। उसकी गाथासख्या ९७२ है। उसमे नौ अधिकार हैं—१ प्रकृतिसमु-त्कीतन, २ बन्धोदयसत्त्व, ३ सत्त्वस्थानभग, ४ त्रिचूलिका, ५ स्थानसमु-त्कीतन, ६ प्रत्यय, ७ भावचूलिका ८ त्रिकरणचूलिका और ९ कर्मस्थिति-रचना।

१ प्रकृतिसमुत्कीतन

इसका अर्थ होता है आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोका कथन जिसमें हो। यत कर्मकाण्डमे कर्मों और उनकी विविध अवस्थाओंका कथन है अत पहले अधिकारमें यह बतलाते हुए कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है कर्मोंके आठ भेदोंके नाम, उनका कार्य, उनका क्रम, उनकी उत्तरप्रकृतियोंमेंसे कुछ विशेष प्रकृतियोका स्वरूप, बन्धप्रकृतियो, उदयप्रकृतियों और सत्त्वप्रकृतियोंकी सख्यामें अन्तरका कारण, देशघाती, सर्वघाती, पुण्य और पापप्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी,

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममें निक्षेपयोजना आदि-का कथन ८६ गाथाओंमें किया गया है।

इस अधिकारकी गा० २२ में कर्मोंके उत्तरभेदोंकी सख्या दी है किन्तु आगे उन भेदोंको न बतलाकर उनमेंसे कुछ भेदोंके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला दी हैं। जैसे दर्शनावरणीयकर्मके नौ भेदोंमेंसे पाँच निद्राओंका स्वरूप गा० २३-२४-२५ द्वारा बतलाया है। फिर गाथा २६ मे मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते हैं, यह बतलाया है। फिर गाथा २७ में नामकर्मके भेदोंमेंसे शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंके सयोगी भेद बतलाये हैं। गा० २८ में अगोंपाग बतलाये है। गा० २९, ३०, ३१, ३२ में किस सहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है यह कथन किया है। गाथा ३३ में बतलाया है कि उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मका उदय किसके होता है। इस प्रकार आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलाये विना उनमेसे किन्ही प्रकृतियोके सम्बन्ध-में कुछ विशेष कथन करनेसे ग्रन्थ अधूरा सा प्रतीत होता है। कुछ[1] वर्षों पहले इस प्रश्नको प० परमानन्दजीने उठाया था। और फिर यह भी प्रकट[2] किया था कि कर्मप्रकृति नामक एक ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मिला है। उसपर-से कर्मकाण्डका अधूरापन दूर हो जाता है। इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी है जो उक्त कर्मकाण्डमें नही पाई जाती और जिन्हे यथास्थान जोड देनेसे कर्मकाण्डका सारा अधूरापन दूर होकर सबकुछ सुसम्बद्ध हो जाता है। प० परमानन्दजीने उन छूटी हुई ७५ गाथाओंको भी अपने उस लेखमें दिया था और यथास्थान उनकी योजना भी की थी। किन्तु प्रो० हीरालालजी[3] आदि कतिपय विद्वानोने प० परमानन्दजीकी योजना तथा उनके मन्तव्यको स्वीकृत नही किया। उनका कहना था कि कर्मकाण्ड अपनेमे पूर्ण है उसमें अधूरापन नही है।

प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'पुरातन जैन वाक्य सूची' की अपनी प्रस्तावना[4]में उक्त चर्चाका विवरण देते हुए 'प० परमानन्दजीके इस मन्तव्यसे अपनी असहमति प्रकट की है कि कर्मप्रकृतिकी ७५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी अगभूत हैं।

---

१ देखो—अनेकान्त वर्ष ३, कि० ४, पृ० ३०१।

२ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ८-९ में 'गोम्मटसारकी त्रुटिपूर्ति' शीर्षक लेख।

३ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ११ में 'गोमटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार' शीर्षक लेख।

४ पृ० ७४ आदि।

और किसी समय लेखकोंकी कृपासे कर्मकाण्डसे छूट गई या उससे जुदा पड़ गई हैं। बस उन्हें कर्मकाण्डमें शामिल करके त्रुटिकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

उन्होंने लिखा है कि कर्मप्रकृति प्रकरण और प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार इन दोनोंको एक कैसे समझ लिया गया है जिसके आधारपर एकमें जो गाथाएँ अधिक हैं उन्हें दूसरेमें भी शामिल करनेका प्रस्ताव रक्खा है। जबकि कर्मप्रकृतिमें प्रकृति समुत्कीतन अधिकारसे ७५ गाथाएँ अधिक ही नही, बल्कि उसकी ३५ गाथाएँ (न० ५२ से ८६ तक) कम भी हैं जिन्हें कर्मप्रकृतिमें शामिल करनेके लिये नहीं कहा गया। और इसी तरह २३ गाथाएँ कर्मकाण्डके द्वितीय अधिकारकी (गा० १२७ से १४५, १६३, १८०, १८१, १८४) तथा ग्यारह गाथाएँ छठे अधिकारकी (८०० से ८१० तक) भी उसमें और अधिक पाई जाती हैं परन्तु प्रकृति समुत्कीतन अधिकारमें उन्हें शामिल करनेका सुझाव नही रक्खा गया। दोनोंके एक होनेकी दृष्टिसे यदि एककी कमीको दूसरे से पूरा किया जाये और इस तरह प्रकृति समुत्कीतन अधिकारकी उक्त ३५ गाथाओंको कमप्रकृतिमें शामिल करानेके साथ कमप्रकृतिकी उक्त (२३ + ११) ३४ गाथाओको भी प्रकृति समुत्कीतनमें शामिल करानेके लिये कहा जाये तो × × × यह प्रस्ताव बिल्कुल असगत होगा क्योंकि वे गाथाएँ प्रकृति समुत्कीतन अधिकारके साथ किसी तरह ही सगत नही हैं। वास्तवमें ये गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तनसे नही, किन्तु स्थितिबन्धादिकसे सम्बन्ध रखती हैं।'

अत कमप्रकृति एक स्वतत्र ग्रन्थ ही ठहरता है जिसमें प्रकृति समुत्कीतनको ही नही, किन्तु प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कथनोको भी अपनी रुचिके अनुसार सकलित किया गया है और उसका सकलन गोम्मटसारके निर्माणके बाद किसी समय हुआ जान पडता है। मुख्तारसाहबका यह निष्कर्ष उचित है। इसीसे उसको यहाँ उद्धृत कर दिया है। किन्तु इस तरह कर्मप्रकृतिके एक स्वतत्र ग्रन्थ मान लिये जानेपर भी कमकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके गा० २२ से ३३ तकमें जो असबद्धता और अपूणता प्रतीत होनेका प्रश्न है वह तो खड़ा ही रहता है। उसके सम्बन्धमें भी हमें मुख्तारसाहबका सुझाव मान्य प्रतीत होता है।

जिन दिनों कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिकी चर्चा चल रही थी तब स्व० प० लोकनाथजी शास्त्रीने मूडबिद्रीके सिद्धान्तमन्दिरके शास्त्र भण्डारमें, जहाँ धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मूलप्रतियाँ मौजूद हैं, गोम्मटसारकी खोज की थी और अपने खोजके परिणामसे मुख्तारसाहबको सूचित किया था। उन्होंने सूचित किया था कि उक्त शास्त्र भण्डारमें गोम्मटसारके जीवकाण्डकी मूलप्रति त्रिलोकसार और लब्धिसार क्षपणासार सहित ताड़पत्रोंपर मौजूद है। पर सख्या जीवकाण्डकी

३८, कर्मकाण्डकी ५३, त्रिलोकसारकी ५१ और लब्धिसार-क्षपणासारकी ४१ है। ये सब ग्रन्थ पूर्ण है। और उनकी पद्यसख्या क्रमश ७३०, ८७२, १०१८ और ८२० हैं। ताडपत्रोकी लम्बाई दो फुट दो इच और चौडाई दो इच है। लिपि प्राचीन कन्नड है।

ये तो हुआ प्रतियोंके सम्बन्धमें। प्रकृत चर्चाके सम्बन्धमें शास्त्रीजीने लिखा था—कि कमकाण्डमें विवादस्थ स्थल प्रतिमें सूत्र रूपम है। और मुख्तारसाहबको उसका विवरण भी भेजा था। मुख्तारसाहबने पुरातन वाक्यसूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उस विवरणके आधारपर जो कुछ लिखा है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते ह—

'कमकाण्डकी २२वी गाथामे ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोकी उत्तर कमप्रकृतियोकी सख्याका ही क्रमश निर्देश ह—उत्तरप्रकृतियोके नामादि नही दिये। २३वी गाथामें क्रम प्राप्त ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियोका कोई उल्लेख न करके दशनावरणकी नौ प्रकृतियोमेसे स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोके कायका निर्देश करना प्रारम्भ कर दिया है। इन २२ और २३ गाथाओके बीचमे निम्न गद्यसूत्र पाये जाते है जिनमे ज्ञानावरणीय तथा दशनावरणीय कर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोका स्पष्ट उल्लेख ह और जिनसे दोनो गाथाओका सम्बन्ध ठीक जुड जाता है।—

'णाणावरणीय दसणावरणीय वेदणीय (मोहणीय) आउग णाम गोद अतराय चेइ। तत्थ णाणावरणीय पचविह आभिणिबोहिय-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणावरणीय केवलणाणावरणीय चेइ। दसणावरणीय णवविह थीणगिद्धि, णिद्दाणिद्दा, पयलापयला णिद्दा य पयला य चक्खु-अचक्खु-ओहि दसणावरणीय केवलदसणावरणीय चेइ।'

२५वी गाथामे दशनावरणीय कमकी नौ प्रकृतियोमेसे प्रचला प्रकृतिके कायका निर्देश है। इसके बाद क्रमप्राप्त वेदनीय तथा मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोका कोई निर्देश न करके २६वी गाथामे एकदम यह प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्वका द्रव्य तीन भागोमे बँटकर कसे तीन प्रकृति रूप हो जाता है। मूडबिद्रीकी उक्त प्राचीन प्रतिमे दोनो उक्त गाथाओके मध्यम निम्न गद्यसूत्र हैं जिनस उक्त त्रुटि अशकी पूर्ति हो जाती ह—

'वेदनीय दुविह सादावेदणीयमसादावेदणीय चेइ। मोहणीय दुविह दसणमोहणीय चारित्तमोहणीय चेइ। दसणमोहणीय बधादो एयविह मिच्छत्त, उदय सत पडुच्च तिविह मिच्छत्त सम्मामिच्छत्त सम्मत्त चेइ।'

२६वी गाथाके बाद चारित्र मोहनीयकी मूलोत्तर प्रकृतियो, आयुकमकी प्रकृ-

तियों और नामकर्मकी प्रकृतियोंका कोई नामनिर्देश न करके २७वीं गाथामें एकदम १५ सयोगी भेदोंको गिनाया है जो नामकर्मकी शरीरबन्धन प्रकृतियोंसे सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु वह कर्म कौन-सा है और उसकी किन किन प्रकृतियोंके ये सयोगी भेद हैं यह सब ज्ञान नहीं होता । मूडबिद्रीकी उक्त प्रतिमें निम्न गद्य सूत्र उक्त दोनो गाथाओके बीचमें पाये जाते हैं । जिनसे कथनकी सगति बैठ जाती है क्योकि उनमें चारित्र मोहनीयकी २८, आयुकी ४ और नामकर्मकी ४२ पिण्ड प्रकृतियोका नामोल्लेख करनेके अनन्तर नामकर्मके जाति आदि भेदोंकी उत्तर प्रकृतियोका उल्लेख करते हुए शरीर बन्धन नामकर्मकी पाँच प्रकृतियों तक ही कथन किया गया है, इससे गाथा न० २७ के साथ उसकी सगति बिल्कुल ठीक बैठती है—

"चारित्त मोहणीय दुविह कसायवेदणीय णोकसायवेदणीय चेइ । कसायवेदणीय सोलसविह खवण पडुच्च अणताणुबधि कोह-माण-माया-लोह अपच्चक्खाण पच्चक्खाणावरण कोह-माण-माया-लोह कोहसजलण माणसजलण मायासजलण लोहसजलण चेइ । [1]पक्कमदव्व पडुच्च अणताणुबधि-लोह-कोह-माया-माण सजलण लोह-माया-कोह-माण पच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण अपच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण चेइ । णोकसाय वेदणीय णवविह पुरसित्थिणउसयवेद रदि-अरदि-हस्स-सोग-भय-दुगुच्छा चेदि । आउग चउविह णिरयाउग तिरिक्ख-माणुस्स-देवाउग चेदि । णाम वादालीस पिंडापिंडपयडिभेयेण गयि-जायि-सरीर-बधण-सघाद-सठाण-अगोवग-सघडण-वण्ण-गध-रस-फास-आणुपुव्वी - अगुरुलहुगुवघाद - परघाद-उस्सास-आदाव-उज्जोद विहायगयि-तस-थावर-वादर-सुहुम-पज्जत्तापज्जत्त-पत्तेय-साहारणसरीर-थिराथिर-सुभासुभ-सुभग-दुब्भग-सुस्सर-दुस्सर-आदेज्जाणादेज्ज-जसाजसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणाम चेदि । तत्थ गयिणाम चउव्विह णिरयतिरिक्खगयिणाम मणुसदेवगयिणाम चेदि । जायिणाम पचविह एइदिय-विइदिय-तीइदिय-चउइदियजायिणाम पचिदिय जायिणाम चेदि । सरीरणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज कम्मइयसरीरणाम चेइ । सरीरबधणणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरबधणणाम चेइ ।

---

१ गो० कर्मकाण्डकी सस्कृत टीकामें इन सूत्रोंका अक्षरश सस्कृत रूपान्तर मिलता है । उससे मिलान करनेसे तथा सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी सूत्रका पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है । टीकाका सस्कृत पाठ इस प्रकार है—'प्रक्रमद्रव्य विभजनद्रव्य प्रतीत्य अनन्तानुबधि लोभ माया क्रोध मानं सज्वलनलोभ-माया क्रोधमान प्रत्याख्यानलोभमायाक्रोधमान अप्रत्याख्यानलोभमाया क्रोध-मान चेति ।'

सूत्रके अन्तमें आगत शरीरबन्धन नामकमके पाँच भेदोंके १५ सयोगी भेद गाथा २७में बतलाये हैं। गाथा २८में शरीरके आठ अग बतलाये हैं। मूडविद्री-की प्राचीन प्रतिमें गा० २७ और २८के बीचमें नीचे लिखे गद्य सूत्र हैं—

'शरीरसघादणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय आहार-तेज-कम्मइयशरीर-सघाद णाम चेदि। शरीरसठाणणामकम्म छव्विह समचउरसठाणणाम णग्गोह-परिमडल-सादिय-कुज्ज-वामण-हुडशरीरसठाणणाम चेदि। सरीरअगोवगणाम तिविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-सरीरअगोवग णाम चेदि।

२८वी गाथाके बाद नीचे लिखा गद्य सूत्र है—

'सहडणणाम छव्विह वज्जरिसहणारायसहडणणाम वज्जणाराय णाराय-अद्धणाराय खीलिय असपत्तसेवट्टिशरीरसहडणणाम चेइ।'

२८वी गाथाके अनन्तर चार गाथाओमें छै सहननोका कथन है। जिनमेंसे प्रथम तीन गाथाओमे यह बतलाया है कि किस सहनन वाला जीव मरकर किस स्वग तक अथवा किस नरक तक जन्म लेता ह। और चौथी गाथामें बतलाया है कि कमभूमिकी स्त्रियोके अन्तके तीन सहननोका ही उदय होता है।

उक्त सूत्रके साथ इन गाथाओकी सगति बैठ जाती है।

गाथा ३२के बाद नीचे लिखे गद्यसूत्र मूडविद्री की प्रति में है—

'वण्णनाम पचविह किण्ण-नील रुहिर-पीद सुक्किलवण्णणाम चेदि। गधणाम-दुविह सुगध-दुगध णाम चेदि। रसणाम पचविह तिट्ठ-कड्डु-कसायविल-महुर रस-णाम चेइ। फासणाम अट्ठविह कक्कड-मउगगुरुलहुग रुक्ख-सणिद्ध-सीदुसुण-फास-णाम चेदि। आणुपुव्वी णाम चउव्विह णिरय तिरक्खगाय-पाओग्गाणुपुव्वीणाम मणुस-देवगयि-पाओग्गाणपुव्वी णाम चेइ। अगुरुलघुग उवघाद परघाद-उस्सास-आदव-उज्जोद-णाम चेदि। विहायगदिणाम कम्म दुविह पसत्थविहायगदिणाम अप्पसत्थ विहायगदिणाम चेदि। तस वादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकित्ति णिमिण-तित्थयरणाम चेदि। थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणसरीर-अथिर-असुह-दुब्भग-दुस्सर-अणादेज्ज अजसकिति णाम चेदि।

इसके पश्चात गाथा ३३ है जिसमे उष्ण नामकम और आतप नामकममें अन्तर स्पष्ट किया है। गाथा ३३ के साथ नामकमकी प्रकृतियोकी गणना समाप्त हो जाती है। ३३ गाथाके पश्चात नीचे लिखे सूत्र है। जिनमे गोत्रकम और अन्तराय कमकी प्रकृतियाँ बतलाई है—

'गोदकम्म दुविह उच्चणीचगोद चेइ। अतराय पचविह दाण-लाभ-भोगोप-भोग-वीरिय-अतराय चेइ।

मूडबिद्रीके प्रतिमें पाये जाने वाले इन सूत्रोंको यथास्थान रख देनेसे कर्मकाण्ड गा० २२ से ३३ तकमें जो असम्बद्धता प्रतीत होती है वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसगत प्रतीत होने लगती है ।

दि० प्रा० पञ्चसग्रहके दूसरे अधिकारका नाम भी प्रकृति समुत्कीतन है । उसके प्रारम्भमें चार गाथाएँ है । पहली मगल गाथाको छोडकर शेष तीनों गाथाएँ कर्मकाण्डमें २० २१, २२ नम्बरको लिये हुए विराजमान हैं । २२की गाथामें आचाय नेमिचन्द्रने थोडा-सा परिवतन कर दिया है । नाम कर्मकी ९३ या १०३ प्रकृतिया लिखकर उन्होने कर्म प्रकृतिमें निर्दिष्ट १५८ कर्म प्रकृतियोंकी मान्यताका भी सग्रह किया है ।

पञ्चसग्रहमें आठो कर्मोंकी प्रकृतियोकी सख्या बतलाने वाली गाथाके पश्चात् प्रकृतियोंके नामादिका कथन गद्य सूत्रो द्वारा ही किया गया है । उसी पद्धतिका अनुसरण नेमिचन्द्राचायने भी किया था, ऐसा मूडबिडीकी कमकाण्डकी प्रतिसे प्रतीत होता है । पञ्चसग्रहमें गद्य सूत्रोके द्वारा क्रमश सब प्रकृतियोका निर्देश किया है। कमकाण्डमें बीच बीचमे गाथासूत्र देकर प्रकृतियोके सम्बन्धमें आवश्यक उपयोगी कथनोंका भी सग्रह किया गया है ।

जीव स्थानकी चूलिकाके अन्तगत भी प्रकृति समुत्कीतन नामक अधिकार है । पञ्चसग्रहका प्रकृति समुत्कीतन अधिकार उसीकी उपज है । और इन्हींकी उपज कर्मकाण्डका प्रकृतिसमुत्कीतन अधिकार है। उसमें जो गद्यसूत्र हैं वे उक्त ग्रन्थोंके अन्तगत गद्यसूत्रोका ही सक्षिप्त रूप है । उनमें जो कही अन्तर किया गया है वह कमकाण्डकी दृष्टिसे ही किया गया है ।

उल्लेखनीय अन्तर दशनावरणीय कमकी प्रकृतियोंके क्रममें है । जी० स्था० चूलिका तथा पञ्चसग्रहमें निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला यह पाँच निद्राओंका क्रम है और कर्मकाण्डगत गद्य सूत्रमें, जो कि मूडबिद्रीकी प्राचीन प्रतिमें उपलब्ध हैं—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, निद्रा और प्रचला यह क्रम है । उक्त क्रमको बदलनेका कारण यह है कि कमकाण्डमें प्रदेश-बन्धके कथनमें समय प्रबद्धका विभाग आठों मूलकर्मोंमें तथा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें बतलाया है । दर्शनावरणीय कमकी उत्तरप्रकृतियोंमें जिस क्रमसे बँटवारा होता है वही क्रम कर्मकाण्डके गद्यसूत्रमें अपनाया गया है। यह बात चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंको बतलाने वाले गद्यसूत्रोंसे समर्थित होती है । मूडबिद्री-वाली प्रतिसे ऊपर चारित्रमोहनीय सम्बन्धी जो गद्यसूत्र दिये गये हैं उनमें कषाय-वेदनीयके सोलह भेदोंको दो अपेक्षाओंसे गिनाया गया है—एक क्षपणकी अपेक्षा से और एक प्रक्रम द्रव्यकी अपेक्षासे । प्रक्रम द्रव्यका अर्थ पं० टोडरमलजी ने

अपनी टीकामें किया है—'बहुरि प्रदेश बन्धविषै परमाणूनिका बँटवारा है ताकी अपेक्षा कहिये। क्षपणाकी अपेक्षा तो जो प्रसिद्ध क्रम है वही है किन्तु बँटवारेकी अपेक्षा क्रम भिन्न है जसा कि सूत्रमें बतलाया है।

अत मूडबिडीकी प्रतिमे वतमान गद्यसूत्र अवश्य ही कमकाण्डके अग हैं और वे नेमिचन्द्राचायकी कृति है। कमकाण्डकी मुद्रित सस्कृत टीकामे उन सूत्रोंका सस्कृत रूपान्तर अक्षरश पाया जाना भी उसकी पुष्टि करता है। उन सूत्र को यथा स्थान रखनेसे कमकाण्डकी त्रुटिपूर्ति हो जाती है।

२ बन्धोदय सत्वाधिकार

इस अधिकारमे कर्मोंके बन्ध उदय और सत्वका कथन ह। दि० प्रा० पञ्च-सग्रहमें भी इस नामका तीसरा अधिकार है जो कमस्तवका ऋणी है। उसकी प्रथम गाथाका उत्तराध है—बधुदयसतजुय वोच्छामि थय णिसामह। नेमि चन्द्राचायने अपने कथनके अनुरूप उसमें परिवतन करके उसे इस प्रकार रखा है—'बधुदयसत्तजुत्त ओघादेसे थय वोच्छ।' कमस्तव या पञ्चसग्रहमे स्तवका अथ नही किया। किन्तु कमकाण्डके इस अधिकारकी दूसरी गाथा[1]मे उसका अथ कहा है—'जिसमें सकल अगोका विस्तार या सक्षेपस कथन हो उस शास्त्रको स्तव कहते हैं। जिसमे एक अगका विस्तार वा सक्षेपसे कथन हो उसे स्तुति कहते ह और जिसमे एक अगके अधिकारका कथन विस्तार या सक्षेपसे हो उसे धमकथा कहते हैं'। यह लक्षण धवलाके आधार पर रचित है। वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारके सूत्र ५५म थय-थुदि धम्म कहा' आया है। धवला[2]-मे उसके लक्षण कहे है। उसीपरसे नेमिचन्द्राचायने एक गाथाके द्वारा तीनो लक्षणोको कहा है।

स्तवके लक्षणके अनुसार कमकाण्डके इस दूसर अधिकारम कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्वका गुणस्थान और मागणाओमे सर्वांगपूण कथन दिया गया है। ऐसा समझना चाहिये।

सबसे प्रथम बन्धका कथन करते हुए बन्धके चारो भेदोका-प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका, क्रमश कथन किया गया है। प्रकृति-

---

१ सयलगेक्कगेक्कगहियार सवित्थर ससखेव। वणणसत्थ थयथुइ-धम्मकहा होइ णियमेण ॥८८॥—क० का०।

२ वारसगसघारो सयलगविसयप्पणादो थवो णाम। वारसगसु एक्कगोव-सघारो थुदोणाम। एक्कगस्स एगाहियारोवसहारो धम्मकहा।'
—षट्ख०, पु० ९, पृ० २६३।

बन्धका कथन करते हुए प्रथम यह बतलाया है कि किन २ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध किस किस गुणस्थान तक होता है, आगे नही होता। यह कथन पञ्चसग्रहमें भी है। गुणस्थानोमें आठो कर्मोंकी १२० बन्ध प्रकृतियोंके बन्ध, अबन्ध और बन्ध व्युच्छित्तिका कथन करनेके बाद चौदह मार्गणाओंमें वही कथन किया गया है। यह कथन पचसग्रहमें नही है। इसे नेमिचन्द्राचार्यने षट्खण्डागमके बन्ध स्वामित्व विचय नामक तीसरे खण्डसे लिया है।

प्रकृतिबन्धके पश्चात स्थितिबन्धका कथन है। उसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर-प्रकृतियोकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिबन्धका तथा उनके बन्धकोका कथन किया है। पचसग्रहके चतुर्थ अधिकारमे जो स्थितिबन्धका कथन है उससे कर्मकाण्डके कथनमे कई विशेषताएँ है। कर्मकाण्ड[1]में एकेन्द्रियादि जीवोंके होनेवाले स्थिति-बन्धका भी कथन किया है, जो जीवस्थानकी जघन्यस्थिति चूलिकाकी धवला-टीका[2]का ऋणी है। अन्तमे कर्मोंकी आबाधाका कथन है।

तत्पश्चात अनुभागबन्धका और फिर प्रदेशबन्धका कथन है। ये कथन पञ्च-सग्रहके ऋणी है। किन्तु कुछ कथन उससे विशेष भी हैं। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए प० स० में तो समयप्रबद्धका विभाग केवल मूलकर्मोंमें ही बतलाया है किन्तु कर्मकाण्डमे उत्तरप्रकृतियोमें भी विभागका कथन किया है। तथा कर्मकाण्ड-में प्रदेशबन्धके कारणभूत योगके भेदो और अवयवोका भी कथन है। यह कथन पचसग्रहमें नही है, धवला और जयधवलामें है। इस बन्धप्रकरणमें पञ्चसग्रहकी कई गाथाएँ ज्योंकी त्यो सगृहीत हैं। उदयप्रकरणमें कर्मोंके उदय और उदीरणका कथन गुणस्थान और मार्गणाओंमें है अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामें प्रकृतियोंके उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्तिका कथन है। सत्त्व प्रकरणमें गुणस्थान और मार्गणाओंमे प्रकृतियोकी सत्ता, असत्ता और सत्त्व व्युच्छित्तिका कथन है। मार्गणाओमे बन्ध उदय और सत्त्व का कथन अन्यत्र नही मिलता। नेमिचन्द्राचार्यने प्राप्त उल्लेखोके आधारपर उसे स्वय फलित करके लिखा है। यह बात उदय और सत्त्वकी अन्तिम[3]गाथाके द्वारा ग्रन्थकार नेमिचन्द्रने स्वय भी कही है।

३ सत्त्व स्थान भग

पिछले प्रकरणमें कहे गये सत्त्व स्थानका भगोके साथ कथन इस प्रकरणमें

१ गा० १४४-१४५। २—षट्ख० पु० ६, पृ० १८४ तथा १९५।

३ 'कम्मेवाणाहारे पयडीण उदयमेवमादेसे। कहियमिण बलमाहवचदच्चिय-णेमिचदेण ॥३३२॥ कम्मेवाणाहारे पयडीण सत्तमेवमादेसे। कहियमिण बलमाहवचंदच्चियणेमिचदेण ॥३५६॥—क० का०।

है। प्रत्येक गुणस्थानमें प्रकृतियोंका सत्त्व स्थान कितने प्रकारसे सभव है, और उसके साथ जीव किस आयुको भोगता है और परभवकी किस २ आयुको बांधता है। यह सब कथन इस प्रकरणमें है।

इसी प्रकरणके अन्तमें ग्रन्थकारने यह कहा[1] है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पासमें श्रवण करके कनकनन्दिने सत्त्व स्थानका कथन किया। कनकनन्दिके 'विस्तरसत्त्व त्रिभगी' नामक ग्रन्थका परिचय पीछे करा आये ह। उसे नेमिचन्द्राचायने अपने इस प्रकरणमें प्राय ज्योका त्यो अपना लिया है। आराकी प्रतिमे गाथा स० ४८ है और कमकाण्डके मुद्रित सस्करणोंमे इस प्रकरणकी गाथा सख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है। अत केवल ८ गाथाएँ छोड दी गई ह और उनमे क्रमभेद भी किया गया है। जिस गाथा ३९७ में चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छ खण्डोको अपनी बुद्धिसे साधनेकी बात कही गई है वह गाथा भी कनकनन्दिके विस्तार सत्त्व त्रिभगीकी ह। अत नेमिचन्दकी तरह कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे।

४ त्रिचूलिका अधिकार

इस अधिकारमें तीन चूलिकाएँ ह—नव प्रश्न चूलिका, पचभागहार चूलिका और दशकरण चूलिका। जैसे जीवस्थानके विषम स्थलोके विवरणके लिये उसके अन्तमें चूलिका नामक एक भाग आता ह वसे ही कमकाण्डमे प्रतिपादित पूर्वाधिकारोंके सम्बन्धमें विशेष कथन करनेके लिये यह अधिकार आया है। पहली नौ प्रश्न चूलिकाम नौ प्रश्नोका ममाधान किया गया है। वे नौ प्रश्न इस प्रकार हैं १ उदयव्युच्छित्तिके पहले बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोकी होती हैं। २ उदय व्युच्छित्तिके पीछे बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ३ और उदय व्युच्छित्तिके साथ बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोकी होती है। ४ जिनका अपना उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी है। ५ जिनका अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतिया कौन सी है। ६ और जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतिका उदय हानेपर बन्ध हो, वे प्रकृतियाँ कौनसी ह। ७ जिनका निरन्तर बध होता है ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी ह। ८ जिनका सान्तरबन्ध होता है अर्थात कभी बन्ध होता है और कभी नही होता, वे प्रकृतियाँ कौनसी है ९ और जिनका निरन्तर बन्ध भी होता है और सान्तरबन्ध भी होता है वे प्रकृतियाँ कौनसी ह? इन नौ प्रश्नोका उत्तर इस चूलिकामे दिया गया है। प्रा० प० स० के तीसरे अधिकारके अन्तमें नौ प्रश्न चूलिका आई है तथा षट्खण्डागम[2]के अन्तगत बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डकी

---

१ क० का०, गा० ४९६।

२ षटख० पु० ८, पृ० ७—१७।

धवलाके प्रारम्भमें ये भी प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया गया है और उसके समर्थनमें कुछ आर्ष गाथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। इन्हींके आधारसे यह भी प्रश्न चूलिका लिया गया प्रतीत होता है।

पंच भाग हार चूलिकामें उद्वेलन, विध्यात, अध प्रवृत्त, गुणसंक्रम और सर्व-सक्रम इन पाँच भागहारोंका कथन है। इन भागहारोंके द्वारा जीवोंके शुभाशुभ-कम अपने परिणामोंके निमित्तसे अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं। जैसे शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर बधा हुआ असातावेदनीयकम सातावेदनीय रूप परि-णत हो जाता है। किस-किस कमप्रकृतिमें कौन-कौन भागहार सम्भव हैं और किस किस भागहारके अन्तगत कौन-कौन प्रकृतियाँ ह यह सब भी कथन किया गया है। साथ ही चूँकि पाँचो भागहार एक भाजक राशिके तुल्य हैं अत उनका परस्परमें अल्पबहुत्व भी बतलाया गया है। यह सब कथन पञ्चसग्रहमें नहीं है।

दशकरण चूलिका—इसमें बन्ध, उत्कषण, अपकषण, सक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपसम, निधत्ति और निकाचना इन दस करणोंका स्वरूप कहा गया गया है और बतलाया गया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करण नाम क्रिया का है—कर्मोंमे ये दस क्रियाएँ होती हैं। कमप्रकृतिमें इन करणों-का स्वरूप बहुत विस्तारसे वर्णित है। [1]जयधवलामें 'दसकरणी सग्रह' नामक एक ग्रन्थका निर्देश है उसमे भी, जैसा कि उसके नामसे प्रकट होता है, दस करणोके कथनका सग्रह होना चाहिए।

५ बन्धोदय सत्त्व युक्त स्थान समुत्कीतन

एक जीवके एक समयमे जितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय अथवा सत्त्व सभव है उनके समूहका नाम स्थान है। इस अधिकारमे पहले आठो मूलकर्मोंको लेकर और फिर प्रत्येक कमकी उत्तर प्रकृतियोको लेकर बन्धस्थानों, उदयस्थानो और सत्त्व स्थानोंका कथन किया गया है। जैसे मूलकर्मोंका कथन करते हुए कहा है कि तीसरे मिश्रगुणस्थानके सिवाय अप्रमत्त पर्यन्त छै गुणस्थानोंमें एक जीवके आयुकमके बिना सातकर्मोंका अथवा आयु सहित आठ कर्मोंका बन्ध होता है, तीसरे, आठवें और नौवें, इन तीन गुणस्थानोंमें आयुके बिना सात कर्मोंका ही बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयके सिवाय छै ही कर्मोंका बन्ध होता है। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है, और चौदहवें गुणस्थानमें एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता। अत आठो कर्मोंके चार बन्धस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छै प्रकृतिक और एक प्रकृतिक।

---

१ क०ध० प्रे०का०, पृ० ६६०७।

इसी तरह दसवें गुणस्थान तक आठो कर्मोंका उदय होता है, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके बिना सातकर्मोंका उदय होता है। तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमे चार ही कर्मोंका उदय होता है। अत आठो कर्मोंके तीन उदयस्थान होते ह—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

ग्यारहवे गुणस्थान तक आठो प्रकृतियोकी सत्ता रहती है बारहवे गुणस्थानमे मोहनीयके बिना सात कर्मोंकी ही सत्ता रहती है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें चार कर्मोंकी ही सत्ता रहती है। अत आठो कर्मोंके तीन सत्त्वस्थान हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

इसी तरहका कथन प्रत्येक कमके विषयमे भी किया गया है। आठो कर्मोंमें-से वेदनीय, आयु और गोत्रकमकी उत्तर प्रकृतियोमसे एक जीवके एक समयमे एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है और एकका ही उदय होता है। ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचो प्रकृतियोका एकसाथ बन्ध, उदय और सत्त्व होनेसे स्थान एक ही ह। अत इन पांच कर्मोंको छोडकर दशनावरण मोहनीय और नामकमके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्त्वस्थानोका कथन बहुत विस्तारस किया गया ह। प्रत्येकका कथन करनेके बाद त्रिसयोगी भगोका कथन है अर्थात बन्धमे उदय और सत्त्व, उदयमे बन्ध और सत्त्व और सत्त्वमें बन्ध और उदयका कथन किया गया ह। फिर बन्धादिमसे दोको आधार और एकको आधेय बनाकर कथन किया गया है। प्रा०दि० पञ्चसग्रहके अन्तगत शतक तथा सप्ततिका नामक अधिकारमे भी उक्त कथन है और कमकाण्डका उक्त कथन उसका ऋणी जान पडता है। कुछ गाथाएँ भी दोनोमे मिलती हुई ह। [1]कथनम कुछ भेद भी है। जिसका कारण विवक्षा भेदके साथ मतभेद भी ह वह मतभेद परम्परामूलक है। इस प्रकरणमे आठो कर्मोंके विषयमे प्रसगवश आगत कमविषयक और भी बहुत-सा ज्ञातव्य विषय ह। यह अधिकार बहुत विस्तत है इसकी गाथा सख्या ३३४ है।

६ प्रत्ययाधिकार

इस अधिकारमे कमबन्धके कारणोका कथन है। मूल कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। तथा इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५, और १५ = कुल ५७ हाते है। गुणस्थानोमें इन्ही मूल और उत्तर प्रत्ययोका कथन इस अधिकार में किया गया ह कि किस गुणस्थानमें बन्धके कितने प्रत्यय होते है। और उनके भङ्गोका भी निर्देश किया है। प्रा० पञ्चसग्रहके शतका-

---

१ इस भेदको जाननेके लिए सप्ततिका प्रकरणका प० फूलचन्द्रजी कृत अनुवाद (पृ० १०३) देखना चाहिए।

धिकारके प्रारम्भ में यह कथन बहुत विस्तारसे किया गया है। यहाँ तो उसको बहुत संक्षिप्त कर दिया है।

इन प्रत्ययोके पश्चात् कमकाण्डके इस अधिकारमें प्रत्येक कमके विशेष कारण ११ गाथाओं द्वारा बतलाये हैं। ये गाथाएँ वही हैं जो शतक प्रकरणमें वतमान है और दि० प्रा० पञ्चसग्रहके शतक प्रकरणसे ली गई जान पडती हैं।[1]

७ भावचूलिका

इस अधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक इन पाँच भावोंका तथा इनके भेदोका कथन करके उनके स्वसयोगी भगोका कथन गुणस्थानोंमे किया गया है।

उसके पश्चात जैन परम्पराकी वह प्राचीन गा[2]था दी गई है जिसमें कहा है कि क्रियावादियोके १८०, अक्रियावादियोके ८४, अज्ञानवादियोके ६७ और वैनयिकोके ३२ इस तरह ३६३ मिथ्यामत हैं।

उस गाथाको देकर आगे उन मतोकी उपपत्ति दी है कि किस तरह क्रिया-वादी आदि मत १८० आदि होते हैं। श्वे-सूत्रकृतागके प्रथम श्रुत स्कन्ध अध्ययन १२ मे भी मतोकी चर्चा मिलती है। और उसकी टीकामे शीलाकने उनकी उपपत्ति भी दी ह किन्तु कमकाण्डकी उपपत्तिसे उसमे अन्तर है। तथा अमित-गतिके सस्कृत पञ्चसग्रहमे (पृ० ४१ आदि) भी उपपत्ति मिलती ह जो कम-काण्डके ही अनुरूप है। अस्तु,

अन्तमें एक गाथाके द्वारा जो सन्मतितक (का० ३, गा० ४७) में भी वर्त-मान है, कहा गया है कि 'जि[3]तने बचनके माग है उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय है। अर्थात सब नयोंके समूहका नाम ही जैनदर्शन है।

८ त्रिकरणचूलिका

इस अधिकारमें अध करण और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोका स्वरूप कहा गया है। जीवकाण्डके प्रारम्भमे भी गुणस्थानोके प्रकरणमें इन करणोका स्वरूप कहा गया है और तीनों करणका स्वरूप बतलाने वाली

---

१ देखो—कर्मकाण्ड गा० ८००-८१० और शतक गा० १६-२६।

२ असिदिसदं किरियाण अक्किरियाणा च आहु चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीण वेण-यियाण तु बत्तीस ॥८७६॥

३ 'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥—गो० क० का०।

गाथाएँ भी जीवकाण्डकी ही हैं। इस अधिकारकी विशेषता यह है कि इसमें पहले दोनो करणोंके स्वरूपको अकसदृष्टिके द्वारा समझाया गया है।

९. कमस्थितिरचना अधिकार

प्रतिसमय बधनेवाले कमपरमाणुओका आठो कर्मोंमें विभजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कमप्रकृतिको प्राप्त कमनिषेकोकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आबाधा-कालको छोडकर हो जाती है अर्थात बन्धको प्राप्त हुए वे कमपरमाणु उदयकाल आने पर खिरने प्रारम्भ हो जाते हैं और अन्तिम स्थिति पयन्त खिरते रहते हैं। उनकी रचनाको ही कमस्थिति रचना कहते है उसीका कथन इस अधिकारमें हैं। बन्धोदय सत्त्वाधिकार नामक दूसरे अधिकारके अन्तगत स्थितिबन्धाधिकारके अन्तमें भी यह कथन आया है। फलत गाथा न० ९१४ से ९२१ तक जो गाथाएँ है वे सब गाथाएँ उस अधिकारमें आचुकी है और वहाँ उसका नम्बर १५५ से १६२ तक है। किन्तु यहाँ वही कथन विस्तारसे किया है। अन्त में प्रशस्ति है।

सक्षपमें यह कमकाण्डका परिचय ह।

लब्धिसार-क्षपणासार

लब्धिसार—गोम्मटसारके अतिरिक्त श्रीनेमिचन्द्राचायकी दूसरी कृति लब्धिसार है। यह गाथा बद्ध है। इसके भी दो सस्करण प्रकाशित हुए हैं, एक रायचद शास्त्र माला बम्बई से। इसम मूल तथा प० मनोहरलालजीके द्वारा रचित सक्षिप्त हिन्दी टीका है, जिसमें गाथाका अथमात्र दिया गया है। इसमे गाथाओंकी सख्या ६४९ ह। दूसरा मस्करण हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित हुआ है शास्त्राकार है। इसमें लब्धिसार पर नेमिचन्द्र रचित सस्कृत टीका और प० टोडरमलजी रचित ढुढारी भाषाकी टीका है। तथा क्षपणासार पर केवल प० टोडरमलजी रचित भाषा टीका ही है। इसकी गाथा सख्या ६५३ है। इस अन्तरका कारण यह है कि दूसर सस्करणकी गाथा न० १५६, १६७, २५४, ५३१ चार गाथाएँ पहले सस्करणम नही है।

यह लब्धिसार क्षपणासार गोम्मटसारका ही उत्तर भाग समझना चाहिये। गोम्मटसारके जीवकाण्डमे जीवका और कमकाण्डमें जीवके द्वारा बाँधे जाने वाले कर्मोंका कथन है और इस लब्धिसारमें जीवके कमबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तथा प्रक्रिया बतलाई गई है।

मोक्षकी पात्रता जीवमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर ही मानी जाती है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है। तथा सम्यग्दशन होनेके पश्चात् सम्यक चारित्रका भी होना जरूरी है। अत सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी

लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेसे ग्रन्थका नाम लब्धिसार[1] रखा गया है। इसकी प्रथम गाथामें पञ्च परमेष्ठीको नमस्कार करके सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र लब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कथन है। उसकी प्राप्ति पाँच लब्धियों-के होने पर ही होती है। वे पाँच लब्धिया है—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमेंसे आरम्भकी चार लब्धियाँ तो सवसाधारणके होती रहती हैं किन्तु करणलब्धिके होने पर ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। इन लब्धियोका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया गया है। अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणका स्वरूप गोम्मटसारमें भी दिया गया है। इनकी प्राप्तिको ही करणलब्धि कहते हैं। अनिवृत्ति करणके होनेपर अन्तमुहूतके लिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवलि काल शेष रहने पर यदि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय आ जाता है तो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादन सम्यक्त्वी हो जाता है और उपशम सम्यक्त्वका काल पूरा होने पर यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस तरह गाथा १०९ पयन्त प्रथमोपशम सम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरण-में आगत गाथा ९९ कसायपाहुडसे ली गई है। गाथा १०६, १०८ और १०९ जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी आई है।

गाथा ११० से क्षायिक सम्यक्त्वका कथन प्रारम्भ होता है। दशनमोहनीय कमका क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु दशनमोहनीय कर्मके क्षयका प्रारम्भ कम भूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमे अथवा केवलि श्रुतकेवलीके पादमूलमें करता है (गा० ११०)। और उसकी पूर्ति वही अथवा सौधर्मादिकल्पोंमे अथवा कल्पातीत देवोंमें अथवा भोगभूमिमें अथवा प्रथम नरक-में करता है क्योंकि बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारो गतियोंमें जन्म ले सकता है (गा० १११)।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दशन मोहकी तीन, इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिक सम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है (गा० १६४)। क्षायिक सम्यग्दृष्टी उसी भवमें, अथवा तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्त हो जाता है। (गा० १६५)।

---

१ 'सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रयोर्लब्धि. प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसाराख्यो ग्रन्थ ।'—ल० सा०, टी०।

क्षायिक सम्यक्त्वके साथ दर्शनलब्धिका कथन पूर्ण हो जाता है और चारित्र-लब्धिका कथन प्रारम्भ होता है ।

चारित्र लब्धि एक देश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है (गा० १६८)। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ देश चारित्रको ग्रहण करता है। और सादि मिथ्यादृष्टी जीव उपशम सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्वके साथ देश-चारित्रको धारण करता है। जिस तरह धारण करता है और उस समय जो जो कार्य होते हैं उन सबका कथन किया गया।

सकल चारित्रके तीन प्रकार है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।

क्षायोपशमिक चारित्र सातवें और छठे गुणस्थानमे होता है। यह उपशम सम्यक्त्व सहित भी होता है और वेदक सम्यक्त्व सहित भी होता है। (गा० १८९-१९०)। गा० १९५ में म्लेच्छ मनुष्यके भी आर्य मनुष्यकी तरह सकल-संयम बतलाया है। उसकी टीका[1]मे यह प्रश्न किया गया है कि म्लेच्छ भूमिके मनुष्य सकल संयमको कैसे धारण कर सकते है। उसके समाधानमे कहा गया है कि जो म्लेच्छ मनुष्य चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आते है और उनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है वे सकल संयम धारण कर सकते है। अथवा चक्रवर्ती आदिमे विवाही गई म्लेच्छ कन्याओके गर्भसे उत्पन्न संतान, मातृ पक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कही जाती है उसके संयम धारण करना संभव है क्योकि इस प्रकारकी जाति वालोको दीक्षाके योग्य होनेका निषेध नही है।

वीरसेनने जयधवलाटीकामे यह चर्चा उठाई है। उसीसे टीकाकारने उसे लिया जान पड़ता है। अस्तु,

वेदक सम्यग्दृष्टी जीव क्षायोपशमिक चारित्रको धारण करनेके बाद जब औपशमिकचारित्रको धारण करनेके अभिमुख होता है तो पहले या तो क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है या द्वितीयोपशमसम्यक्त्वको धारण करता है। क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विधान तो पहले कहा गया है अत यहाँ द्वितीयो-पशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कथन करके चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन किया गया है। चारित्रमोहका उपशम करनेपर जीव ग्यारहवे उपशान्तकषाय गुणस्थान

---

१ 'म्लेच्छ भूमिज मनुष्याणा सकलसंयमग्रहण कथ संभवतीति नाशंकितव्य दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्या-दिभि सह जात वैवाहिकसम्बन्धाना संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्।
अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाज संयमसम्भवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावात् ॥१९५॥ —ल० सा० टी०।

में पहुँचता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहता है। उसके बाद उसका वहाँसे पतन हो जाता है। पतनके कारण दो हैं या तो मृत्युकालका उपस्थित होना या उपशमकालका समाप्त होना। यदि मृत्युकाल आ जाता है तो वह मरकर देव-गतिमें जन्म लेता है और उसके चौथा गुणस्थान हो जाता है। यदि उपशमकालके समाप्त हो जानेमे गिरता है तो ग्यारहवेंसे गिरकर दसवेंमें, दसवेंसे नौवेंमें, नौवेंसे आठवेंमें और आठवेंसे सातवेंमें पहुँचता है। पीछे यदि उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं तो फिर आठवें आदि गुणस्थानोंमे चढ जाता है, अन्यथा नीचे गिर जाता है (अ० ३१०)।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल भी अन्तर्मुहूर्त है। उसके साथ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानम चढ़नेवाला जीव जितनी देरमें गिरकर पुन आठवेंमे आ जाता है, उससे सख्यातगुणाकाल द्वितीयोपशमसम्यक्त्वका है। जब उसका काल पूरा होता है तो या तो वह जीव गिरकर चौथे गुणस्थानमें आ जाता है अथवा पाचवें गुणस्थानमें आ जाता है। अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलीकाल शेष रहनेपर अनन्तानुबन्धीकषायका उदय होनेमे सासादनगुणस्थान-को प्राप्त हो जाता है। यदि वह मरता है तो यतिवृषभ आचार्यके वचनोके अनु-सार मरकर नियमसे देव होता है। (३४९ गा०) क्योकि जिसने परभवकी नरक, तियञ्च या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया ह वह मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम नही कर सकता।

यहाँ ग्रन्थकारने कषायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंके रचयिता यतिवृषभ[1]के मतका उल्लेख करके षटखण्डागम सूत्रोंके रचयिता भूतबलिका भी मत दिया है। उनका मत यतिवृषभके मतके विपरीत है। अर्थात यतिवृषभके मतसे उपशम श्रेणीसे गिरा हुआ जीव दूसरे सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो सकता है किन्तु भूतबली[2]के मतसे प्राप्त नही हो सकता। इन्ही दोनो आचार्योंकी उक्त कृतियो तथा उनकी टीकाओके आधारपर लब्धिसारकी रचना की गई है।

गाथा ३९१ तक चारित्रमोहनीय कमको उपशम करनेका कथन है। उससे आगे चारित्रमोहकी क्षपणाका कथन है।

चारित्रमोहकी क्षपणाके अन्तगत जो क्रियाएँ होती है उन्हीको आधार बना-कर चारित्रमोहकी क्षपणाके अधिकारोका नामकरण किया गया है वे अधिकार

---

१ जरि मरदि सासणो सो णिरय तिरिक्ख णर ण गच्छेदि।
णियमा देव गच्छदि जइवसहमुणिदवयणेण ॥३४९॥—ल०सा०।

२ उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥—ल०सा०।

हैं—अध.करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन करण, बन्धापसरण, सत्त्वाप-सरण ये दो अपसरण, क्रमकरण, कषायो आदिकी क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तर-करण, सक्रमण, अपूर्वस्पधककरण, कृष्टिकरण, और कृष्टिअनुभवन (गा० ३९२)। इन्हीं अधिकारोके द्वारा उस क्रियाका कथन किया गया है।

चारित्रमोहका क्षय करनेपर जीव बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है इसीसे उसका नाम क्षीणमोह है। क्षीणमोह होनेके पश्चात ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकमको नष्ट करके तेरहवें गुणस्थानमे पहुँच जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। जब अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहती है तो वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली दण्ड, कपाट प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके तथा उसका उपसहार करके शेष बचे चारो कर्मोंकी स्थिति आयुकमके बराबर करके तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा अयोगकेवली हो जाता है। और वहाँ सब कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता ह।

जैसे इस ग्रन्थकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने दशन लब्धि और चारित्रलब्धि को कहनेकी प्रतिज्ञा की है वैसे ही अन्तिम (६५२ में) भी कहा है कि वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य तथा अभयनन्दीके शिष्य नेमिचन्द्रने दशन और चारित्रकी लब्धि भले प्रकार कही। यहाँ भाषा टीकाकार प० टोडरमलजी ने 'लब्धिसार नामक शास्त्र विषै कही' ऐसा लिखा है। अत इस ग्रन्थका नाम लब्धिसार ही है।

किन्तु टीकाकार नेमिचन्द्रकी टीका गाथा ३९१ तक ही पाई जाती है जहाँ तक चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। चारित्रमोहकी क्षपणा वाले भाग पर सस्कृत टीका नही हैं। अत भाषा टीकाकार प० टोडरमल जीने उसके प्रारम्भमें लिखा है—

'इहाँ पयन्त गाथा सूत्रनिका व्याख्यान सस्कत टीकाके अनुसार किआ जातै इहाँ पयन्त गाथानि ही की टीका करिकै मस्कत टीकाकारने ग्रन्थ समाप्त कीना है बहुरि इहा तै आग गाथा सूत्र हैं तिनि विषै क्षायिकका वणन है तिनकी सस्कृत टीका तौ अवलोकन मैं आई नाही तातै तिनका व्याख्यान अपनी बुद्धि अनुसार इहाँ कीजिये है। बहुरि भोज नामा राजा बाहुबलि नामा मन्त्रीकै ज्ञान उपजावनेके अर्थि श्रीमाधव चन्द्रनामा आचाय करि विरचित क्षपणासार ग्रन्थ है। तिहि विषै क्षायिक चारित्र ही का विधान वणन है सो इहाँ तिस क्षपणासार-का अनुसार लिएँ भी व्याख्यान करिए है।

माधवचन्द्र रचित क्षपणासारके अनुसार व्याख्यानके कारण लब्धिसारके इस भागको क्षपणासार नाम दे दिया गया जान पडता है।

इस तरह आचार्य नेमिचन्द्र रचित गोम्मटसार तथा लब्धिसार एक तरहसे

संग्रह ग्रन्थ है उनमें षट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला टीकाका सार ही संगृहीत नहीं किया गया है, बल्कि उनसे तथा पञ्चसंग्रहसे बहुत-सी गाथाएँ भी संगृहीत की गई हैं। किन्तु संगृहीत होने पर भी इसकी अपनी विशेषता है। उसी विशेषताके कारण गोम्मटसार और लब्धिसारकी रचनाके पश्चात् षट्खण्डागम और कसायपाहुडके साथ उनकी टीका धवला और जयधवलाको भी लोग भूल से गये और उत्तरकालमें इन सिद्धान्त ग्रन्थोको जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वह नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसारको मिल गया।

आचार्य नेमिचन्द्र रचित त्रिलोकसार नामक एक ग्रन्थ और भी है लोकानुयोगके प्रसंगमें उसके सम्बन्धमें लिखा जायेगा।

देवसेनकृत भावसंग्रह

भावसंग्रह नामक एक ग्रन्थ विमलसेन गणधरके शिष्य देवसेनने रचा था। इस ग्रन्थमें ७०० गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंका स्वरूप बतलाया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नही है क्योंकि इसमें चौदह गुणस्थानोंका कथन तो बहुत साधारण है। किन्तु उनका आलम्बन लेकर ग्रन्थकारने विविध विषयोका कथन विस्तारसे किया है।

दो गाथाओके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नाम बतलाकर ग्रन्थकारने मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप बतलाया है। तथा मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोंको बतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाते हुए लिखा है—ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—'जलसे शुद्धि होती है, मांससे पितरोको तृप्ति होती है, पशु बलिदानसे स्वर्ग मिलता है और गो योनिके स्पर्शसे धर्म होता है।' इन्ही चारोंका खण्डन आगे किया गया है और स्वपक्षके समर्थनमें गीता आदि ब्राह्मण ग्रन्थोंसे प्रमाण भी उद्धृत किये गये है।

एकान्त मिथ्यात्वके कथनमें क्षणिकवादी बौद्धोंका खण्डन किया गया है और वैनयिक मिथ्यात्वके कथनमें यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिको पूजनेका निषेध किया गया है। संशय मिथ्यात्वका कथन करते हुए श्वेताम्बर मतका खण्डन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको निर्वाणकी प्राप्ति मानता है, केवलीको कवलाहारी मानता है और साधुओंके वस्त्र-पात्र रखनेका पक्षपाती है। इन्हींकी आलोचना की गई है। श्वेताम्बर अपने साधुओंको स्थविरकल्पी बतलाते हैं। ग्रन्थकारने लिखा है यह स्थविरकल्प नहीं है यह तो स्पष्ट रूपसे गृहस्थ कल्प है। आगे उन्होंने जिनकल्प और स्थविर कल्पका स्वरूप बतलाया है। (गा० ११९-१३१)। और लिखा है कि परीषहसे पीड़ित और दुर्धर तपसे भीत जनोंने गृहस्थ-कल्पको स्थविरकल्प बना दिया (गा० १३३)।

आगे ग्रन्थकारने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी है और लिखा है कि सौराष्ट्र देशकी बलभी नगरीमें वि०स० १३६म श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति हुई (गा० १३७)। यह कथा इससे पूवके किसी ग्रन्थमे नही मिलती। इसके सम्बन्धमें पीठिका भागमें विस्तारसे लिखा जा चुका है।

अज्ञान मिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा ह कि पाश्वनाथ स्वामीके तीथमें मस्करिपूरण नामक ऋषि हुआ। वह भगवान महावीरके समवशरणमें गया। किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नही खिरी। यह रुष्ट होकर समवसरण-से चला आया और बोला—मै ग्यारह अगोका धारी हूँ फिर भी मेरे जानेपर महावीर की वाणी प्रवाहित नही हुई और अपने शिष्य गौतम गणधरके आनेपर प्रवाहित हुई। गौतमने अभी ही दीक्षा ली है वह तो वेदभाषी ब्राह्मण है, वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने। अत उसने अज्ञानसे मोक्ष बतलाया। (गा० १६१-१६३)।

भगवान महावीर तथा गौतमबुद्धके समयमे मक्खलि गोशाल और पूरणकश्यप नामके दो शास्ताओका उल्लेख त्रिपिटक साहित्यमें मिलता है। मक्खलिका सस्कृत रूप मस्करी माना जाता है। अत मस्करी और पूरण इन दोनो नामोको मिला कर एक ही व्यक्ति समझ लिया गया जान पडता है। मक्खलि गोशाल नियति वादी माना जाता है।

इन पाचो मिथ्यात्वोका कथन करनेके पश्चात चार्वाकके द्वारा स्थापित मिथ्यात्वका कथन ह। चार्वाक चतन्यको भूतोका विकार मात्र मानता है। ग्रन्थ कारने इमे [1]कौलाचायका मत कहा ह। किन्तु यशस्तिलकके छठे आश्वासम कौलिक मतको शैवतत्रका अग बतलाया है। लिखा[2] है— सब पेय अपेयोमे और भक्ष्य अभक्ष्योमे नि शब्द चित्तसे प्रवृत्ति करना कुलाचायका मत है। इसीको उसमे त्रिक मत भी बतलाया ह। त्रिक मतमे आराधक मनुष्य मास और मदिराका सेवन करके और वामागमे किसी स्त्रीको लेकर स्वय शिव और पावतीका पाट करता हुआ शिवकी आराधना करता है।'

चूँकि चार्वाक भी पुण्य पाप, परलोक आदि नही मानता। इसीसे ग्रन्थकारने कौलिक मतको भी चार्वाक समझ लिया जान पडता ह।

चार्वाकके पश्चात साख्य मतकी चर्चा है। उसमे लिखा है कि जीव सदा

---

१ कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स त पाव। पुण्ण वा कस्स भवे को गच्छइ णिरयसग्गवा ॥१७२॥ भा०स०।

२ 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु नि शकचित्तात्‌वृत्तात इति कुलाचायका। तथा च त्रिकमतोक्ति –।' य०च०, भा० २, पृ० २६९।

अकर्ता है और पुण्य पापका भोक्ता भी नही है। ऐसा लोकमें प्रकट करके बहुन और पुत्रीको भी अगीकार किया गया है। (गा० १७९)।

एक पद्य इस प्रकार है—

'धूय मायरिवहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पे।
जह रमियकामाउरेण वयगव्वे उपण्ण दप्पे
बभणि-छिपणि डोबि-नडिय-वरुडि रज्जइ-चम्मारि।
कवले समइ समागमइ तह भुत्ति य परणारि ॥१८५॥'

इसमें कहा है कि व्यास का वचन है कि पुत्री माता बहन तथा अन्य भी कोई स्त्री पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे आये तो कामातुर वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसको भोगना चाहिये। तथा कपिलदशनमें आई हुई ब्राह्मणी, डोम्नी, नटी, धोबिन, चमारिन आदि परनारियोको भोगना लिखा है। स्मृतियोमें इस प्रकारका कथन है कि जो पुरुष स्वय आगता नारीको नही भोगता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है। उसी को लक्ष्यमें रखकर तथा पौराणिक उपाख्यानोके आधार पर उक्त कथन किया गया है। किन्तु इस तरहकी बातोका कपिलदशनसे कहाँ तक सम्बन्ध है यह चिन्त्य है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यद्यपि भावसग्रहकी रचना प्राकृत गाथाबद्ध है तथापि यत्र तत्र कुछ उक्त प्रकारके छन्द भी पाये जाते है उन्हे 'वस्तुच्छन्द' लिखा है।

आगे तीसर मिश्र गुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी आलोचना की गई है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोकी चर्चा है और कृष्णकी आलोचनामें शूकर कूम तथा रामावतारकी समीक्षाकी गई है। रुद्रकी आलोचनामें उनके स्वरूप और ब्रह्म हत्या आदि कार्योंकी आलोचना है। (गा० २०३-२५५)

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए सात तत्त्वोंका कथन किया गया है। पाचवे गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। चूकि पाँचवा गुणस्थान श्रावकाचारसे सम्बद्ध है अत उसमे श्रावकाचारका वणन है। उसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतोके नामोके साथ अष्टमूल गुण भी बतलाये है और वे अष्टमूल गुण हैं—पाँच उदम्बर फलों और मद्य मांस मधुका त्याग। फिर चार प्रकारके ध्यानका कथन है। आगे देव पूजाका कथन हैं अन्य श्रावकाचारोमें इस प्रकारका कथन नही मिलता। इसमें अभिषेकके समय वरुण, पवन, यक्ष आदि देवताओंको अपने २ प्रियवाहन तथा शस्त्रोके साथ आवाहन करनेका और उन्हे यज्ञका भाग देनेका विधान है। (गा०

४३९-४४०)। अन्य श्रावकाचारोमें इस तरहका विधान हमारी दृष्टिसे नहीं गुजरा। इसमें सिद्ध चक्रयंत्रका भी उद्धार है (गा० ४५४)। तथा भगवानके चरणोंमें चन्दनका लेप करनेका भी विधान है (गा० ४७१)। आगे चार दानोंका, और उसके फलका कथन है।

सातवें गुणस्थानके स्वरूप कथनमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-ध्यानका संक्षिप्त कथन है। आगे शेष गुणस्थानोका सामान्य कथन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

कर्ता और समय

यह पहले लिख आये हैं कि इस ग्रन्थके कर्ता विमल गणधरके शिष्य देवसेन है। देवसेन नामके कई आचार्य हो गये है। उनमें एक देवसेन वह हैं जिन्होने वि० स० ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी। आलाप पद्धति, लघुनय-चक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित है। ये सब ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुके हैं। इन सबको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति माना है।

दर्शनसारके अन्तमें अपना परिचय देवसेनने इस प्रकार दिया है—

'पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥'

अर्थात पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथाओंको एकत्र करके श्रीदेवसेन गणिने धारामें रहते हुए श्रीपार्श्वनाथके जिनालयमें माघ सुदी दसमी वि० स० ९९० को यह दर्शनसार रचा।

तत्त्वसारके अन्तमें लिखा है—

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥७४॥

'मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्वसार रचा। जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख को पाता है।'

आराधनासारके अन्तमें लिखा है—

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किं पि।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥११४॥
अमुणिय तच्चेण इमं भणियं जं किं पि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धं ॥११५॥

'न मेरे में कवित्व है और न मैं छन्दका लक्षण ही कुछ जानता हूँ । अपनी भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है ॥११४॥ तत्त्वसे अनजान देवसेनने जो कुछ भी इसमें कहा है, उसमें यदि कुछ आगम विरुद्ध कथन है तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध करलें ॥११५॥

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमें तो ग्रन्थके रचनास्थान तथा कालका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओंमें वैसा नही पाया जाता । दर्शनसारमें अपनेको देवसेन गणि कहा है, तत्त्वसारमें मुनिनाथ देवसेन कहा है और आराधना-सारमें केवल देवसेन कहा है । गणि और मुनिनाथ पदको एकार्थवाचक मान लेने-से दोनोंमें एकवाक्यता मानी जा सकती है । किन्तु जो विनम्रता आराधनासारकी अन्तिम गाथासे व्यक्त होती है, भावसग्रहमें उसका अभाव है । इसके सिवाय इन सबमे उन्होंने अपने गुरुका नाम नही कहा, परन्तु भावसग्रहमें कहा है । परन्तु आराधनासारकी मगलगाथामें 'विमलयर गुणमिद्ध', पदके द्वारा, दशनसारमें 'विमलणाण' पदके द्वारा, नयचक्रमें 'विगयमल' और 'विमलणाण सजुत्त' पदोंके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख किया गया है, ऐसा श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार[1] का मत है । अत वह भावसग्रहको उक्त देवसेनकी ही कृति माननेके पक्षमें हैं ।

किन्तु प० परमानन्दजीका कहना है कि भावसग्रह दशनसारके रचयिता देवसेनकी कृति नही है, क्योकि दशनसार मूलसघका ग्रन्थ है । उसमे काष्ठासघ, द्रविडसघ, यापनीयसघ और माथुरसघको जनाभास घोषित किया है । परन्तु भाव-सग्रह केवल मूलसघका मालूम नही होता क्योकि उसमें त्रिवर्णाचारके समान आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत, और पचामृताभिषेकादिका विधान है । इतना ही नही किन्तु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और सोमादिको सशस्त्र तथा युवतिवाहनसहित आह्वानन करने, वलि, चरु आदि पूजा द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मन्त्रोंसे देनेका विधान है ।'

उनका मत है कि अपभ्रंश भाषाका 'सुलोचना चरिउ'के कर्ताका भी नाम देवसेन है और उनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है अत भावसग्रह उन्हीका हो सकता है ।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकके दूसरे सस्करणमे स्थान देते हुए लिखा है— एक और प्राकृतग्रन्थ भाव-सग्रह है जो विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनका है । यह भी मुद्रित हो चुका है इसमें कई जगह दशनसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं इसपरसे हमने अनुमान

---

1 पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ५९ । देवसेनके लिये इस प्रस्तावनाके सिवाय 'जै० सा० इ०' (पृ० १६८) देखना चाहिये ।

किया था कि दर्शनसारके कर्ता ही इसके कर्ता हैं। परन्तु प० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त (वर्ष ७, अंक ११ १२) में इसपर सन्देह किया है और सुलोयणा चरिऊके कर्ता तथा भावसंग्रहके कर्ताको एक बतलाया है जो विमलगणिके शिष्य हैं' (पृ० १७६)।

इस तरह भावसंग्रहके कर्ता देवसेन कौनसे हैं, इसमें विवाद है।

'सुलोचनाचरिउ'[1] मे उसका रचनाकाल राक्षस संवत्सरकी श्रावण शुक्ला चतुर्दशी दिया है। ज्योतिषकी गणनाके अनुसार यह संवत्सर वि० सं० ११३२ मे तथा १३७२ मे पडता है ऐसा प० परमनन्दजीने लिखा है। इन दोनोंमेंसे किस सम्वतमे उक्त रचना हुई यह भी चिन्त्य है।

उक्त विप्रतिपत्तिके निरसनके लिये भावसंग्रहका अन्त परीक्षण करना उचित प्रतीत होता है। सम्भव है उससे प्रकृत विषयपर कुछ प्रकाश पड सके।

यह हम बतला आये है कि भावसंग्रहमे गुणस्थानोका कथन है और उन्हे ग्रन्थका मुख्य आधार बनाया गया है।

गुणस्थानोके वर्णनमें देवसेनने पंचसंग्रह प्राकृतका अनुसरण किया है और उसमे अनेक गाथाए ज्योकी त्यो वैसे ही ली है। जैसे धवलामे और गोम्मटसारमे ली गई है। उन गाथाओको यहा दे देना उचित होगा —

मिच्छो सासण मिस्सो अविरय सम्मो य देस विरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥१०॥
उवसंत खीणमोहो सजोइ केवलिजिणा अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥११॥

× × ×

णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावर तसे वा पि।
जो सद्दहइ जिणुत्त अविरइ सम्मोत्ति णायव्वो ॥२६१॥
जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥३५१॥

× × ×

वत्तावत्तपमाए जो णिवसइ पमत्तसजदो होइ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥६०१॥
विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तह य पणओ य।
चउ चउ पणमेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा ॥६०२॥

× × ×

---

१ 'रक्खस संवत्सरे बुहदिवसए। सुक्कचउद्दिसि सावण मासए। चरिउ सुलोयणाहि णिप्पण्णउ, सद्दअत्थ वण्णसंपुण्णओ'—सुलो० च०।

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहि मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥६१४॥

× × ×

हुँति अणियट्टिणो ते पडियसमय जस्स एक्कपरिणाम ।
विमलयर झाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥६५१॥

× × ×

जह सुद्धफलियभायणि खित्त णीर खु णिम्मल सुद्ध ।
तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥६६२॥

उक्त गाथाएँ प्राकृत पञ्चसग्रहमे है और उसीसे ली गई जान पडती है । अन्तिम गाथाको छोडकर शेष गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डमे तथा कुछ धवलामें भी है जो प्रा० पञ्चसग्रहसे ली गई है । ऐसी स्थितिमे यह शका हो सकती है कि इन गाथाओंको भावसग्रहकारने पञ्चसग्रहसे ही लिया और धवला या जीवकाण्डसे न लिया इसमे क्या प्रमाण है ? इसके सम्बन्धमें पहला प्रमाण तो यह है कि न० ६६२ वाली गाथा पञ्चसग्रह की ह । यह न तो धवलामे है और न जीवकाण्डम । इससे यह स्पष्ट है कि भावसग्रहकारके सामने पञ्चसग्रह अवश्य था । दूसरे जीवकाण्ड और पञ्चसग्रहमें पाठभेद भी है । भावसग्रहगत पाठ पञ्चसग्रहके अनुरूप है जीवकाण्डके नही । यथा—गा० ११मे 'ए चउदसा गुण ठाणा' पाठ पञ्चसग्रहसे अधिक मिलता है । प०स०में 'चोद्दस गुण ठाणाणि य' पाठ है और जीवकाण्डमें इसके स्थानमे 'चोद्दस जीवसमासा' है । यह गाथ धवलामे नही है ।

किन्तु इससे यह प्रमाणित नही किया जा सकता कि भावसग्रहकारके सामने जीवकाण्ड नही था । प्रत्युत कुछ गाथाएँ तथा पाठ ऐसे है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि दानोके कर्ताओमसे किसी एकने दूसरेको अवश्य देखा था । इसके लिये प्रथम तो उक्त उद्धृत गाथाओमें न० ३५१की गाथा है । प०स०में इस गाथाका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहाउ विरदो णोविरओ अक्खथावरवहाओ ।
पडिसमय सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥१३॥

और [1]धवला तथा जीवकाण्डमें उसका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३१॥

किन्तु भावसग्रहमें उक्त गाथाका रूप पञ्चसग्रह और जीवकाण्डका मिश्रित

१ 'धवलामें' 'द' के स्थान 'अ' है केवल इतना ही अन्तर है ।

रूप है। अब हम भावसग्रहसे कुछ ऐसी गाथाएँ उद्धृत करते हैं जो पचसग्रहमें नहीं हैं किन्तु जीवकाण्डमें ज्योकी त्यो या कुछ अन्तरको लिये हुए मिलती हैं—

एए तिण्णि वि भावा दसणमोह पडुच्च भणिआ हु।
चारित्त णत्थि जदो अविरयअतेसु ठाणेसु ॥२६०॥

यह गाथा जीवकाण्डमे इसी रूपमें वर्तमान है इसका नम्बर वहाँ १२ है।

तेंसि यि समयाण सखारहियाण आवली होई।
सखेज्जावलिगुणिओ उस्सासा होई जिणदिट्ठो ॥३१२॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहिं होइ लओ इक्को।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्त तु ॥३१३॥

जीवकाण्डमें इन गाथाओका रूप इस प्रकार है—

आवलि असखसमया सखज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुसासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७३॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली व नालिया मुहुत्त तु।
एग समएण हीण भिण्णमुहुत्त तदो सेस ॥५७४॥

जीवकाण्डमें एक गाथा इस प्रकार है—

एदे भावा णियमा दसणमोह पडुच्चभणिदाहु।
चारित्त णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥

पहले दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थानमें भावोका कथन करके यह गाथा कही गयी है। इसमें बतलाया है कि ये भाव दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे कहे गये है क्योकि अविरत गुणस्थान प र्यन्त चारित्र नही होता। भावसग्रहमें चतुर्थ गुण-स्थानका स्वरूप बतलाते हुए उसम तीन भाव बतलाये है। और आगे उक्त गाथाके प्रथम चरणको 'एदे तिण्णि वि भावा रूपमे परिवर्तित करके दिया है। ध्यान दनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा मूलमे जीवकाण्डकी होनी चाहिये। अस्तु।

इसमे सन्देह नही कि भावसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ ह और ग्रन्थकारने पूर्वाचार्योंक वचनोंको ज्योका त्यो या परिवर्तित करके उसमें सगृहीत किया है। यह बात सर्वांशमे नही लेना चाहिए, आशिक रूपमे ही लेना चाहिये क्योकि भावसग्रहमें उसके कर्ताके विचार ही अधिक ह। केवल जनतत्त्व ज्ञानसे सब-धित विवेचनमे ही पूर्वाचार्योंके वचनोको यत्र तत्र लिया गया है। इसके समर्थनमें एक तो पचसग्रह को ही उपस्थित किया जा सकता है। उसके सिवाय कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंको भी रखा जा सकता है।

भाव सग्रहम दो गाथाए इस प्रकार हैं—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता चेत्तो ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

पाण चउक्क पउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्व ।
जीवेइ वट्टमाण जीवत्त गुणसमावण्णो ॥२८७॥

ये दोनों गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी नीचे वाली दो गाथाओंको सामने रखकर रची गई हैं—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥
पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व ।
सो जीवो पाणा पुण बल मिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्रा० पञ्चसग्रह और पञ्चास्तिकाय तो देवसेनसे बहुत पहले रचे गये हैं अत उनमें तो किसी तरहका विवाद सभव नहीं है । किन्तु उनकी ही तरह जीवकाण्ड, द्रव्यसग्रह और वसुनन्दिश्रावकाचारकी कतिपय गाथाओंके साथ भी भावसग्रहकी कुछ गाथाओंमें अशत अथवा सर्वश समानता पाई जाती है । और ये सब ग्रन्थ उसी समयके लगभगके हैं जिस समयका भाव सग्रह माना जाता है । अत उनके साथ जो समानता है, काल निर्णयकी दृष्टिसे वही विचारणीय है । जीवकाण्डकी रचना वि स १०४०के लगभग हुई है, वसुनन्दि[1]का समय विक्रमकी बारहवी शताब्दी है । और पहले द्रव्यसग्रहको भी जीवकाण्डके रचयिताकी ही कृति मान लिया गया था किन्तु अब वह मत मान्य नहीं है । फिर भी उसे ११वी १२वी शताब्दीके लगभगकी रचना माना जाता है ।

भावसग्रहमें सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध हुए आठ व्यक्तियोके नाम गिनाये है । भा० स० की ये २७९ से २८४ तक छहो गाथाएँ ज्यो की त्यो उसी क्रमसे वसु० श्रा० में वर्तमान है और वहाँ उनकी क्रम सख्या ५१ से ५६ तक है ।

दोनोंका मिलान करनेसे अन्य भी गाथाओंमें शाब्दिक तथा विषयगत समानता पाई जाती है ।

इसी तरह द्रव्य सग्रहके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये । उसके साथ साम्य दर्शनके लिये नीचे भावसग्रहसे कुछ गाथाएँ दी जाती हैं ।

जीवाण पुग्गलाण गइप्पवत्ताण कारण धम्मो ।
जहमच्छाण तोय थिरभूया णेव सो णेई ॥३०६॥
ठिदिकारण अधम्मो विसामठाण च होइ जह छाया ।
पहियाण रुक्खस्स य गच्छत णेव सो धरई ॥३०७॥

× × ×

---

1 जै० सा० इ० पृ० ३०२ तथा पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ९२ और ९९ ।

कालेण उवाएण य पच्चति जहा वणस्सुई फलाइ ।
तह कालेण तवेण य पच्चति कयाइ कम्माइ ॥३४५॥

द्रव्यसग्रहकी गाथा इस प्रकार है—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोय जह मच्छाण अच्छता णेव सा णेई ॥१७॥
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई ॥१८॥

× × ×

जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण ।

इस तरह भावसग्रहका सादृश्य उक्त ग्रन्थोके साथ पाया जाता है और उनके अवलोकनसे कोई ऐसा विशिष्ट प्रमाण प्रकट नही होता जिसके आधार पर नि -सशय कहा जा सके कि अमुकने अमुकका अनुसरण किया है । अत उसके निर्धा-रणके लिये कुछ अन्य सबल प्रमाणोकी आवश्यकता है ।

प० आशाधरजीने अपने सागार धर्मामृतकी टीका १२९६ वि० स० और अनगार धर्मामृतकी टीका वि०स० १३००मे समाप्त की थी । अनगार धर्मामृतकी टीका उद्धरणोके लिये आकर सदृश ह । उसमे बहुतसे ग्रथोके उद्धरण दिये गये ह । उनमे गोम्मटसार द्रव्यसग्रह और वसुनन्दि श्रावकाचारके अनेक उद्धरण ह । देवसेनके आराधना सारके भी कई उद्धरण है एक उद्धरण इस प्रकार है—

सवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उपसमो भत्ती ।
वच्छल्ल अणुकपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥—अनगा० टी०, पृ० १६४ ।

चामण्डरायके चरित्रसार नामक ग्रन्थमे उक्त गाथाका सस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

सवेगा निर्वेदो निंदा गर्हा तथोपशम भक्ती ।
अनुकपा वात्सल्य गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

चामुण्डरायका समय विक्रमकी ११वी शताब्दीका पूर्वार्ध ह । आशाधरजीने उक्त श्लोकको गाथाके रूपमे परिवर्तित करके दिया है यह तो सभव प्रतीत नही होता क्योकि गाथाओको तो सस्कृत रूपान्तर करनेकी परम्परा रही है किन्तु प्राचीन सस्कृत श्लोकोको गाथाके रूपम परिवर्तित करनेकी परम्परा नही रही । अत आशाधरजीके द्वारा उद्धृत गाथा अवश्य ही चामुण्डरायसे पहलेकी होनी चाहिये । शायद उसीसे भावसग्रहकारने या वसुनन्दिने उसे परिवर्तित किया है ।

ऐसी स्थितिम आशाधरके द्वारा भावसग्रहका उद्धृत न किया जाना अवश्य ही उल्लेखनीय ह ।

यदि भावसग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनका है तो सोमदेवके उपासका-ध्ययनसे वह अवश्य ही एक चतुर्थ शताब्दी पूर्वका है क्योंकि सोमदेवने अपने यशस्तिलकको शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में समाप्त किया था। सोम-देव सूरिने जो पाँच उदुम्बर और तीन मकारोंके त्यागरूप अष्टमूल गुण बतलाये हैं भावसग्रहमें भी वे ही अष्टमूल गुण बतलाये हैं। अत उन अष्टमूल गुणोंके आविष्कर्ता भावसग्रहकार ठहरते हैं, सोमदेव नही। किन्तु सागार धर्मामृतमें अष्ट मूल गुणोंके मतभेदका निर्देश करते हुए आशाधरजीने उक्त अष्टमूल गुणोंको सोमदेव सूरिका बतलाया है। भावसग्रहकारका वहाँ सकेत तक नही है।

सागार धर्मामृतके ही टिप्पणमे एक गाथा उद्धृत है जो इसप्रकार है—

'उत्तम पत्त साहू मज्झिमपत्त च सावया भणिया।
अविरद सम्माइट्ठी जहण्णपत्त मुणेयव्वम् ॥'

भावसग्रहमे इस गाथाको इस रूपमे परिवर्तित पाया जाता है—

तिविहं भणति पत्त मज्झिम तह उत्तम जहण्ण च।
उत्तमपत्त साहू मज्झिम पत्त च सावया भणिया ॥४९७॥
अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्णवत्त तु अक्खिय समये।
णाऊ पत्तविसेस दिज्जइ दाणाइ भत्तीए ॥४९८॥

ऐसी स्थितिमे वसुनन्दिके द्वारा भावसग्रहकी गाथाओको लिये जानेकी अपेक्षा यही अधिक सभव प्रतीत होता है कि भावसग्रहके कर्ताने ही वसुनन्दिको अप नाया और वसुनन्दिको ही क्यो, उन्होने जीवकाण्ड और द्रव्यसग्रहको भी सामने रखकर उनका भी अनुसरण किया प्रतीत होता है।

जीवकाण्डमे[1] मिथ्यात्वके पाँच भेद करके बुद्धको एकान्तवादी, ब्रह्मको विपरीतवादी, तापसको वैनयिक, इन्द्रको सशयिक और मस्करीको अज्ञानी कहा है। भावसग्रहमें भी उन्हीको आधार बनाकर मिथ्यात्वके पाँच भेदोका कथन किया है (गा० १६-१७१)। किन्तु उसमें ब्रह्मसे ब्राह्मण लिया है।

दर्शनसारमें बुद्धको एकान्तवादी, श्वेताम्बर सघके प्रवर्तकको विपरीतवादी, मस्करी पूरणको अज्ञानी कहा है और वैनयिकोंको अनेक प्रकारका बतलाया है। यदि दर्शनसारके रचयिताकी कृति भावसग्रह होती तो वे श्वेताम्बर सघको सशय मिथ्यात्वी न कहते। साथ ही मिथ्यात्वका कथन करते हुए तथोक्त जैना-भासोंको यू ही अछूता न छोड देते। चूंकि भावसग्रहके कर्ता उन्हींमेंसे थे इसलिये उन्होने उनको छोड दिया जान पडता है।

---

१. 'एयत बुद्धदरिसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ। इदोविय ससइओ मक्क-डिओ चेव अण्णाणी ॥१६॥'—जी० का०

यदि भावसग्रह विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तमें रचा गया होता तो उस समयके लगभग रचे गये श्रावकाचारोंमेंसे किसी एकमे तो उन बातोंकी प्रतिध्वनि सुनाई पडती जिन्हे भावसग्रहकारने स्थान दिया है। किन्तु उस समयकी कृतियोंमें उन बातोका सकेत तक नही है। उनके द्वारा निरूपित पूजा विधानकी विधि भी सागार धर्मामृत पयन्त किसी श्रावकाचारमे देखनेको नही मिलती।

भावसग्रहमें स्त्री वाहनादियुक्त दश दिग्पालोंको अर्घ्यदान देनेके सिवाय एक उल्लेखनीय बात और भी हैं। उत्तमपात्रोंमेंसे कुछको वेदमय[1] और कुछको तपोमय कहा हैं। और वेदका अर्थ सिद्धान्त करके सिद्धान्तके जानकारको वेदमय पात्र और तपस्वी ज्ञानीको तपोमय पात्र कहा है। इस तरहका भेद भी किसी श्रावकाचारमे नही मिलता। वैसे सागार धर्मामृतमें शास्त्रज्ञोका भी समादर करना पाक्षिक श्रावकका कतव्य बतलाया है।

एक बात और भी उल्लेखनीय हैं। भावसग्रहमे पशुवधका निषेध करते हुए कहा है कि हरिहरादिके भक्तोंके शास्त्रोंमें कहा है कि सब जीवोंके पाच स्थानोमे देवताओका आवास है। तो उनके मारनेपर सब देवताओंका भी घात होगा। आगेकी गाथा इस प्रकार है—

देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई।
तु रुक्कवदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

केकडीके प० रतनलालजीने हमें सूचित किया है कि अजमेरकी प्रतिमें 'वहिऊण के स्थानमें 'हणिऊण तथा तु रुक्कवदणया' के स्थानमें 'तो तुरुक्कवदणीया' पाठ है।

इन पाठोसे गाथाका अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—'यदि देवोका हनन करनेसे किन्ही उत्तम गुणोकी प्राप्ति होती है तो तुक (मूर्तिभजक मुसलमान) तथा सब शिकारी भी वदनीय हं। इससे स्पष्ट है कि भावसग्रह उस समय रचा गया है जब भारतमें मुसलमानोका आक्रमण हो चुका था। प्रसिद्ध मूर्तिभजक मुहम्मद गजनीने ई० स० १०२३ में सोमनाथका मन्दिर तोडा था। उसके बाद बारहवी शताब्दीमे सहाबुद्दीन गौरीके आक्रमण हुए थे। उसकी चर्चा आशाधरजीने अनगार धर्मामृतकी प्रशास्तिमें की है। अत यह निश्चित है कि भावसग्रह वि०स० ९९० (ई० सन ९३३)की रचना किसी भी तरह हो नही सकती।

अत भावसग्रहके देवसेन (वि० ९९०) की रचना होनेके सम्बन्धमें अनेक विप्रतिपतियाँ है और कोई सबल प्रमाण नही है।

---

१ किं किंचिवि वेयमय किंचिवि पत्त तवोमय परम। त पत्तं संसारे तारणय होइ णियमेण ॥५०५॥—भा० स०

प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

यह गाथा भावसग्रहमें बिल्कुल इसी रूपमें वर्तमान है और उसकी क्रम सख्या ११० है । न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीने उक्त ग्रथकी भूमिकामें प्रभाचन्द्राचार्यका समय ९८० ई० से १०६५ तक निश्चित किया है । किन्तु भाव सग्रहकी उक्त स्थितिको देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि उक्त गाथा भावसग्रहसे ली गई है ।

भावसग्रह अवश्य ही कम से कम भारतमें गजनीके आक्रमणके पश्चात् रचा गया है । और उसे उसकी पूर्वावधि माना जा सकता है । तथा कर्मप्रकृति नामके सग्रह ग्रन्थमें कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो भावसग्रहमें भी हैं और उनकी क्रमसख्या भावसग्रहमें ३२५ से ३३८ तक (न० ३३० को छोडकर) है । चूँकि कर्म प्रकृतिमे उन गाथाओंकी स्थिति उतनी सगत नही जान पडती जितनी भावसग्रहमें है । अत भावसग्रहसे यदि उन्हे कर्मप्रकृतिमें सगृहीत किया माना जाये तो भावसग्रहकी उत्तरावधि कर्मप्रकृतिके पूर्व हो सकती है । किन्तु कर्मप्रकृतिके सग्रहका समय भी सुनिश्चित नही है ।

वामदेवकृत सस्कृत भावसग्रह प्राकृत भावसग्रहका ही छायानुवाद जैसा है । वामदेव रचित त्रैलोक्य प्रदीप ग्रन्थकी स० १४३६ की लिखी हुई प्रति श्री महावीर जीके शास्त्र भण्डारमें है । अत वामदेवने अपना भावसग्रह यदि विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें रचा हो तो यह निश्चित है कि प्राकृत भावसग्रह उससे पूर्वका रचा हुआ है । पूर्वोल्लिखित बातोंकी ध्यानमें रखते हुए प्राकृत भावसग्रहको विक्रमकी १२वी १३वी शताब्दीका मानना ही उचित प्रतीत होता है । जैसा कि प० परमानन्दजीका भी मत है ।

गर्गर्षि रचित कर्मविपाक

शतक और सित्तरीसे प्रमाणित होता है कि जैन परम्परामें इस प्रकारके प्रकरणोको रचनेकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही रही है । उससे कर्मसिद्धान्तके एक एक विषयको समझनेमें सरलता होती है, अन्यथा यह सिद्धान्त इतना गहन और विस्तृत है कि साधारण बुद्धिका प्राणी उसका पार पाना तो दूर, उसमें प्रवेश करनेका भी साहस नहीं कर सकता । इस प्रकारके प्रकरण ग्रन्थ दोनों जैन परम्पराओंमें रचे गये । दिगम्बरोंमें तो आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसारके द्वारा जीव और कर्मविषयक मौलिक सिद्धान्तोंको दो भागोंमें निबद्ध कर दिया । किन्तु

श्वेताम्बर परम्परामे विभिन्न आचार्योंने छोटे २ प्रकरण रचकर उस कमीकी पूर्ति की।

आचार्य[1] गर्गषिने १६८ गाथाओके द्वारा कर्मविपाक नामक ग्रन्थ रचा। जैसा कि ग्रन्थके नामसे प्रकट होता है इस ग्रन्थमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर-प्रकृतियोके विपाक (पककर फल देने) का कथन किया है। साधारणतया आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियाँ ही मान्य है किन्तु नामकर्मकी प्रकृतियोंमे पाँच शरीरोंके अवान्तर भेदोको ले लेनेसे उनकी सख्या १५८ भी हो जाती है। तदनुसार गर्गषि-ने अपने कर्मविपाकमें कर्मप्रकृतियोकी सख्या १५८ ही मान्य की है।

आठो कर्मोंके स्वभावको बतलानेके लिये आठ दृष्टान्त दिये गये है—

पड-पडिहारसिमज्जा-हलिचित्त-कुलाल भडगारीण।
जह एदेसि भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥

यह गाथा शतकमे है। फिर उसीसे प्राकृत दि० पञ्चसग्रह, कर्मकाण्ड, और गर्गषिके कर्मविपाकमे भी ज्यो-की-त्यो ले ली गई है। केवल चतुर्थचरणमें थोडा सा पाठ भेद है। कर्मविपाकमे गर्गषिने प्रत्येक दृष्टान्तका पृथकसे स्पष्टीकरण भी किया है। दिगम्बर परम्पराके भावसग्रह और कर्मप्रकृतिमे भी वैसा किया गया है।

कर्मविपाकमे प्रत्येक कर्मप्रकृतिका कार्य पृथक २ बतलाया है। इससे वह बहुत विस्तृत हो गया है, किन्तु उससे प्रत्येक प्रकृतिका कार्य स्पष्ट रूपसे समझमे आ जाता है।

प्रकृतियोके स्वरूपमे अन्तर

दोनो जैन परम्पराओमें आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोकी सख्या तथा उनके नामोमें अन्तर नही है। किन्तु कुछ उत्तरप्रकृतियोके कार्योंमे और अर्थोंमे अन्तर[2] है। ऐसी प्रकृतियोंमे दर्शनावरण कर्मके अन्तर्गत पाँच निद्राएँ और नामकर्मके अन्तर्गत कुछ प्रकृतिया उल्लेखनीय है। उनमे भी नामकर्मके सहननके

---

१ 'भणिओ कम्मविवाओ समासओ गग्गरिसिणा उ ॥१६७॥
एव गाहाण सय अहिय छावट्ठिए पढिऊण।
जो गुरु पुच्छइ नाही कम्मविवाग च सो अइरा ॥१६८॥'—ग०क०वि०।

यह कर्मविपाक ग्रन्थ दो सस्कृत टीकाओके साथ सटीकाश्चत्वार प्राचीना कर्मग्रन्था के अन्तर्गत जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ था।

२ आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित 'पहला कर्मग्रन्थ' पृ० १३३ आदिमें यह अन्तर दिया हुआ है।

भेद वज्रऋषभनाराच सहननका अर्थ विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। कर्मविपाकमें उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

रिसहो य होइ पट्टो वज्ज पुण कीलिया मुणेयव्वा।
उभओ मक्कडबध नाराय त वियाणाहि ॥१०९॥

यह गाथा जीव समास ग्रन्थसे ली गई है। अत इसे प्राचीन होना चाहिये। इसमें कहा है—ऋषभ पट्टको अर्थात परिवेष्टन पट्टको कहते है। वज्रका अर्थ कील जानना चाहिये और दोनो ओरसे मकटबन्धको नाराच जानना चाहिये। अर्थात जिसमे दो हड्डियाँ दोनो ओरसे मकटबन्धमे बधी हो, और पट्टकी आकृति वाली तीसरी हड्डीसे वेष्टित हो और ऊपरसे इन तीनों हड्डियोको बीधने वाली कील हो उस सहननको वज्रऋषभनाराच कहते है।

दिगम्बर परम्परामे—सहनन अर्थात हड्डी समूह ऋषभ-वेष्टन, वज्रके समान अभेद्य होनसे वज्रऋषभ कहलाता है। और वज्रके समान नाराचको वज्र नाराच कहते है। अर्थात जिस सहनन नामकर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ, वज्र-मय वेष्टनसे वेष्ठित और वज्रमय नाराचमे कीलित होती है वह वज्रषभ नाराच शरीर सहनन है।' (षटख० पु० ६, प० ७३)

यह अथभेद बहुत पुराना प्रतीत होता है। इसी तरहका अर्थ भेद कुछ अन्य प्रकृतियोमें भी पाया जाता है।

इस कमविपाकको वृहत्कमविपाक भी कहते है। और इसे प्रथम प्राचीन कमग्रन्थ भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि देवेन्द्र सूरिने विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके अन्तमे चार कमग्रन्थोकी रचना की थी जो नवीन कमग्रन्थ कहे जाते है। उन्हीके कारण पहलेके कमग्रन्थोंको प्राचीन तथा वृहत विशेषण दिया गया है जिससे दोनोका भेद परिलक्षित किया जा सके, क्योकि देवेन्द्र सूरिने अपने कमग्रन्थोको वही नाम दिया है।

आचार्य गर्गर्षि

आचाय गर्गर्षिने अपने सम्बन्धमें कोई जानकारी नही दी और न अन्य स्रोत-से ही उनके सम्बन्धमें कोई जानकारी मिलती है। उनके कमविपाककी दो सस्कृत टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं उनमेसे एक टीका तो अज्ञातकतृक है। उसके कर्ताके सम्बन्धमें कोई भी बात ज्ञात नही है। दूसरी टीका परमानन्द सूरिकी रची हुई है। यह कुमारपालके (स० ११९९–१२३०) राज्यमें वतमान थे। उनकी टीका की एक ताडपत्रीय प्रति स० १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध[1] है। और गर्गर्षि कुमारपालसे पहले हो गये हैं।

---

१ जै० सा० इ० (गु०), पृ० ३९०।

सिद्धर्षिने अपनी उपमिति भव प्रपञ्च कथामें गर्गर्षिका गुरु रूपसे स्मरण किया है। और उक्त कथा उन्होंने स० ९६२ में समाप्त की थी। अत' गर्गर्षि और उनकी कृति कमविपाकका समय विक्रमकी नौवी शताब्दीका अन्तिम चरण या दशवीका प्रथम चरण होना चाहिये।

गोविन्दाचाय रचित कमस्तव वृत्ति

कमस्तव[1] के सम्बन्धमे पहले लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामें उसे द्वितीय प्राचीन कम ग्रथके रूपमें माना जाता है। इस पर २४ और ३२ गाथात्मक दो भाष्य भी है। उनके कर्ता आदिके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नही है। तथा गोविन्दाचाय रचित एक सस्कृत वत्ति है। इस वृत्तिकी एक प्रति १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध है। अत यह निश्चित है कि ग्रन्थकार उससे पहले हो गये है।

बन्धस्वामित्व[2]

यह एक ५४ गाथाओका प्रकरण ग्रन्थ है। जैसा कि नामसे प्रकट होता है, इसमे चौदह मागणाओके आश्रयसे कमप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंका कथन है। इसके कर्ताका नाम अज्ञात है। अन्तिम गाथामे उसने कहा है—'मुझ[3] जडबुद्धि ने पूव सूरि रचित प्रकरणोमेंसे कमम्तवको सुनकर इस बन्ध स्वामित्वको रचा।' अत कमस्तवके पश्चात इसकी रचना हुई ह। इस प्रकरण पर हरिभद्रसूरि रचित एक सस्कृत टीका है। यह वृहदगच्छके मानदेव सूरि जिनदेव उपाध्यायके शिष्य थे। इन्होंने जयसिंहके राज्यमें वि० स० ११७२ में बन्धस्वामित्व षडशीति आदि कमग्रन्थो पर वृत्ति रची थी। इन्होंने अपनी टीकामें[4] कमस्तव टीकाका निर्देश किया है। यदि यह टीका गोविन्दाचाय रचित है तो गोविन्दाचार्यका समय उनसे पहले होना चाहिये।

जिनवल्लभ गणि रचित षडशीत

यह छियासी गाथाओका एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसीसे इसका नाम षडशीति

---

१ यह कमस्तव भी गोविन्दाचार्यकी टीकाके साथ आत्मानन्दसभा भावनगरसे 'सटीका चत्वार कमग्रन्था' के अन्तगत प्रकाशित हो चुका है।

२ यह बन्धस्वामित्व भी हरिभद्रसूरि रचित टीकाके साथ 'सटीका चत्वार कमग्रन्था' के अन्तगत आत्मानन्द जैन सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

३ इय पुव्वसूरि कय पगरेणसु जडबुद्धिणा मए रइय।
बधसामित्तमिण नेय कम्मत्थय सोउ ॥५४॥'—ब० स्वा०।

४ आसा दसानामपि गाथाना पुनर्व्याख्यान कमस्तवटीकातो बोद्धव्यमिति।
—प्रा० ब० स्वा० गा० १४।

है। इसमें ग्रन्थकारने जीवस्थान, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या आदिका कथन किया है। इसका दूसरा नाम आगमिक वस्तु विचारसार भी है।

इसमें जो विषय वर्णित है वह सब गोमट्टसार जीवकाण्डमें है। किन्तु दोनों-की शैलीमें बहुत अन्तर है। जीवकाण्डमें बीस प्ररूपणाएँ हैं और प्रत्येक प्ररूपणा-का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। प्रकृत षडशीति तो उसका एक अंश जैसा है। अनेक स्थलोमें दोनोंमें मतभेद[1] भी है।

इसके रचयिता जिनवल्लभगणि[2] चैत्यवासी जिनेश्वर सूरिके शिष्य थे और उन्होंने नवाग वृत्तिकार अभयदेव सूरिके पास विद्याध्ययन किया था। इससे वह चैत्यवासके विरोधी हो गये और उन्होंने अभयदेव सूरिसे दीक्षा ली। बादको वे उनके पट्टधर हुए और स० ११६७ में उनका स्वगवास हुआ।

इस ग्रथकी तीन वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। एक वृत्ति तो बन्धस्वामित्व पर वृत्ति-के रचयिता हरिभद्रसूरिकी है। दूसरी वृत्ति मलय गिरिकी है। तीसरी वृत्ति यशो-भद्र सूरिकी है। इनमेसे पहली दो वृत्तियोंके साथ षडशीतिका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है।

ये सब वृत्तियाँ विक्रमकी १२वी १३वी शताब्दी की हैं।

जिन वल्लभ गणिका एक सार्धशतक नामक ग्रथ भी है। इसमें १५५ गाथायें हैं और ११० गाथाओंका उसपर एक भाष्य है। उसके कर्ताका नाम ज्ञात नही है। मुनिचन्द्र सूरिने वि० स० ११७० में उस पर चूर्णि रची थी और धनेश्वर सूरिने उसी समयके लगभग उस पर वृत्ति रची थी।

देवेन्द्रसूरि रचित नव्य कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरिने पाँच कर्मग्रन्थोकी रचना की थी और उन्होंने उनका नामकरण भी पूर्वमें विद्यमान प्रकरणोंके नामोंके आधारपर कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक ही रखा था। वास्तवमें उनके ये पाँचों कर्म-ग्रन्थ स्वतत्र नहीं हैं किन्तु प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही उनकी रचना हुई है। यद्यपि ग्रन्थोंका नाम, विषय, वस्तु वर्णनका क्रम आदि प्राय सभी उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थोंका ऋणी है। तथापि उसमें जो वैशिष्ट्य है वह ग्रन्थकारके वैदुष्य और रचना चातुर्यका परिचायक है। इन नवीन कर्मग्रन्थोकी इस विशि-ष्टताके कारण ही प्राचीन कर्मग्रन्थोंकी ओरसे पाठक उदासीन जैसे बन गये।

---

१ जै० सा० इ० (गु०), पृ० २२०–२१।

२ श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे षडशीति नामक नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें मतभेदोंको जाना जा सकता है।

हमने भी इसीसे उनका साधारण परिचय देकर सन्तोष कर लिया क्योंकि नवीन कमग्रन्थोंके विषयमें आवश्यक वक्तव्य देना अपेक्षित था।

उक्त नामके प्राचोन पाँचो कमग्रन्थ विभिन्न आचार्योंकी कृति होनेसे विभिन्न कालोमे रचे गये थे। अत उनका कोई क्रम निर्धारित नही था। देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचो कमग्रन्थोको पुराना नाम देकर जो क्रम निर्धारित किया, उसी क्रमके अनुसार प्राचीन कमग्रन्थोको भी पहला दूसरा आदि सज्ञाएँ दे दी गइ। फलत कमविपाक पहला, कमस्तव दूसरा, बन्धस्वामित्व तीसरा, षडशीति चौथा और शतक पाँचवा कमग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया।

यह क्रम इतना अधिक रूढ हो गया है कि इन कमग्रन्थोके मूलनामसे अपरिचित भी प्रथम, द्वितीय आदि कमग्रन्थ कहनेसे ठीक-ठीक समझ जाते हैं।

कर्मविपाक

इस प्रथम कमग्रन्थमे कर्मोंकी सब प्रकृतियोके विपाकका ही मुख्य रूपसे कथन है। उस कथनका पाँच भागामे बाटा जा सकता है—

१—प्रत्येक कर्मके प्रकृति आदि भेदोका कथन। २—कर्मोंकी मूल तथा उत्तरप्रकृतियाँ। ३—पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दशनोका कथन। ४—सब प्रकृतियोका दृष्टान्तपूवक काय-कथन और ५—सब प्रकृतियोके कारणोका कथन। इसमे केवल ६० गाथाएँ ह। और इस तरह यह प्राचीन कर्मविपाकसे बहुत छोटा ह। किन्तु उससे इसमें विपय अधिक ह। आठो कर्मोंके बन्धके जो कारण शतकम बतलाये ह देवेन्द्रसूरिने उन्हे कमविपाकमे ही दे दिया है।

प्राचीन कमविपाकमे श्रुतज्ञानावरण कमका वणन करते हुए श्रुतज्ञानके चौदह भेदोंका निर्देश मात्र किया है। किन्तु इस कमविपाकमे एक गाथाके (६) द्वारा उन चौदह भेदोको गिनाया है और एक गाथा (७) के द्वारा श्रुतज्ञानके उन बीस भेदोको भी गिनाया है जो षडखण्डागम और जीवकाण्डमें गिनाये गये हैं। श्वेताम्बर परम्परामे ये बीस भेद अन्य किसी ग्रन्थमें देखनेमे नही आये।

२ कर्मस्तव

देवेन्द्रसूरि रचित इस नवीन कमस्तवमे केवल ३४ गाथाएँ है और इस तरह यह भी प्राचीन कमस्तवसे प्रमाणमें छोटा है। इसमें गुणस्थानोंमें कर्मोंके बन्ध उदय, उदीरणा और सत्त्वका कथन थोडेमे बडे सुन्दर ढगसे किया गया है।

३ बन्धस्वामित्व

बन्ध स्वामित्व नामके इस तीसरे कमग्रन्थकी गाथा सख्या मात्र २४ है। और इस तरह प्राचीन बन्ध स्वामित्वसे प्रमाणमें यह भी छोटा है। दोनोंमें विपय समान होते हुए भी प्राचीनमें जो बात विस्तारसे कही है नवीनमें उसे

परिमित शब्दोंमें कहा है। इसीसे गति आदि मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी सख्याका निर्देश जैसा प्राचीन बन्धस्वामित्वमें अलगसे किया है, नवीन कर्मग्रन्थमें वैसा नही किया। किन्तु गुणस्थानोंको लेकर बन्ध स्वामित्वका कथन इस रीतिसे किया है उनका ज्ञान पाठकको स्वत हो जाता है।

४ षडशीति

षडशीति नामक चतुथ कमग्रन्थमें प्राचोनकी तरह ही ८६ गाथाएँ हैं। इसीसे दोनोके षडशीति नाममें भी समानता है। किन्तु प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है, जबकि नवीनके कर्ताने 'सूक्ष्माथ विचार' नाम दिया है। प्राचीनकी तरह नवीनमें भी मुख्य अधिकार तीन ही हैं—जीवस्थान, मागणा स्थान और गुणस्थान। किन्तु गाथा-सख्या समान होते हुए भी नवीनमें ग्रन्थकारने विषयका विस्तारपूर्वक कथन किया है। भाव' और 'सख्या' का कथन प्राचीनमें नही है किन्तु नवीनमे विस्तारसे है।

शतक

शतक नामक इस पञ्चम कमग्रन्थका नाम शतक होते हुए भी प्राचीन शतक-से इसके विषयवणनमे अन्तर ह। मबसे प्रथम ध्रुवबन्धिनी, देशघाती, अघाती, पुण्यरूपा, पापरूपा, परावतमाना और अपरावतमाना कमप्रकृतियोका कथन है। फिर उन्ही प्रकृतियोमे कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गल-विपाकी है यह बतलाया है। फिर बन्धके चार भेदोंका स्वरूप बतलाकर उनका कथन किया ह। प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें भूय-स्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोको बतलाया है। स्थितिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तप्रकृतियोकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोमे उसका प्रमाण निकालनेकी रीति, और उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्धके स्वामियोका कथन किया है। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए वगणाओंका स्वरूप, उसकी अवगाहना, बद्ध कमदलिकोका मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें बट-वारा, कमके क्षपणमे करण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणी रचनाका स्वरूप, गुणस्थानोका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसगवश पल्योपम सागरोपम और पुद्गल परावर्तके भेदोका स्वरूप, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व और लोक आदिका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमें उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणिका कथन किया है। इनमेंसे बहुतसे कथन प्राचीन शतकमें नही है।

कर्मग्रन्थोकी स्वोपज्ञ टीका

देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचो कर्मग्रन्थों पर सस्कृतमें टीका भी बनाई है। और

उनकी टीका उनकी विद्वत्ता और रचना चातुर्य्यकी परिचायिका है। इससे उनकी अध्ययन शीलताका पता चलता है। उनकी टीकाएँ कमसाहित्यके उद्धरणोंसे और कर्मविषयक विविध चर्चाओंसे भरी हुई हैं। उसको देखनेसे उनके कर्मविषयक पाण्डित्यके प्रति गहरी आस्था होती है। टीकाकी शैली प्रसन्न और भाषा सरल है। कमसाहित्यके अभ्यासीके लिए यह टीका अवश्य ही अवलोकनीय है।

ग्रन्थकार तथा उनका समय

उक्त कमग्रन्थोंके रचयिता श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि उनके गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विबुध श्री धमकीर्ति और विद्यानन्दसूरिने उनके कमग्रन्थोकी टीकाका सशोधन किया था।

गुर्वावलि[1]मे श्री जगच्चन्द्रसूरिके विषयमें लिखा है कि वि०स० १२८५में इन्होने उग्र तप धारण किया, इससे इनकी ख्याति 'तपा' नामसे हो गई और इनका वद्धगच्छ तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। दैलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका बहुत आदर करते थे। तपागच्छकी स्थापनाके बाद श्री जगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद दिया।

श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको प्रतिबुद्ध करके वि०स० १३०२में दीक्षा दी थी और वि०स० १३२३में गुजरातके प्रल्हादनपुर नामक नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल विद्यानन्द-सूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपने गुरु श्री देवेन्द्रसूरि रचित कमग्रन्थों-की टीकाका सशोधन किया। गुर्वावलीके अनुसार वि०स० १३२७में देवेन्द्रसूरिका स्वगवास हुआ। अत उनका समय विक्रमकी तेरहवी शताब्दीका उत्तराध तथा चौदहवीका पूव भाग है।

सस्कृत कमग्रन्थ

विक्रमकी १५वी शताब्दीके प्रारम्भमें जयतिलक सूरिने सस्कृतके ५६९ श्लोकोंमें चार कमग्रन्थोंकी रचना की थी।

कर्मप्रकृति नामक अन्य ग्रन्थ

जिन रत्नकोशमें कर्मप्रकृति नामक आठ ग्रन्थोका निर्देश है। इनमेंसे पहलीके रचयिता शिवशम सूरि है इसके सम्बन्धमें पीछे विस्तारसे लिख आये हैं। दूसरी-

---

१ 'तवादिवाणद्विप भानुवर्षे श्रीविक्रमात प्राप तदीयगच्छ ।
वृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमान ।'

के रचयिता तपागच्छके यशोविजय सूरि है जो विक्रमकी १८वीं शतीके पूर्वार्धमें हुए हैं। तीसरीके रचयिता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक हैं। इसकी प्रतियाँ अनेक भण्डारोमें पाई जाती हैं। चौथीके रचयिता ऋषभनन्दि है। आरा जैनसिद्धान्त भवनकी ग्रन्थसूचीमे ऐसा ही छपा हुआ है। उसीका निर्देश जिन रत्नकोशमें है। हमने आरासे उसकी प्रति मगाई तो नेमिचन्द्र सैद्धान्तिककी कमप्रकृति आई। अत उक्त ऋषभनन्दिका निर्देश भ्रमपूण प्रतीत होता है किन्तु उस भ्रमका कारण क्या है यह चिन्त्य है। अस्तु,

पाँचवीके रचयिता सुमतिकीर्ति हैं। किन्तु यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होता है। कोशमें लिखा है कि ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी सूचीमें कमप्रकृति टीकाको ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति रचित बतलाया है। वही ठीक भी प्रतीत होता है क्योकि उसकी प्रति देहली और जयपुरके शास्त्र भण्डारोंमें भी वतमान है। अस्तु,

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक रचित कमप्रकृति नामक ग्रन्थकी गाथा सख्या १६२ है। यह कोई स्वतन्त्र कृति नही है किन्तु सकलित है। और इसका सकलन गोम्मटसारके कमकाण्डसे किया गया है। इसमें प्रकृति समुत्कीतन, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और मूलप्रकृतियोके बन्धके कारणोंका कथन है जो कमकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीतन नामक प्रथम अधिकार, बन्धोदयसत्ता नामक द्वितीय अधिकार और प्रत्यय नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया है और आवश्यकतानुसार सकलयिताने कुछ अन्य गाथाएँ भी यथास्थान उसमें सम्मिलित कर दी हैं जो सम्भवतया सकलयिताकी कृति हो सकती हैं।

कमप्रकृतिकी गाथाओंका पूरा विश्लेषण इस प्रकार है—कर्मकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीतन नामक प्रथम अधिकारकी पहली गाथासे कमप्रकृतिका प्रारम्भ होता है इस अधिकारकी प्रथम १५ गाथाएँ कमप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। १५वी गाथामे सप्तभगीके द्वारा जानकर श्रद्धान करनेकी बात आई है अत कमप्र०में १६वी गाथा सात भगोका कथन करनेवाली है। यह गाथा पञ्चास्तिकायकी १४वीं गाथा है और वहींसे ली गई जान पडती है। इस एक गाथाके बीचमें बढ़ आनेसे कमकाण्ड और कर्मप्रकृतिकी यथाक्रम गाथा सख्यामें एकका अन्तर पड गया है। आगे पुन कमकाण्डकी २० पर्यन्त गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। कर्मकाण्डकी बीसवीं गाथामें जिसकी सख्या कर्मप्रकृतिमें २१ है, आठों कर्मोंके क्रमपाठका समर्थन करते हुए उसका उपसहार किया गया है। इसके आगे पाँच गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें नवीन हैं। इनमें बतलाया है कि जीवके अनादिकालसे विविध कर्मोंका बन्ध होता है। उनका उदय होनेपर जीवके राग-द्वेषरूप भाव होते हैं। उन भावोंके कारण पुन कर्मबन्ध होता है। उक्त कर्मके चार भेद हैं।

चालू चर्चाके मध्यमें उक्त कथन बिल्कुल बेमौके प्रतीत होता है। उसका गाथा २१ और २७ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु,

२७वी गाथामें, जिसका नम्बर कमकाण्डमें २१ है आठों कर्मोका स्वभाव उदाहरणके द्वारा प्रकट किया गया है। कमप्रकृतिकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उस गाथाका सस्कृतमें व्याख्यान किया गया है। आगे नवीन आठ गाथाओं-के द्वारा उसी कथनको विस्तारसे किया है अर्थात एक एक गाथाके द्वारा एक-एक कमका स्वभाव बतलाया गया है। फिर गाथा ३६ में जिसका क्रमाक कम-काण्डमें २२ है प्रत्येक कमकी उत्तरप्रकृतियोकी सख्या बतलाई है।

आगे जीवकाण्ड[1]के ज्ञानमागणाधिकारसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका लक्षण बतलानेवाली गाथाएँ देकर तथा दर्शन[2]-मागणाधिकारसे दशन, चक्षुदशन, अचक्षुदशन, अवधिदशन और केवलदशन सम्बन्धी गाथाएँ देकर ज्ञानावरणीय और दशनावरणीय कर्मोंकी प्रकृतियाँ बतलाई है। दो गाथाओके द्वारा जिनकी क्रमसख्या ४७-४८ है दशनावरणीयके भेद गिनाकर पाचो निद्राओका स्वरूप तीन गाथाओके द्वारा बतलाया है। ये तीनो गाथाएँ कमकाण्ड की ह। कमकाण्डमे इनकी क्रमसख्या २३, २४, २५ है और कमप्रकृतिमें ४९, ५०, ५१ है। गाथा ५२-५३ के द्वारा वेदनीय और मोहनीयके एक भेद दशनमोहनीयके भद बतलाकर कमकाण्डकी २६वी गाथाके द्वारा दशन-मोहनीयके तीन भेद कैसे हो जाते ह यह बतलाया है।

आगे चारित्रमोहनीयके भेद गिनाये ह। उसके लिये पहली दो गाथाएँ तो नई रची गई ह। आगे कषायके भेदोका कथन करनेवाली ५ गाथाएँ जीवकाण्ड[3]के कषायमागणाधिकारसे ली गई ह।

फिर एक गाथा न० ६२ के द्वारा नोकषायके भेद बतलाये ह। आगे स्त्री और पुरुषकी व्युत्पत्ति करनेवाली दो गाथाएँ तथा नपुसक वेदका स्वरूप बतलाने वाली एक गाथा जी का[4] के वेद मागणाधिकारसे ली है।

आगे आयु और नाम कमकी प्रकृतियोको गिनाया है। कर्मकाण्डमें गा० २७ के द्वारा पाँच शरीरोके सयोगीभेद, गा० १८के द्वारा शरीरके आठ अग और गाथा २९-३२के द्वारा सहननोंके बारेमे विशेष कथन किया गया है तथा गाथा ३३के

---

१ जी० का०, गा० ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९।

२ जी०का०, गा० ४८१, ४८३, ४८४, ४८५। इनमेंसे गा० ३०५ के उत्तराध-में थोडा परिवतन कर दिया गया है।

३ जी०का०, गा० २८३, २८४, २८५, २८६ और २८२।

४ जी० का०, गा० २७२, २७३, २७४।

द्वारा आतप नामकर्म और उष्ण नामकर्मके अन्तरको स्पष्ट किया है। नामकर्मके भेदोको बतलाते हुए कमप्रकृतिके सकलयिताने इन सब गाथाओको यथास्थान सकलित कर लिया है। इस तरह सब कर्मोकी उत्तर प्रकृतियोकी सख्या समाप्त होने पयन्त कम प्रकृतिकी गाथा सख्या १०३ हो जाती है। आगे पुन कर्म-काण्डकी गाथा ३४ से ५१ तक यथाक्रम है। ५१ सख्याकी गाथाका नम्बर कम प्रकृतिमें १२२ है। यही प्रकृति समुत्कीतन अधिकार समाप्त हो जाता है। जबकि कमकाण्डके इस अधिकारमें ५१के बाद भी ३५ गाथाएँ शेष रह जाती है जो कम प्रकृतिमे नही ली गई हैं। अस्तु,

इसके बाद कम प्रकृतिमें स्थितिबन्धका कथन है। यह कमकाण्डसे सक-लित है। कर्मकाण्डके अन्तगत स्थिति बन्धाधिकारकी गा० १२७से १४४ तक ज्यों की त्यों यथाक्रम सकलित है। उनका नम्बर १२३ से १४० तक है। यही स्थिति-बन्धाधिकार समाप्त हो जाता है। यद्यपि कमकाण्डमे आगे भी चलता है। अनु-भागबन्धाधिकारमे केवल चार गाथाएँ है जो कमकाण्डके अनुभागबन्धा० की है। कमकाण्डमे उनका नम्बर १६३ १८०, १८१ और १८४ है।

आगे आठो कर्मोके प्रत्ययोका कथन भी कमकाण्डके प्रत्ययाधिकार नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया ह। कमकाण्डम ८०० से ८१० गाथा तक ग्यारह गाथाओसे यह कथन किया गया है। किन्तु कमप्रकृतिमें गा० १४५ से १६२ तक १८ गाथाओसे प्रत्ययोंका कथन है। उसका कारण यह है कि कमप्रकृतिके सकलयिताने एक गाथाके द्वारा असाता वेदनीयके बन्धके कारणोका, ५ गाथाओं-के द्वारा तीथकर नामकमके बन्धके कारणोका और एक गाथाके द्वारा अशुभ नामकमके बन्धके कारणोका विशेष कथन किया है जो कर्मकाण्डमे नही है। इससे गाथा सख्या बढ गई है।

इस तरह कमप्रकृति एक सकलित रचना है। मुख्य रूपसे कर्मकाण्डसे उसका सकलन किया गया है और कमी पूर्तिके रूपमे सकलयिताने उसके कुछ अन्य गाथाएँ भी जो उसकी स्वरचित प्रतीत होती है, जोड दी हैं। किन्तु सकलयिता-की रुचि कुछ विचित्र सी जान पडती है। उसने अनुभागबन्धकी केवल चार गाथाएँ ही सकलित की और प्रदेशबन्ध[1] को तो एक तरहसे छोड ही दिया है।

---

१ कमप्रकृतिकी गाथा २१–२६ में जीव प्रदेशों और कमप्रदेशोंके बन्धादिका कथन किया है। और गाथा २६ में बन्धके चार भेद बतलाकर उत्तरार्धमे लिखा है—'पयडिट्ठिदि अणुभायपएसबधो पु कहिओ।' मुख्तार साहबने अपनी पु० वा० सू० की प्रस्ता० (पृ० ८३) के फुटनोटमें लिखा कि 'पयडि-ट्ठिदि अणु भाग पएसबधो पुरा कहिओ' कर्मप्रकृतिकी अनेक प्रतियोंमें यही पाठ पाया जाता है जो ठीक जान पड़ता है क्योंकि 'जीवपएसेक्केक्के'

अथवा जिस रूपमें उसका कथन किया गया है वह सकलयिताकी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं है। जो गाथाएँ उसकी स्वरचित हैं उनसे वह विशेष दक्ष प्रतीत नहीं होता।

संकलयिताका नाम तथा समय

प्रतिमें कमप्रकृतिके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्ति लिखा है। कर्मकाण्डके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती था। अत यह नेमिचन्द्र सिद्धान्ती कोई दूसरे ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। मुखतार साहबने लिखा है—'मेरी रायमे यह कमप्रकृति या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचाय, भट्टारक अथवा विद्वान्की कृति है, जिनके साथ नामसाम्यादिके कारण 'सिद्धान्त चक्रवर्ती पद बादको कही कही जुड गया है सब प्रतियोंमें यह नही पाया जाता। या किसी दूसर विद्वान्ने उसका सकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचायके नामाकित कर दिया है। ऐसा करनेमें उसकी दो दष्टि हो सकती ह एक तो ग्रथ प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेय तथा उपकार स्मरणको स्थिर रखनेकी क्योंकि इस ग्रथका अधिकाश शरीर आद्यन्त भागों सहित उन्हींके गोम्मटसारसे बना है। (पु० वा० सू० प्रस्ता०, पृ० ८८)।

यद्यपि सकलयिताके नामका निणय न हो सकनेसे उसके समयका निणय किया जा सकना शक्य नही है। तथापि हमारे सामने आरा जैन सिद्धान्त भवनकी जो प्रति उपस्थित है उस पर प्रति लेखनका काल सम्वत १६६९ लिखा है। भट्टारक ज्ञान भूषण और सुमतिकीर्ति ने उस पर एक टीका भी लिखी है। पचसग्रहकी वृत्ति भी सुमतिकीर्तिकी लिखी हुई है और उसमे उसका रचनाकाल सम्वत १६२० दिया है। उसका सशोधन भी ज्ञानभूषणने ही किया था। अत यह वृत्ति भी उसी समयके लगभग की होनी चाहिये।

अत इतना तो सुनिश्चित है कि विक्रमकी ११वीं शताब्दीके पश्चात १६वी

इत्यादि पूवकी तीन गाथाओंमे प्रदेश बन्धका ही कथन है। ज्ञानभूषणने अपनी टीकामें इसका अथ देते हुए लिखा है—'ते चत्वारो भेदा के ? प्रकृतिस्थित्यनुभागा प्रदेशबन्धश्च, अय भेद पुरा कथित।' मुख्तार साहबने यह भी लिखा है कि मेरे पास कमप्रकृतिकी एक वृत्ति सहित प्रति और है जिसमें यहाँ पाँचके स्थान पर छ गाथाएँ हैं। छठी गाथा 'सो बधो चउभेओ' से पूर्व इस प्रकार है—

'आउगभागो थोवो णामा गोदे समा तदो अहिओ।
घादि तिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये॥

यह कर्मकाण्डकी गाथा १९२ है।

शताब्दी पर्यन्त ५०० वर्षोंके सुदीर्घ कालके अन्दर किसी समय इस कर्मप्रकृतिका संकलन किया गया है।

इस कालमें कब इसकी रचना हुई यही विचारणीय है—

संस्कृत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्र त्रैविद्यके गुरुका नाम श्री नेमिचन्द्र गणी था। उन्होंने क्षपणासारकी प्रशस्तिमें उन्हें सैद्धान्ताधिप लिखा है। कर्मकाण्डके आधार पर सकलित बन्ध त्रिभंगीके रचयिताका नाम एक प्रतिमें नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र लिखा है। अत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्रके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्ती ही कर्मप्रकृतिके सकलयिता प्रतीत होते हैं। माधवचन्द्रने क्षपणासारको शक स० ११२५ (वि०स० १२६०)में रचा है। अत कर्मप्रकृति भी इसी समयके लगभग सकलित की गई जान पडती है।

बन्धत्रिभंगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभंगी

जिस तरह किसी सकलयिताने कर्मकाण्डके आधारसे कर्मप्रकृतिकी सकलना की है समवतया उसी प्रकार कर्मकाण्डके आधार पर अन्य भी प्रकरण सग्रहीत किये गये हैं। इसी तरहके तीन प्रकरण कर्मकाण्डके बन्धोदय सत्त्व नामक दूसरे अधिकारसे सकलित किये गये हैं। कर्मप्रकृतिके सकलयिताकी तरह इनके सकलयिताने उक्त अधिकारसे अपनी रुचिके अनुसार गाथाएँ सकलित की हैं और आवश्यकताके अनुसार उनके बीचमें कुछ स्वरचित गाथाएँ भी जोड दी हैं।

इनमेंसे प्रथम प्रकरण बन्धत्रिभगीका प्रारम्भ कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी प्रथम गाथासे होता है जिसकी क्रमसख्या कर्मकाण्डमें ८७ है। ८७के बाद ८८वी गाथा है और फिर कर्मकाण्डकी गा० ३४, ३७ यथाक्रम है। फिर कर्मप्रकृतिकी ५३-५४वी गाथा यथाक्रम हैं। फिर कर्मकाण्डकी ३५वी गाथा है। फिर कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी ८९, ९०, ९१ नम्बरकी तीन गाथाएँ छोडकर ९२वी से १०७ पर्यन्त गाथाएँ हैं। फिर जीवकाण्डकी १२८वी और त्रिलोकसारकी २०३वी गाथा है। पुन कर्मकाण्डकी गाथा १०८ और १०९ हैं। फिर एक गाथा स्वरचित है। पुन कर्मकाण्डकी गाथा ११० हैं। फिर स्वरचित गाथाएँ हैं। बीच-बीचमें कुछ व्याख्या भी सस्कृत में है। सदृष्टिया भी हैं। इस तरहसे बधत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगीका कथन किया गया है। कुल गाथा सख्या १४३ है। अन्तमें लिखा है 'तत्त्वत्रिभगी समाप्ता।' शायद 'सत्त्व'के स्थानमें तत्त्व लिखा गया है। एक दूसरी प्रति भी उक्त भण्डारमें उसीके साथ है उसमें 'सत्त्वत्रिभगी' लिखा हुआ है उसमें कुछ गाथाएँ अधिक है।

इनकी एक संस्कृत टीका भी है। उसके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायेगा।

आराके जैनसिद्धान्त भवनमें त्रिभगीके नामसे एक हस्तलिखित ग्रन्थ वर्तमान है उसमें ही उक्त प्रकरण वर्तमान है।

जिन रत्न कोशमें त्रिभगीमार नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जिसे नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकका बतलाया है। उसके विवरणमे लिखा है कि इस ग्रन्थमें आगे लिखे विभाग है—१ आस्रवत्रिभगी, २ बन्धत्रिभगी, ३ उदय-उदीरणात्रिभगी, ४ सत्तात्रिभगी, ५ सत्त्वस्थानत्रिभगी, ६ भावत्रिभगी। इस ग्रन्थका निर्देश बम्बई रायल एशियाटिक सोसायटीकी बम्बई शाखामें स्थित हस्तलिखित प्रतियोंकी विवरणात्मक सूचीसे जिन रत्नकोशमे लिया गया है।

जिन रत्नकोशमें उसका विवरण देते हुए लिखा है कि त्रिभगीमारके अन्तगत विभाग विभिन्न ग्रन्थ कर्ताओके द्वारा रचे गये ह—प्रथम आस्रवत्रिभगीमे ६३ गाथाएँ ह और वह श्रुतमुनिके द्वारा रचित है। द्वितीय बन्धत्रिभगीमें ४४ गाथाएँ ह और उनके रचयिता नेमिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र है। तीसरी उदयत्रिभगीमें ७३ गाथाएँ ह और उसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं। चौथी सत्तात्रिभगीमें ३५ गाथाएँ है और उनके रचयिता भी नेमिचन्द्र है। पाँचवी सत्त्वस्थानत्रिभगीमें ३७ गाथाएँ ह और उनके रचयिता कनकनन्दि ह। इस पर नेमिचन्द्रकी टीका भी है। अन्तिम भावत्रिभगीमें ११६ गाथाएँ ह और यह भी श्रुतमुनिके द्वारा रचित है।

आराकी उक्त त्रिभगी उक्त त्रिभगीसार की ही प्रतिलिपि है। उसमें उक्त क्रमस छहो त्रिभगियाँ सकलित ह। किन्तु उसमें बन्धत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगीके कर्ताका नाम नही दिया है। गाथा सख्यामें भी कुछ अन्तर है।

उक्त छहो त्रिभगीमेंसे आदि और अन्तकी त्रिभगी तो श्रुतमुनि रचित है। एक सत्त्वस्थानत्रिभगी कनकनन्दि रचित है। यह कनकनन्दि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरुओम से थे। शेष तीन त्रिभगी कमकाण्डसे सकलित की गई ह। उनमेंसे एकका रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्रको बतलाया है और शेषका नेमिचन्द्र को। जैसाकि कमप्रकृतिके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिख आये है—क्षपणासार सस्कृतके रचयिता माधवचन्द्र और उनके गुरु नेमिचन्द्र सैद्धान्ताधिप या सैद्धान्ती ही उनके सकलयिता प्रतीत होते है।

श्रुतमुनिकी रचनाएँ—

भावत्रिभगी

श्रुतमुनिके[1] द्वारा रचित इस भावत्रिभगीमें जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावोका कथन गुणस्थान और मार्गणा-स्थानोंमे ११६ गाथाओंके द्वारा किया गया है।

---

१ 'इदि गुणमग्गणठाणे भावा कहिया पबोह सुयमुणिणा।
सोहतु ते मुणिंदा सुयपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥११६॥'—भा० त्रि०

कर्मकाण्डके भावचूलिका नामक सातवें अधिकारमें भावोंका कथन विविध भगोंके साथ किया गया है। यहाँ भगोंको छोड़कर सामान्य कथन है किन्तु कर्म-काण्डमें मार्गणाओंके आश्रयसे भावोंका कथन नहीं है, जबकि इस ग्रन्थमें है। पहले गुणस्थानोंमें कथन है और फिर मार्गणास्थानोंमें कथन है।

पाँचों भावोंके उत्तर भेदोंमेंसे किस स्थानमें कितने भाव होते हैं, कितने नहीं होते और कितने भाव उसी स्थानमें होकर आगे नहीं होते। इन तीन बातोंको लेकर भावोका कथन होनेके कारण इसे भावत्रिभगी कहते है। वैसे दूसरी[1] गाथामें तो सूत्रोक्त मूलभाव तथा उत्तरभावोका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञाकी गई है। उसपरसे इसे 'भाव स्वरूप' नामसे कहा जा सकता है।

श्रीमाणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित भावसग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उसमें भावत्रिभगी नाम पर लगे पाद टिप्पणमे लिखा है कि पुस्तकके अन्तमे 'भावसग्रह समाप्त' पाठ था किन्तु प्रारम्भमे उल्लिखित नामके अनुसार उसे परिवर्तित करके 'भावत्रिभगी समाप्ता' ऐसा छापा गया है। इसपरसे उसका भावसग्रह नाम भी ज्ञात होता है।

पुस्तकके साथमें सदृष्टियाँ भी बनी हुई हैं। सभव है ये सदृष्टियाँ श्रुत-मुनिने ही अपने ग्रन्थमें बनाकर लगा दी हो। इनसे ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

रचना सरल और स्पष्ट है। प्रत्येक बातको बहुत सरलता और स्पष्टताके साथ कहा गया है। और उसका आधार कमकाण्डका सातवाँ अधिकार है। गोम्मटसारकी गाथाओकी अनुकृति उसकी गाथाओ पर छाई हुई है।

आस्रवत्रिभगी

इन्ही श्रुतमुनिकी दूसरी कृति आस्रवत्रिभगी[2] है। कमकाण्डके प्रत्यय नामक छठे अधिकारमें भी आस्रवके प्रत्ययोका कथन आया है। और यहाँ उस प्रकरण की दो एक गाथाएँ भी ज्योंकी-त्यों ले ली गई है। किन्तु कमकाण्डमें केवल गुणस्थानोंमें भगोंके साथ कथन है जब कि यहाँ गुणस्थानोंमें सामान्य कथन है और उसके सिवाय चौदह मार्गणाओमें भी प्रत्ययोंका कथन है जो कमकाण्डमें नही है। तथापि उसका आधार कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है। आस्रवके कारण

---

१ 'इदि वंदिय पचगुरू सरूव सिद्धत्थ भवियबोहत्थ।
सुत्तुत्त मूलुत्तरभावसरूव पवक्खामि ॥२॥'—भा० त्रि०।

२ यह आस्रवत्रिभगी माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित भावसग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी है।

चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। मिथ्यात्वके ५ भेद हैं अविरतिके १२ भेद हैं, कषायके २५ और योगके १५ भेद हैं। इस तरह मूल प्रत्यय चार है और उत्तर प्रत्यय ५७ हैं। इनके निमित्तसे कर्मोंका आस्रव होता है।

ये आस्रव प्रत्यय किस गुणस्थानमें कितने होते है, कितने नही होते और कितने प्रत्यय उसी गुणस्थान तक होते हैं आगे नहीं होते, इन तीन भगोका कथन होनेसे इसका नाम आस्रवत्रिभगी है। इसमें कुल ६२ गाथाएँ हैं और साथमें सदृष्टियाँ भी है।

श्रुतमुनिका परिचय और समय

श्रुतमुनिने अपने भावत्रिभगी अथवा भावसग्रह नामकग्रन्थके अन्तमें अपनी प्रशस्ति[1] दी है उससे ज्ञात होता है कि श्रुतमुनिक अणुव्रतगुरु बालेन्दु या बालचन्द्र थे और महाव्रतगुरु अभयचन्द्र सैद्धान्तिक थे। तथा शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। इनका परिचय कराते हुए श्रुतमुनिने लिखा है कि कुन्दकुन्दान्वयके मूलसघ, देशगण, पुस्तकगच्छकी इगुलेश्वर शाखामें हुए मुनि प्रधान अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य बालचन्द्र मुनि थे। और शब्दागम, परमागम, तर्कागमके पूर्णज्ञाता अभयसूरि सैद्धान्तिक थे। तथा सारत्रयमें निपुण, शुद्धात्मामें लीन और भव्य जीवोका प्रतिबोध करनेवाले प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे।' श्रुतमुनिने बालचन्द मुनि और अभयसूरि सिद्धातका जयघोष करनेके बाद दो गाथाओंके द्वारा चारुकीर्ति मुनिका भी जयघोष किया है।

श्रुतमुनिके द्वारा रचित एक ग्रन्थ परमागमसार है उसमें भी उक्त प्रशस्ति

---

१ 'अणुवदुगुरु बालेन्दु महव्वदे अभयचद सिद्धति। सत्थेऽभयसूरि पभाचदा खलु सुयमुणीस गुरु ॥११७॥ श्रीमूलसघ देसियगणपुत्थयगच्छकोंडकुदाण। परपण्णइगलेसरवलिम्हि जावस्स मुणिपहाणस्स ॥ सिद्धताभयचदस्स य सिस्सो बालचदमुणिपवरो। सो भव्वकुवलयाण आणदकरो सया जयउ ॥११९॥ सद्दागम-परमागम-तक्कागम णिरवसेसवेदी हु। विजिदसयलण्णवादी जयउ चिर अभयसूरि सिद्धती ॥१२०॥ णयणिक्खेवपमाण जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ। वरणिवयिणि वह वदियपयपम्मो चारुकीत्तिमुणी ॥१२१॥ णाद णिक्खिलत्थसद्दो सयलणरिंदेहिं पूजियो विमलो। जिणमग्गगयणसूरो जयउ चिर चारुकित्तिमुणी ॥१२२॥ वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपरभावो। भवियाण पडिबोहणपरो पहाचदणाम मुणी ॥१२३॥'—भा० त्रि० प्रश०।

दी है किन्तु उसमें उसका रचनाकाल भी दिया है जो शक स० १२६३ (वि० सं० १३९८) है अत श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए हैं।

श्रवणबेल गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वतके एक शिलालेख[2] नं० १०५ में अभयचन्द्रके शिष्य श्रुतमुनिकी बडी प्रशसा की गई है। इसमें चारुकीर्ति और अभयसूरिकी भी प्रशसा है। अत यह श्रुतमुनि ही प्रतीत होते हैं। यह शिलालेख शक सं० १३२० का है अर्थात परमागमसारकी रचनाके ५७ वष पश्चात् का है।

चन्द्रगिरि पर्वत परके एक अन्य शिलालेखमें भी अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका उल्लेख है। यह शिलालेख शक स० १२३५ का है। ये दोनों श्रुतमुनिके व्रत गुरु ही प्रतीत होते है।

इन्ही अभयचन्द्रको डॉ० उपाध्येने गोम्मटसारकी मन्द प्रबोधिकाका रचयिता माना है। किन्तु बेलूर शिलालेखोंके आधारपर अभयचन्द्रका स्वर्गवास सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी १२७४ में बतलाया है जो ठीक प्रतीत नहीं होता। मन्द प्रबोधिकाकी रचनाके समयकी चर्चामें इसपर प्रकाश डाला गया है।

केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति शक स० १२८१ में बनाकर समाप्त की थी। केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे। अभयसूरि श्रुतमुनिके शास्त्र गुरु प्रतीत होते है। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके १८ वष बाद केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति समाप्त की थी। अत श्रुतमुनिके वह लघु समकालीन थे, यह निश्चित है।

पचसंग्रहकी प्राकृत टीका

पञ्चसग्रह पर एक प्राकृत टीका है उसकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उसका लेखनकाल सवत १५२६ दिया है। यह टीका किसने कब रची इसका कोई पता उससे नही चलता। किन्तु इतना निश्चित है कि धवला टीकाके पश्चात् ही उसकी रचना हुई है क्योंकि टीकाके प्रारम्भमें धवलाकी तरह मगल निमित्त, हेतु, परिमाण नाम और कर्ता की चर्चा है जो धवलासे ली गई है किन्तु यथास्थान उसमें कुछ काट-छाट कर दी गई है। उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रन्थका नाम बतलाते हुए 'आराधना' नाम बतलाया है। यथा—

'तत्थ गुणणामं आराहणा इदि। किं कारण ? जेण आराधिज्जते अणका दसण-णाण-चरित्त-तवाणि त्ति।'

इससे प्रतीत होता है कि आराधना भगवतीकी प्राकृत टीकाका यह आद्य

---

1 'सगमा (क) के हु सहस्से विसयतिसट्ठिगदे दुविसवरिसे। मग्गसिर सुद्ध सत्तमि बुधवारे गंथ संपुण्णो ॥२२१॥—जै० ग्रं० प्र०, भा० १, पृ० १९१।

2 शि० सं०, भाग १, पृ० २०१।

होना चाहिये। भगवती आराधनाकी विजयोदया[1] टीकामें प्राकृत टीकाका उल्लेख है। किन्तु वह टीका धवलासे प्राचीन होनी चाहिये, अत उसमें धवलाकी अनुकृतिकी सभावना नही की जा सकती। सम्भव है धवलाके बाद किसीने उस पर कोई प्राकृत टीका रची हो। किन्तु यह सब अनुमान मात्र है।

अन्य सब कथन धवलासे लेने पर भी उसके रचयिताने कर्ताके विषयमें परिवतन कर दिया है। धवलामें कर्ताके दो भेद बतलाये है अर्थकर्ता और ग्रथकर्ता। किन्तु इसमें तीन भेद बतलाये हैं, मूलतत्रकर्ता[2], उत्तरतत्रकर्ता और उत्तरोत्तरतत्रकर्ता। तथा भगवान महावीरको मूलतत्रकर्ता, गौतम गणधरको उत्तरतत्रकर्ता और लोहाचाय तथा भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचायको उत्तरोत्तर तत्रकर्ता लिखा है। यथा—

'कत्तारा तिविधा मूलततकत्ता, उत्तरततकत्ता, उत्तरोत्तरततकत्ता चेदि। तत्थ मूलततकत्ता भगव महावीरो। उत्तरततकत्ता गोदम भयवदो। उत्तरोत्तर ततकत्ता लोहायरिया भट्टारक अप्पभूदिअ आयरिया।'

यहाँ उत्तरोत्तर तत्रकर्तामें जो भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचाय का नाम दिया है वह टीकाके कर्ताके अन्वेषणकी दृष्टिसे चिन्त्य है।

आगे श्रुतज्ञान रूपी वृक्षका वणन है उसमे बारह अगों और चौदह पूर्वोका कथन धवलासे प्राय ज्योका त्यो ले लिया गया है। और अन्तमे लिखा है—'एव श्रुतवृक्ष समाप्त।'

इसके पश्चात पचसग्रह गत प्रकृति समुत्कीतन अधिकार आता है। पञ्चसग्रहमें इसका नम्बर दूसरा है और जीवसमास नामक अधिकारका पहला। किन्तु इस टीकामें प्रकृति समुत्कीतनको पहला स्थान दिया है।

प्राय प्रत्येक अधिकारमें टीकाकार पहले ग्रन्थका मूलभाग जो प्राय अधूरा होता है, देता है। फिर उसका व्याख्यान करता है। प्रत्येक गाथाका अलग-अलग व्याख्यान करनेकी पद्धति टीकाकारने नही अपनाई है।

प्रकृति समुत्कीतन अधिकारमें प्रकृतियोका स्वरूप निरूपण प्राकृतगद्यमे बहुत सुन्दर रीतिसे किया गया है। और बीच-बीचमे कुछ गाथाएँ भी ग्रन्थान्तरसे उद्धत की गई हैं।

टीकामें धवलाकी तरह प्राकृतके साथ यत्रतत्र सस्कृत भाषाका भी उपयोग

---

१ इसके परिचय तथा उल्लेखोंके लिये देखें—जै०सा० इ० पृ० ८४ आदि।

२ इयमूलततकत्ता सिरिवीरो इदभूदि विप्पवरो। उवतते कत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥८०॥—त्रि० प०, अधि० १।

किया गया है खास कर जहाँ व्युत्पत्ति आदि दी गई है। और इस तरह उसमें जानने योग्य विषयकी बहुतायत है। आभिनिबोधिक ज्ञानकी जो व्युत्पत्ति दी गई है वह अभी तक हमारे देखनेमें किसी ग्रन्थान्तरमें नहीं आई। यथा—

'आभिनिबोधिक ज्ञानमिति'—अ इति द्रव्य पर्याय। भि इति द्रव्याभिमुख 'निरिति निश्चयबोध इति।' बुध अवगमने धातु। अभिनिबोधिक एव आभिनिबोधिक वा प्रयोजन अस्येति आभिनिबोधिकम। आभिनिबोधिकमेव ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञानम। आभिनिबोधिक ज्ञानस्य आवरण आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय चेति।

इसमें 'अ' का अर्थ द्रव्य और 'भि' का अर्थ द्रव्याभिमुख अश्रुत पूर्व हैं। समस्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साहित्यमें 'अभिमुख नियमित बोध' अर्थ ही किया गया है। ज्ञानके भेदोंका अच्छा कथन ज्ञानावरणीय कर्मके कथनमें किया गया है।

नामकर्मकी कुछ प्रकृतियोका स्वरूप कथन प्राय तत्त्वार्थवार्तिकसे लिया गया है। किन्तु आनुपूर्वी नामकर्मका जो लक्षण किया है वह दिगम्बर परम्पराके शास्त्रोंमे हमारे देखनेमें नही आया। दिगम्बरीय[1] साहित्यके अनुसार आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य पूर्व शरीर छोडनेके बाद और नया शरीर धारण करनेके पहले विग्रह गतिमे जीवका आकार पूर्व शरीरके समान बनाये रखना है।

किन्तु टीकाकारने लिखा[2] है कि यदि आनुपूर्वी नामकर्म न होता तो जीव एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें नही जा सकता था। अत क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी है। यह लक्षण श्वेताम्बर परम्परासे मेल खाता है। उसके अनुसार आनुपूर्वी[3] नामकर्म समश्रेणिसे गमन करते हुए जीवको खींचकर उसके विश्रेणि पतित उत्पत्तिस्थानमें ले जाता है।

इसी तरह विहायोगति नामकर्मका स्वरूप बतलाते हुए लिखा[4] है—यदि

---

१ 'यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्य नाम ॥'—त०वा० पृ० ५७७।

२ 'अनुपूर्वे भवा अनुपूर्वी अनुगति अनुक्रान्तिरित्यर्थ। यद्यानुपूर्वी नामकर्म न स्यात क्षेत्रात क्षेत्रान्तर प्राप्तिर्जीवस्य न स्यात्। अत क्षेत्रान्तर प्रापक-कर्मानुपूर्वी नाम।'

३ देखो प्रथम कर्मग्रन्थके हिन्दी अनुवादका परिशिष्ट पृ० १३४।

४ 'विहायसि गति विहायोगति। यदि विहायोगति नामकर्म न स्यात् आकाशे जीवगतिर्न स्यात्। तदभावे अल्पप्रदेशानां भूम्यवस्थात बहूवा आकाश व्यवस्थापन पतनमेव स्यात। यदि त्रसनाकर्म न स्यात् न त्रसति जीव,

विहायोगति नामकर्म न होता तो आकाश में जीवकी गति न होती और उसके अभावमें अल्प प्रदेशी वस्तुओंका भूमिपर ठहरना और बहु प्रदेशी वस्तुओंका आकाशमें ठहरना (न) होता, पतन हो जाता। त्रस नामकर्मके लिये लिखा है कि यदि त्रस नामकर्म न होता तो दो इन्द्रिय आदि जीवोंमें आकुञ्चन, प्रसारण, निमीलन, उन्मीलन, हलन-चलन आदि न होता। तथा यदि, स्थावर नामकर्म न होता तो जीव न ठहरता।

ये सब लक्षण त्रस, स्थावर शब्दोंकी व्युत्पत्तिके आधारपर घड़े गये जान पडते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी इस तरहके लक्षण नही है। पता नहीं, टीकाकारने कहींसे इन्हे लिया है या स्वय ही घड़ा है। अस्तु,

प्रकृति समुत्कीर्तनके पश्चात् कर्मस्तव नामक अधिकार आता है। कर्मस्तव मूलकी बन्धव्युच्छित्ति, उदीरणा व्युच्छित्ति और सत्त्व व्युच्छित्तिसे सम्बद्ध केवल सात गाथाओंको देकर उनका व्याख्यान कर दिया गया है। उसमे पहले मूल कर्मस्तव पूरा एक साथ दे दिया गया है। इस प्रकरणमें पचसग्रहमें जो भाष्य गाथाएँ हैं उनका यहाँ कोई निर्देश नही है।

उसके बाद 'जीव समास' आता है। उसकी जो गाथाए इसमे हैं उनमें अनेक गाथाएँ ऐसी है जो मूल पचसग्रहके अन्तगत जीव समासमे नही है और बहुतसी गाथाएँ छोड भी दी गई है। पचसग्रहका परिचय कराते हुए जीव-समास नामक प्रकरणके सम्बन्धमें हमने लिखा था कि बीस प्ररूपणाओका कथन समाप्त हो जानेके बाद पुन लेश्या वगैरहका कथन किया गया है जो असबद्ध सा लगता है। इसमें वे सब गाथाएँ नही हैं और बीस प्ररूपणाओंके कथनकी समाप्तिके साथ ही प्रकरणको समाप्त कर दिया गया है। यह तो हुई मूल प्रकरणके सम्बन्धकी बात।

टीकाके नाम पर केवल दो स्थानोंपर टीका की गई है। एक तो प्रारम्भमें गुणस्थानके लक्षण वाली तीसरी गाथाके नीचे 'इदाणी लद्धिविहवत्तइस्सामो।' लिखकर लब्धि विधान ? कथन है। इस लब्धि विधानमे प्रत्येक गुणस्थानमें कौन सा भाव क्यो होता है, इसका स्पष्ट और सुन्दर कथन है। दूसरी मार्गणाके भेदों वाली गाथाके नीचे चौदह मार्गणाओकी व्युत्पत्ति की गई है जो धवला भाग एकसे ली गई है। बस, इस प्रकरणमें टीकाके नामपर इतना ही है।

आकुञ्चन-प्रसारण-निमीलनोन्मीलन-स्पन्दनादि त्रसनं। तद्द्वीन्द्रियादीना न स्यात्। अत त्रसनिर्वर्तक त्रसनाम। यदि स्थावर नामकर्म न स्यात् नावतिष्ठति जीव स्पन्दनाभावात्। अत' स्थावर निर्वर्तक स्थावरनाम।'

इसके बाद शतक है। मूल शतककी प्रत्येक गाथाका व्याख्यान टीकाकारने किया है किन्तु पञ्चसंग्रह गत भाष्य गाथाएँ केवल तीस पैंतीसके लगभग ली गई हैं शेषको छोड़ दिया है। अन्तमें लिखा है—'सवयपंजिया समत्ता'। अर्थात् शतककी पञ्जिका समाप्त हुई।

शतकमें गत्यादि मार्गणाओंमें बन्ध स्वामित्वका कथन कर लेनेकी सूचना एक गाथाके द्वारा दी गई है। उसकी टीकामें टीकाकारने मार्गणाओंमें कर्म-प्रकृतियोंके बन्धादिका कथन विस्तारसे किया है। उसके अन्तमें तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

> जह जिणवरेहिं कहियं गणहरदेवेहिं गथियं सम्मं।
> आयरियकमेण पुणो जह गगणइपवाहुव्व ॥१२॥
> तह पउमणंदि मुणिणा रइयं भवियाण बोहणट्ठाए।
> ओघेणादेसेण य पयडीणं बंधसामित्तं ॥१३॥
> छउमत्थिया य रइअं जं इत्थ हविज्ज पवयणविरुद्धं।
> तं पवयणाइ कुसला सोहंतु मुणी पयत्तेण ॥१४॥

इसमें कहा है कि जैसा जिनवरने कहा और गणधर देवोंने संकलित किया फिर जैसा गंगानदीके प्रवाहकी तरह आचार्य परम्परासे आया, वैसा ही ओघ और आदेशकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वको भव्यजीवोंको बोध करानेके लिये पद्मनन्दि मुनिने रचा। इस छद्मस्थके रचे हुएमें जो बात आगमविरुद्ध हो उसे प्रवचनमें कुशल मुनि प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें।

यह पद्मनन्दि मुनि इस टीकाके रचयिता हैं अथवा टीकाकारने जहाँसे बन्ध-स्वामित्वको लिया है उसके रचयिता है, यह बिना प्रमाणोंके प्रकाशमें निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दी था। ज० प्र० की प्रशस्तिमें उन्हें सिद्धान्त पारगामी भी लिखा है। तथा उसकी अन्तिम गाथा उक्त उद्धृत अन्तिम गाथासे बहुत अधिक मिलती है, जो इस प्रकार है—

> छदुमत्थेण विरइयं जं किं पि हवेज्ज पवयणविरुद्धं।
> सोधंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥१७०॥

तथा उसमें भी ग्रन्थकारका निर्देश 'मुणिपउमणंदिणा' करके है। अतः संभव है उन्होंने बन्धस्वामित्वका कथन किसी ग्रन्थमें किया हो और उसीसे टीकाकारने उसे लिया है। ज० प्र० की रचना विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें

हुई है। अत उसके बाद ही यह टीका रची गई है यह निश्चित समझना चाहिये, क्योकि जीवकाण्ड और त्रिलोकसारसे भी उसमें गाथाएँ उद्धृत हैं। अस्तु,

शतकके पश्चात सित्तरीकी टीका है। इसमे टीकाकारने मूल सित्तरी तो प्राय पूर्ण ले ली है किन्तु भाष्य गाथाएँ केवल ३० के लगभग ही ली हैं। टीका मे शतककी टीकाका कई जगह उल्लेख किया गया है।

अन्तमें लिखा है—'एव सत्तरि चूलिया समत्ता'।

टीकामे 'पञ्चसग्रह' नामका निर्देश दृष्टिगोचर नही होता।

सिद्धान्तसार

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसग्रह नामक २१वे पुष्पके प्रारम्भमे सिद्धान्तसार नामक प्रकरण ज्ञानभूषणके भाष्यके साथ प्रकाशित हुआ है। इसमें ७९ प्राकृत गाथाएँ हैं। उनके द्वारा ग्रन्थकारने चौदह मार्गणाओं-मे जीवसमासोका, गुणस्थानोका, योगोका और उपयोगोका तथा चौदह जीव-समासोम योगोका और उपयोगोका, व चौदह गुणस्थानोंमें योगोका और उपयोगो का फिर चौदह मार्गणाओमें चौदह जीवसमासोमे और चौदह गुणस्थानोम बन्धके ५७ प्रत्ययोका कथन किया है।

इस तरहसे ग्रन्थकारने थोडी-सी गाथाओके द्वारा काफी सैद्धान्तिक बातोका कथन किया है।

ग्रन्थकार

सिद्धान्तासारादिसग्रहके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका परिचय देते हुए श्री नाथूराम जी प्रेमीने लिखा है— इस सग्रहके प्रथम ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार'के मूलकर्ता जिन-नामके आचाय है जैसा कि उक्त ग्रन्थकी ७८वी गाथासे और उसकी टीकासे भी मालूम होता ह। प्रारम्भमें 'जिनेन्द्राचाय' नाम सशोधककी भूलसे मुद्रित हो गया है। सम्पादक और सशोधक प० पन्नालालजी सोनीने भी उक्त गाथाके पाद-टिप्पणीमें लिखा है—'प्रारम्भे हि जिनेन्द्राचाय' इति विस्मृत्य लिखितोऽस्माभि रन्यमूलपुस्तक विलोक्य' अर्थात अन्य मूल पुस्तकको देखकर ग्रन्थके प्रारम्भमें हमने भूलसे 'जिनेन्द्राचाय लिख दिया है। हमारे सामने भी आराके जैनसिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमे ग्रन्थकारका नाम जिनेन्द्राचाय ही लिखा है।

गाथा ७८में 'जिनइदेण पउत्त' पाठ है। 'जिनइद' का सस्कृत रूप जिनेन्द्र होता है जिनचद्र नही होता। किन्तु भाष्यकार ज्ञानभूषणने 'जिणइदेण जिनचन्द्र-नाम्ना सिद्धान्तग्रन्थ वेदिना' लिखा है। इससे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम जिनचद्र मान लिया गया है।

किन्तु जिनेन्द्राचार्य नामके किसी ग्रन्थकारका पता अन्यत्रसे नही चलता जबकि जिनचन्द्र[1] नामके सिद्धान्त वेत्ता अनेक विद्वान हो गये है। उनमेंसे एक धर्मसग्रह श्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्रके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय देते हुए सरस्वती गच्छके प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्रका उल्लेख किया है जो सैद्धान्तिको की सीमा थे। उक्त प्रशस्ति वि०स० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र वर्तमान थे। परन्तु प्रेमीजीने उन्हें सिद्धान्तसारका कर्ता नही माना है, क्योंकि सिद्धान्तसारकी एक कनडी टीका प्रभाचन्द्रकृत है। और प्रभाचन्द्रका समय कर्नाटक कवि चरिते (द्वि०भा०)में तेरहवी शताब्दी अनुमान किया है।

दूसरे जिनचन्द्र तत्त्वार्थसूत्रकी सुखबोधिका टीकाके कर्ता भास्करनन्दिके गुरु थे। इनका ठीक समय मालूम नही है। प० शान्तिराज शास्त्रीने वि०स० १३५३ के लगभग अनुमान किया है। इन्हें भी भास्करनन्दिने महासैद्धान्त कहा है। यदि उक्त अनुमानित समय ठीक हो तो ये भी सिद्धान्तसारके कर्ता नहीं हो सकते। इस तरहसे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम तथा समय दोनो ही विवाद-ग्रस्त है।

किन्तु ग्रन्थके अन्तरग परीक्षणसे यह स्पष्ट है कि गोम्मटसारका पढकर ग्रन्थकारने उसकी रचना की है। उसका प्रारम्भ ही जीवकाण्डके अन्तकी दो गाथाओंको लेकर हुआ है वे दोनो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिद्धाण सिद्ध गई केवलणाण व दसण खयिय।
सम्मतमणाहार उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३२॥
गुण जीव ठाण रहिया सण्णापज्जत्तिपाण परिहीणा।
सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥७३३॥

और सिद्धान्तसारके प्रारम्भकी दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जीवगुणठाणसण्णा पज्जत्तिपाण मग्गणाणवूणे।
सिद्धतसारमिणमो भणामि सिद्धे णमसिता ॥१॥
सिद्धाण सिद्धगई दसण णाणं च केवल खइय।
सम्मत्तमणाहारे सेसा ससारिए जीवे ॥२॥

अत ग्यारहवी शताब्दीके पश्चात् ही सिद्धान्तसार रचा गया है। और चूँकि

1 देखो—'जिनचन्द्र, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीर्षक निबन्ध, जै०सा०इ०, पृ० ३७८।

सिद्धान्तसारकी कनडी टीकाके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय तेरहवी शताब्दी अनुमान किया गया है, अत बारहवीं शताब्दीके लगभग सिद्धान्तसार रचा गया होना चाहिये।

सकलकीर्तिका कर्मविपाक

सकलकीर्ति विरचित कर्मविपाक संस्कृत भाषामें रचित एक सुन्दर सरल ग्रन्थ है। इसमें प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका साधारण कथन है। अधिकतर कथन गद्यमें है। प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें श्लोक हैं जो नमस्कारात्मक हैं। प्रकृतिबन्धमें कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके लक्षण विस्तार-से कहकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके बन्ध और अबन्धका कथन बडे स्पष्ट रूपमें किया है, केवल सख्या न बतलाकर प्रकृतियोके नाम गिनाये हैं। फिर स्थितिबन्धका कथन है। उसमे प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति विस्तारसे बतलाई है। फिर अनुभाग बन्धका कथन है। और फिर प्रदेशबन्ध-का कथन है। उसमें प्रत्येक कर्मके बन्धके कारणोंका कथन तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओके आधारसे किया है। अन्तमें गुणस्थानोमे प्रकृतियोके क्षयका कथन किया है।

इस ग्रन्थमे तो सकलकीर्तिने अपना कोई परिचय नही दिया। किन्तु अन्य ग्रन्थकारोने इनका स्मरण बडे आदरके साथ किया है। इसका कारण यह है कि यह मूलसघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छकी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इनकी शिष्य परम्परामे अनेक विद्वान भट्टारक ग्रन्थकार हुए है और उन्होने अपने पूर्वज सकलकीर्तिका स्मरण बडे आदरके साथ किया है।

कामराजकृत जयपुराणकी प्रशस्तिमें[1] लिखा है कि सकलकीर्ति भट्टारकने गुजरात और बागड आदि देशोमें जैनधर्मका उद्धार किया था। भ० सकलकीर्ति के शिष्य और लघुभ्राता ब्र० जिनदासने भी अपने ग्रन्थोंमे सकलकीर्तिका स्मरण बडे गौरवके साथ किया है। प० परमानन्दजीने[2] लिखा है कि स० १४४४ में वह ईडरकी गद्दी पर बैठे थे और स० १४९९ के पूषमासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात) में हुई थी। महसानामें उनका समाधि स्थान भी बना हुआ है। प०

---

१ 'आचार्य कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्ति योगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वर ॥२१॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुजरे वाग्वरादिके।
निग्रन्थेन कवित्वादि गुणानेवाहृता पुरा ॥२२॥
—जै० प्र० स० भा १, पृ० ४०।

२ जै० स० १ भा०, प्रस्ता, ४० १०-११।

प्रेमानन्दजीने यह भी लिखा है। कि सकलकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोंके कितने ही अभिलेख सं० १४८० से १४९२ तकके मेरी नोटबुकमें दर्ज है। अत यह निश्चित है कि वे विक्रमकी १५वीं शतीके उत्तरार्द्धके विद्वान है। उनके द्वारा रचित कुछ ग्रन्थोके नाम इस प्रकार है—

सिद्धान्तसार दीपक, धन्यकुमार चरित्र, कर्म विपाक, सद्भाषितावली, धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, मूलाचार प्रदीप, सुकुमालचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल चरित्र, वृषभचरित्र, सुदर्शनचरित्र, वर्धमान पुराण, पार्श्वनाथपुराण, मल्लिनाथ पुराण, सारचतुर्विंशतिका, यशोधरचरित्र पुराणसार आदि।

सिद्धान्तसार भाष्य

आचार्य जिनेन्द्र या जिनचन्द्र रचित सिद्धान्तसार पर एक सस्कृत व्याख्या है जो सिद्धान्तसारके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। व्याख्या साधारण होते हुए भी मूल ग्रन्थको समझनेके लिये उपयुक्त है और उससे प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयका अच्छा अभ्यासी है।

यद्यपि भाष्यकारने सिद्धान्तसारके भाष्यमें अपना कोई स्पष्ट परिचय नही दिया है, ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति भी नही दी है, तथापि मंगलाचरणके श्लोकमें सिद्धान्तसार भाष्यके दो विशेषण दिये है—'लक्ष्मी वीरेन्दुसेवित' और 'ज्ञान सुभूषणम्'। इन विशेषणोंके द्वारा लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द और ज्ञानभूषण ये तीन नाम प्रकट होते है। अत प्रेमीजीने ज्ञानभूषणको भाष्यका कर्ता बतलाया है। सुमतिकीर्ति भट्टारकने प्राकृत पचसग्रहकी अपनी वृत्तिके अन्तमें जो प्रशस्ति[1] दी है। उसमें उन्होंने ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—मूलसघमें उत्पन्न हुए नन्दिसघमें बलात्कार गण और सरस्वती गच्छमें आचार्य कुन्दकुन्द

---

१ 'श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघो वरो बलात्कारगणप्रसिद्ध ।
श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो बभौ बुधो भारतिगच्छ सारे ॥१॥
तदन्वये देवमुनीन्द्रवद्य. श्री पद्मनन्दी जिनधर्मनन्दी ।
ततो हि जातो दिविजेन्द्रकीर्तिविद्या (दि) नन्दी वर धर्ममूर्ति ॥२॥
तदीयपट्टे नृपमाननीयो मल्ल्यादिभूषो मुनिवदनीय ।
ततो हि जातो वरधर्मधर्ता लक्ष्म्यादिचन्द्रो बहुशिष्यकर्ता ॥३॥
पचाचाररतो नित्य सूरिसद्गुणधारक ।
लक्ष्मीचन्द्र गुरुस्वामी भट्टारकशिरोमणि. ॥४॥
दुर्वारदुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्र. ।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराज. ॥५॥
—प्रा० पंच ०, प्रशस्ति।

हुए। उनके वशमें पद्मनन्दी हुए। उनके पट्ट पर दिविजेन्द्रकीर्ति विद्यानन्दि हुए, उनके पट्ट पर राज मान्य मल्लिभूषण हुए। फिर क्रमसे लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द और ज्ञानभूषण हुए। इन्ही ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे सुमतिकीर्तिने प्राकृत पच-सग्रहकी वृत्ति बनाई और ज्ञानभूषणने उसका सशोधन किया।

कमप्रकृतिकी टीका ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनोंने बनाई है। उसमें भी मल्लिभूषणके पूवज विद्यानन्दि[1]से उक्त गुरु परम्परा दी है।

अत सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषण ही उक्त भाष्यके रचयिता प्रतीत होते हैं। किन्तु श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा है कि कारजा में जो सिद्धान्तसार भाष्य-की प्रति है उससे मालूम होता है कि उसके कर्ता ज्ञानभूषण नही है, सुमतिकीर्ति हैं। और उसका सशोधन सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषणने किया है। ऐसा होना सभव है क्योकि कमप्रकृतिकी टीका भी ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिके साथ बनाई थी और प्रा० पचसग्रहकी वत्तिका उन्होने सशोधन किया था। अत सिद्धान्तसार भाष्यकी रचना सुमतिकीर्तिने और सशोधन ज्ञानभूषणने किया हो तो कोई विशेष बात नही है। किन्तु ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तसार भाष्यमे सुमतिकीर्तिका नाम कही दष्टिगोचर न होना कुछ शका पैदा करता है क्योंकि शेष दोनो टीकाओमे ज्ञानभूषणके साथ सुमतिकीर्तिका भी नाम है। अस्तु,

ज्ञानभूषणकी दो गुरु परम्पराएँ

प्रा० पचसग्रहकी प्रशस्तिमें, ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दि, दिविजेन्द्र (देवेन्द्र) कीर्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीर-चन्द्र, ज्ञानभूषण। और ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी प्रभाचन्द्र थे। कमप्रकृति

---

१ 'विद्यानन्दि-सुमल्ल्यादिभूष लक्ष्मीन्दु-सद्गुरून।
वीरेन्दु, ज्ञानभूषहि वन्दे सुमतिकीर्तियुक ॥२॥ —कमप्र० टी०।

२ 'इति श्रीसिद्धान्तसारभाष्य श्रीरत्नत्रयज्ञापनाथ सुमतीन्दुना लिखितम्। सूरिवर श्रीरमरकीर्तिसमुपदेशात श्रीमूलसघबलात्कारगणाग्रणी श्रीमद्भ-ट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रस्तत्पट्टपयोधिचचच्चन्द्रभट्टारक श्रीवीरचन्दस्तत्पट्टालकार भट्टारक श्रीज्ञानभूषण श्री सिद्धान्तसार भाष्य बल्लभजनवल्लभ मुमुक्षु श्री सुमतिकीर्ति विरचित शोधितवान्।

टीका सिद्धान्तसारस्य सता सदज्ञानसिद्धये।
ज्ञामभूष इमा चक्रे मूलसघविदावर ॥
सिद्धान्तसार भाष्य च शोधित ज्ञान भूषण।
रचित हि सुमत्यादि ॥—जै० सा० इ०, पृ० ३७९।

टीकाके प्रारम्भमें भी यही गुरुपरम्परा दी है। उसमें पद्मनन्दि और देवेन्द्रकीर्ति-का नाम नहीं है।

किन्तु भट्टारक सकलभूषणने अपनी उपदेश रत्नमालाकी प्रशस्तिमें, ब्रह्म कामराजने जयपुराणकी प्रशस्तिमें और भट्टारक शुभचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जो गुरुपरम्परा दी है वह है—पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी थे विजयकीर्ति, उनके शुभचन्द्र और शुभचन्द्रके सुमतिकीर्ति।

श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीने इन दोनो परम्पराओके ज्ञानभूषणको एक ही व्यक्ति माना है। किन्तु गुरुपरम्परा तथा कालक्रमको देखते हुए ये दोनो ज्ञानभूषण दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

प्रथम गुरुपरम्पराके अनुसार ज्ञानभूषणके गुरु लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द्र थे इसीसे सिद्धान्तसार भाष्यके मगलाचरणमें भी लक्ष्मीवीरेन्दुसेवित'के द्वारा उनका स्मरण ज्ञानभूषणने किया है। किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार ज्ञानभूषण के पूव गुरु भुवनकीर्ति थे।

तथा प्रथम गुरु परम्पराके अनुसार पद्मनन्दी और ज्ञानभूषणके मध्यमें पाँच व्यक्ति ह किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार केवल दो ही व्यक्ति है। अत ये दोनो ज्ञानभूषण एक व्यक्ति नही हो सकते। उन दोनोको एक व्यक्ति मान लेनेसे समय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होती है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—

समय विचार

ज्ञानभूषणकृत तत्त्वज्ञानतरगिणीमे उसका रचनाकाल वि०स० १५६० दिया है। प्रेमी जीने लिखा है कि—'जैन धातु प्रतिमा लेखसग्रहमें प्रकाशित वीसनगर (गुजरात) के शान्तिनाथके श्वेताम्बर मन्दिरकी एक दिगम्बर प्रतिमाके लेखसे और पैथापुरके श्वेताम्बर मन्दिरकी दि० प्रतिमाके लेखसे मालूम होता है कि वि स १५५७ और १५६१में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर नही थे, किन्तु उनके शिष्य विजयकीर्ति थे और वे १५५७के पहले इस पदको छोड चुके थे। इसलिये तत्त्वज्ञान तरगिणीकी रचना उन्होने उस समय की है जब भट्टारक पदपर विजय-कीर्ति थे।'

पूर्वोक्त जैनधातु प्रतिमा लेखसंग्रह नामक ग्रन्थमें विक्रम सवत् १५३४, १५३५ और १५३६के तीन प्रतिमा लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त सवतोंमें ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। भट्टारक पद छोडनेके बाद भी वह बहुत समय तक जीवित रहे।'

उक्त प्रतिमा लेखोंसे यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण १५३४में भट्टारक पद पर थे। किन्तु वे कब उस पद पर बैठे यह ज्ञात नही है। सकलकीर्ति भट्टारकके विषयमें प० परमानन्द जीने लिखा है कि वे स १४४४में गद्दी पर आसीन हुए थे और सवत् १४९९के पूष मासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात)में हुई थी। इनके शिष्य तथा कनिष्ठ भ्राता ब्र जिनदासने कई ग्रथ रचे हैं। १५२० स०में इन्होंने गुजराती भाषामें हरिवंश राशकी रचना की है। इनके ग्रथोंकी प्रशस्तिमें सकलकीर्ति और उनके शिष्य भुवनकीर्तिका नाम है ज्ञानभूषण का नही है। अत ज्ञानभूषण १५२० के पश्चात और १५३४ से पहले गद्दी पर बैठे थे।

श्रीयुत प्रेमीजीने जिस जैनधातु प्रतिमा लेख सग्रहका उल्लेख किया है उसमें नन्दिसघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छके उक्त आचार्योंके अनेक प्रतिमा लेख सगहीत हैं जिनसे उनके समय पर अच्छा प्रकाश पडता है। उन प्रतिमालेखोंके अनुसार जिस सम्वतमे जो आचाय भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे उनकी तालिका इस प्रकार है—

लेख न० ५३५—स० १४८८ भ० पद्मनन्दिदेव
,, न० ६—स० १४९२ भ० सकलकीर्ति
,, न० ६७३—स० १५०९ भ० भुवनकीर्ति
,, ७४८—स० १५१३ ,,
,, ७५१—स० १५१५ ,,
,, ६६—स० १५१६ ,,
,, ४४—स० १५२३ ,
,, ४३—स० १५२६ भ० ज्ञानभूषण
,, ८६७—स० १५३४ ,,
,, ६७४—स० १५३५ ,,
,, ५०९—स० ५३० ,,
,, ५०३—स० १५५७ विजयकीर्ति
,, ४९७—स० १५५९ ,,
,, ६९३—स० १५६१ ,,
,, ६७७—स० १६११ शुभचन्द्र
,, ६८—स० १६३२ सुमतिकीर्तिके शिष्य गुणकीर्ति
,, १३९०—स० १६५१ गुणकीर्तिके शिष्य वादिभूषण
,, १४५१—स० १६६० भ० वादिभूषण

अत उक्त प्रतिमा लेखोंसे यह स्पष्ट है कि भ० ज्ञानभूषण स० १५२६ से

१५३६ तक तो अवश्य ही भट्टारक पद पर विराजमान थे। और वे स० १५२३ के पश्चात् और १५२६ से पहले किसी समय भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किये गये थे। तथा स० १५५७ में उनके शिष्य विजयकीर्ति उस पद पर थे। सूरतके मन्दिरकी एक जिनबिम्ब पर स० १५४४ का लेख है। लेखसे प्रकट है कि वह मूर्ति भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठितकी गई थी। अत स० १५४४ तक ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे।

उधर सुमतिकीर्तिने अपनी पञ्चसग्रह वृत्तिके अन्तमें उसका रचना काल सं० १६२० दिया है। यह वृत्ति भ० ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे रची गई थी और उन्होंने उसका सशोधन भी किया था। अत यह स्पष्ट है कि वि० स० १६२० में ज्ञानभूषण जीवित थे। उधर ज्ञानभूषण वि० स० १५२६में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे और वि० स० १५२३ के पश्चात् वे गद्दी पर बैठे थे। यदि यही मान लिया जाये कि वे स० १५२५ मे गद्दी पर बैठे थे और उस समय उनकी उम्र १५ वर्ष भी मानी जाये तो पञ्चसग्रहवृत्तिकी रचनाके समय उनकी उम्र ११० वर्ष ठहरती है। एक तो इतनी छोटी अवस्थामें भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित होना और फिर इतनी लम्बी उम्रका होना चित्तको लगता नहीं।

फिर यदि ज्ञानभूषणकी दूसरी गुरु परम्परा सामने न होती तो उक्त दोनों बातोको भी अगीकार किया जा सकता था। किन्तु दूसरी परम्परा न केवल ग्रन्थ प्रशस्तियोमें किन्तु मूर्तिलेखोंमें भी अकित मिलती है। बुद्धिसागर सूरिके जैनधातु प्रतिमालेख सग्रहमे ही दोनों परम्पराओंके मूर्तिलेख मिलते है जो इस प्रकार है।

न० ६७४—स० १५३५ वर्षे पोष व० १३ श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण गुरूप-देशात् ।'

न० ७५७—'स० १६३० वर्षे चैत वदि ५ श्री मूलसघे श्री सरस्वती गच्छे श्री बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री वीरचन्द भ० श्री ज्ञानभूषण भ० श्री प्रभाचन्द्रोपदेशेन। इस तरह पहले वाले ज्ञानभूषणके गुरुका नाम भुवन-कीर्ति था और दूसरे ज्ञानभूषणके गुरुका नाम वीरचन्द था।

श्री कामता प्रसादजीके द्वारा सम्पादित प्राचीन जैनलेख सग्रह (१ भाग) में अलीगजके जैनमन्दिरकी एक मूर्तिके तलमें भी दूसरे ज्ञानभूषणसे सम्बद्ध एकलेख अकित है। किन्तु उसमें सम्वत् नही है। यह मूर्ति वीरचन्द्रके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थी। शिलालेख इस प्रकार है—

---

१. 'सं० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्तितत्-पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषणं गुरूपदेशात् । —दान० माणि० पृ० ४५।

२६—'श्रीमूलसघे भ० लक्ष्मीचन्द्र तत्पट्टे भ० वीरचन्द तत्पट्टे भ० ज्ञान-भूषणोपदेशात ।'

यही ज्ञानभूषण सिद्धान्तसार भाष्यके रचयिता है ।

उक्त दानो गुरुपरम्परायें पद्मनन्दीसे प्रारम्भ होती है । जिससे प्रकट होता है कि पद्मनन्दीके दो शिष्य थे सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति । प० परमानन्दजी[1] ने लिखा है कि पद्म नन्दीके शिष्योमें मतभेद हो जानेके कारण गुजरातकी गद्दीकी दो परम्परायें चालू हो गइ थी । एक भट्टारक सकलकीर्तिकी और दूसरी देवेन्द्र-कीर्ति की । सकलकीर्तिसे ईडरकी गद्दीकी परम्परा चली और देवेन्द्रकीर्तिसे सूरतकी गद्दीकी परम्परा चली ।

देवेन्द्रकीर्तिके उत्तराधिकारी भट्टा० विद्यानन्दि थे । इनके मूर्ति लेख वि० स० १४९९ से वि० स० १५२३ तकके पाये जाते ह । विद्यानन्दिके उत्तरा-धिकारी मल्लिभूषण थे । सूरत आदिके मूर्तिलेखोसे जाना जाता है कि मल्लि भूषण वि० स० १५४४ मे भट्टारक पद पर आसीन थे ।

सूरत जैनमन्दिरके दो प्रतिमालेखो पर वि० स० १५४४ वैसाख सुदी तीज अकित है । किन्तु एक शिलालेखमे[2] भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणका नाम है और दूसरेमें[3] भट्टारक विद्यानन्दिके भिष्य भट्टारक मल्लीभूषणका नाम ह । अर्थात जिस समय ईडरकी गद्दीके भट्टारक पद पर ज्ञानभूषण थे तब सुरतकी गद्दी पर भ० मल्लिभूषण विराजमान थे । मल्लिभूषणके पश्चात लक्ष्मीचन्द और लक्ष्मी-चन्दके पश्चात वीरचन्द और तब ज्ञानभूषण सूरतकी गद्दी पर बैठे । मल्लिभूषण-के समकालीन ज्ञानभूषण बीस पच्चीस वष तक ईडरकी भट्टारकी करनेके बाद मल्लिभूषणके दो उत्तराधिकारियोके पश्चात पुन सूरतके भट्टारक पद पर प्रति-ष्ठित हुए हो ऐसा तो सभव प्रतीत नही होता । अत ईडरके भट्टारक ज्ञानभूषणसे सूरतके भट्टारक ज्ञानभूषण जुदे ही होने चाहिये । अत सूरतवाले ज्ञानभूषण ही सिद्धान्तसार भाष्य और कमप्रकृति टीकाके कर्ता हैं ।

वे कब सूरतकी गद्दी पर बठे यह ज्ञात नही हो सका । अन्य मूर्तिलेखोंके प्रकाशमे आने पर ही उस पर प्रकाश पडनेकी पूण आशा है । किन्तु इतना

---

१ जै० प्र० स०, भा० १, प० १९ ।

२ 'स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसघे भ० श्री भुवनकीर्ति-स्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषणगुरू पदेशात' ।—दान० माणि० पृ० ४५ ।

३ स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी २ सोमे । श्रीमूलसघे । सरस्वतीगच्छे बला-त्कार गणे । भट्टारक श्री विद्यानन्दी देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री मल्लीभूषण ।
—दा० मा०, पृ० ४३ ।

निश्चित है कि कि वह वि० स० १६२० में वर्तमान थे और उस समय सूरतकी गद्दी पर उनके शिष्य प्रभाचन्द विराजमान थे। यह बात प्रा० पञ्चसग्रहकी प्रशस्तिसे प्रकट होती है। अत उनका समय विक्रमकी सोलहवी शताब्दीका अन्तिम चरण और १७वी शताब्दीका प्रथम चरण समझना चाहिये।

इन ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी क्रमसे प्रभाचन्द्र, वादीचन्द्र और महीचन्द्र थे। और शुभचन्द्र ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। शुभचन्द्रने वि० स० १६१३ में कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीका पूर्ण की थी। उसकी प्रशस्ति[1] में उन्होंने लिखा है कि सुमतिकीर्तिकी प्रार्थनापर उन्होने यह वृत्ति रची है। उसी प्रशस्तिमें शुभचन्द्रने लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रको अपना गुरु बतलाया है। ये लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र वे ही हैं जो सूरतकी गद्दीके भट्टारक तथा ज्ञानभूषणके गुरु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय सुमतिकीर्ति सकलभूषणके साथ शुभचन्द्रसे पढते थे। शायद इसीसे सकलभूषण[2] ने सुमतिकीर्तिको अपना गुरुभाई कहा है। शुभचन्द्रके बाद ईडरकी गद्दीपर सुमतिकीर्ति बैठे थे। इस दृष्टिसे भी वह शुभचन्द्रके शिष्य सकल-भूषणके गुरुभाई होते है।

शुभचन्द्र वि० स० १६११ में भट्टारक पदासीन थे यह बात एक [3]प्रतिमा-लेखसे प्रकट होती है। तथा वि० स० १६२६ में सुमतिकीर्ति[4] भट्टारक पदपर विराजमान थे। सकलभूषणकी उपदेश रत्नमालाकी रचनाके समय वि० स० १६२७ में सुमतिकीर्ति गच्छाधीश थे। अत पचसग्रहवृत्तिकी रचनाके पश्चात ही वह भट्टारक पदपर विराजमान हुए थे ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि उसकी प्रशस्ति मे इस बातका सकेत तक नही है।

---

१ 'तथा साधु सुमत्यादिकीर्तिना कृतप्रार्थना। सार्थीकृता समर्थेन शुभचन्द्रेण सूरिणा ॥९॥'
भट्टारक पदाधीशा मूलसघे विदावरा। रमाविरेन्दु-चिद्रूप-गुरवो हि गणे-शिन ॥१०॥'—जै०प्र० प्र०स० भा० १, पृ० ४२-४३।

२ 'पट्टे तस्य प्रीणित प्राणिवर्ग शान्तो दात शीलशाली सुधीमान्। जीयात्सूरि श्री सुमत्यादिकीर्तिर्गच्छाधीश कम्रकान्ति कलावान् ॥२३१॥—जै०प्र० प्र०स० भा० १, पृ० २०।

३ 'स० १६११ वर्षे माघ व ७ श्री मूलसघे नदिसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० विजयकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्र।'
—जै०प्र० ले०स०, ले० न० ६७७।

४ 'स० १६२६ वर्षे फाल्गुण सुदी ३ शुक्रे श्री मूलसंघे भ० श्री सुमतिकीर्ति उपदेशात् ईडरवास्तव्य'—प्रा० जै०ले० सं०, पृ० ९८।

सुमतिकीर्तिके उत्तराधिकारी गुणकीर्ति थे। एक प्रतिमालेखसे प्रकट होता है कि वि० स० १६३२ में गुणकीर्ति पट्टपर थे।

सकलभूषणने सुमतिकीर्तिकी बडी प्रशसा की है। लिखा है वह बडे शीलवान, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय और सयमी थे। उनसे सब प्रसन्न रहते थे। आदि।

त्रिभंगी टीका

पीछे त्रिभगीसार नामसे सगृहीत जिन छै त्रिभगियोका निर्देश किया है, उनमेंसे आश्रवत्रिभगी तथा बन्ध उदय और सत्त्व त्रिभगीकी टीकाकी कई प्रतियाँ धमपुरा दिल्लीके नये मन्दिरक शास्त्र भण्डारमें वर्तमान है। यह टीका एक ही ग्रन्थके रूपमें है और उसके अन्तमे लिखा है 'इति त्रिभगीसार टीका समाप्ता।'

प्रारम्भकी आस्रव त्रिभगीके रचयिता श्रुतमुनि है। किन्तु टीकाकारने उसे भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तीकी कृति समझकर बन्धोदयसत्त्वत्रिभगीके साथ एक ग्रन्थके रूपमे सम्मिलित कर लिया जान पडता है, क्योकि आस्रवत्रिभगी टीकाके अन्तमे लिखा है—'इति मूलनेमिचन्द्रसिद्धान्तीकर्ता आस्रवत्रिभगी समाप्ता।'

किन्तु प्रथम गाथाके 'वोच्छे ह' पद का अथ करते हुए लिखा है—'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिणा कथित अह सप्तपचाशदाश्रवा कथयाम (मि)।'

अर्थात श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा कथित सतावन आस्रवोको मैं कहता हूँ। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कमकाण्डमे सत्तावन प्रत्ययोका कथन किया है और उसीके आधारसे श्रुतमुनिने आस्रवत्रिभगीकी रचना की है। और इसलिये आस्रवत्रिभगीके मूलकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। किन्तु आगे कर्ताका निरूपण करते हुए लिखा है—'उत्तरोत्तरकर्ता गुरु पूव क्रमागत सकलसिद्धान्तचक्रवर्ती अखडित रत्नत्रयाभरणभूषित मूलोत्तराराद (?) सकल गुण सम्पूण श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिना भट्टारकेणासन्नभव्यसबोहस्योपकाराथ श्रीमज्जिनागमात्युद्धारकरणार्थं च ग्रन्थरचनानिमित्त।'

टीकाकारकी भाषा बहुत स्वलित है इससे उनका ठीक आशय समझनेमें कठिनाई होती है। आस्रवत्रिभगीके कर्ता श्रुतमुनिने अन्तिम गाथामें अपना नाम दिया है और उसका अथ करते हुए टीकाकारने 'सुदमुणिणा-श्रुतमुनिना' ऐसा लिखा है तथापि उन्होंने अन्यत्र कहीं श्रुतमुनिको उसको रचयिता नहीं लिखा।

टीकाके आरम्भ में एक श्लोक इस प्रकार है—

> या पूर्वं श्रुतटीका कर्णाटभाषया विहिता।
> लाटीया भाषया सा विरच्यते सोमदेवेन ॥४॥

अर्थात् पहले जो श्रुतमुनिने कर्णाट भाषामें टीका लिखी थी, उसे सोमदेव लाटीय भाषामें रचता है।

श्रुतमुनिने स्वरचित आस्रवत्रिभंगी पर कन्नड भाषामें टीका भी बनाई थी। मूडविद्री के जैन मठमें इसकी प्रति वर्तमान है और उसका ग्रन्थ नं० २०४ है। उसी टीकाको सोमदेवने लाटी भाषामें रचा है। किन्तु संस्कृत भाषाके लिये लाटीया भाषा शब्दका व्यवहार विचित्र ही है। लाटीया भाषाका मतलब लाट देशकी भाषा होता है। लाट गुजरातका प्राचीन नाम है। उसकी भाषाको लाटी भाषा कहना चाहिये। अस्तु,

आगे एक श्लोक इस प्रकार है—

> प्रणिपत्य नेमिचन्द्रं वृषभाद्यान् वीरं पश्चिमान जिनान्।
> सर्वान वक्ष्ये सुभाषयाऽहं विशदां टीकां त्रिभंग्याया ॥६॥

इसमें सुभाषाके द्वारा त्रिभंगीकी टीका रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। सुभाषासे तो संस्कृत भाषाका ग्रहण हो सकता है किन्तु लाटीया भाषासे संस्कृतका ग्रहण नहीं हो सकता। शायद टीकाकारने जिस भ्रष्ट संस्कृत भाषामें अपनी टीका रची है उसे लाटी भाषा कहा हो। किन्तु उसके लिए भी यह प्रयोग विचित्र ही है।

देहलीके सेठके कूचेके जैन मन्दिरमें उक्त टीकाकी एक भाषा टीका भी है। उसे देखकर हमें लगा कि टीकाकारने उस भाषा टीकाके लिये तो लाटीया भाषा शब्दका प्रयोग नहीं किया। क्योंकि उस टीकामें किसी अन्य टीकाकारका नाम नहीं है और संस्कृत टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति है वह प्रशस्ति ज्योंकी त्यों है उसकी भाषा टीका नहीं की गई है। यदि कोई अन्य टीकाकार होता तो वह प्रशस्तिकी भी भाषा करता। खेद है कि उस प्रतिका प्रथमपत्र नहीं है यदि होता तो शायद इस विषय पर उससे विशेष प्रकाश पड़ता।

रचयिता और समय

इस त्रिभंगी टीकाके रचयिताका नाम सोमदेव है। ग्रन्थ टीकाके आदिमें उन्होंने श्लोकमें, जो पीछे उद्धृत किया गया है, अपना नाम दिया है। उससे पहले श्लोक[2] ३ में उन्होंने गुणभद्र सूरिको नमस्कार किया है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि गुणभद्र सूरि उनके गुरु थे।

---

१ कन्नड० ता० प्र० सू०, पृ० १०।

२ 'कर्म द्रुमोन्मूलनदिक्करीन्द्रं सिद्धान्तपाथोनिधिदृष्टपारं।
पद्ंविधावादाचार्यगुर्वं. प्रयुक्त नमाम्यहं श्रीगुणभद्रसूरिं ॥३॥'

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमे[1] उन्होने अपने वश वगैरहका कथन किया है। पिताका नाम आभदेव था और माताका नाम वैंजेणी था। यह बघेरवाल वशके थे। उन्होने मूल सघके श्री पूज्यपादके प्रसादसे आत्मशक्तिके अनुसार जिनोक्त शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त किया था। यह ग्रहस्थ थे और जिन बिम्ब प्रतिष्ठाचार्य थे। इनका सस्कृत भाषा विषयक ज्ञान परिपक्व नही था इसीसे उन्होंने अपनी टीका-में आगम विरोधीके साथ ही साथ शब्द शास्त्रसे विरुद्ध कथनको भी शोधनेकी प्राथना मनीषियोसे की है।

प्रशस्तिका अन्तिम श्लोक आशाधरजी की शैलीके अनुकरणको लिये हुए है और उसमे उन्हीकी तरह 'शिवाशाधर' पदका प्रयोग भी किया गया है। आशाधर जी भी बघेरबालवशी थे। शायद इसी जाति स्नेहवश उनके नामका इस प्रकार प्रयोग किया गया है।

सोमदेवने अपने स्थान और समयका कोई निर्देश नही किया। फिर भी यह निश्चित है कि वह विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके पश्चात हुए है क्योकि जिस श्रुतमुनिकी आस्रव त्रिभगी पर उन्होने टीका रची है उन्होने अपना परमागम-सार वि० स० १३९८में समाप्त किया था। अब विचारणीय यही है कि चौदहवी शताब्दीके पश्चात वह कब हुए है ?

---

१ अमितगुणगण साध्वाभदेवाब्धिसोम विजयनिवररत्न काममुद्योतकारी।
गतकलिलकलक मवदोष स्ववृत्त स जयति जिनविम्व स्थापनाचायचार्या (वण) ॥१॥
यथामरेन्द्रस्य पुलोमजा प्रिया नारायणस्याब्धिसुता वभूव।
तथाभदेवस्य वैंजेणिनाम्नी प्रिया सुधर्मा, सुगुणा सुशीला ॥२॥
तयो सुत सदगुणवान् सुवत्त सोमोऽमिध कौमुदवृद्धिकारी।
व्याघेरवालबुनिधे सुरत्न जीयाच्चिर सवजनीनवृत्ति ॥३॥
श्रीमज्जिनोक्तानि समजसानि शास्त्राणि लेभे स यथात्मशक्त्या।
श्रीमूलसघाब्धिविवधनेन्दो श्रीपूज्यपादप्रभुसत्प्रसादात ॥४॥
× × ×
शब्दशास्त्रविरोधयत यदागमविरोधि च।
न्यूनाधिक च यत्प्रोक्त शोधित तन्मनीषिभि।
श्रीसद्माघ्रियुगे जिनस्य निलरा लीन शिवाशाधर।
सोम सदगुणभाजन सविनय सत्पात्रदाने रत।
मदरत्नत्रययुक् सदा बुधमनाल्हादी चिर भूतले।
नद्याद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुबोधाभिधा ॥७॥

त्रिवर्णाचारके कर्ता भट्टारक सोमसेनने भी गुणभद्रसूरिका स्मरण किया है और उन्होंने अपना त्रिवर्णाचार स० १६६७में तथा रामपुराण स० १६५६ में रचा है। इस परसे प० परमानन्दजीने सोमसेन और सोमदेवके ऐक्यकी सम्भावना पर त्रिभगीसार टीकाका समय विक्रमकी सतरहवी शताब्दीका उत्तरार्ध माना है।

किन्तु प्रथम तो दोनोके नामोंमें भेद है। दूसरे, जब सोमसेन भट्टारक हैं तब सोमदेव गृहस्थ प्रतिष्ठाचार्य है। तीसरे, नया मन्दिर देहलीके भण्डारकी त्रिभगी-टीकाकी प्रतिमें उसका लेखनकाल विक्रम सम्वत १६१५ लिखा है। अत सोमसेन और सोमदेव एक व्यक्ति नही हो सकते। सोमदेव सोमसेनसे पहले हुए हैं।

अत उक्त उल्लेखोंके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सोमदेव विक्रम सम्वतकी १५वी और १६वी शताब्दीमें किसी समय हुए है।

गोम्मटसारकी टीकाएँ

कमकाण्डके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार आती है—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकाल णामेण य वीर मत्तडी ॥९७२॥

इस गाथाकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा तदनुसारिणी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका इस प्रकार है।

जी० प्र०—गोम्मटसार सूत्रलेखने गोम्मटराजेन या देशी भाषा कृता स राजा नाम्ना वीरमार्तण्डश्चिरकाल जयतु ॥

स च०—गोम्मटसार ग्रन्थके सूत्र लिखने विषै गोम्मट राजाकरि जो देशी भाषा करी सो राजा नामकरि वीर मार्तण्ड चिरकालपर्यन्त जीतिवत प्रवृत्तौ।

इस परसे यह धारणा बनी कि चामुण्डरायने गोम्मटसारकी रचनाके समय उसपर देशी भाषामें अर्थात कनडीमें कोई वृत्ति रची थी और चामुण्डरायके नाम पर उसका नाम वीर मातण्डी था।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाके आरम्भिक मगलपद्यमें उसके रचयिताने कहा[1] है कि मैं कर्णाट वृत्तिके आधारसे गोम्मटसारकी टीका करता हूँ। इस परसे उक्त धारणा को बल मिला और कतिपय विद्वान[2] लेखकोंने यहां तक लिखा कि जीव० प्रदी-

---

१ 'नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूषण। वृत्ति गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाट-वृत्तित ॥१॥'

२ कर्मकाण्ड भूमिका पृ० ५ (रा० शा० माला स० १९२८ ई०), जीवकाण्ड भूमिका, द्रव्यसग्रह अग्रेजी, भूमिका, पृ० ४१, जीवकाण्ड अग्रेजी, भू० पृ० ७, और गोम्मटसार, मराठी टीकाकी भूमि०, पृ० १ आदि।

पिकामें जिस कर्णाटक वृत्तिका उल्लेख है वह चामुण्डरायकी वह वृत्ति है जिसका उल्लेख गो० कमकाण्डकी अन्तिम गाथामें किया गया है।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने एक लेख 'गोम्मट शब्दके अर्थ विचार पर सामग्री' शीर्षकसे इ० हि० क्वा०, जि० १६मे प्रकाशित कराया था। उसका अनुवाद जै० सि० भास्करके भा८, कि० २ म प्रकाशित हुआ था। उसमें कर्मकाण्डकी उक्त अन्तिम गाथाके सम्बन्धमें अपने नोटमें डॉ० उपाध्येने लिखा[1] है—'इस गाथाकी रचना असन्तोषजनक है जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अनुसार यह 'वीरमत्तडो' पढा जाता है। क्योंकि वहाँ इसे राओ' का विशेषण कहा है। जीवतत्त्व प्रदीपिका' में 'जाकया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है। प० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डरायकी टीकाका इसे एक उल्लेख समझते हैं। नरसिंहाचायके अनुसार चामुण्डरायने ऐसी कोई रचना नही की। इसका अथ केवल इतना होता है कि इस ग्रन्थकी कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाशमें नही आई है (?)। जीव० प्रदी०का प्रथम श्लोक स्पष्ट रूपमें कहता है कि इसका आधार एक कन्नड टीका पर है। हमारे पास इस कथनके लिये कोई प्रमाण नही है कि यह चामुण्डरायकी कृति है। हमे मालूम है कि कन्नडमें गोम्मटसारकी टीका है जिसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है जिसे केशववर्णीने सन् १३५९ में रचा था। वे अभय सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और धमभूषणके आदेशानुसार यह टीका की थी। वीर मातण्डी, जसा कि गाथामे मिलता है देशीका विशेषण है और यह वृत्तिका नाम है। चामुण्डरायकी उपाधि भी वीरमातण्ड थी, जो उन्होंने तोलम्बाके युद्धमें अपनी वीरता प्रदर्शित करके प्राप्त की थी। और यह असगत प्रतीत नही होता कि उन्ह ने इसका नाम अपनी एक उपाधिके नाम पर रक्खा हो। यदि हमारे देशी शब्दका अथ सत्य है तो इसका अथ है कि कन्नड जो कि एक द्रविड भाषा है एक प्राकृतभाषाके लेखकके द्वारा देशी नामसे सम्बोधित की गई है।'

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि डॉ० उपाध्ये भी इस बातसे सहमत हैं कि उक्त गाथाका वीरमातण्डी देशीका विशेषण है और वृत्तिका नाम है। अत उक्त गाथाका जो अथ समझा गया वह एकदम गलत तो नही समझा गया। किन्तु चामुण्डरायकी इस प्रकारकी किसी कृतिका कोई उल्लेख अन्यत्र नही मिलता।

गोमट्टसार पर अब तक दा सस्कृत टीकाएँ प्रकाशमें आई हैं, उनमेंसे एकका नाम मन्द प्रवोधिका है और दूसरीका जीव तत्त्व प्रदीपिका। ये दोनों टीकाएँ गान्धी हरिभाई देवकरण जन ग्रन्थमाला कलकत्तासे प्रकाशित गोमट्टसारके शास्त्राकार सस्करणमें प० टोडरमलजीकी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाके साथ

---

१ जै० सि० भा० ८, कि० २, पृ० ९०।

प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें मन्द प्रबोधिका जीवकाण्डकी गाथा ३८३ तक ही मुद्रित हैं। इस टीकाके कर्ता अभयचन्द्र हैं। अभयचन्द्रने अपनी टीका पूरे गोमट्टसार पर रची थी। या उसे उन्होंने अपूर्ण ही छोड़ दिया था, यह अभी तक अनिर्णीत है।

जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके रचयिताने मन्द प्रबोधिका टीकाका पूरा अनुसरण किया है। उसके बहुतसे विवरण मन्दप्रबोधिकाके अनुसार हैं। मन्द प्रबोधिकाके अधिकांश पारिभाषिक विवरणोंको जी॰ प्रदीपिकामें पूरी तरहसे अपना लिया गया है। जी॰ प्रदीपिकाके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें जो संस्कृत पद्य दिये गये हैं वे भी मन्द प्रबोधिकामें पाये जाने वाले पद्योंकी अनुकृति हैं। जी॰[1] प्रदी॰ में अभयचन्द्रका नामोल्लेख भी किया गया है।

जी॰का॰गा॰ ३८३ की मन्द[2] प्रबोधिका टीकामें गाथाका व्याख्यान न करके केवल इतना लिखा है कि श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत व्याख्यान यहाँ समाप्त हो जाता है। अत यह कर्णाटवृत्तिके अनुसार कहता है। यदि यह वाक्य जी॰ प्रदीपिकामें होता तो उससे यह स्पष्ट था कि यह बात जी॰ प्रदीपिकाके कर्ताने कही है। किन्तु टोडरमलजीकी टीका जी॰ प्रदीपिकाका ही अनुवाद है। और उसमें उक्त वाक्यका अनुवाद नही है। अत जी॰ प्रदी॰ के कर्ताका तो यह वचन हो नही सकता और मन्दप्रबोधिकाका कर्ता ऐसी बात लिख नही सकता। अत उक्त कथन किसका है यह स्पष्ट नहीं होता। और उसके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि जी॰प्रदी॰ के कर्ताको भी यहीं तक टीका प्राप्त हुई थी।

इसके सिवाय कर्मकाण्डके कलकत्ता संस्करणमें दी हुई संपादकीय टिप्पणोंसे यह प्रकट होता है कि संभवतया उनके सामने कर्मकाण्ड पर अभयचन्द्र रचित मन्द प्रबोधिका टीका वर्तमान थी क्योंकि उन्होंने अपने टिप्पणोंमें यह बतलाया है कि जी॰ प्र॰ के मन्द प्र॰ में इतना पाठ अधिक है और उस पाठको उद्धृत भी किया है। अतः मन्द प्रबोधिका टीकाकी प्रतियोंकी खोज किये बिना यह कहना शक्य नही है कि अभयचन्द्रने अपनी मन्द प्रबोधिका टीका गोमट्टसार जीवकाण्डके अमुक भाग तक बनाई थी।

---

१ 'इति श्रीमदभयचन्द्रसूरिसिद्धान्तचक्रवर्त्यभिप्राय।'
जी॰का॰टी॰, गा॰ ११।

२ मं॰ प्र॰—'श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीविहितव्याख्यानं विश्रान्तमिति कर्णाटवृत्त्यनुरूपमयमनुवदति।'

१ मन्दप्रबोधिका टीका

मन्द प्रबोधिकाका नाम साथक है। टीकाकारने यथासभव सक्षेपमें प्रत्येक गाथाका अथ दिया है और जहाँ स्पष्टीकरणके लिये विशेष कथनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ विशेष कथन किया है। सस्कृत भी सरल है विशेष कठिन नहीं है। प्रथम मगल गाथाका व्याख्यान करते हुए चामुण्डरायके प्रश्नको इस ग्रन्थके निर्माणमें निमित्त बतलाया है। गुरु शिष्य परम्परासे प्रवर्तित उपदेशको हेतु बतलाया है। गाथा सूत्रोका परिमाण ७२५ बतलाया है और ग्रन्थका नाम जीवकाण्ड, जीवप्ररूपण अथवा जीवस्थान बतलाया है। कर्ताके तीन भेद किये हैं—मूलतन्त्रकर्ता भगवान महावीर, उत्तर तन्त्रकर्ता गौतम गणधर और उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहा है।

टीकाके अवलोकनसे टीकाकारके सिद्धान्त विषयक ज्ञानकी गम्भीरता प्रकट होती है। किन्तु उनके सिद्धान्त चक्रवर्तित्वमे सन्देह होता है। मगलके प्रकरणमें उन्होंने लिखा[1] है कि गौतम गणधरने वेदना खण्डके आदिमें 'णमो जिणाण आदि मगल किया है। किन्तु धवला (पृ० ९, १०३) मे लिखा[2] है कि गौतम गणधरने महाकम प्रकृति प्राभतके आदिमे णमोजिणाण आदि मगल किया था और वहाँसे लाकर भूत बलि भट्टारकने उसे वेदना खण्डके आदिमें रखा। अभयचन्द्रजी या तो भूलसे वैसा लिख गये हैं या फिर उन्होंने धवलाका पूरा अनुगम नही किया प्रतीत होता। किन्तु उनका सिद्धान्त विषयक ज्ञान परिपूर्ण था। इसमें सन्देह नही है।

जीवतत्त्व प्रदीपिका में तो उनका अनुसरण किया ही गया है किन्तु जिस कर्णाटवत्तिके आधार पर जीवतत्त्व प्रदीपिकाको रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने की ह उस कर्णाटवृत्तिकी रचना भी मन्द प्रबोधिकाके साहाय्यकी ऋणी है यह बात डा० ए० एन० उपाध्येने अपने लेखमें[3] दोनों टीकाओंसे एक उद्धरण देकर स्पष्ट की है। वह उद्धरण जीवकाण्डकी गा० १३ की टीकाका है। कर्नाटकटीकावाले

---

१ 'श्रीमद गौतम गणधरपादरपिवेदनाखण्डस्यादौ णमोजिणाणमित्यादिना'
—गो० म० प्र० टी०, प० १४।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदवलिभडाराएण वेयणाखण्डस्स आदीए मगलट्ठ तत्तो आणेदूण ठविदस्स' ।—षटख पु०, ९, पृ० १०३।

३ गो० जी० प्र० टीका उसका कर्तृत्व और समय'—अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, प० ११३।

उद्धरणमें अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीका नाम भी है जिससे किसी प्रकारका सन्देह नही रहता। अत गोमट्टसारकी उपलब्ध इन तीनों टीकाओंमें मन्द प्रबोधिका आद्य टीका है। शेष दोनो टीकाए उसीके आधार पर बनी हैं। इस दृष्टि से उस टीका और उसके कर्ताका महत्व स्पष्ट है।

कर्ता और रचनाकाल

मन्द प्रबोधिकाके कर्ताका नाम अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। उनकी टीकासे उनके तथा रचनाकालके सम्बन्धमें कोई सकेत तक नही मिलता। किन्तु चूंकि कर्नाटक वृत्तिमें उनका उल्लेख है अत यह निश्चित है कि कर्णाटकवृत्तिसे पहले मन्द प्रबोधिकाकी रचना हो चुकी थी। कर्णाटकवृत्तिके रचयिता केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और उन्होंने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टारकके आदेशानुसार शक स० १२८१ या ईस्वी सन् १३५९ में लिखी थी। ऐसा डॉ० उपाध्येने अपने उक्त लेखमें लिखा है। अत निश्चय ही मन्द प्रबोधिकाकी रचना उससे पहले हुई है। किन्तु कितने समय पहले हुई है यह चिन्त्य है।

अभयचन्द्रने जीवकाण्ड गा० ५६–५७की मन्दप्रबोधिका[1] टीकामें श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवका निर्देश किया है। श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखमें जो ई० सन् १३१३ का है बालेन्दु पण्डितका उल्लेख है। डॉ० उपाध्येने अभयचन्दके द्वारा निर्दिष्ट बालचन्द्रको और श्रवणबेलगोलाके शिलालेखमें स्मृत बालेन्दु पण्डितको एक ही व्यक्ति माना है। उन्होने यह भी लिखा[2] है कि 'इसके अतिरिक्त उनकी पदवियो-उपाधियो और छोटे-छोटे वर्णनोंसे जो कि उनमें दिये हुए हैं, मुझे मालूम हुआ है कि हमारे अभयचन्द्र और बालचन्द्र, सभी सम्भावनाओंको लेकर वे ही हैं जिनकी प्रशसा बेलूर शिलालेखोमें की गई है और जो हमें बतलाते हैं कि अभयचन्द्रका स्वर्गवास ईस्वी सन् १२७९ मे और बालचन्द्रका ईस्वी सन् १२७४ में हुआ था।'

इस तरह डॉ० उपाध्येने अभयचन्द्रकी मन्द प्रबोधिकाका समय ईस्वी सन्की तेरहवी शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर किया है। जो अन्य प्रमाणसे भी समर्थित होता है।

---

१ 'पुनरपि कथभूता ? विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निदग्धकर्मवना -प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिसामर्थ्येनायुर्वर्जितसप्तकर्मणां गुणश्रेणि गुण सक्रम-स्थित्यनुभागकाण्डकघातै षोडशप्रकृतिक्षपणेन मोहनीयस्याष्टकषायादिक्षपणेन बादरसूक्ष्मकृष्टिविधानेन अन्यैश्चोपायै आत्मन श्रेयोमार्गप्राप्तिहेतु 'इति श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवानां तात्पर्यार्थ ।'—म—प्रबो०।

२ वही लेख, अने० वर्ष ४, कि० १।

अभयचन्द्रने जी० का० की प्रथम गाथाकी मन्द प्रबोधिका टीकामें एक पद्य[1] उद्धृत किया है जो प० आशाधरके अनगार धर्मामृतके नौवें अध्यायका २६वां पद्य है। प० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीका वि० स० १३०० अर्थात् ई० सन् १२४३में समाप्त की थी। अत मन्दप्रबोधिककी रचना उसके बाद हुई यह निश्चित है। और चूँकि कर्णाटक वृत्तिकी समाप्ति ई० सन् १३५९ में हुई।' अत मन्द प्रबधिकाकी रचना सन १२४३ और १३५९ के मध्यमें किसी समय हुई है। श्रवण बेलगोला और बेलूरके शिलालेखोमें निदिष्ट बालचन्द्र पण्डित और अभयचन्द पण्डित भी इसी समयम हुए है। किन्तु श्रवणबेल गोलाके शिलालेखमें बालेन्दु पण्डितको अभयचन्द्रका शिष्य बतलाया है। और एक गुरु अपनी टीकामें अपने शिष्यके मतका उल्लेख 'इति बालचन्द्र पण्डित देवाना तात्पर्यार्थ' इस रूपमें नही कर सकता।

किन्तु उसमें[2] अभयचन्द्रका 'सिद्धान्ताम्भोधि सीतद्युति' विशेषण दिया है जो बतलाता है कि अभयचन्द्र सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमाके तुल्य थे। अत ई० सन १३१३ के शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र मन्द प्रबोधिकाके कर्ता होना चाहिये। प्रश्न केवल बालचन्द्र पण्डितदेवको उनका शिष्य बतलानेका रह जाता है।

इस सम्बन्धमें परमागमसारके रचयिता श्रुतमुनिने जो अपनी प्रशस्ति उसके अन्तमें दी है वह[3] भी यहाँ उल्लेखनीय है। परमागमसारकी समाप्ति शक स० १२६३ में हुई है। प्रशस्तिमें लिखा है—श्रुतमनिके अणुव्रत गुरु बालेन्दु महाव्रत

---

१ 'उच्यते 'नेष्ट विहतु शुभभावभग्नरसप्रकष प्रभुरन्तराय। तत्कामचारेण गणानुरागान्नुत्यादिरिष्टाथकृदार्हदादे।" इति वचनेन।—म० प्रवो०।

२ 'तच्छिष्यश्चारुकीर्ति प्रथितगुणगण पण्डितस्तस्य शिष्य,
ख्यात श्रीमाघनन्दिव्रतिपतिनुतभट्टारकस्तस्य शिष्य।
सिद्धान्ताम्भोधिसीतद्युतिरभयशशी तस्य शिष्यो महीयान्
बालेन्दु पण्डितस्तत्पदनुतिरमलो रामचन्द्रोऽमलाङ्क ॥१६॥'
—शिला० स०, भा० १, पृ० ३२।

३ 'अणुवद गुरुबालेंदू महव्वदे अभयचंद सिद्धति।
सत्येऽभयसूरि पहा (भा) चदा खलु सुयमुणिस्स गुरु ॥२२५॥
सिरिमूलसघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ कोंडकुदाण।
परमण्ण इगलेसर बलिम्मि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥२२६॥
सिद्धताहयचदस्स य सिस्सो बालचद मुणिपवरो।
सो भविय कुवलयाण आणदकरो सया जयउ ॥२२७॥
प्रश० स० भा० १, पृ० १९१।

गुरु अभयचन्द्र सिद्धान्तिक, और शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र थे। आगे लिखा है—सैद्धान्तिक अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्र मुनि जयवन्त हों। शब्दागम, परमागम, तर्कागमके वेत्ता तथा सकल अन्यवादियोंके जेता अभयसूरि सिद्धान्ती जयवन्त हों।

विचारणीय यह है कि श्रवणबेलगोलाके शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डित तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिमें स्मृत अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र मुनि क्या एक ही व्यक्ति हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उक्त शिलालेख मूलसंघ देशीगण और पुस्तक गच्छके आचार्योंसे सम्बद्ध है तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिभी मूलसंघ, देशीगण और पुस्तक गच्छकी इंगलेश्वर शाखासे सम्बद्ध है। अन्तर इतना ही है कि एक जगह बालचन्द्र-को पण्डित लिखा है और एक जगह मुनि। हो सकता है कि मन्दप्रबोधिकाकी रचनाके समय वे केवल बालचन्द्र पण्डित हों और पीछे उन्होंने मुनिपद धारण कर लिया हो।

किन्तु इन दोनों उल्लेखोंके समन्वयमें सबसे बड़ी बाधा बेलूरके शिलालेख हैं जिनमें शक सं० १२०१ मे अभयचन्द्रकी और उनसे ५ वर्ष पूर्व बालचन्द्रकी मृत्यु बतलाई है। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके समय यदि श्रुतमुनिकी अवस्था ५० वर्ष भी मान ली जाये तो शक सं० १२१३ में उनका जन्म हुआ होगा। उस समयसे बहुत पहले अभयचन्द्र और बालचन्द्रका स्वर्गवास हो चुका था।

किन्तु श्रवणबेलगोलाके जिस शिलालेखमें अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका नाम है वह शिलालेख शक सं० १२३५ का है। शक सं० १२३५ में शुभचन्द्र त्रैविद्यकी मृत्यु हुई और उनकी स्मृतिमें उनके शिष्योंने उनकी निषद्या निर्माण कराई। शिलालेखके अनुसार शुभचन्द्रके शिष्य चारुकीर्ति थे, चारुकीर्तिके शिष्य माघनन्दि थे, माघनन्दिके शिष्य अभयचन्द्र और अभय-चन्द्रके शिष्य बालचन्द्र पण्डित थे। ऐसी स्थितिसे अभयचन्द्र और बालचन्द्रकी मृत्यु शक सं० १२०१ में या उससे पूर्व कैसे हो सकती है? अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपने दादा गुरु शुभचन्द्रकी मृत्युके समय अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र जीवित थे और ऐसा होनेसे परमागमसारके रचयिता श्रुत-मुनिके वे दोनों व्रतगुरु हो सकते हैं। अतः मन्दप्रबोधिकाकी रचनाका काल ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दीके तीसरे चरणकी अपेक्षा चौदहवीं शताब्दीका प्रथम चरण होना चाहिये।

श्रुतमुनिके विद्यागुरु अभयसूरि सिद्धान्ती थे और गोम्मटसारकी कर्नाटक

वृतिके रचयिता केशववर्णीके गुरु अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती थे । परमागमसार शक स० १२६३ में पूर्ण हुआ और गो० कर्नाटक वृत्ति शक स० १२८१ में । दोनोंमें केवल १८ वर्षका अन्तर है । अत ये दोनो अभयसूरि भी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है । इन्हे श्रुतमुनिने परमागम आदिका पूर्ण ज्ञाता बतलाया है । ऐसी स्थितिमें मन्दप्रबोधिकाके रचयिता अभयचन्द्र सिद्धान्तीका अभयसूरिके साथ साक्षात्कार हो सकता है और सम्भवतया उसीके फलस्वरूप मन्दप्रबोधिकाके आधार पर केशववर्णीके द्वारा कर्नाटक वृत्ति रची गई हो । अस्तु, जो कुछ हो पर इतना सुनिश्चित है कि अनगार धर्मामृतकी टीकाके समाप्तिकाल वि० स० १३०० के पश्चात और कर्नाटक वृत्तिकी समाप्तिके समय शक० स० १२८१ (वि० स० १४१६)से पूर्व अर्थात विक्रमकी चौदहवी शताब्दीमें मन्दप्रबोधिकाकी रचना हुई ।

२ जीवतत्व प्रदीपिका

वर्तमानमें पूरे गोम्मटसार पर उपलब्ध होने वाली पूरी और सुविस्तृत सस्कृत टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका ही है । गोम्मटसारके अध्ययनके यथेष्ट प्रचार का श्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिकाको ही प्राप्त है । प० श्री टोडरमल जीने उसीको न केवल आधार बनाकर, बल्कि अनुदित करके अपनी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाकी रचना की थी । उन्होने अपनी टीकाकी पीठिकामे लिखा है—'ऐसै विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीयनामा पञ्चसग्रह ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामा सस्कृत टीका ताके अनुसारि सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामा यहु देशभाषामयी टीका करनेका निश्चय किया है ।' और गोम्मटसारके हिन्दी अंग्रेजी और मराठीके सभी आधुनिक अनुवाद प० टोडरमल जीकी टीकाके आधार पर हुए है । अत इस सबका परम्पराश्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिका को ही है ।

किन्तु इस टीकाके कर्तृत्वको लेकर कुछ भ्रम फैल गया था । प० टोडरमल जी ने अपनी हिन्दी टीकामे इस टीकाको केशववर्णीकी बतलाया है । उसीके आधार पर गोम्मटसारके आधुनिक टीकाकारोने भी उस केशववर्णीकी बतलाया । प० टोडरमल जीके उक्त उल्लेखका कारण जीवकाण्डकी जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अन्तमें पाया जानेवाला एक श्लोक है जो इस प्रकार है—

> श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्ति वर्णिश्रीकेशवै कृति ।
> कृतेयमन्यथा किंचिद् विशोध्य तद्बहुश्रुतै ॥१॥

इसका अनुवाद प० टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है—

> केशववर्णी भव्यविचार । कर्णाटक टीका अनुसार ।
> सस्कृत टीका कीनी एहु । जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ॥१॥

डा० उपाध्येके जिस लेख[1]का उल्लेख पहले किया गया है उस लेख में जीव-तत्त्व प्रदीपिकाके कर्तृत्वके विषयमें फैले हुए इस भ्रमका निराकरण करते हुए डा० साहबने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है।

असलमें उक्त श्लोक जो इस भ्रम फैलानेका कारण बना, अशुद्ध है। श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बईकी जीवतत्त्व प्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी लिखित प्रतिमें उक्त श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

'श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृताम्।
कृतेयमन्यथा किञ्चित्तद्विशोध्य बहुश्रुतैः ॥'

इसके साथ एक श्लोक और है जो इस प्रकार है—

श्रीमत केशवचन्द्रस्य कृतकर्णाटवृत्तितः।
कृतेयमन्यथा किंचिच्चेत्तच्छोध्य बहुश्रुतैः ॥'

इन पद्योंसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इन पद्योंमें टीकाके कर्ताने अपना नाम नहीं दिया बल्कि यह लिखा है कि उसने अपनी टीका केशववर्णीकी कर्णाटवृत्ति परसे लिखी है और साथ ही यह आशा व्यक्त की है कि यदि उसकी टीकामें कुछ अशुद्धियाँ हों तो बहुश्रुत विद्वान उन्हें शुद्ध करके पढ़नेकी कृपा करें।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाको कर्णाटक वृत्तिके अनुसार रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने अपनी टीकाके प्रथम मंगल श्लोकमें ही की है—

'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणम्।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तितः ॥'

केशववर्णीकी कर्नाटक वृत्तिकी लिखित प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। उस वृत्तिका नाम भी जीवतत्त्व प्रदीपिका है और वह सं०जी०प्र० से कुछ बड़ी है। अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं रहता कि सं०जी०प्र०का के रचयिता केशववर्णी नहीं है।

तब प्रश्न होता है कि उसके रचयिता कौन है और कब उसकी रचना हुई है? गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमें एक प्रशस्ति[2] दी हुई है। उससे

---

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३ आदि।

२ 'यत्र रत्नैस्त्रिभिर्लब्ध्वार्हन्त्यं पूज्यं नरामरैः। निर्वान्ति मूलसंघोऽयं नन्द्यादाचन्द्रतारकं ॥४॥ तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणोऽन्वयः। कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य नन्द्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥५॥ यो गुणैर्गणभृद्गीतो भट्टारक शिरोमणिः। भक्त्या नमामि तं भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥६॥ कर्णाटप्रायदेशेशमल्लिभूपाल भक्तितः। सिद्धान्तं पाठितो येन मुनिचन्द्रं नमामि तम् ॥७॥ योऽदत्तस्य यमवृद्धपर्वं महा सूरिपदं ददौ। भट्टारकशिरोरत्नं प्रभेन्दुः स

पता चलता है कि संस्कृत जी०प्र० टीकाके कर्ता मूलसंघ, शारदागच्छ बलात्कार गण, कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नायके नेमिचन्द्र हैं। वे ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। प्रभाचन्द्र भट्टारकने उन्हें सूरिपद प्रदान किया था। कर्णाटकके जैन राजा मल्लिभूपालकी भक्तिवश उन्हें मुनिचन्द्रने सिद्धान्त पढ़ाया था। लाला वर्णी-के आग्रहसे वे गुर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह द्वारा निर्मापित चैत्यालयमें ठहरे। वहाँ उन्होंने सूरि श्री धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र भट्टारक और लाला वर्णी आदि भव्य जीवोंके लिये, खण्डेलवाल वंशके साह सांगा और साह सहेसकी प्रार्थना पर कर्णाट वृत्तिके अनुसार गोम्मटसारकी वृत्ति लिखी। उसकी रचनामें विविध विद्यामें विख्यात विशालकीर्ति सूरिने सहायता की और उसे प्रथम वार हर्ष पूर्वक पढ़ा। त्रैविद्य चक्रवर्ती निर्ग्रन्थाचार्य अभयचन्द्रने उसका संशोधन करके उसकी प्रथम प्रति तैयार की थी।

अतः उक्त प्रशस्तिके अनुसार संस्कृत जीव तत्त्व प्रदीपिका टीकाके कर्ता नेमिचन्द्र हैं। गोम्मटसारके अन्तर्गत अध्यायोंके अन्तमें जो सन्धि वाक्य हैं उनसे भी इस बातका समर्थन होता है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्रकृतायां गोम्मटसारापरनामपञ्चसंग्रहवृत्तौ' यहाँ नेमिचन्द्रकृतायां पद 'वृत्तिका विशेषण है न कि गोम्मटसारका, क्योंकि वृत्तिकी तरह वह भी स्त्रीलिंगमें प्रयुक्त हुआ है। किन्तु गोम्मटसारके रचयिताका नाम भी आचार्य नेमिचन्द्र था। अतः किन्हीं सन्धि-वाक्योंमें नेमिचन्द्रके साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जोड़ दिया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीविरचितायां गोम्मटसारपरनामपञ्च-संग्रह वृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकाख्यायां कर्मकाण्डे त्रिकरणचूलिका नाम अष्टमोऽधिकारः।' किन्तु यहाँ भी 'विरचितायां' पद जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक वृत्तिका विशेषण है। अतः ग्रन्थकार और टीकाकारके नाम साम्यके कारण उक्त प्रकारकी भूल हो गई है।

नमस्यते ॥८॥ विविधविद्याविख्यात विशालकीर्तिसूरिणा। सहायोऽस्या कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥९॥ सूरे श्री धर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिनः। वर्णि लालादिभव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥१०॥ रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्व-नाथालयेऽमुना। साधुसांगासहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥११॥ गोम्मट-सारवृत्तिर्हि नंद्याद् भव्यैः प्रवर्तिता। शोधयन्त्वागमात किंचित् विरुद्धं चेद् बहुश्रुताः ॥१२॥ निर्ग्रन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना। संशोध्याभयचन्द्रेणा-लेखि प्रथमं पुस्तकं ॥१३॥'—गो०क०का०, पृ० २०९७-९८।

इसके नीचे गद्य प्रशस्ति है जिसमें संक्षेप में वही बात प्रायः कही है जो पद्योंमें कही गई है।

तथा टीकाका आद्य मंगलाचरण भी इसी बातका समर्थक है। उसका पूर्वार्द्ध 'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणं' में जिनके विशेषण रूपसे प्रयुक्त नेमिचन्द्र और ज्ञानभूषण पद द्व्यर्थक हैं। इन दो पदोंके द्वारा टीकाकारने अपना और अपने गुरु ज्ञानभूषणका निर्देश किया है। ज्ञानभूषण और उनकी परम्परामें होने वाले ग्रन्थकारोंने प्राय सकल पद्योंमें अपना और अपने गुरुका नाम विशेषण रूपसे प्रयुक्त किया है। उदाहरणके लिये भ० ज्ञानभूषणने सिद्धान्तसार भाष्यके आदिमें जो मंगलाचरण किया है उसमें उन्होंने अपना और अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका नाम विशेषण रूपसे दिया है। यथा

श्री सर्वज्ञ प्रणम्यादौ लक्ष्मी-वीरेन्दु-सेवितम्।
भाष्यं सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानसुभूषणम्॥

इस तरहके उदाहरण बहुत मिलते हैं। अत यह निर्विवाद है कि जीवतत्त्व प्रदीपिकाके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र था और वह ज्ञानभूषणके शिष्य थे।

अब विचारणीय यह है कि वे हुए कब हैं?

समय विचार

नेमिचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जीवतत्त्व प्रदीपिकाकी रचनाके समयका निर्देश नहीं किया है। किन्तु केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्तिको शक सम्वत १२८१ में समाप्त किया था और चूंकि नेमिचन्द्रकी जीवतत्त्वप्रदीपिका उसीका अनुसरण करते हुए रची गई है अत यह निश्चित है कि उसकी रचना शक स० १२८१ (वि० स० १४१६) के पश्चात् किसी समयमें हुई है। और प० टोडरमलजीने स०जी०प्र० का के आधार पर हिन्दी टीकाका निर्माण वि० स० १८१८ या शक स० १६८३ में किया था अत जीव० प्र० उससे पहलेकी है यह भी निश्चित है। अब देखना यह है कि वि० स० १४१६ से लेकर १८१८ तकके चार सौ वर्षोंके अन्दर कब उसका निर्माण हुआ।

उक्त प्रशस्तिमें कर्णाट प्राय देशके स्वामी मल्लिभूपालका नाम आया है। डा० उपाध्येने उसीके आधार पर संस्कृत जी०प्र० की रचनाका समय ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रारम्भ ठहराया है। उन्होंने लिखा[1] है 'जैन साहित्यके उद्धरणों पर दृष्टि डालनेसे मुझे मालूम होता है कि मल्लि नामक एक शासक कुछ जैन लेखकोंके साथ प्राय सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचन्द्र गुर्वावलीके अनुसार विजयकीर्ति (ई० सन् की १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें) मल्लिभूपालके द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भमें रखा जा सकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें परिचय

---

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० १२०।

नही दिया गया। दूसरे विशालकीर्तिके शिष्य विद्यानन्द स्वामीके विषयमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे। और ये विद्यानन्द ई० सन् १५४१ में दिवगत हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि १६ वी शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हुमचका शिलालेख इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। वह बतलाता है कि यह राजा जो विद्यानन्दके सम्पर्कमें था सालुव मल्लिराय कहलाता है, यह उल्लेख हमें मात्र परम्परागत किंवदन्तियोंसे हटाकर ऐतिहासिक आधार पर ले आता है। सालुव नरेशोने कनारा जिलेके एक भाग पर राज्य किया है और वे जैनधमको मानते थे। मल्लिभूपाल मल्लिरायका सस्कृत किया हुआ रूप ह। और मुझे इसमे कोई सन्देह नही है कि नेमिचन्द्र सालुव मल्लिरायका उल्लेख कर रहे है। यद्यपि उन्होने उनके वशका उल्लेख नही किया ह। १५३० ई० के लेखमे उल्लिखित होनेसे हम सालुव मल्लिरायको १६ वी शताब्दीके प्रथम चरणमें रख सकते ह। और यह उसके विद्यानन्द तथा विजयकीर्ति विषयक सम्पकके साथ भी अच्छी तरह सगत जान पडता ह। इस तरह नेमिचन्द्र के सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे हम स० जीव० प्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६ वी शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सहते ह।'

श्रीयुत नाथूरामजी प्रमीने 'जिनचन्द्र ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीषक अपने लेखके टिप्पणीमे लिखा है कि २६ अगस्त १९१५के जन मित्रमे गोम्मटसार टीका-की प्रशस्ति प्रकाशित हुइ थी। उसके अनुसार यह टीका वोरनिर्वाण सम्वत २१७७ मे समाप्त हुई। प्रेमीजीने उस प्रशस्तिका जो आशय दिया है उससे यही ज्ञात होता है कि वह प्रशस्ति वही है जो गाम्मटसारके कलकत्ता सस्करणके अन्तमें प्रकाशित हुई है। किन्तु उसमें उसका रचनाकाल नही दिया, जबकि जैनमित्रमें प्रकाशित प्रशस्तिमे रचनाकाल दिया हुआ ह। किन्तु वह वीर निर्वाण सम्वतके रूप-में है। प्रेमीजी ने लिखा है—'गोम्मटसारके कर्ताके मतसे २१७७में विक्रम सवत (२१७७ – ६०५ = १५७२ + १३५) १७०७ पडता ह अतएव उक्त नेमिचन्द्रके गुरु ज्ञानभूषण कोई दूसर ही ज्ञानभूषण है जा सिद्धान्त सारके कर्तासे सौ सवा सौ वष बाद हुए है।

उमका उल्लेख करते हुए डा० उपाध्येने लिखा है यह समय (अर्थात वि० स० १७०७ या ईस्वी सन् १६५०) मल्लिभूपाल और नेमिचन्द्रको समकालीन नही ठहरा सकता। चूँकि असली प्रशस्ति उद्धत नही की गई है अत इस उल्लेख-की विशेषताओका निणय करना कठिन ह। हर हालतमें ई० सन् १६५० जी०

१ विशालकीर्ते 'श्रीविद्यानन्द स्वामीति शब्दत।
अभवत्तनय साधुमल्लिरायनृपार्चित ॥'
—प्रश० स० [आरा], पृ० १२५।

प्रदीपिकाकी बादकी प्रतिलिपिकी समाप्तिका समय है, न कि स्वयं जी० प्रदीपिका रचनाकी समाप्तिका समय।'[1]

अर्थात् डॉ० उपाध्येके लेखके अनुसार वि० स० १७०७ से पहले ही टीका-की रचना हो चुकी थी। ऐसी स्थितिमें इस समस्याको सुलझानेके दो साधन हो सकते हैं, प्रथम, प्रशस्तिमें निर्दिष्ट वीर नि० सम्वत् की समीक्षा और दूसरा नेमिचन्द्रके द्वारा उल्लिखित अपने समकालीन व्यक्तियोंकी छानबीन, जिनकी ओर डॉ० उपाध्येने इसलिये ध्यान देना उचित नहीं समझा कि चूँकि इन नामोंके अनेक आचाय और साधू जैन परम्परामें हो गये हैं। अत केवल नामोंकी समानताके आधार पर कोई निर्णय करना खतरनाक हो सकता है।' किन्तु जब हम अन्य किसी आधारसे किसी निणय पर पहुँच जाते हैं तब यदि उसको आधार बना कर इस बातकी खोज की जाये कि उस समय पर इस नामके व्यक्ति हुए हैं या नही तो उससे निणयकी सारता या निस्सारता पर प्रकाश पडे बिना नही रह सकता। अत हम उक्त दानों साधनोंसे प्रकृत समस्याको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं

दक्षिणमें प्रचलित वीर निर्वाण सम्वतके सम्बन्धमें मतभेद है। और उस मतभेदका कारण है 'विक्रमाक शक' को विक्रम सम्वत या शक सम्वत समझा जाना, क्योंकि त्रिलोकसारकी गाथा ८५० की टीकामे लिखा है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वष ५ मास पश्चात विक्रमाक शक राजा होगा। और विक्रम सम्वत तथा शालिवाहन शक सम्वतके बीचमें १३५ वर्षका अन्तर है। उत्तर भारतमें जो वीर नि० स० वतमानमें प्रचलित है वह उक्त कालको शालिवाहन शकका सूचक मानकर ही प्रचलित है और अनेक शास्त्रीय उल्लेख उसके पक्षमें हैं यहाँ उनकी चर्चासे प्रयोजन नही है। यहाँ तो यह बतलानेका प्रयोजन इतना ही है कि प्रेमीजी ने जो २१७७ वी० नि० स०में ६०५ वर्ष घटाकर जो १३५ जोडे है यदि वे दक्षिण-के मतभेदको दृष्टिमें रखकर न जोडे जायें, और उसे ६०५ घटानेसे जो शेष रहता है उसे विक्रम सम्वत मान लिया जाये तो डॉ० उपाध्येके द्वारा निर्णीत और प्रशस्तिमे उल्लिखित कालमे जो सौ सवा सौ वर्षका अन्तर पडता है वह नही पड़ेगा। अथ त् २१७७ – ६०५ = १५७२ विक्रम सम्वत्मे और १५७२ – ५७ = १५१५ ई० में नेमिचन्द्रने गोम्मटसारकी टीका समाप्त की। डॉ० उपाध्येने यही काल उसका निर्णीत किया है।

अब हम दूसरे साधनको देखेंगे—

मूलसघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके भट्टारक श्रीज्ञानभूषण सम्भवत-

---

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० १२०।

की गद्दीके भट्टारक थे। नन्दिसंघ[1]की पट्टावलीमें उनका विस्तारसे परिचय दिया है। उनके द्वारा रचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १५६० दिया है। नेमिचन्द्रकी गोमटसार टीकाका जो रचनाकाल ऊपर दिया है उसके साथ इसका बराबर मेल खाता है। तत्त्व ज्ञान तरंगिणीसे गो० टीकाकी रचना बारह वर्षके पश्चात् हुई है। यह ज्ञानभूषण गुजरातके रहनेवाले थे और दक्षिण तथा उत्तरके प्रदेशोंमें सम्मान्य थे। नेमिचन्द्र भी गुजरातसे ही चित्रकूट गये थे।

नेमिचन्द्रको सूरिपद भट्टारक प्रभाचन्द्रने प्रदान किया था। वादिचन्द्रने वि० सं० १६४० में अपना पार्श्व पुराण रचा था और वि० सं० १६४८ में ज्ञान सूर्योदय नाटक रचा था, उन्होंने अपने गुरुका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखा है। तथा अपनेको ज्ञानभूषणका प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रका शिष्य बतलाया है। इन्होंने स्व रचित श्रीपालाख्यान नामके गुजराती ग्रन्थमें अपनी गुरु परम्परा[2] इस प्रकार दी है—विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूषण, उनके पद पर लक्ष्मीचन्द्र, फिर वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और उनके पद पर वादिचन्द्र। ज्ञानभूषणके शिष्य सुमतिकीर्तिने अपनी पंचसंग्रह[3] वृत्तिमें भी एक पद्यके द्वारा यही गुरु परम्परा दी है। तथा प्रेमीजीने लिखा है कि इस श्रीपालाख्यानकी प्रशस्तिमें जो लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द है वे वही है जिनका उल्लेख ज्ञानभूषणने अपने सिद्धान्तसार भाष्यके मंगलाचरणमें 'लक्ष्मीवीरेन्दु सेवित' पदसे किया है। अर्थात् तत्त्व ज्ञान तरंगिणीके रचयिता उक्त भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य प्रभाचन्द्र भट्टारक थे और इन्हीं प्रभाचन्द्र भट्टारकने नेमिचन्द्रको सूरि पद दिया था। अतः इनकी संगति भी उक्त कालके साथ ठीक बैठ जाती है।

इस तरहसे प्रेमीजीके द्वारा निर्दिष्ट प्रशस्तिमें जो गोमट्टसार टीकाका रचना काल वीर निर्वाण सं० २१७७ दिया है उसमें ६०५ वर्ष कम करनेसे १५७२ को शक सम्वत न लेकर वि० सं० लेनेसे, वह टीकाका रचनाकाल उचित ठहरता है और उसकी संगति नेमिचन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट समकालीन व्यक्तियोंके साथ भी

---

१ जै० सि० भा० की कि० ४, पृ० ४३ ४५।

२ जै० सा० इ०, पृ० ३८७।

३ विद्यानन्दि गुरुयतीश्वर महान श्री मूलसंघेऽनघे,
श्रीभट्टारक मल्लिभूषणमुनिलक्ष्मीन्दुवीरेन्दुको॥
तत्पट्टे भुवि भास्करो यतिव्रति श्रीज्ञानभूषो गणी
तत्पाद द्वयपंकजे मधुकरः श्रीमत्प्रभेन्दुयति॥१॥'

—पं० सं० वृत्ति० पृ० १२४।

ठीक बैठती है। अतः वि० सं० १५७२ या ई० सन् १५१५ टीका समाप्तिका काल मानना चाहिये।

टीकाका परिचय

इसमें तो सन्देह ही नही कि जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका एक महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ है। गोम्मटसारके गहन विषयोंको उसमें बहुत सरल रीतिसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चाके साथ ही साथ गोमटसारमें जो अलौकिक गणित-सख्यात, असख्यात, अनन्त, श्रेणि, जगत्प्रतर, घनलोक आदि राशियोंका कथन है, उसे सहनानियोंके द्वारा अकसंदृष्टिके रूपमें स्पष्ट किया गया है। और अपने जानतेमें टीकाकारने किसी विषयको गूढरूपमें नहीं रहने दिया है। जीव विषयक और कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित विषयका सैद्धान्तिक रूपमें सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि टीकाकार श्री नेमिचन्द्राचार्यको जैन सिद्धान्तका गम्भीरज्ञान था। उनकी टीकामें प्रसङ्गवश चर्चित विषयोंकी यदि तालिका बनाई जाये तो एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

उनकी शैली स्पष्ट और सस्कृत परिमार्जित है। उसमें दुरूहता और सदिग्धता नही है। साथ ही साथ न अनावश्यक विस्तार है और न आवश्यक विस्तारका सकोच है। सक्षेपमें गोम्मटसार ग्रन्थके हृदयके समझनेके लिये जिस ढगकी टीका आवश्यक हो सकती है, जी० प्रदीपिका तदनुरूप ही है।

उसके देखनेसे टीकाकारके बहुश्रुतत्वका भी परिचय मिलता है। उसमें सस्कृत और प्राकृतके लगभग एक सौ पद्य उद्धृत हैं। जो समन्तभद्राचार्यकी आप्त-मीमांसा, विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, सोमदेवके यशस्तिलक, नेमिचन्द्रके त्रिलोक-सार और आशाधरके अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे लिये गये है। तथा टीकामें यतिवृषभ, भूतबली, भट्टाकलक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और केशववर्णी आदि ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख है।

किन्तु यह टीका केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिके आधार रची गई है। अतः दोनोंका मिलान किये बिना यह कहना शक्य नही है कि उक्त विशेषताओंका श्रेय केवल नेमिचन्द्रको ही है, केशववर्णीको नहीं। सभव है केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिमें भी वे सब विशेषताएँ हों। फिर भी नेमिचन्द्रकी वृत्तिका जो रूप हमारे सामने है वह एक प्रशंसनीय टीकाके सर्वथा अनुरूप है।

सुमतिकीर्तिकी पञ्चसग्रह वृत्ति

प्राकृत पंचसंग्रह पर एक वृत्ति सुमतिकीर्तिकी रची हुई है। इसकी एक प्रति देहलीके पंचायती जैन मन्दिरमें वर्तमान है। यह प्रति संवत् १७२१की

लिखी हुई है। टीकाकी प्रशस्तिमें उसके रचयिताने अपनी गुरुपरम्पराके साथ उसका रचनाकाल भी दिया है। तदनुसार [1]सवत १६२० में टीकाकी रचना हुई थी। अत उक्त प्रति टीकाकी रचनासे ९० वष पश्चात की लिखी हुई है।

रचयिताका परिचय

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सुमतिकीर्ति मूलसघके अन्तर्गत नन्दिसघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। प्रशस्तिमे ज्ञानभूषणकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र वीरचन्द्र फिर ज्ञानभूषण। लक्ष्मीचन्द और वीरचन्दने तथा ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिको दीक्षा और शिक्षा दी थी। ज्ञानभूषणके कहनेसे ही सुमतिकीर्तिने पञ्चसग्रहकी यह वृत्ति रची थी और ज्ञानभूषणने उसे शुद्ध किया था। अत यह ज्ञानभूषण भी वही है जिन्होने सिद्धान्तसार भाष्य और कमप्रकृति टीका रची है। तथा सुमतिकीर्ति भी उन्हीके शिष्य हैं।

जैसा कि ऊपर लिखा है विक्रम[2] स० १६२०में भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन ईलग्व (?) स्थानमे वृषभालय (ऋषभदेव मन्दिर)में टीकाकी समाप्ति हुई थी। प० परमानन्द[3] जीने 'ईलख को गुजरातका ईडर नामक स्थान बतलाया है। और लिखा है फि सुमतिकीर्ति भी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्होंने अपने गुरु ज्ञानभूषणके साथ कमकाण्ड[4] (कमप्रकृति) की भी टीका रची थी, जैमा कि पहले लिखा जा चुका है।

भ० सकलभूषणने वि०स० १६२७में अपनी उपदेश रत्नमाला समाप्त की थी। उसकी प्रशस्तिमे अपनी गुर्वावली देते हुए उन्होने भट्टारक शुभचन्द्रका उत्तराधिकारी सुमतिकीर्तिको बतलाया है और अपनेको सुमतिकीर्तिका गुरुभाई कहा है। यह सकलभूषण शभचन्द्रके शिष्य थे।

---

१ दीक्षा शिक्षापद दत्त लक्ष्मीवीरेन्द्र (न्दु) सूरिणा। येन मे ज्ञानभूषेण तस्मै श्री गुर्वे नम ॥९॥ आगमेन विरुद्ध यद व्याकरणेन दूषितम्। शुद्धीकृत च तत्सव गुरुभिर्ज्ञानभूषणै ॥१०॥ —जै०प्र०स०, पृ० १५६।

२ श्रीमद विक्रम भूपते परिमिते वर्षे शते षोडशे विंशत्यग्रगते सिते शुभतरे भाद्रे दशम्या तिथौ। 'ईलावे' वृषभालये वृषकरे सुश्रावके धार्मिके, सूरि श्रीसुमतीशकीर्तिविहिता टीका सदा नन्दतु ॥१३॥—जै०प्र०स०, पृ० १५६।

३ ज०प्र०स०, प्रस्ता० पृ० ७५।

४ तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकर। टीका हि कमकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक ॥२॥'—जै०प्र०स० पृ० १५३।

पंचसंग्रह वृत्ति

इस वृत्तिकी जो प्रति हमें देखनेको प्राप्त हुई उसके प्रारम्भके ४८ पत्र नहीं हैं और उनके स्थानमें पंचसंग्रह मूलके ४९ पत्र रख दिये गये हैं। अत टीकाके प्रारम्भके विषयमें कुछ कहना शक्य नही है। टीकाके अन्तका सन्धिवाक्य इस प्रकार है—

'इति श्री पचसग्रहापरनाम-लघुगोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थटीकाया कर्मकाण्डे सप्तति नाम सप्तमोऽधिकार । इति श्री लघुगोम्मटसारटीका समाप्ता ।'

सर्वत्र सन्धि वाक्योंमें ग्रन्थको लघु गोम्मटसार कहा गया है और उसका दूसरा नाम पचसग्रह बतलाया है। गोम्मटसारकी टीकाकी प्रशस्तिमें भी गोम्मटसारका अपर नाम पचसग्रह बतलाया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र-विरचिताया गोम्मटसारपरनामपचसग्रहवृत्ती जीवतत्वप्रदीपिकाया ।'

शायद पचसग्रहके टीकाकारने पचसग्रहको लघु गोम्मटसार समझा है। किन्तु अपनी टीकामें उन्होंने पचसग्रहका निर्देश पचसग्रह नामसे ही किया है। यथा—'इदमुपशमविधान गोम्मटसारे प्रोक्तमस्ति । पचसग्रहोक्त भावोऽय कथ्यते ।'

फिर भी उक्त सन्धिवाक्य इस बातका साक्षी है कि उस समय भी गोम्मटसारको कितना ऊँचा स्थान प्राप्त था। शायद लोग इस बातकी कल्पना ही नही कर सकते थे कि गोम्मटसारसे भी कोई महान सिद्धान्त ग्रन्थ हो सकता है जिसपरसे गोम्मटसार सग्रहीत किया गया है। अस्तु,

धमपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सम्वत १७९९ की लिखी हुई इसकी एक प्रति हमें देखनेको मिली। इस प्रतिमें उसकी अन्तिम प्रशस्ति नही है। किन्तु प० परमानन्दजीने अपने प्रशस्ति सग्रहमें उसकी प्रशस्ति दी है। प्रशस्तिके पश्चात अन्तिम सन्धिवाक्य इस प्रकार दिया है—'इति श्री भट्टारक श्री ज्ञान भूषणविरचिता कमकाण्डग्रन्थटीका समाप्ता ।'

नीचे टिप्पणमे लिखा है कि जयपुर और देहलीकी कितनी ही प्रतियोमें ज्ञान भूषणनामाकिता सूरिसुमतिकीर्ति विरचिता' ऐसा पाठ पाया जाता है जो ग्रन्थकी दोनों भट्टारकों द्वारा सयुक्त रचना होनेका परिणाम जान पडता है (जै० प्र० पृ० १५६)।

ऐ० प० सरस्वती भवन झालरापाटनकी ग्रन्थ नामावलिमें भी कर्म प्रकृति टीका 'सुमति कीर्ति युग् ज्ञानभूषणकृता' ऐसा लिखा हुआ है। ज्ञानभूषणके साथ 'सुमतिकीर्तियुक्' विशेषण लगानेका कारण यह है कि टीकाके आदिवाक्य और प्रशस्तिमे यही पद पाया जाता है—।

यथा—

> विद्यानन्दि सुमल्यादि भूष लक्ष्मीन्दुसद् गुरून् ।
> वीरेन्दु-ज्ञानभूष हि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

इसमें विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण और सुमति कीर्तिको नमस्कार किया है ।

प्रशस्तिमें लिखा है

> मूलसघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वर ।
> तस्य पट्टे च वीरेन्दु विबुधो विश्ववन्दित ॥१॥
> तदन्वये दयाम्भोधि ज्ञानभूषो गुणाकर ।
> टीका हि कमकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

अर्थात मूलसघमें महासाधु लक्ष्मी चन्द्र यतीश्वर हुए । उनके पट्ट पर विश्व-वन्द्य वीरचन्द्र हुए । उनके वशमें दयालु गुणाकर ज्ञानभूषण हुए । उन्होंने सुमति कीर्तिके साथ कर्मकाण्डकी टीका रची ।

इससे स्पष्ट है कि टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनो हैं । यह ज्ञानभूषण ईडरकी गद्दी वाले ज्ञानभूषण नही है किन्तु सूरतकी गद्दीवाले ज्ञान भूषण है । उन्हींके शिष्यका नाम सुमतिकीर्ति था ।

टीकाके आदि और अन्तिम श्लोकोंमें इसे कमकाण्डकी टीका कहा है और इसी लिये मूल ग्रन्थका कर्ता सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्र कविको बतलाया है । सिद्धान्त और चक्रवर्तीके बीचमे जो परिज्ञान पद डाल दिया गया है वह सिद्धान्त चक्रवर्तीका अथ स्पष्ट करनेके लिये ही डाला गया जान पडता है । किन्तु वास्तवमें यह कमकाण्डके आधार पर सकलित कमप्रकृतिकी टीका है ।

यह टीका गोम्मटसारकी टीकाको देखकर बनाई गई है क्योंकि प्रशस्तिमें इस बातको स्वीकार किया है । यथा

> टीका गोमट्टसारस्य विलोक्य विहित ध्रुव ।
> पठन्तु सज्जना सर्वे भाष्यमेतन्मनोहरम् ॥३॥

अर्थात गोम्मट्टसारकी टीकाको देखकर रचे गये इस मनोहर भाष्यको सब सज्जन पढे ।

गोमट्टसारकी नेमिचन्द्र कृत जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाके साथ मिलान करनेसे यह बराबर स्पष्ट हो जाता है कि एकको देखकर दूसरीकी रचनाकी गई है । उदाहरणके लिये यहाँ केवल दूसरी गाथाकी दोनों टीकाए देते हैं—

नेमि० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इत्यर्थ । सोऽपि कारणान्तरनिरपेक्षता अग्निवायु जलाना उर्ध्वतिर्यग्निम्नगमनवत् । सहि स्वभाववन्तमपेक्षते इति । कथो'

स । जीवांगयो जीव कर्मणो । तत्र रागादिपरिणमनमात्मन स्वभाव रागाद्यु-त्पादकत्व तु कर्मण । तदेतरेतराश्रयदोष तत्परिहारार्थं तयो जीवकर्मणो सम्बन्ध अनादिरित्युक्तं । क इव । कनकोपले मलमिव स्वर्णपाषाणे स्वर्णपाषाणयो सम्ब-न्धस्य अनादिरिव । अनेन अमूर्तो जीव मूर्तेन कर्मणा कथ बध्यते इत्यपास्त । तयोरस्तित्व कुत सिद्ध । स्वत सिद्ध । अह प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मन दरिद्र श्री-मदादिविचित्रपरिणामात कर्मणश्च तत्सिद्धे ॥२॥

ज्ञान० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इति प्रकृतिपर्यायनामानि । स्वभाव-स्य लक्षण किं । इति चेत कारणान्तरनिरपेक्षत्व स्वभाव । यथा अग्नेरूर्ध्वगमन स्वभाव वायो तिर्यग्गमन स्वभाव जलस्य च निम्नगमन स्वभाव । स च स्वभाव-वन्त अपेक्षते । स स्वभाव कयो जीवागयो जीवकमणो इत्यथ । तत्र जीवकर्मणो-र्मध्ये आत्मन रागादि परिणमन स्वभाव कर्मण रागाद्युत्पादकत्व स्वभाव । स्व-भावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति स्वभाववान् स्वभाव विना न भवति इत्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसग स्यात । तत्परिहारायअनयो जीवकर्मणो-रनादि सम्बन्ध । कयोरिव कनकोपलयोर्मलमिव । यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्ध अनादि तथा जीव कमणोरनादिसम्बन्ध । तयो जीवकमणोरस्तित्व कथसिद्ध ? स्वत सिद्ध । कथमिति चेन अह प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्व एको दरिद्र एक श्रीमान एक सुखी एको दुखी इति विचित्र परिणमनात् कमणोऽस्तित्व सिद्धमिति ।

चू कि कमप्रकृति टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति हैं अत उनका रचनाकाल विक्रमकी सोलहवी शताब्दीका अन्तिम चरण और १७ वी का प्रथम चरण है ।

इस तरह दूसरी टीका पहली टीकाका अनुकरण मात्र है ।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कर्म प्रकृतिमें जीवकाण्डकी भी गाथाए सकलित हैं । कम प्रकृतिके टीकाकारने उन गाथाओकी टीका भी जीवकाण्डकी जीवतत्व प्रदीपिका टीकाके अनुसार ही की है । यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टमायार ।
अविसेसिदूण अटटे दसणमिदि भण्णदे समए ॥४३॥—जीवका० गा०४८२

जी० प्र०—भावाना सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थाना आकार भेद-ग्रहण अकृत्वा यत्सामान्य ग्रहण-स्वरूपमात्रावभासन तत् दशनमिति परमागमे भण्यते । वस्तु स्वरूपमात्रग्रहण कथ । अर्थान्-बाह्यपदार्थान् अविशेष्य-जाति क्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासन दर्शनमित्यर्थ ।

क० प्र० टी०—भावानां पदार्थानां सामान्यविशेषात्मकबाह्य वस्तूनां आकार

भेद ग्रहण (अ) कृत्वा यत् सामान्यग्रहण स्वरूपमात्रावभासन तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहण कथ ? अर्थात बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिद्रव्यगुणक्रियाप्रकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासन दर्शनमित्यर्थ ।

वामदेवका सस्कृत[1] भावसग्रह—

प्राकृत भाव सग्रहके सस्कृत अनुवाद रूपमें इस भाव सग्रहकी रचना हुई है। दोनों ग्रन्थोको आमने सामने रखकर पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ दोनोंसे कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा।

पणविय सुरसेणणुय मुणिगणहरवदिय महावीर ।
वोच्छामि भावसगहमिणमो भव्वप्पवोहट्ठ ॥१॥
श्रीमद्वीर जिनाधीश मुक्तीश त्रिदशार्चितम् ।
नत्वा भव्यप्रबोधाय वक्ष्येऽह भावसग्रहम ॥१॥

× × ×

जीवस्स होति भावा जीवा पुण दुविहभेयसजुत्ता ।
मुत्ता पुण ससारी मुत्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥२॥
भावा जीवपरीणामा जीवा भेदद्वयाश्रिता ।
मुक्ता ससारिणस्तत्र मुक्ता सिद्धा निरत्ययाः ॥२॥

× × ×

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतइलोया ।
असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥३॥
कर्माष्टकविनिमक्ता गुणाष्टकविराजिता ।
लोकाग्रवासिनो नित्या ध्रौव्योत्पत्तिव्ययान्विता ॥३॥

यह शब्दश अनुवाद नही है, भावानुवाद है जो प्राकृत भाव सग्रहको सन्मुख रखकर सस्कृत भाषामें अनुष्टुप श्लोकोंके द्वारा किया गया है। रचयिताने प्राकृत भावसग्रहका अक्षरश अनुकरण नही किया है जगह जगह उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और सशोधन आदि भी किये हैं। उसके भी यहाँ कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा।

१ प्रा० भा० स० मे (गा० १६) मिथ्यात्वके पाँच भेद इस प्रकार बतलाये हैं—एकान्त, विनय सशय, अज्ञान और विपरीत। ये ही पाच भेद जैन परम्परामें प्रसिद्ध ह। किन्तु स० भा० स० में (श्लो० ३२) उनके नाम इस प्रकार दिये है—वेदान्त, क्षणिकत्व, शून्यत्व, विनय और अज्ञान। प्रा० भा० स० में ब्राह्मण-

---

१ सस्कृत भाव सग्रह भी प्राकृतभावसग्रहके साथ श्रीमाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईके २०वे ग्रथ भावसग्रहादिमें प्रकाशित हो चुका है।

की विपरीत मिथ्यात्वी बतलाया है। सं० भा० स० में वेदवादीको वेदान्त-मिथ्यावी कहा है और ब्राह्मणकी तरह ही तीर्थस्नान, मांसभक्षण आदिकी बुराईयां बतलाई हैं। अन्तमें लिखा है 'इति वेदान्तोक्त विपरीत मिथ्यात्वम्'। सम्भवतया ग्रन्थकार वेद और वेदान्तके भेदसे परिचित नहीं थे ऐसा लगता है। प्रा० भा० स० में संशय मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है किन्तु स० भा० स० में चूंकि इस नामका कोई मिथ्यात्व नहीं है और उसके स्थानमें जो एक शून्य मिथ्यात्व नाम गिनाया है उसकी उसमें कोई चर्चा नहीं की गई है। अत शेष मिथ्यात्वोंका कथन प्रा० भा० स० की ही तरह करनेके बाद पृथक्रूप रूपसे श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है और उसे स्वमतोदभूत (अपने मतमें उत्पन्न हुआ) मिथ्यात्व कहा है।[1]

प्रा० भा० स० में स्थविर कल्पका कथन करते हुए वर्तमान कालके मुनियोंके सम्बन्धमें कहा गया[2] है कि पहलेके मुनि उक्त सहननसे एक हजार वर्षमें जितनी कर्मनिर्जरा करते थे, आजकल हीन सहननमें उतनी कर्मनिर्जरा एक वर्षमें कर लेते हैं। स० भा० स० में इस गाथाका अनुवाद नही किया गया और यह उचित ही किया गया क्योकि इस प्रकारका कथन पूर्वशास्त्र सम्मत नही है।

इसी तरह प्रा० भा० स० में काष्ठा सघ आदिके विरोधमें एक भी शब्द नहीं कहा गया है किन्तु स० भा० स०[3] में एक श्लोकके द्वारा उन्हें मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है।

प्रा० भा० स० (गा० २८० आदि) में सम्यग्दर्शनके आठो अगोंमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम गिनाये हैं। किन्तु स० भा० स० में आठों अगोंका स्वरूप रत्नकरड श्रावकाचारके अनुसार उसीके शब्दोमें कहा है (श्लो० ४१०–४१७) अन्य भी कई विशेष कथन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें है।

पचम गुणस्थानका कथन करते हुए स० भा० स० में ग्यारह प्रतिमाओंका कथन है यह कथन प्रा० भा० स० में नही हैं। उसमें तो केवल बारह व्रतोंके नाम गिनाये हैं प्रतिमाओंके तो नाम तक भी नही गिनाये।

स० भा० स०में दूसरी व्रत प्रतिमाका कथन करते हुए पूज्य पूजक और पूजा

---

१ 'अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूत मिथ्यात्व तन्निगद्यते। विहित जिनचन्द्रेण श्वेताम्बर मताभिधम् ॥१८७॥'—स० भा० स०।

२ 'वरिससहस्सेण पुरा ज कम्मं हणइ तेण काएण। त सपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणे ॥१३१॥'—प्रा० भा० सं०।

३. येनाध्वे काष्ठसंघाद्या मिथ्यात्वस्य प्रवर्तनात्। आयत्या प्राप्नुयुर्दुःखं चतुर्गतिषु सन्ततम् ॥२८५॥—स० भा० सं०।

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—पूज्य तो निर्दोष केवली जिन हैं। और पूजक[1] वेश्या आदि व्यसनोका त्यागी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शीलवान शूद्र होता है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रथकारने जिनसहिताका प्रमाण भी उद्धृत किया है। यह कथन प्रा० भा० स० में नही है।

प्रा० भा० स० की तरह स० भा० स० मे भी प्राभातिक विधिमें शौच आचमनका निर्देश है और नागतपण, क्षेत्रपालतपण गण अष्ट दिग्पालोकी स्थापनाका भी कथन है किन्तु प्रा० भा० स० में जो शस्त्रसहित यानसहित और प्रियासहित आह्वान करनेका विधान किया ह। वह यहाँ नही है। इसी तरह प्रा० भा० स० में जिन चरणोमे चन्दनलेपनका जो कथन है वह भी स० भा० स० मे नही है।

पूजनके कथनमें स० भा० स० के कर्ताने आशाधरके सागरधर्मामृतका अनुकरण विशेषरूपसे किया है। प्रतिमाओके कथनमें भी यत्रतत्र उसकी छाया है। वैसे रत्न करडको मुख्य रूपमे अपनाया गया है।

पूजा गुरुपासना, स्वाध्याय, सयम तप और दान इन श्रावकके षटकर्मोंका भी कथन है वो प्रा० भा० स० में नही हैं।

छठे और तेरहवे गुणस्थानके कथनमें भी प्रा० भा० स० से विशेषता है। इस तरह स० भा० स० प्रा० भा० स० का छायानुवाद होते हुए भी अपनी कुछ विशेपताओंको लिये हुए है। रचना सरल और स्पष्ट है। श्लोक सख्या ७८२ है।

रचयिता और समय

सस्कृत भावसग्रहके अन्तमें उसके रचयिता ने अपना नाम वामदेव और अपने गुरुका नाम लक्ष्मीचन्द्र बतलाया है। लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति था और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयेन्द्र या विनयचन्द्र था। वे मूलसघी थे। तथा ग्रन्थकार वामदेव[2]का जन्म 'शशिविशदकुले नैगम श्री विशाले' में हुआ था। प्रेमीजीने लिखा[3] है कि 'निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चय

---

१ 'भव्यात्मा पूजक शान्त वेश्यादिव्यसनोज्झित। ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्य स शूद्रो वा सुशीलवान ॥४६५॥—स० भा० स०।

२ 'श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्त्वचिन्तारसालो, लक्ष्मीचन्द्रांह्रिपद्म मधुकर श्रीवामदेव सुधी। उत्पत्तिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्रीविशाले सोऽय जीयात प्रकम जगतिहसलसद्भावशास्त्रप्रणेता ॥७८१॥—स०भा०स०।

३ भावसग्रहादिके प्रारम्भमें ग्रथ परिचय, पृ० ३।

नहीं जो पं० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बर सम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थ जातिके हो चुके हैं।'[1]

इस प्रकार वामदेवने अपने त्रैलोक्य[2] दीपक नामक ग्रन्थके अन्तमें भी अपना उक्त परिचय दिया है। उसमे उन्होंने अपनेको जैन प्रतिष्ठा विधिका आचार्य बतलाया है। यह ग्रन्थ उन्होंने पुरवाडवशके कामदेवके पौत्र तथा जोमनके पुत्र नेमिदेवकी प्रेरणासे बनाया था। इस तरह अपने ग्रन्थोंमें वामदेवने अपना सामान्य परिचय देकर भी उसके समयके विषयमें कोई निर्देश नही किया

परन्तु त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीमहावीरजीके शास्त्र भण्डारमें है। उसमें उसका लेखनकाल स० १४३६ और लेखन स्थान योगिनीपुर दिया ह। तथा लेखकने फिरोजशाह तुगलकके शासनकालका भी उल्लेख किया ह। अत यह निश्चित है कि वामदेवका समय 'स० १४३६ के बाद का नही हो सकता।'

द्विसन्धानकाव्यकी नेमिचन्द रचित टीकाकी प्रशस्तिमे नेमिचन्द्रने अपनेको विनयचन्दका प्रशिष्य और देवनन्दिका शिष्य बतलाया है। तथा त्रैलोक्यकीर्तिके चरण कमलोको भी नमस्कार किया है। वामदेवने भी अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयचन्द बतलाया हैं। अत नेमिचन्दके गुरुके गुरु विनयचन्द और वामदेवके दादा गुरु विनयचन्द एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है। उन्हीके शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति थे। किन्तु वे कब हुए इसका कोई पता नही चलता क्योकि द्विसन्धान टीकामें भी उनके समयका निर्देश नही है और न अन्यत्रसे ही उनके सम्बन्धमें कोई ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकी जिससे उनके समय पर प्रकाश पड सकता हो।

●

१ जै०ग्र० प्र०स०, भा० १, पृ० २०३-२०५।
२ 'आमेर शास्त्र भण्डारकी ग्रन्थ सूची'—पृ० २१८।

नाम सूची